Gender and Media in North India: Study of Hindi Newspapers 1990 To 2010

Thesis Submitted to Jawaharlal Nehru University

for the award of the degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

PRATYUSH PRASHANT

Submitted to

Center for Women Studies

School of Social Sciences-I

Jawaharlal Nehru University

New Delhi-110067

2017

CENTRE FOR WOMEN'S STUDIES
School of Social Sciences-II
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067
Tel. : 91-11-26704166
E-mail wonmenstudiesprogramme@gmail.com

Date: 21/07/2017

DECLARATION

I, Pratyush Prashant, hereby declare the thesis entitled **"Gender and Media in North India: Study of Hindi Newspapers – 1990 to 2010"** submitted by me for the award of the degree of **Doctor of Philosophy** of Jawharlal Nehru University is my own work. The thesis has not been submitted for any other degree of this University or any other university.

P. Prashant

PRATYUSH PRASHANT

CERTIFICATE

We recommend that this thesis be placed before the examiners for evaluation.

Lata Singh

DR. LATA SINGH

(Chairperson, CWS)

अध्यक्ष/Chairperson
महिला अध्ययन केन्द्र/Centre for Women's Studies
सामाजिक विज्ञान संस्थान/School of Social Sciences
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय/Jawaharlal Nehru University
नई दिल्ली-110067/New Delhi - 110067

PROF. G. ARUNIMA

(Supervisor, CWS)

प्रो. जी. अरूणिमा / Prof. G. Arunima
महिला अध्ययन केंद्र/Centre for Women's Studies
सामाजिक विज्ञान संस्थान/School of Social Sciences-I
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
Jawaharlal Nehru University
नई दिल्ली/New Delhi-110067

विषय-सूची

आभार	5-9
परिचय	10-26
अध्याय-1	
परिवार,विवाह और विवाह-तालाक कानून	27-106
1.1 परिवार	29-53
1.2 विवाह	53-78
1.3 विवाह-तलाक कानून	79-105
1.4 निष्कर्ष	105-106
अध्याय-2	
आथिक व्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी	107-151
2.1 संगठित क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी	124-135
2.2 असंगठित क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी	135-150
2.3 निष्कर्ष	150-151
अध्याय-3	
हिंसा	152-256
3.1 हिंसा और महिला	154-165
3.2 सती और हिंसा	165-171
3.3 घरेलू हिंसा और महिला	171-198
3.4 दहेज और हिंसा	199-206

3. 5 बलात्कार और हिंसा 206-222

3.7 कन्या शिशु हत्या और कन्या भ्रूण हत्या 223-232

3.8 गर्भनिरोधक/जनसंख्या नियंत्रण के साधन 232-240

3.9 महिला उत्पीड़ न 240-254

3.10 निष्कर्ष 254-256

अध्याय-4

वर्ग, जाति और धर्म 257-362

4.1 वर्ग 260-282

4.2 जाति 283-296

4.2.1 सामाजिक न्याय और आरक्षण 296-304

4.2.2 सामाजिक न्याय और महिला आरक्षण 304-310

4.2.3 दलित उत्पीड़न/दलित राजनीति 310-326

4.3 धर्म 326-330

4.3.1 सांप्रदायिकता, सांप्रदायिक राजनिति और महिलाएं 330-344

4.3.2 सामुदायिक पहचान और सांप्रदायिक राजनीति 344-350

4.3.3 धर्मांतरण और धर्मपरिवर्तन 350-361

4.4 निष्कर्ष 361-362

उपसंहार : निरंतर संघर्ष 363-370

संदर्भ ग्रंथ सूची 371-402

आभार

हिंदी अख़बारों के अपनी विकास यात्रा में महिलाओं की समस्याएं या महिलाओं की छवि एक ही तरह की नहीं रही हैं, वह बनती भी रही है और निरंतर बदलती भी रही है। अपने शुरूआत के कुछ दशकों के बाद हिंदी के अख़बारों ने महिलाओं की समस्याओं को मानवतावादी नज़रिये से देखने का प्रयास किया और आदर्श महिलाओं के छवि को गढ़ने का प्रयास किया| जिस सीमाबद्धता स्थिति को धीरे-धीरे महिलाओं ने स्वयं पुन:परिभाषित किया और दायरे में कैद अपनी छवियों को तोड़कर निजी और सार्वजनिक दुनिया में उपस्थित हुई। 19वीं सदी में महिलाओं को सामाजिक तौर पर उपयोगी(मां के रूप में) माना गया। परंतु, जैसे-जैसे आगे बढ़ी इसकी दिशा भी बदल गई? स्वतंत्र भारत में स्त्री-पुरुष असमानता के प्रश्न उठे तो महिलाओं की स्त्री छवि पेश करने के बजाए उनको कामकाजी महिला के रूप में पेश किया गया। आज जब महिलाएं बाज़ार उनको कामकाजी महिला के रूप में पेश किया गया। आज जब महिलाएं बाज़ार में उत्पादों की एक बड़ी उपभोक्ता भी है तो कभी घरेलू आदर्श महिला, तो कभी आधुनिक आत्मनिर्भर महिला की छवि बनाई जा रही है। इससे यह एहसास होता है कि महिलाओं की छवि लगातार गढ़ी गई है और यह काम शुरूआत से होती आ रही है।

इन सब के मध्य हिंदी पत्रकारिता में धर्म व जाति के साथ नये-नये नियामक भी प्रकट होते रहे है जो महिलाओं के समानता और स्वतंत्रता के सवाल उलझते भी रहे और टकराते भी रहे हैं। जिससे इतना तो अवश्य हुआ कि सदियों से महिलाओं के जो सवाल अब तक हाशिए पर सिमटे हुए थे, जिनपर कभी बात भी नहीं होती थी, वो हाशिये से उठकर केंद्र में आने लगे और स्वतंत्र मूल्यांकन की मांग होने लगी। फिर भी, हिंदी पत्रकारिता महिलाओं की समस्या का मूल्यांकन कमोबेश स्त्री-पुरुष विभाजन के रूप में अभिव्यक्त होते हुए दिखती हैं। जबकि तमाम महिलाओं की समस्याओं कि विसंगतियां, विडंबनाएं और विषमताएं समाज में मौजूद आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एंव वर्गीय श्रेणीबद्धता/विभिन्नता के कारण है। हर महिलाओं का संदर्भ-संसार एक दूसरे से नितान्त अगल तरह का है, उनकी परिस्थितिजन्य चुनौतियां और रेसपांस तरीके से देखने को मिलती हैं, जो महिलाओं की समस्याओं को सतही तौर पर पाठकों के मध्य स्थापित करती हैं। यह तथ्य यदि एक तरफ सीमाबद्धता उत्पन्न करती है, तो समझदारी विकसित करने का मौका भी देती है।

इन संदर्भों के साथ अपने विषय पर काम करते हुए उसके राजनीतिक इतिहास, संस्थागत राजनीति और महिलाओं के सवालों के पड़ताल या मूल्यांकन में यह बार-बार लगता रहा है कि मैं जो कुछ जो कुछ कह रहा हूं वह अपने आप में नया और मौलिक है। परंतु अनुसंधान मार्ग पर आगे बढ़ते हुए मुझे यह महसूस हुआ कि अभी तक जो कुछ भी सोचा है या लिखा है वह कहीं-न-कहीं महिलाओं के संघर्ष या आत्मा अनुभवों का वह हिस्सा हैं जो अभी तक अभिव्यक्त नहीं

हो सका है। मेरे विचारों के पनपने और बनने में महिलाओं के संघर्षों और अनुभवों का अहम योगदान रहा है और इसके लिए मैं उनका अभार प्रकट करता हूं। मेरी खुशनसीबी है कि इस विषय पर काम करते हुए मैं ने उन महिलाओं के स्वरों को कलमबद्ध किया है को महिला आंदोलनों में भी प्रकट होते रहे हैं। मैं उम्मीद करता हूं आधी आबादी के संघर्षों में हमकदम बना सका।

मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि इस शोध-कार्य में महिलाओं की उन्हीं समस्याओं को शामिल किया गया हैं जो हिंदी पत्रकारिता में अभिव्यक्ति होते रहे हैं। इस शोध में महिलाओं के उन प्रश्नों को शामिल नहीं किया गया हैं जो महिलाओं के संघर्षों में प्रासंगिक रहे हैं परंतु, हिंदी पत्रकारिता में अभिव्यक्ति का हिस्सा नहीं बन पाई है या हिंदी पत्रकारिता में वो गौण रहे है। मसलन, वेश्यावृत्ति पर औपनिवेशिक काल पर काफी लेखन देखने को मिलते है परंतु, मौजूदा समय में वो लगभग गायब हो चुकी है। इसीप्रकार "सेरोगेसी" पर हिंदी पत्रकारिता में एक्का-दुक्का लेख ही देखने को मिलते है। इस शोध कार्य में ख़ासतौर से हिंदी के पब्लिक स्फीयर के बनने के समय कि राजनीति, विचारधाराओं, समाज सुधारकों की रणनीतियों और राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए उस दौर के अख़बारों में महिलाओं की समस्याओं की अभिव्यक्ति को देखने और समझने का प्रयास भी किया गया हैं। ताकि यह समझा जा सके कि उस दौर में महिलाएं अपनी समस्याओं को अभिव्यक्ति करने या पुन: परिभाषित करने के लिए किस तरह से संगठित हो रही थी। हालांकि मेरे समय का समय वर्ष 1990-2010 का है परंतु, इस पर सम्यक रूप से विचार करने के लिए इसके अतीत और आने वाले समय में होने वाली घटनाओं को भी स्पर्श किया गया हैं। जहां-जहां जरूरत पड़ी है वहां मैं ने आजादी के बाद हिंदी पत्रकारिता में हो रहे बदलावों के मध्य महिलाओं के प्रश्नों का भी जायजा लिया है। ऐसा इसलिए भी किया है क्योंकि हिंदी पत्रकारिता अपनी गतिशीलता का दंभ पीछे मुड़कर औपनिवेशिक देशकाल के पत्रकारिता के आदर्श से करता है जबकि स्थिति अभी भी निराशाजनक है और वैकल्पिक स्पेस ही महिलाओं के प्रश्नों को समग्रता में अभिव्यक्ति कर रहे हैं। इसलिए शोध के आरंभ में औपनिवेशिक देशकाल में महिलाओं की समस्याओं की अभिव्यक्तियों को देखा गया है।

महिलाओं की समस्याओं और हिंदी पत्रकारिता में हो रहे बदलावों को समझते हुए मैं फ्रांचेस्का आंर्सीनी, लीला दुबे, सिमोन द बुआ, राधा कुमार, कुमकुम राय, कुमकुम संगारी, गेल ओमवेत, तनिका सरकार, उमा चक्रवति, इलीना सेन, लोक चितंन ग्रंथ माला कि किताबें, सेवति निनान, ए.एस.अल्टेयर, के.ललिता, जोना डियल, वसुधा डालमिया, कुमुद शर्मा, फ्लेविया एग्नेस, राम पुनयानी, कमला गणेश, जिनी लोकनिता, समिता सेन और चारू गुप्ता की पुस्तकें जो तथ्य और जानकारी से परिपूर्ण हैं का अभार करता हूं। शुरूआती काम के दौरान हिंदी पत्रकारिता विषय पर मैं रामशरण जोशी, आनंद प्रधान, अनिल चमड़िया, आलोक श्रीवास्तव, कृपाशंकर चौबे, अपूर्वानंद,

प्रकाश दुबे, उर्मिलेश और रांबिन जेफ्री से लगातार संवाद में रहा। यह जरूर रहा कि मैं इन विद्धानों की पुस्तकों के पूरी तरह से सहमत नहीं हो सका। पर मेरे काम पर इन विद्धानों के कार्यों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका। पर मेरे काम पर इनके कार्यों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका। इनकी किताबों और लेखों ने मेरी समझ को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। मेरे स्त्री विषयक सोच को लोकतांत्रिक बनाने में इन लेखकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही हैं। एम.ए. के दिनों में अगर सिमोन द बुआ की किताब "द सेकंड सेक्स" का हिंदी अनुवाद "स्त्री उपेक्षिता" का हिंदी अनुवाद मैं ने नहीं पढ़ी होती, तो स्त्री अध्ययन के तरफ आकर्षित होना और इस शोध की परिकल्पना करना संभव ही नहीं होता।

मैं इस काम के लिए कई लोगों के प्रति व्यक्तिगत और बौद्धिक रूप से ऋणी हूं। मेरे शोध निर्देशक प्रो. जी. अरूणिमा से लगातार हुए संवाद से ही इस शोध विषय का चयन मैं ने किया। अपनी अकादमिक एंव सामाजिक गतिविधियों की व्यस्ततम दिनचर्या में से इन शोध के लिए विमार-विमर्श के लिए मुझे काफी समय दिया। मैं जब भी उनसे मिलता था, तो न ही मेरे समझ हर बार बढ़ती थी बल्कि अपने काम को नये परिपेक्ष्य में देखने का नज़रिया भी मुझे उनसे मिलता था। इन मुलाकातों ने मेरी अंदर गहराई से छानबीन करने की प्रवृत्ति का विकास किया। उनकी क्लास में भी जो कुछ भी उन्होंने पढ़ाया उससे महिलाओं की समस्याओं के विषय में मेरी समझ और अधिक गहरी हुई। मैं उनके प्रति इसलिए भी अभारी हूं कि उन्होंने मुझपर पूरा विश्वास किया और मुझे अपने तरीके से काम करने की पूरी आजादी दी उनके सहयोग और मार्गदर्शन के बिना इस कार्य का न तो प्रारंभ संभव था और न पूर्ण होता।

अपने विचारों, सुझावों और स्त्रोत सामग्री से मुझे अपने विभाग में डा. लता सिंह, डा.मलारिका सिन्हा राय, डा. पापोरी बोरा और डा. नवनीता मौकी मारूथल से काफी मदद मिली। डा. लता सिंह और डा. मलारिका सिन्हा राय के प्रति मैं जितना भी आभार प्रकट करूं, कम है, पूरे मसौदे को पढ़कर, कई महत्वपूर्ण सवाल उठाए। उनके हस्तक्षेप के बिना कई महत्वपूर्ण पहलू अनछुए रह जाते। डा. पापोरी बोरा और डा. नवनीता मौकी मारूथल से मैं विभाग में अचानक ही मिलता और विषय पर अपने दंव्द्धों पर बात करता, उनके महत्वपूर्ण सुझाव में मेरे दंव्द्ध को सही दिशा में प्रेरित करते और विषय को समझने का नया नज़रिया मुझको देते। मैं प्रो. कुमकुम राय का विशेष रूप से अभार प्रकट करता हूं शोध की परिकल्पना में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण रही, उनके सुझाव और दिशा-निर्देर्शों ने शोध की रूप-रेखा तय करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके अतिरिक्त विभाग में हो रहे सेमिनार के विषय इतने प्रासंगिक रहे है कि मुझे अपने शोध कार्य के चिंतन प्रक्रिया को एक निश्चित राह मिल सकी।

मैं व्यक्तिगत रूप से प्रों इलीना सेन और उमा चक्रवति का तहे दिल से ऋणी हूं उनसे जब-जब दिल्ली या दिल्ली के बाहर जब कभी भी मेरी मुलाकात हुई कम समय में ही मुझसे बात की।

उन्होंने मेरे काम को देखने का एक अलहदा नज़रिया मुझको दिया। उनके व्यापक स्त्रोतों और सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की गहरी समझ से, मैं हमेशा लाभान्वित रहा हूं।

यह कहना औपचारिकता मात्र है कि कोई भी प्रबंध मित्रों के बिना नहीं लिखा जा सकता है। मित्रों के कारण ही जटिल कार्य करने के लिए दिन-प्रति दिन हौसला मिलता है। मेरे प्रिय मित्र देवाशीष प्रसून, अरूण उरांव, दिलीप खान, माहताब आलम और ओम प्रकाश ने समय-समय पर मेरे काम पर मूल्यवान कमेंट दिए और आलोचना करने में कभी पीछे नहीं रहें। समय-समय पर चर्चाएं होती रहीं जो काफी उपयोगी रही। देवाशीष प्रसून के साथ एम.फिल के दिनों में लंबी बातचीत और कई बहसों के बाद इस विषय पर काम करने की सहमति बनी थी। इसके लिए मैं तहे-दिल से उसका अभारी हूं। साइबर स्पेस के मेरे मित्र स्वाती ठाकुर, अनमोल सक्सेना और अनीता मिश्रा जो निजी और सार्वजनिक संस्थाओं में कार्यरत है, से अपने विषय पर निरंतर बात करता। उनके व्यावहारिक अनुभव और महिलाओं की समस्याओं पर उनकी समझ ने मुझे अपने विषय के परिपेक्ष्य को नए तरीके से देखने की चुनौति प्रदान की।

विभाग में अपने सहपाठी ममता कराड़े जिसने मुझे कभी आर्थिक कमी खलने नहीं दी, फेलोशिप के विलंब से आने पर मैं हमेशा ममता के तरफ से फिक्रमंद रहता, हमेशा मौके पर उसके आर्थिक सहयोग के बिना कई पुस्तकालय और अभिलेखागारों में जाना संभव नहीं हो पाता। मजोज दा और अपर्णा के विचार और उत्साहवर्धन से मेरा व्यक्तिगत कार्य एक सामूहिक प्रयत्न में बदल दिया। अपर्णा के साथ हमेशा लंच और चाय पीने के दौरान मेरे काम पर कई महत्वपूर्ण सवाल उठाए और सुझाव दिये। उसके हस्तक्षेप के बिना कई महत्वपूर्ण तथ्यों का विश्लेषण नहीं हो पाता। विभाग के एम फिल बैच के शोधार्थी अस्वथी, परिधी, गीता, जयप्रकाश(जेपी), तरंग और कुमार अंशु ने मुझे जो स्नेह और मेरे विषय पर अपने सुझाव दिए, साथ ही विषय पर बेबाकी से बहस करते है। इनके साथ बहसों में मैं महिलाओं की समस्याओं की विविधता, श्रेणीबद्धता और भिन्नता को बहुत करीब से महसूस कर सका। उनके साथ मौज-मस्ती विषयों पर वाद-विवाद के क्षणों ने मेरे कार्य को अर्थवान बनाने में सहयोग दिया। ख़ास कर विषयों को नये तरीके से सोचना और उसपर बेबाकी से अपनी राय देना मेरे कार्य को नई ऊर्जा और गतिशीलता दी। इन सबों के साथ न केवल अच्छा वक्त आसानी से बीता, बल्कि यह कार्य भी पूरा हो सका।

विभाग में कार्यरत कर्मचारी कंचन मान और धीरेन्द्र सिंह रावत(धीरूभाई) मेरे कार्य के दौरान, मेरे अंदर तमाम उतार चढ़ाव के साक्षी रहे है। मैं विशेष रूप से इन दोनों को धन्यवाद देना चाहता हूं मेरा काफी सहयोग किया। खासकर निराशा के क्षणों में प्रोत्साहन और सहारा दिया। इस कार्य के समापन में उनकी भूमिका को गौण नहीं किया जा सकता है। कंचन मैम से मैं ठेके पर कार्यरत कामकाजी महिलाओं के अनुभवों और उनकी समस्याओं के कई बारिकीयों को अधिक करीब से समझ पाया। गोया ठेके पर कार्यरत कामकाजी महिलाओं को मातृत्व एंव प्रसूती संबंधी अधिकारों

का कोई फायदा नहीं मिल पाता है। साथ ही कार्य करती हुई महिलाएं किस प्रकार सामाजिक और पारिवारिक द्वंद के मध्य अपना कार्य करती है,आदि।

इस विषय पर काम करने की सबसे बड़ी चुनौती बीस वर्ष के तीन अख़बारों(नवभारत टाईम्स, हिंदुस्तान और दैनिक जागरण) का अध्यन करना था। जिसके लिए मुझे कई अभिलेखागार और पुस्तकालयों में जाने का अवसर मिला। नेहरू समृति संग्रहालय एंव पुस्तकालय, नई दिल्ली, माधव राव सप्रे समाचार पत्र संग्रहालय, भोपाल और महात्मा गांधी नेशनल मेमोरियल ट्रस्ट, पटना के अधिकारियों और कर्मचारियों का आभारी हूं। मैं अपने शोध के शुरूवात से ही नेहरू समृति संग्रहालय एंव पुस्तकालय, नई दिल्ली से जुड़ रहा। समय-समय पर वहां होने वाले विचार गोष्ठियों और वहां के कर्मचारियों की उत्कृष्ट कार्यदशाओं ने मेरे काम को अधिक सुगम बनाने में काफी सहायता की। मैं विशेष रूप से तात्कालीन निर्देशक प्रो. महेश रगंराजन सर के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं। महात्मा गांधी नेशनल मेमोरियल ट्रस्ट, पटना के सचिव प्रो. रजी अहमद का ऋणी हूं, उन्होंने हिंदुस्तान, दैनिक जागरण और नवभारत टाईम्स के सारी फाइल देखने की व्यवस्था मेरे लिए करवाई। जब मैं वर्ष 1990 से 2010 के अख़बरों के उपलब्धता से परेशान हो गया था और कई जगहों पर हिंदुस्तान, दैनिक जागरण और नवभारत टाईम्स मुझे उपलब्ध नहीं हो पा रहे थे।

मैं अपने माता-पिता और बड़ी बहन और भाई का विशेष अभारी हूं। वे न जाने कब से इस क्षण के इतंजार कर रहे है। पता नहीं मैं उनके उम्मीद पर खड़ा उतर पाया हूं या नहीं। अंत में, मैं अपने शिक्षण संस्थान जवाहर लाल नेहरू विश्वविधायल के प्रति अपना सम्मान प्रकट करता हूं। मैं पी एच डी के लिए यहां आया। यहां मैं श्रेष्ठ विद्धानों के संपर्क में आया और लोगों का असी-म स्नेह मिला। जिसकी मेरे ऊपर गहरी और व्यापक छाप छोड़ी। इस दौरान सभी मित्रों और साथियों का नाम लेना संभव प्रतीत नहीं होता है परंतु, इतना तो मैं कहना ही चाहता हूं कि उनके बिना जो मैं आज हूं वह नहीं होता। जवाहर लाल नेहरू विश्वविधायल मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन गया है जिससे मुझे आजीवन अलग नहीं किया जा सकता है।

मैं अपना शोध कार्य आधी आबादी की उन महिलाओं को समर्पित करना चाहूंगा जो निजी और सार्वजनिक जीवन में समानता/ स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत है और बेहतर मानवता की तलाश में है। और अंत में. मैं स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करना चाहता हूं कि इस कृति में जो भी विचार और निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं उसके लिए केवल और केवल मैं ही जिम्मेदार हूं।

विषय-प्रवेश

|

> 'हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को: सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करनेवाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में 26 जनवरी 1949 को एतदद्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मापर्ति करते है।'[1]

इस वाक्य से प्रारंभ संविधान की प्रस्तावना में हुई समानता की सैद्धांतिक घोषणा के बावजूद आजादी के शुरूआती दो दशकों के समय के बाद, भारतीय लोकतंत्र में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समानता के संघर्ष से जुड़े कई प्रश्न को एक साथ उठने लगे। समानता की संवैधानिक अवधारणा में ऊंच-नीच की श्रेणीबद्ध व्यवस्था के कारण असमानता और राज्य का नवीन चरित्र तथा जातीय, धार्मिक और आर्थिक आधार पर उभरती सामुदायिक पहचान के बीच का टकराव कई सामाजिक घटनाओं में प्रकट हो रहे थे। इन समस्याओं के साथ, नई सहस्त्राब्दि में बढ़ती हुई आबादी में वोटरों का बढ़ती संख्या, उनकी उम्मीदों और आकांक्षाओं ने, आजादी के बाद विकास के लिए अब तक स्वीकार किए गये परंपरागत तरीकों को स्वीकारने से इऩकार कर दिया। जिसने एक दलीय सरकार की अवधारणा को प्रश्नाकिंत किया और गठबंधन की राजनीति का अंगीकार किया; क्योंकि परंपरागत मांडलों में कई कमियां और अंतर्विरोध उभर रहे थे। जिसके कारण लोग उम्मीद और अकांक्षाओं व असलियत के मध्य पेडुलम के भांति झुल रहे थे। लोकतांत्रिक राजनीति में राजनीतिक सहभागिता का विकास हुआ, वंचित जातियां और उपेक्षित तबके राजनीति के मुख्यधारा में अपनी दावेदारियां मजबूत करने लगे। राजनीतिक के साथ-साथ अर्थव्यवस्था का महत्व बढ़ने लगा। इन बदलावों ने नई सदी में उदारीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव में बाजार की प्राथमिकता को स्वीकार किया और उसकी शक्ति को प्राथमिकता भी दी गई। नये सामाजिक परिपेक्ष्य में, नई आर्थिक गतिशीलिता की शक्तियों ने संचार क्रांति और कम्प्यूटीकरण के आधार पर, महिला विषयों के साथ-साथ राष्ट्रीय विकास के नये प्रतिमान को स्थापित करने का दावा किया। परंतु, विकास के नये प्रतिमान ने राजनीतिक, प्रशासनिक और वैचारिक बदलाव ने समाज के वंचित तबकों और महिलाओं (नर-नारी के सामाजिक पहलू) के लिए नए प्रश्नों को भी खड़ा किया। क्योंकि इसके साथ-साथ क्षेत्रीय, धार्मिक, जातीय और सामुदायिक पहचान को लेकर हिंसक अथवा वैचारिक संघर्ष में भी तेज़ हुए। राज्य की

[1] सुभाष काश्यप, भारत का संविधान, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, 2001, पेज न०-1

लोककल्याणकारी परिभाषा में बदलाव के कारण वंचित तबकों के तकलीफों में इज़ाफा हुआ। राज्य ने लिंग की अवधारणा को भाषा के स्तर पर सभी नीतियों के स्तरों पर स्वीकार जरूर किया (महिला सशक्तिकरण के आधार पर)। परंतु, इस शाब्दिक स्वीकारता ने नागरिक समाज में महिलाओं की समस्याओं को कम नहीं किया। भारतीय राजनीति में जातीय और धार्मिक ध्रुवीकरण ने वंचित समुदाय के लोगों साथ-साथ महिलाओं के अस्तित्व के प्रश्न को भी केंद्रिय विषय बना दिया।

नई सहस्त्राब्दि में अर्थव्यवस्था में गतिशीलता का प्रयास, मंडल आयोग की आरक्षण की सिफारिश, अयोध्या के विवादित ढांचे का विध्वंस, गोधरा और गुजरात का अमानवीय नरसंहार, महिलाओं के आरक्षण के प्रश्न, सम्मान के नाम पर आंनर किलिग, खाप पंचायत और धर्मगुरुओं के फतवे, समान नागरिक संहिता की मांग, तीन तलाक पर रोक, लड़कियों के पोशाक, प्रेम, पसंद पर चौकीदारी, कन्याभ्रूण-हत्या, गर्भाधान व गर्भपात का अधिकार, कार्यस्थल पर महिलाओं का यौन-शोषण, घरेलू हिंसा और सामुदायिक पहचान के आधार पर महिलाओं के साथ भेदभाव की तमाम पृष्ठभूमि में, महिलाओं की स्थिति की व्यवस्थिति जांच-पड़ताल महत्वपूर्ण हो जाती हैं।

भारतीय इतिहास और वर्तमान परिवेश में भी राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक मोर्चे पर महिलाओं की स्थिति कम संतोषजनक और हाशिये पर उत्पीड़ित व शोषित की ज़्यादा रही है। इस उत्पीड़न और शोषण के खिलाफ महिलाओं का संघर्ष की मजबूत परंपरा भी रही हैं। इस परंपरा ने इतिहास को खंगाल कर पितृसत्ता की वर्चस्ववादी भारतीय संरचनाओं की पहचान मजबूती से कर उसे अभिव्यक्त भी किया हैं। जिसने समाज में मौजूद वर्चस्वशाली मूल्यों और स्त्री-पुरुष संबंधो में मौजूद असमानता को बहस के केंद्र में लाने का प्रयास किया। स्त्री अस्मिता के सवाल ने भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था के कारण महिलाओं के श्रम पर प्रभाव और नर-नारी संबंधों का सूक्ष्म विश्लेषण भी किया हैं। आजादी के पहले दो दशकों में महिलाओं के विषय पर हुए कई अध्ययनों में सती-प्रथा, विधवा-विवाह, कन्या शिशु-हत्या, बाल-विवाह, अपहरण, वेश्यावृति और कानूनी तथा शैक्षिक स्तर पर भेदभाव का वर्णन किया। इस काल के बाद मध्य-वर्ग, शिक्षित और शहरी कामकाजी महिलाओं के दोहरी भूमिका के दंव्द को कई अध्ययन परिलक्षित करते हैं। 70 के दशक में महिलाओं के सार्वजनिक और निजी जीवन के प्रश्न, जो उसके शोषण व उत्पीड़न से जुड़े हुए थे, इनको महिला आंदोलनों ने महिलाओं का निजी प्रश्न नहीं सार्वजनिक समस्या माना। परिणामस्वरूप घरेलू हिंसा, दहेज-हत्या, बलात्कार, कामकाजी महिलाओं का यौन शोषण या छेड़छाड़, क्रेच की सुविधा व प्रसूति-अवकाश का अधिकार आदि विषय एक मंच पर उभर कर सामने आए। इन विषयों को बहस का विषय बनाया गया और इनपर खुलकर चर्चा होने लगी और कई अध्ययन भी सामने आए।

70 के दशक में महिलाओं के स्थिति पर अध्ययन करती हुई रिपोर्ट "समानता की ओर(Towards Equality)"[2] ने आजादी के तीन दशक बाद महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य, कार्य स्थिति और राजनीतिक भागीदारी से जुड़े कई तथ्यों को अध्ययन का विषय बनाया। बदली हुई सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में व महिलाओं के विकास से जुड़े समस्याओं के आधार पर यह कहा गया कि समाजिक परिवर्तन तथा विकास ने महिलाओं के बहुत बड़े वर्ग पर विपरीत प्रभाव डाल कर असंतुलन व असमानताएं उत्पन्न की है। जिसके कारण स्त्रियों व पुरुषों की संख्या के बीच अनुपात घटा, स्त्रियों की आयु भी कम हुई, शिशु व मातृ मृत्यु-दर बढ़ी, निरक्षरता व काम में सहभागिता का स्तर घटा है। इस रिपोर्ट ने कमजोर महिलाओं की स्थिति पर केंद्रित वाद-विवाद को पुनर्जीवित किया। लेकिन, इस रिपोर्ट में घटते समाजिक मूल्यबोध, सरकारी नीतियों में महिलाओं की स्थिति एंव प्रतिरोध के स्वर पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, जो बाद में उभरकर सामने आए। परिणामस्वरूप कई विकास योजनाओं और नीति के स्तर पर महिलाओं की सहभागिता को स्वीकार किया गया। ठीक इस समय, जब महिलाओं से संबंधित बहसों में नीति के स्तर पर महत्वपूर्ण परिवर्तन आ रहे थे, वर्ष 1980 ई. के दशक में मथुरा बलात्कार कांड ने हिंसा को बहस का केंद्रिय मुद्दा बनाया। स्वास्थ्य, ग़ोजगार और अन्य विषयों पर महिलाओं के संदर्भ में हिंदी पत्रकारिता के अख़बारों में प्रस्तुति और सार्वजनिक व निजी स्थानों पर भी हिंसा विस्फोटक मुद्दा बनकर उभरा। जिसने इस विश्वास का खंडन किया कि विकासात्मक रणनीति और उसके सकारात्मक प्रभाव, महिलाओं के हिंसा की समस्याओं का निवारण कर देंगे। अपितु, आने वाले वर्षों में हिंसा और महिलाओं के खिलाफ हिंसा के अनेक नए रूप देखने में आए(घरेलू हिंसा और वधू-दहन के संदर्भ में)। न केवल नए खतरनाक, दबे-छिपे हिंसा के तरीके सामने आए, वरन महिलाएं भी उनमें कई तरह से शामिल पाई गई। महिलाएं न सिर्फ़ हिंसा में भागीदार थीं, बल्कि दूसरे महिलाओं के प्रति हिंसा भी कर रही थी। नई परिस्थितियों में हिंसा के मुद्दे की समझ और जटिलता दोनों नये तरीके से प्रकट हुए। अस्सी के दशक के अंतिम वर्ष और नब्बे के दशक के प्रारंभ में महिलाओं की समस्याओं[3] की बहसों में नई चुनौतियां शामिल होती दिखती हैं। रूपकुंवर का सती होना, मथुरा रेप केस, शाहबानों का गुजारा भत्ता का मामला, मंडल आरक्षण की सिफारिश, अयोध्या के विवादित ढ़ाचे का विध्वंस, वैश्वीकरण की स्वीकृति और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रवेश ने अर्थव्यवस्था, समाज, राजनीति, शिक्षा और संस्कृति की प्राथमिकताओं को बदल दिया। सांप्रदायिक और जातिगत संघर्षों के दौरान महिलाओं की मौजूदगी ने महिलाओं की समस्याओं के विषय पर कई महत्वपूर्ण बदलाव किए। यह बदलाव जातिगत एवं सामुदायिक पहचान पर केंद्रित हुए दिखते हैं। शोषण के लिए महिला का इस्तेमाल, खासतौर से सांप्रदायिक

[2] Towards Equality, Report on the Committee on the Status of Women in India Ministry of Education and Social Welfare, Govt. of India. 1974

[3] महिलाओं की समस्याओं से अर्थ हिंदी पत्रकारिता के अखबारों में महिलाओं के विषयों के अभिव्यक्ति को लेकर है। इसमें महिलाओं के उन समस्याओं को शामिल किया गया है जो हिंदी अखबारों में अभिव्यक्त होते है।

और जातीय विवादों में, विरोधाभासी परिस्थितियों में महिलाओं की संस्थागत स्थिति एंव सांस्कृतिक प्रतीकों का पितृसत्तामक मूल्यों का प्रयोग, लैंगिकता के आधार पर असमानता के विरुद्ध संघर्ष में ठहराव ला देता हैं। भारतीय समाज में हो रहे तमाम बदलावों को हिंदी पत्रकारिता ने अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है, हिंदी पत्रकारिता के फाइलों से बदलाव के हर दौर के बारिकियों का जायजा लिया जा सकता है। अलग-अलग समय में हिंदी पत्रकारिता को लेकर कई शोध प्रबंध और स्वतंत्र अध्ययन देखने को मिलते है। परंतु, हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं के समस्याओं कि अभिव्यक्ति को लेकर मूल्यांकन बहुपक्षीय परिपेक्ष्य से कम देखने को मिलता है। यही इस अध्ययन की सार्थकता और उद्देश्य है।

II

सामाजिक परिर्वतन के हर दौर में महिलाओं की समस्याओं और संघर्ष को हिंदी पत्रकारिता में जगह मिलती रही हैं और अख़बारों व पत्र-पत्रिकाओं ने महिलाओं की समस्या को स्वर प्रदान करने का काम भी किया हैं। महिलाओं के शोषण, उत्पीड़न और समानता के विषयों को देशव्यापी रोष और राजनीतिक महत्व का प्रश्न बनाने का काम हिंदी पत्रकारिता ने औपनिवेशिक काल से ही शुरू कर दिया था। अपने सामाजिक दायित्व को निभाने के बजाए जनसंचार के प्रमुख माध्यम के रूप में हिंदी पत्रकारिता ने महिलाओं के छवि के संदर्भ में रूढ़िवादी छवि को संजोये रखा और सयास पोषित भी किया जो कि अधिक पूर्वाग्रह से संचालित था। औपनिवेशिक काल में पहले महिलाओं की समस्याओं को मानवतावादी नज़रिये से देखने का प्रयास दिखता है। डा. मीरा कांत "अंतरराष्ट्रीय महिला दशक और हिंदी पत्रकारिता" में वर्ष 1800-1900 के मध्य हिंदी पत्रकारिता में स्त्री प्रश्न का मूल्याकंन करते हुए बताती हैं कि -

> "इस दशक मे हिंदी पत्रकारिता में यह ध्वनि अंर्तध्वनित होती है कि धार्मिक और जातीय परंपराएं महिलाओं के दुर्दशा का आधार नहीं है। पाश्चात्य प्रभाव में पुरुष समाज सुधारकों ने महिलाओं के व्यक्तित्व को पहचाना। किंतु मुख्यत: उनका ध्येय स्त्रियों को बेहतर पत्नी व मां बनाना था, उनका आदर्श ऐसी महिलाएं थीं जो आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर परिवार को सुचारू रूप से चलाएं और अपने पति और पुत्र के साथ समझ के स्तरों की खाई को पाट सकें।"[4]

जिसकी चर्चा रोजालिंद ओहानलोन ने "ए कम्पैरिजन, विटबिन वुमेन एंड मैन: ताराबाई शिंदे एंड दी क्रिटीक आंफ जेंडर रिलेशंन इन कोलोनियल इंडिया" में करती है। वीरभारत तलवार, तनिका सरकार और वसुधा डालमिया भी इस प्रतिस्थापना की चर्चा करती है। परंतु, इन चर्चाओं में पुरुष सुधारकों के परंपरा पोषक मूल्यबोध और आधुनिकता के अंतविरोधों की गतिशीलता की अनदेखी

[4] डा.मीरा कांत, अन्तराष्ट्रीय महिला दशक के पूर्व की हिंदी पत्रकारिता, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, 1994, पेज न०- 66

मिलती हैं क्योंकि बदलाव की शक्तियों को ज़्यादा दिन तक रोक पाना किसी भी समाज के लिए संभव नहीं होता है।

वर्ष 1920 के दशक के आते-आते शिक्षित महिलाओं के समूहों ने महिलाओं के प्रश्नों को स्वयं परिभाषित करना शुरू किया और निजी कर्तव्यों के साथ-साथ निजी भावनाओं को स्वीकार करने की जरूरत पर बहस की शुरूआत की। जिससे पितृसत्ता के नए सांचे सामने उभरकर सामने आए। हालांकि इसकी आलोचना शहरी भद्र वर्ग की महिलाओं के स्वरों के आधार पर होती रही है, जिसने दूसरे अन्य महिलाओं के प्रश्न को चुपके से दायरे से बाहर कर दिया। कुछ पत्रिकाओं द्वारा महिलाओं के प्रश्नों को जैसे दहेज, घरेलू-उत्पीड़न, यहां तक आर्थिक और यौन उत्पीड़न/शोषण को कुछ दुखयारी महिलाओं का नहीं, सभी महिलाओं के सरोकारों से जोड़कर देखा जा रहा था। परंतु, ये प्रयास औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के प्रयास में राजनीतिक प्रयास के रूप में स्थापित नहीं हो सके। फ़ांचेस्का आंर्सीनी "हिंदी का लोकवृत 1920-40 : राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य" के अध्याय "स्त्रियां और हिंदी की दुनिया" में इस दशक में हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में स्त्री के प्रश्न का मूल्यांकन करते हुए बताती हैं कि -

> "हिंदी की दुनिया में मध्य-वर्ग में उच्च जाति के शिक्षित पुरूष के अलावा महिलाओं का समूह भी स्त्री के प्रश्न का आदान-प्रदान कर्ता बन गया। खुद महिलाओं ने भारतीय महिलाओं के आदर्श छवि को स्वीकार करते हुए भी इस जरूरत इस बात की है कि हम स्त्री के प्रश्न के या पितृसत्ता के नये सांचे के आगे जायें। इन महिला समूहों ने अपने बारे में, स्त्री की भूमिका और समाज के नियम-क़ायदों के बारे में सवाल उठाने के लिए इस्तेमाल करना शुरू किया। जिसने महिलाओं के लिए एक आवाज़ और जगह(स्पेस) स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।"[5]

स्वतंत्रता आंदोलन के बाद अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार ने पुरुषों के साथ महिलाओं को भी अभिव्यक्ति का अधिकार दिया। परंतु, हिंदी पत्रकारिता में सहभागिता की कमी के कारण महिलाओं की समस्याओं की अभिव्यक्ति पुरुषों के माध्यम से हो रही थी। बाद के दिनों में महिला की समस्याओं का चित्रण या उसके शरीर के अत्यधिक प्रदर्शन के विरुद्ध विरोध किया जाता रहा है। हिंदी पत्रकारिता की प्राय: एक-सी ऋणात्मक भूमिका महिलाओं के प्रति लिंग आधारित भेदभाव को दूर करने में एक बहुत बड़ी बाधा रही हैं। जाहिर है कि हिंदी पत्रकारिता ने महिलाओं के संदर्भ में अपना अपेक्षित सामाजिक दायित्व का निर्वाह लोकतांत्रिक तरीके से नहीं किया। महिलाओं से जुड़े मुद्दे उभरते जरूर रहे किंतु उसमें वैचारिक प्रखरता का संतुलन देखने को नहीं मिलता है, यानी एक पक्षीय ख़बरों का अख़बारी लेखन हो रहा था जिसमें विषयों पर वस्तुनिष्ठता का अभाव देखने को मिलता है। इससे यह बात भी जाहिर होती है कि समाज में व्यापक स्तर पर लोकतांत्रिक चेतना का विकास हो ही नहीं सका था, जिसका प्रतिबिंब हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलता है।

---

[5] फ्रांचेस्का आंर्सीनी, हिंदी का लोकवृत 1920-1940, अनु.नीलाभ, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2011,पेज न०-356-357

स्वतंत्र भारत में हिंदी पत्रकारिता और पत्र-पत्रिकाओं ने इस बदलाव को प्रमुखता अवश्य दी कि महिलाओं का नाता अब ऱोजगार से जुड़ गया हैं। परंतु, महिला को एक श्रमिक के रूप में नहीं, अपितु दोहरा बोझ उठाती, दोहरा जीवन जीती एक महिला के रूप में किया, जिसका प्राथमिक उद्देश्य घर, परिवार और विवाह संस्था की सेवा है, तो दूसरा ऱोजगार है। आजादी के बाद हिंदी पत्रकारिता के रूढ़िवादी पहचान का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए कमला भसीन बताती हैं कि -

> "अधिकांश अख़बार और पत्र-पत्रिकाओं ने महिलाओं को एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में पेश करने में बड़ी झिझक महसूस की, क्योंकि महिलाओं के विषय पर कोई विवादी स्वर छेड़ने की पहल करने का जोखिम कोई उठाना नहीं चाहता था। इस युग की यह विशेषता रही कि चाहे गृहणियां हो या नौकरी-पेशा महिलाएं उन्हें एक पारिवारिक इकाई के रूप में मान्यता मिली। उन्हें एक स्वतंत्र नागरिक के रूप में पेश करने पर अलगाववादी होने का एक खतरा था।"[6]

हिंदी पत्रकारिता में स्वतंत्रता आंदोलन जैसी प्रेरणादायी चेतना का अभाव और उद्द्योग के रूप में हिंदी अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं के व्यावसायिक हितों के कारणों ने महिलाओं के परंपरागत छवि को सहेजा और उभारा, क्योंकि स्वतंत्र महिला की छवि पेश कर हिंदी पत्रकारिता और पत्र-पत्रिकाएं अपने पाठक समूह को नहीं खोना चाहती थी। इसके साथ-साथ स्वतंत्र महिला की छवि उसके विज्ञापनों की महिलाओं के छवि के विपरीत थी, जिससे विज्ञापन से होने वाली आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता था। स्वतंत्रता आंदोलन के दो दशक बाद सत्तर के दशक में, परंपरागत मूल्यों के महिमा मंडन और लैगिंक पूर्वाग्रह के विषय को कई स्वरों ने संगठित होकर विरोध किया और इस तर्क को मंच पर लाने का प्रयास किया कि संचार माध्यम हमेशा समाज के मिथकों का निर्माण के मशीनरी के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं जो महिलाओं के समानता, स्वतंत्रता और सशक्तिकरण जैसे कारकों को प्रभावित करते हैं साथ ही यथास्थिति को बनाए रखते है।

अस्सी के मध्य दशक में महिला आंदोलन की दिशा को देखते हुए हिंदी पत्रकारिता ने महिला संबंधित ख़बरों के प्रति संवेदनशीलता दिखाई। जब-जब महिला आंदोलनों ने महिलाओं की समस्याओं के साथ संघर्ष किया, इसने जितनी करवटें बदली हिंदी पत्रकारिता ने तब-तब उसके बदलावों के अनुरूप उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। महिला की छवि निर्मित करने में मीडिया ने अपने निर्धारित संहिता का पालन करना शुरू किया। हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं से संबंधित खबरें अंदर के पृष्ठों से उठकर संपादकीय और अतिरिक्त विवेचन-विश्लेषण कर स्त्री विमर्श को वृहतर सामाजिक-आर्थिक परिपेक्ष्य से देखना शुरू किया। स्त्री-संबंधी खबरों के साथ बर्ताव में कई महत्वपूर्ण बदलाव सामने आए। इतिहासकार राधा कुमार नोट करते हुए लिखती हैं-

> "नारीवादी आंदोलन के शुरू होने के फौरन बाद अंग्रेजी भाषा के बड़े अख़बारों ने नारीवादी विषयों पर लिखने के लिए एक या दो महिला पत्रकारों की नियुक्ति की। इससे महिला पत्रकारों का एक

[6] कमला भसीन और बीना अग्रवाल-संपा, वुमेन एंड मीडिया एनेलेसिस, अल्टरनेटिव्स एंड एक्सन, कमला भसीन-वीमेन, डेवेलपमेंट एंड मीडिया, काली फार वुमन, नई दिल्ली, 1984 पेज न०-9

> जाल उभरा जो आठवें दशक के मध्य में बंबई में औपचारिक रूप से महिला पत्रकार समूह के नाम से जाना गया। इस समूह का मुख्य उद्देश्य मुख्यधारा की पत्रकारिता यानी घटनाओं की खबरें देने से हटकर नारी विषयों जैसे दहेज, बलात्कार या सती-प्रथा की विशेष खबरें छापना था।"[7]

अस्सी के मध्य के दशकों में हिंदी पत्रकारिता में हो रहे बदलावों के कारण महिलाओं से संबंधित ख़बरों में मात्रात्मक और गुणात्मक नज़रिये से परिवर्तन देखने को मिलता हैं। महिलाओं से संबंधित गंभीर और शोध आधारित लेख महिलाओं के दयनीय स्थिति को सतह पर उभार कर लाते है कि हिंदी के अखबारों ने महिलाओं के प्रश्नों को एक वृहतर सामाजिक-आर्थिक परिपेक्ष्य में देखना प्रारंभ किया। संपादकीय लेखों में कुछ सुधार देखने को मिलते है, परंतु समाचारों के लेखन में वृतष्णा के भाव में कोई कमी देखने को नहीं मिलती हैं। कई समाचारों के लेखन में सामाजिक उत्पीड़न और अत्याचार का विश्लेषण काफी सतही तौर पर दिखता है। महिला पत्रकारों की सहभागिता में कमी के कारण अधिकांश पुरुष पत्रकार अपनी समस्त बौद्धिकता के बावजूद महिला और समाज से जुड़े मुद्दों के प्रति पुराने सामंती नज़रिये को संजोए हुए थे, जिसके फलस्वरूप या तो वह महिलाओं के समस्याओं के विषयों पर उदासीन थे या हिंदी पत्रकारिता के माध्यम से उसी विचारधारा को पुष्टि करते थे, जिसमें उनके पूर्वजों की आस्था रही थी। औसत हिंदी संपादक महिलाओं के प्रश्न पर प्राय: एक पूर्वग्रह पाले रहते थे।

हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं के साथ भेदभाव का जायजा इस तथ्य से भी किया जा सकता हैं कि हिंदी के अखबारों में महिलाओं की सहभागिता संख्या बहुत कम थी, उनके लिए नौकरियां कम थी।

> "वर्तमान समय में राष्ट्रीय अख़बारों में केवल 17 प्रतिशत पदों पर महिंलाएं काम कर रही हैं। दोहरे स्तर पर भेदभाव के शिकार होने वाले सामाजिक समूहों में भी महिलाओं की उपस्थिति लगभग नगण्य हैं। प्रमुख पदों पर पिछड़ी जाति की महिलाएं नहीं है। मुस्लिम और ईसाई धर्मों के बीच जाति के सदस्य भी नहीं के बराबर है। अंग्रेजी के समाचारपत्रों में महिलाओं की भागीदारी कुछ बेहतर 32 प्रतिशत के आसपास हैं, जो थोड़ी बेहतर है।"[8]

जो महिलाएं पत्रकारिता में काम भी करती है उनको हमेशा संकीर्णतावाद और यौन पूर्वग्रह का सामना करना पड़ता है। रांबिन जेफ्री पंजाब केसरी के संपादक अश्वनी कुमार के साक्षात्कार के आधार पर बताते है कि-

---

[7] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पेज नो- 302

[8] राष्ट्रीय मीडिया सर्वे, अनिल चमड़िया(पत्रकार), जितेंद्र कुमार(पत्रकार), योगेंद्र यादव(सामाजिक कार्यकत्ता), मीडिया स्टडीज ग्रुप, नई दिल्ली, 2006, पेज न०-2

> "1993 में पंजाब केसरी के विजय चोपड़ा से जब ये जब ये सवाल पूछा गया कि उनके संपादक विभाग में महिलाएं क्यों नहीं काम करती हैं तो उन्होंने जवाब दिया कि वे शादी करेंगी और चली जाएंगी। यह जवाब एक खास मानसिकता को हमारे सामने रखता है।"[9]

रांबिन जैफ्री आपातकाल के बाद भारत में भाषायी समाचार पत्रों के उभार, समाज में उसकी केंद्रीय भूमिका और लोगों के जीवन में अख़बारों के माध्यम से आने वाले बदलावों को रेखांकित करते हुए, महिलाओं के कम सहभागिता का विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि-

> "महिला संवाददाताओं और संपादकों की गैर मौजूदगी के कारण आमतौर पर भारतीय भाषाओं के अख़बारों को एक पिटे-पिटाए ढंग से प्रसारित किया जाता है। अख़बार बेचने के लिए और महिलाओं को आकर्षित करने के लिए अख़बारों में अलग से पृष्ठ जोड़े जाने लगे क्योंकि यह बात लोगों को समझ में आने लगी कि महिलाएं एक महत्वपूर्ण उपभोक्ता हैं। लेकिन किसी भी अख़बार में महिलाओं की मूलभूत समस्याओं का जिक्र नहीं होता है। भारतीय भाषाओं के अखबारों मे अधिक महिलाओं का आगमन निम्म मध्यवर्गीय लोगों के बीच जबरदस्त सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक होगा।"[10]

खासकर तब, जब अपरिवर्तनीय रूप में महिला के चित्र प्रस्तुत करने के अतिरिक्त, संचार माध्यम का प्रयोग राजनीतिक व जातीय उन्माद के संदेश को पहुंचाने में किया जाता है। इसके लिए महिलाओं का प्रयोग साधन के रूप में किया जाता है। संचार माध्यम के इस आयाम की गंभीरता सांप्रदायिक व जातीय राजनीति में अधिक प्रबल दिखती है, क्योंकि इसका प्रयोग दूसरे समुदाय के लोगों के विरुद्ध सांप्रदायिक व जातीय हिंसा को बढ़ावा देने के लिए किया जाता है। यह परेशान करने वाली स्थिति है क्योंकि भारतीय भाषायी अख़बारों को महिला पाठक चाहिए परंतु, जहां तक हो से वो महिला पत्रकारों से बचना चाहते हैं। कमोबेश यही स्थिति दलित समुदाय के प्रति भी हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलती है। जहां दलितों समाज के सूचनाओं की अभिव्यक्ति दिखती है, पर हिंदी पत्रकारिता में दलित पत्रकार नगण्य दिखते है।

देश के 37 मीडिया संस्थानों में सामाजिक विविधता तस्वीर का अध्ययन करते हुए, मीडिया स्टडीज ग्रुप इस तथ्य का खुलासा किया कि -

> "राष्ट्रीय मीडिया संस्थानों में फैसला लेने वाले शीर्ष पदों पर एक प्रतिशत अन्य पिछड़ा वर्ग के लोग हैं, लेकिन मीडिया के प्रमुख पदों पर उनकी हिस्सेदारी केवल चार प्रतिशत पाई गई जबकि आठ प्रतिशत जनसंख्या बाले सवर्णों का मीडिया के फैसले लेने वाले 71 प्रतिशत पदों पर वर्चस्व था।।" [11]

---

[9] साक्षात्कार, विजय कुमार चोपड़ा, मुख्य संपादक, जालंधर, 20 मई 1993

[10] रांबिन जेफ्री, भारत में समाचारपत्र क्रांति, पूंजीवाद, राजनीति और भारतीय भाषाई प्रेस, 1977-99, भारतीय जन संचार संस्थान, नई दिल्ली, 2004, पेज न०-163-164

[11] राष्ट्रीय मीडिया सर्वे, अनिल चमड़िया(पत्रकार), जितेंद्र कुमार(पत्रकार), योगेंद्र यादव(सामाजिक कार्यकत्ता), मीडिया स्टडीज ग्रुप, नई दिल्ली, 2006, पेज न०-2

मीडिया संस्थानों में सहभागिता पर सर्वे की आलोचना योग्यता की कमी, सीटों की कमी और समाज को विभाजित करने वाले तर्कों के आधार पर किया गया। परंतु, सामाजिक समूहों के हितों का प्रतिनिधित्व लोकतांत्रिक व्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और निर्णायक पहलू है। इसके अभाव में किसी भी सामाजिक संस्था का अंग सही अर्थों में स्वतंत्रता और समानता का आचरण कैसे कर सकता है? मीडिया संस्थान अगर इस तर्क और तथ्य को नहीं मानते है तो वे लोकतंत्र के साथ नहीं, उसके विरुद्ध खड़े दिखते है।

रांबिन जैफ्री "रजिस्ट्रार फांर न्यूजपेपर्स आंफ इंडिया" के हवाले से बताते है कि हिंदी अखबारों के प्रसार संख्या में अप्रत्याशित रूप से बढ़ोतरी की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि वर्ष 1990 में हिंदी अख़बार के पाठक 2 करोड़ 19 लाख थी, वही वर्ष 2000 में 5 करोड़ 85 लाख हो गई, यानी 167 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई। पहुंच और विस्तार के नज़रिये से हिंदी अख़बारों की भूमिका भाषायी अख़बारों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि भारत के कई गांवों और जिलों में नव-मीडिया[12] (दृश्य व श्रव्य माध्यम) की पहुंच सीमित है। नेशनल रीडरशिप सर्वे 2009 के मुताबिक हिंदी अख़बारों के पाठक तकरीबन 29.36 करोड़ है, जो 2005 में 19.1 करोड़ थी। यानी हिंदी के पाठकों के सख्यां में वृद्धि निरंतर हो रही है, जिसमें शिक्षा के प्रसार, यातायात सुविधा का विस्तार और अन्य कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। नेशनल रीडरशिप सर्वे 2009 के मुताबिक दैनिक भास्कर समूह प्रतिदिन 1.73 करोड़ पाठकों के साथ भारत में सबसे ज़्यादा पढ़ा जाने वाला अख़बार समूह है। दैनिक जागरण समूह के पाठकों का प्रसार में 3.99 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई है। दैनिक हिंदुस्तान के पाठकों में वृद्धि का प्रतिशत 1.90 फीसदी है, तो नवभारत टाइम्स ने अपने पाठकों में 28.70 लाख लोगों को जोड़ने में सफल रहा है, पंजाब केसरी ने भी अपने पाठकों में 21.52 लाख लोगों को जोड़ने मे सफल रहा है।[13] हिंदी अख़बारों के पाठकों के संख्या में वृद्धि को सेवंती निनान "हिंदी के सार्वजनिक दुनिया के पुनर्विष्कार"[14] के रूप में देखती है। हिंदी के अख़बारों के पाठकों की वृद्धि सख्यां में पुरुष और महिला पाठकों की सख्यां का निर्धारण दूर की कौड़ी को लाने के बराबर हैं। क्योंकि इस संबंध में कोई आकंड़े उपलब्ध नहीं हैं। स्पष्टत: भारतीय मीडिया परिदृश्य पर हाल के वर्षों में हिंदी पत्रकारिता की उपस्थिति विशेष

---

[12] नव-मीडिया के संदर्भ में यह समझना जरूरी है कि 90 के दशक में प्रिंट पत्रकारिता के उपस्थिति में ही इलेक्ट्रानिक मीडिया का उदय हुआ, जिसे उस दशक में नव मीडिया कहा जाता था जिसमें बाद के दिनों में ब्लांग, साईबर मीडिया, और सोसल नेटवर्किग साइट भी जुड़ता चला गया, जिसे नव-मीडिया कहा गया। एक दशक बाद स्मार्ट फोन के विकास ने मोबाईल पत्रकरिता, बेव मीडिया और सोशल मीडिया उभर कर आए, जिनको भी नव-मीडिया कहा जाता है। यहां नव मीडिया से तात्पर्य टी.वी. पत्रकारिता से है।

[13] http://mruc.net/irs2012q3_topline_findings.pdf 23/05/2017 समय 5:11 A:M, वनिता कोहली खांडेकर, द राइजिंग द पावर आंफ हिंदी, बिजनेस स्टैंडर्ड, 13 दिंसबर 2012

[14] सेंवती निनान, हेडलाइन फ्राम द हार्टलैंड: रिइनवेंटिग द हिंदी पब्लिक स्फीयर, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पेज न०- 26

अध्ययन की मांग करता है। क्योंकि मौजूदा समय में हिंदी के अख़बारों की सुर्खियां, संपादकीय या समाचारों का लेखा-जोखा भर नहीं हैं। यह सूचनाओं के साथ-साथ विचारों के प्रवाह का माध्यम भी है और अपने स्वरूप में वह एक प्रकार के भारत का मत निर्माता भी है।

किसी भी समय विशेष में अख़बार राज्य, समाज और सत्ता के आपसी संघर्षों, उसके स्वरूप और स्वरूप में आ रहे बदलावों को भी प्रकट करता है। हिंदी पत्रकारिता के विकास यात्रा में कई प्रमुख घटनाएं, उसकी गंभीरता, खबरों की प्रभावोत्पादकता और लक्षित पाठक वर्गों की रूचि के ख़बरों से उनके जुड़ाव आदि से तय होती है। हालांकि ख़बरें समाज विशेष की वस्तुस्थिति से भी तय होते है, न कि किसी तयशुदा परिभाषा से। समय के साथ और समाज में होने वाले आर्थिक-सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन भी ख़बरों के बर्ताव के मानक को बदलते रहते है। मौजूदा समय में हिंदी के अख़बार में एक बड़ा बदलाव यह है कि अख़बार ख़बरों को शासक वर्ग के नज़रिये से देखता है और उसका विश्लेषण करता है, शासक-वर्ग की आलोचना अख़बारों के पन्नों से गायब हो गए है।

लोकतांत्रिक दायरे में पत्रकारिता भूमिका जो सामाजिक जिम्मेदारियों के निर्वहन से तय होती है, उसमें हो रहे बदलाव पर "द हिंदू" के संपादक एन.राम बताते है कि -

> "राजनीतिक व्यवस्था में हमेशा नागरिक और पत्रकारिता की स्वतंत्रता को हाशिये पर रखते है। पत्रकारिता राज्य के अभिव्यक्ति का माउथ पीस बनकर उभर रहे है। इसके खिलाफ होने वाली कोई भी अभिव्यक्ति स्थापित सत्ता के लिए खतरा है और उसे दमनात्मक तरीके से कुचलने की कोशिश होती है। पत्रकारिता के लिए राज्य के साथ क़दम से क़दम मिलाकर चलना ही उसका पहला और अंतिम विकल्प होता है।"[15]

"आपातकाल" के दौरान पत्रकारिता पर राज्य का दमन और नियंत्रण का उदाहरण देखने को मिलता है, जब सरकार ने बड़ी आसानी से प्रेस को अपनी मुट्ठी में कर लिया। जिसका असर काफी दूरगामी रहा। यह माना जा सकता है कि इसके बाद बड़े अख़बार राजनीतिक पार्टीयों के दोस्त बनकर उभरने लगे, राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण से मुक्ति के चाह में पत्रकारिता को पूंजीवाद को गले लगाना पड़ा। अख़बार मालिकों ने स्वयं को जिंदा रखने के लिए और प्रतिस्पर्धा में स्वयं को बनाये रखने के लिए पूंजीपति बनना पड़ा। अख़बारों के पूंजीपति होते ही अख़बार मालिकों को राज्य के छत्रछात्रा में रहने के फायदे समझ में आने लगे। मसलन,

[15] N. Ram, "The Changing Role of the News Media in Contemporary India" Indian History Congress, Panjabi University 10-13 Dec 2011.pp 5-7

> "एबीसी के आंकड़ों के अनुसार, भारत के अधिकांश अख़बारों पर कुछ ही घरानों का अधिकार है| मसलन, नवभारत टाईम्स पर जैन परिवार, दैनिक जागरण पर गुप्ता परिवार और हिंदुस्तान पर बिड़ला परिवार का नियंत्रण में है।"[16]

मौजूदा समय में हाल ही के दिनों में मीडिया भूमिका और मीडिया में पूंजी के हस्तक्षेप पर राम नाथ गोयका मेमोरियल लेक्चर में महामहीम राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने कहा कि-

> "मीडिया संस्थानों को एक ऐसे आर्थिक मांडल तलाशने की जरूरत है जिसके आधार पर वे किसी भी तरह के दवाब से मुक्त होकर पूरी ईमानदारी और पारदर्शिता से अपना काम कर सकें।"[17]

जाहिर है कि मीडिया संस्थान में आर्थिक और बाजार के दवाब में कई मूलभूत परिवर्तन हुए है। संक्षेप में लोकतंत्र के चार स्तभों में मीडिया वह स्तंभ है जो डंके के चोट पर कहता है कि वह ख़बरों का व्यापार करता है।

90 के दशक के आते-आते पत्रकारिता अख़बार से पेपर बनने के सफर में हिंदी पत्रकारिता अब "रीडर फ्रेंडली" होने के दौड़ में ख़बरों को बेचने का एक विक्रेता हैं, जिसे उपभोक्ता की तलाश है। इस दौर में पत्रकारिता ने ख़बरों के लिए नए मानकों की तलाश की, जिसका मतलब - खुशखबरी है। अख़बारों में आहत करने वाले खबरों के जगह पर मनोरंजन, खेल-कूद और शेयर बाजार की ख़बरें प्रमुखता पाने लगी। दूसरे शब्दों, अख़बार यथास्थिति को बनाये रखने में राज्य और सत्ता के सहयोगी के रूप में उभरी। जिसने हाशिये पर खड़े बड़े समुदाय से अपने सरोकारों को सीमित कर दिया। 90 के दशक में हो रहे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक बदलाव को ध्यान में रखने हुए, हिंदी पत्रकारिता में स्त्री-विमर्श के स्वरूप में बर्ताव का मूल्यांकन अरविंद दास "हिंदी में समाचार" में वर्ष 1986 और वर्ष 2005 के दो वर्ष के हिंदी दैनिक नवभारत टाईम्स का तुलनात्मक अध्यन करते हुए स्त्री प्रश्नों के बारे में बताते हैं कि -

> "लगभग सभी अख़बारों में स्त्रियों के लिए साप्ताहिक रूप से एक कोना या पन्ना निर्धारित है। लेकिन हिंदी अख़बारों में स्त्री विमर्श में जहां स्त्रियों के शोषण, उत्पीड़न का जिक्र मिलता है, वहीं स्त्रियों के संघर्ष के बारे में, दलित स्त्रियों के दोहरे अभिशाप के बारे में एक किस्म की चुप्पी दिखती है। उच्च वर्ग की स्त्रियों के लिए खुले अवसरों और उनकी सफलता के किस्सों को सुविधानुसार चुनकर अख़बार उसे बढ़ा-चढ़ाकर बयान करता है।"[18]

इस दशक में लगभग हर हिंदी दैनिक अख़बार ज़्यादातर उपक्रमों में स्त्री विमर्श या महिलाओं के जुड़े प्रश्नों के लिए साप्ताहिक रूप से एक कालम या पन्ना या परिशिष्ट प्रकाशित होता है। जो कि व्यापक अर्थों में नारी-समाज की आजादी व बराबरी के बरक्स नारी-समाज को एक वृहत

---

[16] एबीसी जनवरी-जून 1993। आईएनएस प्रेस हैंडबुक, 1992,नई दिल्ली: इंडियन न्यूजपेपर सोसाइटी, एन.डी. 1993

[17] https://www.youtube.com/watch?v=xlTRaVMNmu4&index=2&list=PLzia1qLN9v2CZNknaF4ByLbDTFi2KQnY2 टाईम लाईन 28:15 देखने की तारिख 27/06/2017

[18] अरविंद दास, हिंदी में समाचार, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, 2013, पेज न०-167

उपभोक्ता-समूह में बदलने की कोशिश करता नज़र आता है। इसमें महिलाओं की उन समस्याओं की अभिव्यक्ति नहीं के बराबर दिखती है, जिनको लेकर हिंदी पत्रकारिता ने औपनेविशक काल में भी और आजादी के बाद भी मुखर अभिव्यक्ति देता रहा था। इन पन्नों में महिलाओं की एक बड़ी आबादी या समुदाय की समस्याओं पर खामोशी पहले भी थी, जो कमोबेश अभी तक कायम है। जिसमें महिलाओं के समस्याओं के कई प्रश्न ओझल हो जाते है। जिसके आधार पर मृणाल पांडे सवाल करती है कि भूमंडलीकरण के बाद हिंदी अखबारों का स्वरूप क्या है? इस कथित स्त्री-विमर्श में क्या दलित और पिछड़ी जाति की स्त्रियां और उनका संघर्ष परिलक्षित होता है? क्या अख़बारों का विमर्श उदारीकरण के दौर में तेज़ी से उभरे नव धनाढ्य वर्ग के विमर्श तक ही तो सीमित नहीं है? भूमंडलीकरण के बाद किस तरह की स्त्री की छवि को परोसा जा रहा है। इसीप्रकार धर्म और संस्कृति को बढ़ावा देने वाली प्रवृति सांप्रदायिक राजनीति का आधार बन जाती है। भारतीय राजनीति में हिंदुत्ववादी ताकतों के उभार को हिंदी पत्रकारिता ने आलोचना सहित स्वीकार किया। परंतु, हिंदी पत्रकारिता स्वयं हिंदुत्वादी राजनीति और सांप्रदायिक राजनीति के पूर्वाग्रह से ग्रस्त है इसको अख़बार स्वीकार करने से हिचकते है। इसप्रकार की प्रवृत्ति जातिगत राजनीति में भी देखने को मिलता है। जिसके कारण सांप्रदायिक राजनीति और जातीय राजनीति का महिलाओं के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को हिंदी पत्रकारिता ने पूरी तरह से अनदेखा कर रखा है। हिंदी पत्रकारिता में जाति/वर्ग/धर्म/समुदाय से जुड़े प्रश्न पर महिलाओं की अस्मिता को नए तरीके से परिभाषित करती है, जिसकी पहचान प्रस्तुत शोध के उद्देश्यों में से एक है। क्योंकि विविधता की उपेक्षा किए बग़ैर संचार माध्यमों में कुछ समानता की तलाश जरूरी है। प्रस्तुत शोध ***Gender and Media in North India: Study of Hindi Newspapers since 1990 to 2010*** का उद्देश्य एक निरर्थक प्रयास नहीं बल्कि परिवर्तन का एक औजार के रूप में इन्हीं सवालों के तलाश की एक कोशिश है।

III

ऐतिहासिक रूप से हर सामाजिक परिवर्तन ने प्रतिक्रियाओं के साथ-साथ महिलाओं की परिस्थितियों को प्रभावित किया हैं। 90 के दशक में आर्थिक गतिशीलिता का बदलाव, सामाजिक न्याय के लिए मंडल आयोग की सिफारिश से वंचित जातियों की राजनीतिकरण की प्रक्रिया और प्रतिक्रिया के साथ-साथ अयोध्या के विवादित ढ़ाचे के विध्वस विवाद के कारण हिंदुत्वादी व मुस्लिम शक्तियों का ध्रुवीकरण ने भारत के हर सामाजिक संस्थाओं को काफी हद तक प्रभावित किया। इन आर्थिक, जातीय और धार्मिक बदलाव के प्रभाव से महिलाएं भी अछूती नही थी; क्योंकि यही नियामक महिलाओं के स्वतंत्रता और समानता को नियंत्रित करने में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। प्रस्तुत शोध ***Gender and Media in North India: Study of Hindi Newspapers since 1990 to 2010***, नब्बे के बाद के दशकों में हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं

के संबंधित प्रश्नों के मूल्यांकन का प्रयास हैं। क्योंकि मीडिया सामाजिक सरोकारों और नैतिकता से स्वयं को जोड़ने का दावा करता है, जिसके आधार पर मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खंभा कहा जाता है। इस शोध में वर्ष 1920-40 के बीच की कालावधि में महिलाओं के प्रश्नों की हिंदी पत्रकारिता एंव पत्र-पत्रिकाओं को देखने का प्रयास भी किया गया है; क्योंकि बहुत हद तक भारतीय मीडिया अपने उदारवादी चरित्र की प्रेरणा औपनिवेशिक दौर के पत्रकारिता के मूल्यों से लेता हैं और उस कालावधि में हिंदी पत्रकारिता एंव पत्र-पत्रिकाओं में महिलाओं के परिस्थितियों में सुधार के लिए धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ माकूल प्रतिरोध विरोधाभासी माहौल में भी अभिव्यक्त होते दिखती है। जो कभी-कभी स्वयं महिलाओं के माध्यम से भी परिभाषित हो रहे थे। संसाधन के रूप में (तथ्य) के लिए वर्ष 1990-2010 कालावधि के तीन अख़बारों नवभारत टाईम्स, हिंदुस्तान और दैनिक जागरण को चुना गया है।

मेरे शोध की पद्धति ऐतिहासिक, अंतर-अनुशासनात्मक और विश्लेषणात्मक रही है। चूंकि शोध हेतु प्रस्तावित सामग्री का चरित्र ऐसा है कि विषय वस्तु का विश्लेषण करने के लिए प्रस्तावित विषय वस्तु का आकंलन एक ऐतिहासिक परप्रेक्ष्य में ही करना था। ऐसे में स्वाभाविक है कि तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों को विषय-वस्तु संबंधित निष्कर्ष प्राप्त करने में एक प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किया जाए। इस तरह स्वाभाविक रूप से शोध कार्य में अन्य अनुशासनों की अवधारणाओं, पद्धतियों का भी सहारा लिया गया है। इस अंतर-अनुशासनात्मक पद्धति को अपनाने का कारण यह है कि स्त्री विषयक अध्ययनों की एक खास समस्या यह है कि यह मुख्य धारा के अनुशासनों जेंडराइजेशन है। ऐसे में समाज विज्ञान, इतिहास या मीडिया विमर्श के सिद्धांत और अवधारणा से बचा नहीं जा सकता है।

वर्तमान शताब्दी के प्रथम दो दशकों की स्थिति का मूल्यांकन करने में स्वभावत: विश्लेणात्मक नज़रिये की जरूरत पड़ी है। अत: पूर्वोध शोध पद्धतियों का प्रयोग करके शोध कार्य पूरा किया गया। इस तरह समाज में महिलाओं को प्रभावित करने वाले कारकों का हिंदी पत्रकारिता में मूल्यांकन लक्षित पाठक समुदाय को किस तरह की समझ विकसित करता है? इसकी जानकारी होती है। पूरा विश्वास है कि हिंदी पत्रकारिता के बदलते स्वरूप पर सामाजिक परिर्वतन के कारण महिलाओं के प्रश्नों पर विचार करने की राह में इस शोध से कुछ-न-कुछ मदद जरूर मिलेगी।

इस शोध-प्रबंध के पहले अध्याय में यह जांचने का प्रयास किया गया है कि परिवार, विवाह और विवाह और तलाक कानून किस प्रकार महिलाओं के लिए एक संकटकारक संस्था हैं जबकि महिलाओं के सामाजिक सुरक्षा के पूर्ति के लिए इसके महत्व को सर्वोच्य संस्था के रूप पहचाना या रेंखाकित किया गया है। हिंदी पत्रकारिता में परिवार, विवाह एवं विवाह और तलाक कानून किस रूप-स्वरूप में उपस्थित है? इन सस्थाओं के साथ महिला के पक्ष-विपक्ष में किस प्रकार का विश्लेषण किया जाता है? परिवार, विवाह और विवाह-तलाक कानून के संदर्भ में हिंदी पत्रकारिता

की अभिव्यक्ति यथास्थिति का मूल्यांकन जो काफी विसंगतियों से भरा हुआ हैं, दूसरा आदर्श स्थिति की कल्पना और तीसरा साहित्य, सिनेमा और आधुनिक मूल्यबोधों से प्रभावित होता है। ये तीनों अलग-अलग नहीं चलते हैं, इन सब में काफी आदान-प्रदान होता रहता है, जो महिलाओं की समस्याओं को ग्लोरोफाई कर देते है। इसी के आधार पर अध्याय के पहले खंड में परिवार में महिलाओं पर पारिवारिक संरचना के प्रभाव का मूल्यांकन, मिथक और वास्तविकता के मध्य किया गया है। यह अध्याय परिवार के समाजीकरण, घरेलू हिंसा, परिवार में महिलाओं के स्थिति, परिवार और राज्य के संबंध का हिंदी के अखबारों में प्रस्तुतीकरण का मूल्यांकन करता है। इसी पृष्ठभूमि में अध्याय के दूसरे खंड में विवाह में, महिलाओं की स्थाई नियती विवाह नामक संस्था का भी मूल्यांकन किया गया है। आर्थिक विकास, सामाजिक बदलाव की राजनीति और कई आमूल-चूल बदलाव ने महिलाओं के समकालीन स्थिति में बदलाव लाने का प्रयास किया। परंतु, विवाह आज भी स्त्री के जीवन की ऐसी मौलिक परियोजना है जिसके लिए उसका समाजीकरण बचपन से होता है। विवाह संस्था ने अनुबंध का आकार तो ग्रहण किया है, परंतु सामाजिक रीति-रिवाज और धार्मिक नियम-क़ायदे विवाह संस्था में महिलाओं के अधिकार को हाशिये पर रखते हैं। यह अध्याय महिलाओं का विवाह संस्था से संबंध, सामाजिक परिवर्तनों का विवाह संस्था पर प्रभाव और विवाह संस्था में महिलाओं की पदस्थितियों का मूल्यांकन हिंदी पत्रकारिता में प्रस्तुतीकरण के आधार पर करता है। इस अध्याय के तीसरे खंड में विवाह और तलाक संबंधी कानून का ऐतिहासिक मूल्यांकन महिलाओं के समकालीन परिस्थितियों के अनुसार किया गया है। बदलते जीवन मूल्य और सामाजिक स्थिति के पृष्ठभूमि में विधिक स्थिति धार्मिक नियम-क़ायदे, वैयक्तिक कानून पितृसत्तात्मक प्रकृति के कारण महिलाओं को असमानता का अनुभव कराते है। यह अध्याय इस आलोक पर भी प्रकाश डालता है कि भारत की वैधानिक व्यवस्था के दोष के बावजूद यह कानून मौजूद है और सामाजिक परिवर्तन के एक मुख्य साधन के तौर पर प्रभावी रूप से अपेक्षित है।

दूसरे अध्याय का सीधा संबंध महिलाओं के कार्य व उसके परिपेक्ष्य में आर्थिक विकास से हैं। महिला का कार्य परिवार, समाज एंव राज्य के लिए बहुमूल्य होता है परंतु, ये कार्य हमेशा अदृश्य बने रहते है। जब स्त्री की हैसियत का मूल्यांकन आर्थिक बुनियाद पर निर्भर है तो कार्य करती हुई महिलाओं का श्रम अदृश्य क्यों हो जाता है? यह इस अध्याय का मुख्य प्रस्थान बिंदु है। महिलाओं के कार्य की सांस्कृतिक सरंचना और महिलाओं के कार्य के प्रति असंवेदनशीलता की पड़ताल हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित तथ्यों के आधार पर किया गया है। हिंदी पत्रकारिता महिलाओं के ऱोजगार के विषय पर यथार्थ का भ्रामक तस्वीर प्रस्तुत करता है, परिणामत: महिलाओं के कार्य क्षेत्र की समस्या वास्तविक परिपेक्ष्य में अभिव्यक्त नहीं हो पाती है। दूसरे अध्याय के पहले खंड में संगठित क्षेत्र में महिलाओं की सहभागिता, उसके कार्य की जटिल मुद्दे को समझने का प्रयास किया गया है जो आधुनिक कार्यनीतियों के परिणामों को उभार कर सतह

पर लाता है, यही इस इस खंड की विषय वस्तु है। इस अध्याय के दूसरे खंड में असंगठित क्षेत्र के महिलाओं के कार्य की प्रकृति और असुविधाओं का मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। महिलाओं के कार्य के अनुभव के आधार पर उनको संगठित और असंगठित क्षेत्र के बीच विभाजित किया जाता है। जबकि दोनों ही क्षेत्रों में कार्यरत महिला अपने धैर्य और निश्चय के साथ समस्याओं का सामना करती है और अपनी कार्य के जरिए अपनी सकारात्मक स्व-पहचान को स्थापित करती है।

तीसरे अध्याय का सीधा रिश्ता महिलाओं के साथ हिंसा और हिंसक व्यवहार के कारणों की पड़ताल से है। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा दो लिंग, जाति, वर्ग या धर्म किसके मध्य है? या इसके कोई अन्य कारक है। हिंसा का प्रचलन और व्यापकता महिलाओं के स्वास्थ्य, मन एंव उसके अस्तित्व के बोध को भी तोड़ने का काम करता है। इस अध्याय के विभिन्न खंडों में हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रस्तुतीकरण के आधार पर उसका वर्गीकरण करके उसके विषय वस्तु के आधार पर, मूल्यांकन में यह समझने का प्रयास किया गया है कि संचार माध्यम हिंसा के बहुआयामी विमर्श को किस प्रकार स्थापित करने का प्रयास करता है और हिंदी के पाठकों में हिंसा के समझ को किस प्रकार स्थापित करने का प्रयास करता है या सिर्फ़ महिलाओं को हिंसा के बाद उत्पीड़ित के रूप में दिखाने का प्रयास करता है। क्योंकि हिंसा का सामाजिक व्यवहार प्रभुत्व और अधीनस्थता की अवधारणा को स्थापित करने के समाजिक दवाब के रूप में अलग-अलग तरीके से काम करती है। जबकि हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं के साथ हिंसा के व्यवहार का मूल्यांकन में कई दफा वर्गीय आधार पर विश्लेषण का अभाव दिखता है, हर जातीय, वर्गीय और धार्मिक समुदायों की महिलाओं के साथ हिंसा एक ही तरह से काम नहीं करती है। हिंसात्मक प्रवृति के अध्ययन में जाति, समुदाय या यहां तक राज्य का हिंसा का उपकरण होना इस अध्याय के लिए चुनौतीपूर्ण रही है।

चौथे अध्याय का रिश्ता परंपरागत सामाजिक यथास्थिति के साथ महिलाओं के संबंध की व्याख्या करने का प्रयास है, क्योंकि महिलाओं की परंपरागत सामाजिक यथास्थिति में जहां गतिशीलता का अभाव है तो सामाजिक बदलाव की बहसों ने वर्ग, जाति और धर्म में नवप्रवृतियों में जटिलता भी है। यह बदलाव महिलाओं के स्वतंत्रता और समानता की वकालत तो करता है, पर साथ में श्रेष्ठता के वर्चस्वशाली मूल्यों के आधार पर नियंत्रण का प्रयास भी करता है। जिसके मूल्यांकन का अभाव हिंदी पत्रकारिता के अभिव्यक्ति में स्पष्ट रूप से दिखता है। हिंदी पत्रकरिता महिलाओं के प्रश्नों को वर्गीय आधार पर देखने का प्रयास नहीं कर पाती है, वह अक्सर स्त्री-पुरुष वर्ग में बंटकर ही समस्याओं का सतही मूल्यांकन करती हुई दिखती है। उसमें क्षेत्रीय, सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक विविधता और श्रेणीबद्दता गौण हो जाती है। जिसके वजह से हिंदी पाठक

महिलाओं के समस्याओं को एकरूपता में ही समझता है और अन्य विविधताओं से अनज़ान बना रहता हैं।

इस अध्याय के पहले खंड में वर्ग के ऐतिहासिक बहसों में महिलाओं की स्थिति को समझने का प्रयास है। संचार के प्रमुख माध्यम के रूप में हिंदी पत्रकारिता में वर्ग-विमर्श किस तरह सार्वजनिक बहस का हिस्सा बनते है, महिलाएं वर्ग-विशेष का हिस्सा होते हुए भी वर्ग-भेद की राजनीति से संघर्ष करती है, परंतु उसकी अभिव्यक्ति अखबारों में नहीं के बराबर होती है। इसको मूल्यांकन का आधार बनाया गया है। महिलाओं की समस्याएं वर्गीय आधार पर विश्लेषण की मांग करती है। अक्सर वह पुरुष और महिला के आधार पर विभाजित हो जाता है तो कई बार आर्थिक आधार पर विभाजित होकर समस्या को सांचानुमा तरीके से मीडिया के मंच पर स्थापित हो जाता है।

अध्याय के दूसरे खंड में जाति के साथ महिलाओं के संबंध और उसके प्रभाव के पड़ताल की कोशिश है। इस खंड का विभाजन हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित सामाजिक न्याय के लिए आरक्षण के लिए मंडल आयोग की सिफारिश, महिला आरक्षण, जाति-व्यवस्था के कारण सामाजिक उत्पीड़न, दलित उत्पीड़न और दलित राजनीति के विषयों के आधार पर किया गया है। भारतीय समाज में हर समुदाय में जाति की भूमिका केंद्रीय और नियामक की है। मंडल समर्थन-विरोधी प्रदर्शन के बाद जातिगत अंतर्विरोध को नारीवादी अध्येताओं ने ब्राह्मणवादी-पितृसत्ता की धारणा को परिभाषित किया। साथ ही साथ दलित नारीवादियों ने भी दलित महिलाओं के शोषण के विशेष चरित्र को उजागर किया। इन क्रम में लिंग और जातिगत आयामों के वजह से विभिन्न रूप में मौजूद जातिगत वर्चस्वता सामने आई। परंतु, इन जातिगत आयामों की चर्चा हिंदी पत्रकारिता में शोषण और उत्पीड़न के दुहाई तक ही है जबकि जातिगत आधार पर महिलाओं का शोषण एकीकृत कार्यवृत की समस्या नहीं है। प्रस्तुत अध्याय हिंदी पत्रकारिता में जातिगत आयामों में महिलाओं की स्थिति को समझने का प्रयास है।

अध्याय के तीसरे खंड का सीधा रिश्ता महिलाओं के साथ धर्म के अंर्तसंबंध की पड़ताल से है। धर्म में महिलाओं के लैंगिंक असमानता के प्रश्न को दरकिनार होकर सांप्रदायिक प्रश्न बन जाते है। धार्मिक कट्टरता और सांप्रदायिक राजनीति का उन्माद दो सामुदायिक समाज के मध्य होकर उत्पीड़न के नियामक के भूमिका में महिलाएं ही आती है। धार्मिक संहिता के विरुद्ध सामाजिक और न्यायिक कानून भी महिलाओं को ही दंड के अधिकारणी के रूप में चिंन्हित करते है। हिंदी पत्रकारिता में धर्म आधारित सांप्रदायिक राजनीति, धर्मपरिवर्तन या धर्मांतरण, सामुदायिक पहचान का सांप्रदायिक राजनीति में प्रयोग आम भारतीय जनों के सांप्रदायिक मानस के निर्माण में सहयोग करते है। यही सांप्रदायिक मानस महिलाओं धार्मिक व सामाजिक समानता और स्वतंत्रता के विरुद्ध सामुदायिक आधार पर अलग-अलग संहिताओं का निर्माण करती हैं। इसके साथ-साथ

संचार के माध्यम अपनी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक शक्तियों के प्रतिबद्धता के कारण समाचारों के प्रस्तुतीकरण में लोकतांत्रिक होने दावे के बावजूद लोकतांत्रिक नहीं है। प्रस्तुत खंड में धर्म और सांप्रदायिक राजनीति का महिलाओं पर पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन का प्रयास है। क्योंकि महिलाओं को संवैधानिक अधिकार तो प्राप्त हैं पर रूढियों, परंपराओं, आचार संहिताओं के कारण व्यवहार में उन अधिकारों से वे वंचित है।

महिलाओं की वर्तमान में मूल्यांकन पिछड़ेपन और विकास का मिला-जुला मिश्रण हैं। यह शोध 90 के बाद के दशकों में बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में भारत में महिलाओं और उनसे जुड़े सवालों का आकलन करने का एक छोटा सा प्रयास है जिससे हम जटिल संरचना और निर्मितियों को समझ सके और महिलाओं के सम्मानपूर्ण जीवन के लिए समुचित रणनीति का विकास कर सकें। महिलाओं से जुड़े मुद्दों को अतीत और वर्तमान के हिंदी पत्रकारिता में खंगालते हुए यह शोध यह दिखाने का प्रयास है कि महिला किन जटिल परिस्थितियों में नियोजित व अनियोजित(घर और बाहर) हर क्षेत्र में समानता और स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत है।

अध्याय - 1

परिवार, विवाह और विवाह-तलाक कानून

महिलाओं की सार्वजनिक या निजी जीवन में परिवार, विवाह संस्थान और विवाह-तलाक कानून ऐसे क्षेत्र के रूप में स्थापित है, जहां वो मानसिक सुरक्षा, भौतिक सहायता, देखभाल, अपनत्व, वैधता और सामाजिक पहचान पाती हैं। महिलाओं की लिए यह स्थल नैतिक आदर्श संहिता के आधार पर सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में उसके कार्यक्षेत्र का निर्धारण भी करते है और उसके सामाजिक सुरक्षा का दावा भी करते है। महिलाओं की बुनियादी महत्व के लिए स्थापित इन संस्थाओं के संबंध में लोकोक्तियों, किस्से-कहानियों और साहित्य के साथ-साथ सामाजिक लेखन ने भी इस तथ्य को सतह पर लाने का प्रयास किया है कि परिवार, विवाह और विवाह-तलाक के संबंध में पहले सामुदायिक रीति-रिवाज और बाद में वैधानिक कानून महिलाओं को अधिक दमनकारी अनुभव देते है। कई शोधों और सामाजिक कार्यकर्त्ता ने इन संस्थाओं की स्थिति में हस्तक्षेप कर इन संस्थाओं के आंतरिक दबावों की ओर ध्यान खींचा है। इसके साथ-साथ इन संस्थाओं की प्रति महत्व मानवीय जीवन में इस तरह रचा-बसा है कि वह सभी के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में सामाजिक जीवन में स्थापित है (खासकर महिलाओं की संदर्भ में)।परंतु, इन संस्थाओं के भौतिक, सामाजिक और प्रतीकात्मक अर्थ और परिणाम भी है जो महिलाओं की निजी और सार्वजनिक जीवन में उसके अस्तित्व/अस्मिता को प्रभावित और नियंत्रित करते है। मसलन, स्त्री की साथ पत्नी या मां के हैसियत का भाव जिस तरह से जुड़े है, पति, पिता या भाई के साथ यह गहरे से नहीं जुड़े हुए है। कोई एकल पुरुष या निस्संतान पुरुष इतना अभागा नहीं माना जाता है जबकि कोई स्त्री इस स्थिति में हो तो अशुभ और कई विशेषण उसके साथ जुड़ जाते हैं। इसी तरह, सगोत्रीयता, स्त्री की यौनिकता से संबंधित विचारधारा, सभी जातीय और धार्मिक समुदाय में स्त्री को परिवार व समुदाय के सम्मान, शुद्धता और हैसियत की रक्षक और वाहक के रूप में देखा जाता है। इसके साथ-साथ कई और महत्वपूर्ण कारक है जिनके कारण परिवार, विवाह और विवाह-तलाक कानून जैसे स्थलों पर महिलाओं को अनेक तनाव झेलने को विवश करती हैं। इस संदर्भ में कुछ सवाल भी उठ खड़े होते है कि क्या परिवार, विवाह संस्था और विवाह-तलाक कानून महिलाओं की लोकतांत्रिक अधिकार के संदर्भ में इन संस्थाओं के वर्गीय तानाशाही या श्रेष्ठता के चरित्र को चुनौती देते है? या मौजूदा समय में यथास्थिति को बनाते हुए इन संस्थाओं को मजबूती प्रदान करते है? प्रस्तुत अध्याय में, हिंदी पत्रकारिता में इन संस्थाओं के संबंध में महिलाओं की समस्या के प्रस्तुतीकरण के मूल्यांकन का प्रयास है कि हिंदी पत्रकारिता परिवार, विवाह संस्थान और विवाह-तलाक कानून जैसे विषयों पर महिलाओं की समस्या को किस तरह अभिव्यक्त कर रही है और विमर्श की दशा/दिशा का स्वरूप क्या है?

1.1 परिवार

सामाजिक जीवन में हम परिवार नाम की संस्था पुरुष की पत्नी-पुत्र-पुत्री-दास-दासी-चल-अचल हर तरह की संपत्ति के रूप में स्थापित रूप में देखते है। आज परिवार के बिना सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करना कठिन है। इसके उत्पादन, पुनरुत्पाद, स्नेही देखभाल व भावनात्मक वातावरण में निवास उपलब्ध कराने की गतिविधियां, अन्य किसी भी संस्था द्वारा पूरी नहीं की जा सकती। परंतु, परिवार का रूप या स्त्री-पुरुष संबंध हमेशा एक जैसे नहीं रहे हैं और न ही इन्हें सचेत रूप में तैयार किया गया है, बल्कि अन्य तमाम सामाजिक संबंधों की तरह ही, परिवार भी खास ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज है तथा इतिहास के हर नये मुकाम पर परिवार और स्त्री-पुरुष संबंध के भी नये रूप सामने आ सकते हैं(सयुक्त परिवार, एकल परिवार और सहजीवी परिवार,जहां समर्थन और सहयोग करने वाले साथी का होना जरूरी है।)। समाज में महिला की परिस्थितियां काफ़ी हद तक परिवार की संरचना से प्रभावित होती है। क्योंकि परिवार में जनतंत्र या लोकतंत्र की चर्चा करें तो इसे कैसे परिभाषित किया जाये? संयुक्त परिवार की अवधारणा के रूप में? एकल परिवार की अवधारणा के रूप में या किसी और तरह के परिवार के रूप में? इसलिए मौजूदा परिपेक्ष्य में परिवार में स्त्री-पुरुष संबंधों सहित मानवीय संबंधों को राष्ट्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सीमित परिपेक्ष्य में देखने के साथ भूमंडलीय तथा मानववादी परिपेक्ष्य में देखना जरूरी हो जाता है। खासकर तब जब हम घर के बाहर तो लोकतांत्रिक मूल्यों की वकालत करते है। परंतु, घर के अंदर जनतांत्रिक जीवन के बारे में कल्पना भी नहीं करना चाहते है। हालांकि लगातार बदलाव की परिस्थिति में हम यहां तक ज़रूर आ सके है कि पहले घर के मामले में बाहर बात करना अच्छा नहीं माना जाता था, घर के अंदर होने वाले अत्याचारों को चुपचाप सह लिया जाता था। लेकिन, अब लोग खुलकर बोलने लगे हैं, आपस में बात करने लगे हैं। पिछले कुछ दशकों में भौतिक स्थितियों में अधिक बदलाव नहीं हुआ है पर चेतना के स्तर पर काफ़ी बदलाव हुए है।

ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में, पहली बार फ्रेडरिक एंगेल्स ने महिलाओं की समस्या को एक वैज्ञानिक आधार पर विचार का विषय बनाया था। फ्रेडरिक एंगेल्स ने साफ शब्दों में कहा था कि यह एक बिल्कुल बेतुकी धारणा है कि समाज के आदि काल से नारी पुरुष की दासी थी। लंबे वैज्ञानिक पर्यवेक्षक के बाद एंगेल्स इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि-

> “आधुनिक वैयक्तिक परिवार, नारी की प्रत्यक्ष या परोक्ष घरेलू दासता पर आधारित है। स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक उधोग में प्रवेश करें

> और इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज की आर्थिक इकाई होने का वैयक्तिक परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाये।"[19]

फ्रेडरिक एंगेल्स ने परिवार और स्त्री-पुरुष संबंधो की ऐतिहासिकता को ही प्रस्तुत किया। प्रागैतिहासिक काल के मातृसत्तात्मक कबीलाई समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों से लेकर सामंती युग के विभिन्न स्तरों तथा पूंजीवाद की परिस्थितियों में परिवार और स्त्री-पुरुष संबंधों का विवेचन फ्रेडरिक एंगेल्स ने किया। फ्रेडरिक एंगेल्स ने औरतों की दासता की जड़ परिवार को करार दिया और सूत्रीकरण किया कि परिवार के अंदर स्त्री सर्वहारा की तरह है और पुरुष पूंजीपति की तरह। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि व्यक्तिगत संपत्ति के खात्मे के साथ ही, परिवार का आधार खत्म हो जायेगा और स्त्री-मुक्ति की संभावनाओं के रास्ते खुल जायेगे। परंतु, फ्रेडरिक एंगेल्स यह नहीं स्पष्ट करते है कि व्यक्तिगत संपत्ति की संस्था क्यों अनिवार्यत: महिलाओं की गुलामी का कारण बनती है? संपत्ति की अवधारणा महिलाओं की निम्न अवस्था के व्यक्तिगत आधारों को स्पष्ट नहीं करती। फ्रेडरिक एंगेल्स ने महिलाओं की कमजोरी को केवल ताम्र और लोहा के साथ महिलाओं की विनियोजन के संबंध से उपजी परिघटना माना। उन्होंने श्रम की क्षमता से अलग प्राकृतिक रूप से ही मां बनने की विवशता को महिलाओं की एक मौलिक और ठोस असुविधा की समस्या का महत्व नहीं समझा। सीमोन द बोऊवार ने प्रश्न उठाया कि-

> "श्रम के विभाजन से दो सेक्सों में मैत्रीपूर्ण संबंध क्यों विकसित नहीं हुआ?"[20]

फ्रेडरिक एंगेल्स स्त्री-पुरुष के संघर्ष को भी वर्ग-भेद के एक रूप की तरह देखते हैं जबकि महिला पुरुष से जैविक रूप से भिन्न है और वर्ग भेद का कोई जैविक आधार नहीं होता। परिवार के ढांचे में महिलाओं की घरेलू कामकाज का कोई मूल्यांकन न होना भी एक ऐसा विषय है जो महिलाओं की घरेलू जीवन से जुड़ा है जिसका सबसे महत्वपूर्ण पहलू परिवार का ढ़ांचा है। महिला केवल श्रमिक नहीं हो सकती। वह उत्पादन ही नहीं प्रजनन भी करती है। पुरुष द्वारा आर्थिक उत्पादन पर कब्जा की आलोचना हम फ्रेडरिक एंगेल्स के लेखन में पाते हैं, किंतु प्रजनन श्रम की व्याख्या

---

[19] मार्क्स-एंगेल्स संकलित रचनाएं, भाग-3,प्रगति प्रकाशन,मास्को पेज न० 226-227

[20] Simone de Beauvoir, The Secound Sex, का हिंदी रूपांतर प्रभा खेतान "स्त्री उपेक्षिता", हिन्द पाकेट बुक्स. नई दिल्ली 2004 पेज न० 199

फ्रेडरिक एंगेल्स नहीं करते है। उनके अनुसार प्रजनन की प्रक्रिया में थीसिस और एंटीथीसिस[21] के रूप में पुरुष और स्त्री एक-दूसरे के करीब आते हैं। महिलाओं की घरेलू श्रम के सिद्धांत की व्याख्या फ्रांसीसी नारीवादी क्रिस्टीन डेलफी करती है, वो कहती हैं-

> "चूंकि घरेलू शोषण पूंजीवादी उत्पादन के दायरे के बाहर होता है इसलिए महिलाओं की उत्पीड़न को सिर्फ़ वर्ग-संघर्ष और पूंजीवाद के आधार पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। महिलाओं की घरेलू श्रम का अपना एक स्वतंत्र भौतिक आधार होता है।"[22]

स्त्री श्रम द्वारा उत्पादन की दो प्रणालियां है। एक बाह्र जगत में उत्पादन की तथा दूसरे गृहस्थी में जहां वह दिन-रात बिना किसी मूल्य के श्रम करती है, संतान का भरण-पोषण तथा परिवार के सदस्यों की देखभाल करती है। किंतु, स्त्री-श्रम के इस पक्ष का समाज में आर्थिक मूल्यांकन नहीं करता, परिणामस्वरूप स्त्री श्रम का शोषण होता है। मार्क्स श्रम के इस शोषण पर चर्चा करते है परंतु, प्रजनन श्रम पर चुप्पी साध लेते है जबकि परिवार में पुनरुत्पादन के श्रम में लगी हुई स्त्री-पुरूष सत्ता का कभी विरोध नहीं करती। वास्तव में मार्क्स परिवार को अर्थव्यवस्था की उपसंरचना के रूप में देखते है जो उत्पादन की प्रणाली एंव ऐतिहासिक विशिष्टता के कारण आकार ग्रहण करती है। मार्क्स के अनुसार, वर्ग-संघर्ष परिवार के स्वरूप को निर्धारित करता है, उसे परिभाषित करता है और अंत में वर्ग-संघर्ष के खत्म होने के साथ परिवार की यह संस्था भी अन्य पूंजीपति संस्थाओं की तरह खत्म हो जानी है। परंतु, वर्ग-संघर्ष से प्रभावित होकर परिवार कैसे बदल जायेगा? यदि परिवार अंत: संरचना है, तो अन्य सामाजिक अधिसंरचनाओं के साथ इसका संबंध कैसे स्थापित किया जाना चाहिए? सामाजिक संघर्ष के दौरान यह संबंध कैसे स्थापित होता है? इस पर चर्चा नहीं करते है। उन्होंने परिवार के घटक जो स्त्री-शरीर के वस्तुकरण एंव विवाह में स्त्री की साथ वस्तु के तरह व्यवहार पर प्रकाश डाला। मार्क्स विवाह संस्था की भी तीखी आलोचना करते है परंतु, इस संस्था की वैकल्पिक प्रगतिशील रूपरेखा कैसी होनी चाहिए? इसपर मार्क्स खामोश हो जाते है। वस्तुत: परिवार की सरंचना में स्त्री-पुरुष के बीच

---

[21] मार्क्सवाद कहता है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियमानुसार हर युग में थीसिस और एटीथीसिस(स्थापना और प्रतिस्थापना) के बीच संघर्ष अनिर्वाय है। इसी संघर्ष से नया समन्वय बनता है और तब इतिहास का रथ आगे बढ़ता है। अपने यहां यास्क भी ऋग्वेद के मंत्र की व्याख्या करते हुए कह गये हैं कि जब समान ज्ञानवान लोग समवेत बैठ कर बहस करते हैं, तो मन की गति से अपने ज्ञान के कुछ हिस्सों को त्याग देते हैं, ऐसे बात आगे बढ़ती है।

[22] सरला महेश्वरी "नारी प्रश्न", राधाकृष्ण प्रकाशन,दिल्ली ,1998 पेज न० 44

असमानता को मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने आर्थिक स्तर पर देखा, एलेन सोवोलटा "ए लिट्रेचर आंफ देयर ओन" में इस तर्क का समर्थन करती है। उनके अनुसार -

> "स्त्री दलन का मुख्य कारण निजी संपत्ति की अवधारणा है। यह अवधारणा एक ऐसी व्यवस्था का जनक है, जो सिर्फ़ कुछ व्यक्तियों के हाथों में सत्ता देती है। अत: स्त्री दलन का मुख्य कारण पितृसत्ता नहीं बल्कि पूंजीवाद है। यदि हम स्त्री की मुक्ति चाहते है तो पूंजीवाद के स्थान पर हमें मार्क्सवाद से प्रेरणा लेनी चाहिए ताकि अर्थ का समान वितरण हो। आर्थिक रूप से स्वावलंबी स्त्री ही पुरुष की बराबरी कर सकती है।"[23]

एलेन सोवोलटा ने स्त्री की अधीनता के कारण के रूप में स्त्री की सामाजिक स्थिति को समझा। जबकि, कैट मिलेट ने अपनी पुस्तक "सैक्सुअल पालिटिक्स" में और सुलामिथ फायरस्टोन ने अपनी पुस्तक "डायलेक्टिक्स आफ सैक्स" में स्त्री को एक लिंग के तौर पर देखने की कोशिश की। लिंग श्रेष्ठता और हीनता के सवाल मुख्य सवाल बनकर उभरे। सुलामिथ फायरस्टोन लिखती हैं कि-

> "समाज में स्त्री और पुरुष के बीच विभाजन के मूल में आर्थिक कारण नहीं बल्कि शारीरिक कारण है। एक प्रजननकर्ता होने के नाते ही महिलाएं सदियों से वंचित हुई हैं तथा आदमी की पितृसत्ता को मजबूत होने का मौका मिला है। स्त्री वास्तव में जन्म से स्त्रीकरण की शिकार है। स्त्री होने के लिए उसे पुरुष सत्ता का वर्चस्व स्वीकार करना पड़ता है। वह सत्ता द्वारा निर्धारित होने को बाध्य है और इसी को लिंगीकरण अर्थात जेंडराइजेशन की प्रक्रिया कहते हैं। केवल आर्थिक या राजनीतिक संस्थाओं में सुधार लाने से ही स्त्री को शोषण से मुक्ति नहीं मिलेगी। आवश्यकता है कि स्त्रीकरण की इस यौनवादी व्यवस्था को रूपांतरित किया जाये।"[24]

फायरस्टोन के बातों में जिस बात की सबसे अधिक चर्चा हुई, वह औरतों के प्रजनन से जुड़ी हुई है। इससे मुक्ति के लिए औरतों को उसकी शारीरिक बनावट के कारण पैदा होने वाली कठिनाइयों से मुक्त करना होगा। औरतों का अंतिम लक्ष्य सिर्फ़ पुरुषों के विशेषाधिकारों को समाप्त करना ही नहीं है। बल्कि, लिंग भेद को पूरी तरह से समाप्त करना होगा, ताकि सांस्कृतिक स्तर पर मनुष्य जाति में यौन के आधार पर किसी प्रकार का कोई भेद-भाव न रह जाये। इसके अनुसार लिंग के आधार पर भेद की शुरुआत परिवार में होती है। परिवार का आधार स्त्री-पुरुष के बीच का

---

[23] प्रभा खेतान, स्त्री विर्मश की इतिहास में अपनी जगह, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, सं० राजेन्द्र यादव और अर्चना वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2011,पेज न०- 184

[24] सुलेमिथ फायरस्टोन, द डायलेक्टिस आंफ सैक्स,..... 1970. पेज न० 19, 21, 73

संबंध है जो वैवाहिक संबंधों के जरिएप्रवेश करता है। परिवार के संबंधों के आधार सामंती संबंध रहे हैं। पूंजीवाद ने बदलते सामाजिक संबंधों के नई क़िस्म की ज़रूरत को पैदा कीं। पूंजीवाद ने स्त्री को इसलिए आजाद नहीं किया कि उसे पुरुषों की गुलामी से मुक्ति दिलानी थी। यह कहना कि स्त्री आर्थिक रूप से श्रम में अपनी भागीदारी से परिवार की घरेलू दासता समाप्त हो जाती है, यह एक सुंदर भ्रम है। परिवार पर हुए तमाम विमर्श इस बात को स्थापित करते है कि किसी भी ऐतिहासिक कालखंड में जिस भी तरह की राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक स्थिति रही है, उसमें परिवार भी स्वयं को ढाल लेता है।

भारत के संदर्भ में परिवार संस्था का गठन रक्त संबंधों (हालांकि रक्त संबंध के आधार पर परिवार के गठन की अपनी आलोचना भी है कि परिवार में पति-पत्नी के मध्य कोई रक्त संबंध नहीं होता है और परिवार संस्था की महत्वपूर्ण सदस्य होती है।) तथा विवाह संबंधों से जुड़े ताने-बाने से होता है (इसे भारतीय परिवार की एकरूपता से संबोधित नहीं किया जा सकता, क्योंकि विभिन्न इलाकों, धार्मिक और नृजातीय समुदायों, जाति तथा वर्गो और ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में रिश्ते-नातों के संबंधों तथा पारिवारिक ढांचों में व्याप्त विविधता के कारण यह जटिलता और बढ़ जाती है)। परिवार सामाजिक-सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखने, उत्तराधिकारी का नियमन करने तथा विवाह व्यवस्था का नियमन करने वाली संस्था है। वंश, कुल, गोत्र आदि समूहों में बंधे पैतृक या मातृक परंपरा से जुड़े समूह, जो एक दूसरे से निर्धारित दायित्व से बंधे होते हैं, परिवार कहलाते हैं।

भारत में विभिन्न जाति, जनजातियों तथा भाषा संस्कृतियों के अनुसार, परिवार के ढ़ाचे में विभिन्नता देखने को मिलती हैं। उत्तर भारतीय पितृप्रधान सामाजिक व्यवस्था, जो मूलत: पशुपालन अर्थव्यवस्था से संबंधित रही है, अपनी शक्ति तथा विस्तार बर्हि-विवाह गठबंधनों से प्राप्त करते हैं। उनमें सपिंड विवाह या सगोत्र विवाह का निषेध होता है। जिसमें व्यक्ति अपनी पितृ परिवार में सात पीढ़ियों तथा मातृ परिवार में पांच पीढ़ियों तक विवाह नहीं कर सकता। वह अपनी गांव में भी विवाह नहीं कर सकता है। इसके विपरीत दक्षिण भारत के मातृवंशी सामाजिक ढांचे जो मूलत: कृषि आधारित रहे हैं, अपनी शक्ति तथा विस्तार घनिष्ठ रूप से संबंधित रूप से संबंधित समूहों के आंतरिक गठबंधनों से प्राप्त करते हैं। इनमें विलिंगसहोदरज संतति विवाह(ममेरे-फुफेरे विवाह) का प्रचलन है तथा गांवबाध्य विवाह का नियम नहीं है। देवर विवाह की प्रथा भी अपवादस्वरूप ही देखने को मिलती है। स्थानीय आवास के नियम के अनुसार परिवार पतिस्थानिक तथा पत्नीस्थानिक दो प्रकार के होते हैं। दोनों प्रकार के परिवारों में संपत्ति के उत्तराधिकारी केवल पुरुष होते हैं।

"मातृवंशीय"[25] पत्नीस्थानिक परिवार में भी स्त्री का भाई या बेटा ही उत्तराधिकारी होता है। बेटियां केवल नेग की हकदार होती है। पतिस्थानिक और पत्नीस्थानिक दोनों प्रकार के परिवारों में स्त्री कीवल संरक्षिका है। परिवार के ढांचों में विभिन्नता के बावजूद सभी प्रकार के परिवारों में एक लक्षण समान रूप से मिलता है। 'लड़की देने वालों और लड़की लेने वालों' में भेद किया जाता है। सभी परिवारों में लड़की देने वालों की स्थिति लड़की लेने वालों के मुकाबले निम्न मानी जाती है। दूसरा लक्षण उत्पादन के संयुक्त साधनों पर केवल पुरुष का स्वामित्व होना है। जिसके कारण उत्पादन में स्त्री श्रम की सशक्त भागीदारी होने बावजूद उसके श्रम का मूल्य नहीं आंका जाता। परिवार से अलग समाज में स्त्री की स्वतंत्र हैसियत और पहचान नहीं होती। उसकी पहचान परिवार से जुड़ी होती है। परिवार को प्रभावित करने वाले नियामकों में जाति और गांव भी होते है। व्यक्ति जाति द्वारा मान्य परंपराओं से बंधे होते हैं। नयी मान्यताओं को स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार परिवार या परिवार के व्यक्तियों को नहीं जातियों को होता हैं। जाति व्यक्तिगत निर्णयों और व्यक्तिगत जीवन को प्रभावित करती है। आज भी परंपराओं से हटकर निर्णय लेने पर जाति पंचायतें मनमानी सजाएं सुनाती हैं, तथा व्यक्ति और परिवार को गांव छोड़ने के लिए विवश होना पड़ता है। गांव, जाति और परिवार इन तीनों तत्वों के इर्दगिर्द वर्तमान भारतीय समाज में सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याएं दिखाई देती हैं। स्पष्ट है कि भारतीय संदर्भ में परिवार का स्वरूप अन्त: पारिवारिक संबंधों की प्रकृति और स्त्री की विवाह के बाहर-चाहे तलाक शुदा के रूप में या विधवा के रूप में रह सकने की क्षमता सिर्फ़ गोत्र कारणों और नैतिक संहिताओं, गोत्र के भीतर स्त्री की तुलानात्मक प्रभाव से ही गहरे रूप में नहीं जुड़ी है

---

[25] भारत में वंश परंपरा दो मुख्य प्रकार की है-(1) मातृसत्तामक वंश व्यवस्था- मातृसत्तामक वंश की एक महत्तवपूर्ण विशेषता ये है कि इसमें पैदा होने वाले बच्चों(लड़का-लड़की) को मां की वंश व्यवस्था की तरह से स्थायी सदस्यता मिलती है, और इसमें संबंध महिला की वजह से बनते हैं। अत: बच्चा अपनी पहचान माता द्वारा प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए केरल में नायरों में 'तारवाड' व्यवस्था, खासियों के मध्य 'कौप'(womb) और लक्ष्यद्वीप के मुस्लिमों में भाई के बच्चे उसकी पत्नी की वंशावली से संबंधित होते हैं। विवाह, महिलाओं की सदस्यता में कोई परिवर्तन नहीं लाता। मातृसत्तामक परिवारों की संरचना की एक विशिष्ट विशेषता यह है कि महिला संपूर्ण पारिवारिक संपत्ति पर अधिकार रखती है और बेटी सभी तरह के धार्मिक अनुष्ठानों को संपन्न करती हैं। इस वंश व्यवस्था में महिला के अधिकार और समाज में उनकी भूमिका पर ध्यान दिया जाता है।(2) पितृसत्तात्मक वंश व्यवस्था- पितृसत्तात्मक समाजों में लड़के और लड़की दोनों की सामाजिक पहचान अपने पिता से होती है और पिता के वंश 'कुटुंब' में वे स्थान पाते हैं। परंतु, लड़का इस इकाई का स्थायी सदस्य होता है जबकि बेटी अल्पकालीन या अस्थानीय सदस्य के रूप में होती है। बेटा पितृवंश की निरंतरता को बनाए रखने वाला माना जाता है, लड़की अपने पिता के वंश को चलाने वाली नहीं होती है, क्योंकि उसका, अपने पिता के वंश को चलाता है। यह आशा की जाती है कि विवाह के बाद लड़की थोड़े समय के लिए ही अपने पिता के घर ठहर सकती है। संस्कृति, लड़की के विवाह की और लगभग स्थायी रूप से संबंध-विच्छेदन की वकालत करती हैं। परंपरागत रिवाज के अनुसार बेटियों को केवल भरण-पोषण और विवाह का अधिकार है। इस वंश परंपरा में पारिवारिक संपत्ति पर बेटियों का कोई दावा नहीं होता है।

बल्कि सामाजिक स्थिति भी महिलाओं की स्वतंत्रता को प्रभावित करता है। इसके साथ मौजूदा समय में सूचना और भौतिक संसाधनों तक पहुंच, आर्थिक स्वतंत्रता और श्रमिक के रूप में उनके महत्व के रूप में भी उनके साथ जुड़ी हुई है। यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि परिवार एक समर समूह नहीं है, जहां सभी सदस्य समान परिस्थिति, संसाधनों के विषय में समान लाभ, प्रशिक्षण, अवसर और अधिकार प्राप्त करते हैं। पारिवारिक सदस्यों का, विशेषकर लड़कियों का समाजीकरण उन्हें महिला बनाने के लिए तैयार करता है ताकि वे स्वयं ही परिवार में अपनी द्वितीय भूमिका को स्वीकार लें। भारत में तकरीबन प्रत्येक क्षेत्र में बेटी को उसके पति के घर (ससुराल) भेजते समय जो गाना गाया जाता है वह दुख और हानि को इंगित करता है।[26] लड़कियों को केवल उनकी भविष्य की भूमिका (बहू) के लिए ही समाजीकृत नहीं किया जाता वरन यह प्रक्रिया बेटे और बेटी के बीच विभेद करती है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने परिवारों में लैंगिक अधिकार को परखने के लिए बहुत सूक्ष्म जानकारी उपलब्ध करायी। उनका मानना है कि-

> "मूल्य सिद्धांत का परंपरागत आदर्श और बाज़ार व्यवहार, परिवार के विषय पर मौन है। आय के साथ ही स्वास्थ्य का स्तर भी सुधार की ओर प्रवृत होती है।परंतु, भारत में महिलाओं की स्वास्थ्य, सुरक्षा और पोषण में भी पक्षपात संकेत दिखते है। वास्तव में करीब-करीब जीवन के प्रत्येक पहलू में लैगिंक मनोवृत्ति दिखती है।"[27]

मध्यवर्गीय और उच्चवर्गीय परिवारों की महिलाओं का "काम की दुनिया" में प्रवेश, एक उल्लेखनीय परिवर्तन है। जिसके कारण परिवार की परंपरागत अवधारणा पर प्रभाव पड़ा है। भारतीय परिवार और विवाह संस्था की समता, स्वतंत्रता तथा लोकतांत्रिक मूल्यों पर पुनर्रचना की मांग है। वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में पुराने सामाजिक तथा सांस्कृतिक ढांचे तेज़ी से टूट रहे है। आज परिवार के मध्य जहां सामंती चेतना पूणर्त: समाप्त नहीं हुई है तो परिवार के वातावरण में यह बदलाव ज़रूर आया है कि परिवार के सदस्य खुलकर बोलने लगे है, सोचने लगे है, आपस में बात करने लगे है।

---

[26] भारत में अनेक कहावतें है जो यह बताती है कि लड़की परिवार की अस्थायी सदस्य ही नहीं है, बल्कि चिंताओं का ढेर है, जब तक उसका विवाह नहीं हो जाता। वास्तव में भारत में यह अवलोकित किया गया है कि विविध भाषाओं के साहित्य में मुश्किल से ही किसी नववधू का स्वागत मिलता है। लड़कियों के लिए परमानंद का सुख विवाहित होना और कभी विधवा नहीं होता है, ऐसा संदेश फिल्म और टेलीविजन द्वारा बहुत ही भावनात्मक रूप से संप्रेषित किया जाता है।

[27] अमर्त्य सेन 2013 मई को पटना में "इकोनांमी एंड द फैमली" विषय में सेमिनार में एक पर्चे में कहा।

दूसरे शब्दों में, भौतिक परिस्थितियों में बदलाव नहीं आया है, लेकिन चेतना बहुत बढ़ गई है। जिन आधारों पर देश या समाज में लोकतंत्र की बात होती है, उन्हीं आधारों पर हमें परिवार में भी लोकतंत्र कायम करने की चाह है। परिवार में लोकतांत्रिक मूल्यों के बारे में कुमकुम संगारी बताती हैं कि -

> "परिवार में लोकतंत्र के दो पहलू हो जाते है-एक तो परिवार का वह रूप, जो वास्तव में है; और दूसरा वह रूप, जो हम चाहते है। हम चाहते है परिवार में एक ही तरह की बराबरी हो, सब के हक बराबर हों; लेकिन वास्तव में ऐसा परिवार कहीं नहीं है।"[28]

अत: नई ढांचों के निर्माण की चुनौतीयां भी परिवार के समक्ष रही है। क्योंकि परिवार में महिलाओं की स्वतंत्र अस्तित्व के लिए कई कानून और नियम बन चुके है। परंतु, महिलाओं तक उनकी पहुंच अभी भी सीमित है। रजनी पालरीवाला के अनुसार-

> "यह कानून एनेबलिंग (समर्थ बनाने वाला) तो हैं, ट्रांसफार्मिंग (परिवर्तनकारी) नहीं है। इसलिए अच्छे कानून भी समाज मे बदलाव नहीं ला पा रहे है। उनको परिवर्तनकारी बनाने के लिए जो सामाजिक और राजनीतिक माहौल होना चाहिए, वह अभी तक बना नहीं है।"[29]

हिंदी पत्रकारिता ने अपनी शुरुआती दिनों(औपनिवेशिक काल) से ही नये-नये कोणों से परिवार और परिवार में महिलाओं की हैसियत को लेकर सवाल उठाने में अनिवार्य भूमिका निभाई। हिंदी पत्रकारिता ने निजी कर्तव्यों के साथ निजी भावनाओं को स्वीकार करने की जरुरत पर बहस चलाई। इन बहसों ने इस तथ्य को उजागर किया की स्त्री-पुरुष संबंध को स्थायित्व प्रदान करने वाली संस्था महिलाओं की लिए नियति बन गई है और इससे इतर विकल्प उसके पास है ही नहीं। धीरे-धीरे महिलाओं की शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, व्यक्तिगत विकास, समाजीकरण की प्रकिया और अन्य कई मूलभूत अधिकारों के लिए परिवार और परिवार की आधारभूत संरचना को दोषी पाया गया। जो उस समय(औपनिवेशिक दौर) की पत्रिकाओं और साहित्य में भी उभर कर सामने आ रहे थे। कालांतर में सामाजिक असुरक्षा का मूल्यबोध महिलाओं की लिए परिवार और विवाह एक कैरियर के रूप में भी सामने आया। जिसने महिलाओं की शोषण की प्रक्रिया को मजबूत किया। बदलते हुए सामाजिक परिस्थितियों के कारण परिवार संस्था की संरचना में भी बदलाव आया। परंतु, परिवार संस्था की मौलिक चरित्र में कोई विशेष बदलाव देखने को मिलता

---

[28] कुमकुम संगारी, परिवार में जनतंत्र यानी सारी दुनिया में जनतंत्र,रमेश उपाध्याय(सं) आज के सवाल, शब्दसंधान,नई दिल्ली,2004 पेज न०-35

[29] रजनी पालरीवाला, समाज में समतामूलक सोच पैदा करनी होगी, रमेश उपाध्याय(सं) आज के सवाल, शब्दसंधान,नई दिल्ली,2004 पेज न०-46

है(संयुक्त परिवार से एकल परिवार बनने के दौर में)। परिवार के इस बदलाव और चारित्रिक गुणों को हिंदी पत्रकारिता ने समय-समय पर उजागर किया। औपनिवेशिक काल के समाज सुधारकों का तर्क था कि स्त्रियों की पुरुषों से भिन्नता के कारण उन्हें हेय समझने का कोई अर्थ नहीं है, इन्ही समाज सुधारकों ने यह तर्क भी दिया कि इस भिन्नता के आधार पर ही स्त्रियों की सामाजिक तौर पर उपयोगी(मां के रूप में) माना गया है अत: उनकी देखभाल की उचित व्यवस्था जरूरी है। इन्हीं तर्कों के कारण स्त्री जगत को पारंपरिक तौर पर परिवार तक सीमित कर दिया था। औपनिवेशिक काल में समाज सुधारकों के प्रयासों पर टुवर्ड्स इकुवेलिटी भी अपनी रिपोर्ट में कहती है कि -

> "पाश्चात्य प्रभाव में समाज सुधारकों ने महिलाओं की व्यक्तित्व को पहचाना। किंतु मुख्यत: उनका ध्येय स्त्रियों की बेहतर मां व पत्नी बनाना था, उनका आदर्श ऐसी महिलाएं थी जो आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर परिवार को सुचारू रूप से चलाएं और अपनी पति और पुत्र के साथ समझ के स्तरों की खाई को पाट सकें।"[30]

19वीं सदी के आरंभ में किए गए कानूनी परिवर्तन के लिहाज से परिवार के अंदर परिर्वतन लाने की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी। हालांकि ये कानूनी परिवर्तन सामाजिक कुरीतियों (सती प्रथा, विधवा विवाह) को लेकर थे परंतु, बुनियादी मानवीय मूल्यों के आधार पर सामाजिक और पारिवारिक नियम-क़ायदों को भी चुनौती दी। इसका संबंध स्त्रियों की संवेदनशील प्राणियों के रूप में स्वीकार करने, परिवार के दहलीज़ से बंधे उसके अस्तित्व पर प्रश्न करने की ओर नयी सार्वजनिक भूमिका की परिकल्पना करने में भी था। कुमकुम संगारी लिखती हैं-

> "19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में उभरते मध्य वर्ग की आकांक्षाओं में यह सन्निहित था कि परिवार के पुनरुत्पत्ति हेतु पितृसत्तात्मक व्यवहारों के साथ, समान्य वर्गहितों के साथ व्यक्तिगत हितों का तालमेल बिठाने के लिहाज से परिवार का पुनर्गठन किया जाये।"[31]

वास्तव में 19वीं सदी के सुधार आंदोलन में मध्यवर्गीय पुरुष सुधारकों का सबसे बड़ा अंतर्विरोध स्त्री-पुरुषों के बीच दोहरे मानदंडो के इस्तेमाल का था। ये मानदंड अक्सर एक दूसरे के उल्ट भी होते थे। ज़्यादातर पुरुष सुधारक स्त्रियों की परंपरागत भूमिका को ही कुछ साफ-सुथरे, उन्नत ढंग से जारी रखना चाहते थे। वे खुद को आधुनिक बनाना चाहते थे, लेकिन स्त्रियों की आधुनिक

---

[30] Toward Equality, Report of the Committee on the status of women India pp 55,1974

[31] Kumkum snagari, Recasting Women: Eassay in Indian Colonial History Ed.kumkum sangari & sudesh vaid, kali for women, New Delhi, 1998pp 58.

बनाया जाये कि नहीं अगर बनाया जाये तो किस हद तक इस द्वंद्व में पड़े रहते थे। यह मुख्य अंतर्विरोध सुधारकों के बीच पहली पीढ़ी के विवाहित जोड़ों के लिए पति के शिक्षक के रूप में काम करने की परिघटना का कारण भी था। यह तनावों से भरी प्रक्रिया थी जो कि पहली शिकार बनी युवा पत्नीयों द्वारा लिखी गई अनेक आत्मकथाओं और पत्रों में दर्ज है। जैसे काशीबाई कानिटकर ने लिखा था कि -

> "उन्होंने शिक्षित होने के लिए खुद को बाध्य महसूस किया था क्योंकि उन्होंने अपनी पति को यह कहते हुए सुना था कि निरक्षर पत्नी के साथ वे कभी सार्थक जीवन नहीं जी पाएंगे।"[32]

इसीप्रकार का जिक्र आनंदीबाई जोशी[33] की आत्मकथा में भी सामने आता है। इन आत्मकथाओं से यह बात स्पष्ट होती है कि इस अवधि के सुधारक पितृसत्तात्मक परिवार के ढांचे में कोई सुधार किए बिना, महिलाओं पर अपना परंपरागत नियंत्रण जरा भी ढीला किए बिना, अपनी स्त्रियों की एक खास क्षेत्र में - अपनी घरों के अंदर एक नई आदर्श में ढालने की कोशिश करने लगे थे। इन प्रयासों के मध्य औपनिवेशिक शासन के हितों की चर्चा करते हुए जेरल्डीन फोब्स बताते हैं कि -

> "अंग्रेज अपने प्रशासनिक सेवाकर्मियों से चाहते थे कि उनकी पत्नियां भी शिक्षित हों ताकि उन दोनों की निष्ठा सुनिश्चित रहे। वो ये मानकर चल रहे थे कि भारत में विद्रोह की योजनाएं उन ज़नाना (महिलाओं) के बीच बनाई और विकसित की जाती हैं, जिन तक उनकी पहुंच नहीं है। अंग्रेजी में शिक्षित महिलाएं अपने औलादों को अंग्रेजीप्रेमी के रूप में विकसित करेंगी।"[34]

इन गतिरोधों के मध्य यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि औपनिवेशिक देशकाल में समाज सुधारक और औपनिवेशिक शासन का महिलाओं को शिक्षित करने का प्रयास अपने-अपने नए आदर्शों का निमार्ण करना था। वह महिलाओं पर अपने नियंत्रण को ढ़ीला करने के पक्ष में नहीं थे। इस अवधि में समाज सुधारकों का यह अंतर्विरोध महिला शिक्षा, स्त्री स्वतंत्रता के मुद्दों पर

---

[32] सरोज़नी वैध, श्रीमती कानिटकर:आत्मचरित्राणि चरित्र मनोरंजन, ग्रंथ प्रकाशन मंडली, बंबई 1991, पेज न०-75

[33] आनंदीबाई जोशी (31 मार्च 1865-26 फ़रवरी 1887) पहली भारतीय महिला थीं, जिन्होंने डॉक्टरी की डिग्री ली थी।उनका विवाह नौ साल की अल्पायु में उनसे करीब 20 साल बड़े गोपालराव से हो गया था ।उनके पति गोपालराव ने भी उनको भरपूर सहयोग दिया और उनकी हौसलाअफजाई की। आनंदीबाई के बारे में कई सूचनाएं श्रीमती कानिटकर:आत्मचरित्राणि चरित्र में मिलता है।

[34] जेरल्डीन फोब्स, स्त्रियों के लिए शिक्षा, निरंतर, सं.रंजित एंव पूर्वा भारद्वाज,नई दिल्ली, 2010, पेज न०-150

भी परिलक्षित होता है। जनार्दन भट्ट[35] ने 'हिंन्दुओं की सम्मिलित परिवार की कुप्रथा से हानियां' शीर्षक लेख में लिखते हैं कि -

> "संयुक्त परिवार स्त्री स्वाधीनता की सबसे बड़ी बाधा है। इसने स्वतंत्रता के भाव को जड़ से उजाड़ दिया है। सम्मिलित कुटुम्ब में रह कर बचपन ही से हमें पर भाग्योपजीवी और परतंत्र होने की आदत पड़ जाती है। पराये के आसरे रहते-रहते हम यह भी नहीं जान सकते कि स्वच्छंद जीवन कैसा होता है? इस कुप्रथा के कारण स्वतंत्रता का भाव ह्रदय से हट जाता है, जाहीलपन और मूर्खता बढ़ती है, वैमनस्य की उत्पत्ति होती है, मुकदमेंबाजी में समय और रुपये का व्यर्थ नाश होता है और स्त्रियों की अधोगति का ठिकाना नहीं रहता।"[36]

जहां जनार्दन भट्ट ने परिवार को स्त्री की स्वतंत्रता का बाधक माना। वही दूसरीतरफ़ शिवपूजन सहाय[37] ने 'ग्रामीण स्त्रियों की दशा' शीर्षक लेख में स्त्री-स्वाधीनता का ग्रामीण स्त्रियों तक विस्तार करने कीतरफ़ ध्यान खींचा। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'[38] ने स्त्री-स्वतंत्रता की हिमायत करते हुए लिखा -

> "पहले दोनों के भाव और कार्य अलग-अलग थे, अब दोनों के भाव और कार्यो का एक ही साम्य होना आवश्यक है। इस तरह गार्हस्थ्य धर्म में स्वतंत्रता बढ़ेगी। आत्मनिर्भर न रह जायेगा।"[39]

निराला ने स्त्री की स्वाधीनता को स्त्री शिक्षा और स्त्री मुक्ति जोड़ा। निराला स्त्री स्वाधीनता को मर्दवादी मानसिकता से देखने के ख़िलाफ़ थे। निराला की राय थी कि "भारतीय स्त्रियां दूसरों को अपनी आंखों से देखें, अपनी को दूसरों की आंखों से नहीं।"[40] जहां एकतरफ़ स्त्री-स्वतंत्रता के लिए परिवार के संरचना को बाधक माना जा रहा था वहीं दूसरीतरफ़ कई बुद्धिजीवियो और समाज सुधारकों ने स्त्री स्वतंत्रता को परिवार के विघटन के रूप में भी देखा। इस काल में चाहे घर हो

---

[35] जनार्दन भट्ट 'सरस्वती' पत्रिका से जुड़े पत्रकार थे। जो बाद में 'प्रदीप" पत्रिका से भी जुड़े रहे।

[36] जनार्दन भट्ट,'हिंदुओं की सम्मिलित परिवार की कुप्रथा से हानियां', सरस्वती, जनवरी 1914, पेज न०- 31

[37] हिन्दी पत्रकारिता के पुरोधा आचार्य शिवपूजन सहाय 1910 से 1960 ईपत्रिकाओं-तक विभिन्न पत्र ., जैसे -'आज', 'सन्मार्ग', 'आर्यावर्त', 'हिमालय' आदि में सारगर्भित लेख लिखते रहे।

[38] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हिंदी साहित्य में छायावाद के प्रमुख हस्ताक्षर माने जाते रहे है। परिमल, अर्चना, सांध्य काकली, अपरा , गीतिका, आराधना, दो शरण, रागविराग, गीत गुंज, अणिमा, कुकुरमुत्ता इनकी प्रमुख कृतियां रही है।

[39] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियां', सं. नंदकिशोर नवल, निराला रचनावली, भाग6, तृतीय संस्करण 1992, पेज न०- 129

[40] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', 'राष्ट्र और नारी', सं. नंदकिशोर नवल, निराला रचनावली, भाग6, तृतीय संस्करण 1992, पेज न०-2वर्ष 19वर्ष 1990

या बाहर महिलाओ के जीवन जगत के अन्य कई पहलुओं पर नियंत्रण और दबाव की जोर आजमाइश भी चल रही थी। कई इतिहासकारों ने पारिवारिक जीवन और वैवाहिक संबंधों पर भी ध्यान दिया है।[41] औपनिवेशिक संत्तातंत्र और देशी पितृसत्तात्मक ढांचे घर और बाहर दोनों क्षेत्रों में काफ़ी प्रभावकारी और बलबती रही।[42] विवाह और परिवार को सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक संस्थान के रूप में देखा गया जिसके तहत महिलाओं की व्यक्तिगत ज़रूरतें और इच्छाएं गौण थी। महिलाओं को परिवार के केंद्र में देखा गया। सामाजिक तार्किकता को जैविक तर्को के साथ मिलाकर परिवार के अंदर असमानता के नई सांचे बनाए गए और महिलाओं की लिए बहुदेशीय काम-काज पर जोर दिया गया। यहां तक कि हास्यास्पद तरीके रूप से सेक्स के क्रियाकलापों में भी अंतर देखा गया-

> "प्राकृतिक सृष्टि क्रिया में पुरुष की जिम्मेदारी दस मिनट की है और स्त्री की जिम्मेदारी दस महीने की है। जब प्राकृति ने ही दस मिनट और दस महीने का अंतर जिम्मेदारी में रखा है, तब कोई कैसे जिम्मेदारी एक कर सकता है?"[43]

19वीं सदी में आत्मचेतन ढंग से स्त्रियों की छवियां गढ़ने का प्रयास समाजसुधारकों द्वारा किया जा रहा था। इन समाज सुधारकों ने स्त्री शिक्षा की परियोजना को पालन-पोषण और वर्ग के समाजीकरण के लिए आवश्यक माना। पार्वती आठवले लिखती हैं कि-

> "हमारे घरों में अपनी बच्चों को वह चीज सिखाने के लिए प्रयास नहीं होता है जिसे अंग्रेजी में गुड मैनर्स(अच्छा व्यवहार) कहा जाता है। हमारे पुरुषों का घर से बहुत ही कम संपर्क होता है.....अपनी नौकरों तथा बच्चों के साथ कोई विशेष संबंध नहीं होता है। इसलिए परिवार के सही आचरण और सही व्यवहारों की जवाबदेही अब स्त्रियों पर आ पड़ी है। चूंकि स्त्रियां देश की भावी माताएं है, इसलिए उन्हें विशेष घरेलू जीवन के लिहाज से उपयुक्त शिक्षा देना आवश्यक है। ऐसी शिक्षा में सबसे पहले चिकित्सीय देखरेख, बच्चों की देखभाल, खाना पकाना, बगीचे की देखरेख, धार्मिक और नैतिक शिक्षा ही महत्वपूर्ण विषय शामिल होना चाहिए। परिवार एक विद्यालय है और मालकिन और मालिक इस विद्यालय में प्रधान शिक्षक-शिक्षका हैं। अगर स्त्री

---

[41] पार्थ चर्टजी, 'राष्ट्र और उसकी महिलाएं', सं. शहिद अमीन और जानेंद्र पांडेय, निन्मवर्गीय प्रसंग,भाग-2 दिल्ली, 2002 पेज न०- 52-73

[42] Tanika Sarkar, Hindu Wife Hindu Nation: Community, Religion and Cultural Nationalism, orient longman private limited, Delhi, 2001. pp 79

[43] यशोदा देवी, दम्पति आरोग्यता जीवनशास्त्र, इलाहाबाद,1927 पेज न०- 16

> शिक्षा को देश के लिए किसी भी रूप में लाभप्रद होता है तो उसे खुद को घर के सुधार में अवश्य योगदान करना चाहिए।"[44]

स्पष्ट है कि औपनिवेशिक भारत में हिंदी प्रदेशों में जहां एक तरह समाज सुधारक स्त्री-स्वतंत्रता के लिए परिवार की संरचना को बाधक मान रहे थे और स्त्री शिक्षा को जरूरी समझ। वही समाज सुधारकों ने स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण के लिए परिवार संरचना में परिर्वतन को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने स्त्री स्वतंत्रता को परिवार के विघटन के कारण के रूप में देखा और परिवार को नये तरीके से रचने का काम किया जिसमें स्त्री शिक्षित भी हो ताकि पितृसत्ता का नवीनीकरण हो सके। समाज सुधारक नैतिकतावादी, सुधारवादी और राष्ट्रवादी अपनी पहचान, एक सभ्य आधुनिक समाज और राष्ट्रवाद के निर्माण के लिए पतिव्रता और आदर्श महिला के लिए परिवार को भी नये तरीके से गढ़ रहे थे। 19वीं सदी के सुधारकों का तर्क था कि स्त्रियों की पुरुषों से भिन्नता के कारण उन्हें हेय समझने का कोई अर्थ नहीं है, वही बाद के सुधारकों ने तर्क दिया कि इस भिन्नता के आधार पर ही स्त्रियों की सामाजिक तौर पर उपयोगी (मां के रूप में) माना। इन्हीं सभी के बीच महिलाएं भी अपनी जगह बना रही थीं और अलग-अलग तरीके से अभिव्यक्त हो रही थी। महिलाएं जब खुद भी अभियानों में शामिल होने लगीं और उन्होंने अपनी संगठन भी खड़े कर लिये तो भिन्नता के इस बिंदु को जोरदार तरीके से उठाया। भारतीय स्त्रियों के कष्टों और उनके सुधार की आवश्यकता की परिभाषा हिंदी पत्रकारिता में बीसवीं सदी के आरम्भ तक बदल गई थी। अब हिंदी पत्रकारिता का सारा ध्यान स्त्रियों की समाज का उपयोगी सदस्य समझने पर केंद्रित हो गया। स्त्री की मातृ-छवि को पेश करने के बजाये उसे पुत्री और कामकाजी महिला के रूप में पेश किया जाने लगा।

स्वतंत्र भारत में समकालीन नारी आंदोलन महिलाओं की उपेक्षा, शोषण और श्रम में लिंग आधारित भेदभाव को समाप्त करने तथा बराबरी के सिद्धांत का मजबूती से पालन करने की नीति के साथ शुरू हुआ। स्त्री और पुरुष के बीच असमानता के पैमाने पर उठाया गया और कहा गया जैविक तौर पर दोनों समान हैं अत: महिलाओं की बराबरी के अधिकारों के मामले में सार्वजनिक या निजी किसी भी क्षेत्र में असर नहीं पड़ना चाहिए।

---

[44] सी. वाई. चिंतामणि, इंडियन सोशल रिफार्म, पेज न०- 105

निसंदेह,परिवार को पहला रोमांचकारी अनुभव औपनिवेशिक शासन के दौरान हुए औधोगीकरण और आधुनिकीकरण के कारण हुआ। औधोगीकरण और शहरीकरण ने संपत्ति के बंटवारे को बदलने और श्रम की गतिशीलता की मांग ने परिवार को नये तरीके से परिभाषित और प्रभावित किया। परिवार के परिवेश और स्त्री की आर्थिक हैसियत की भिन्नता ने स्त्री को परिवार में भिन्न-भिन्न भूमिकाएं सौपी और उसका दर्जा निर्धारित किया। इस नये परिवेश ने परिवार के ढ़ांचे को गंभीर रूप से हिला कर रख दिया। मसलन, मातृसत्तात्मक व्यवस्था में बड़ा परिवर्तन समाज में उस कानून के प्रवेश से हुआ जिसने पुरुष वंशावली में संपत्ति के हस्तांतरण को वैध बना दिया। सारदामोनी ने यह अपनी अवलोकन किया कि-

> "मातृसत्तात्मक समाजों में पुरुषों या जिसने ऊपरी स्तर से सुधारों और कानूनों की मांग की। उसकी इस मांग के पीछे उत्सुकता यह थी कि वह परिवार सहित सभी स्थानों पर अपनी शक्ति स्थापित करना चाहता था। पुरुष श्रेष्ठता या प्रभुत्व सबके लिए एक जैसा नहीं है पर इसका तात्पर्य यह है कि सभी को नई सत्ता व महिलाओं की ऊपर वर्चस्व स्थापित करने की समझ है।"[45]

जी. अरूणिमा के शोध के अनुसार, पूरी 19वीं सदी में मालबार में मातृसत्तात्मक विरासत परिवार संरचना में कानून के प्रवेश से टूटने लगी। वो बताती हैं कि-

> "मातृसत्तात्मक संरचना में कानून के प्रवेश से पूरानी व्यवस्था टूटने लगी और उसकी जगह ब्राह्मणवादी पितृसत्तामक व्यवस्था लेती गई। चूंकि सारे हिंदू कानून एक ब्राह्मणवादी छत्रछाया में आ गए, निम्नजाति की महिलांए, जिनमें अब तक तलाक का प्रचलन था, विवाह के कठोर और अटूट बंधंनों में बंध गई।"[46]

इसीतरह, उच्चजातीय या रूढ़िवादी संस्कारों के प्रचलन ने ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को मजबूत करने का काम किया। जिसने परिवार के मध्य महिलाओं के परंपरागत अधिकारों का दमन प्रारंभ किया। हालांकि, इन प्रभावों में क्षेत्रिय विविधता भी देखने को मिलते है परंतु, इन विविधताओं में भी महिलाएं को किसी प्रकार का लाभ या उनकी स्थिति में बदलाव देखने को नहीं मिलता है। औपनिवेशिक शासन के दौरान, आधुनिकीकरण की विचारधारा के कारण परिवार का स्वभाव और

---

[45] के. सारदामोनी(1997) -मैट्रलिनी ट्रांसफोमर्ड : फैमली लां एंड आइडियोलांजी इन 20सैंचुरी, ट्रावनकोर पेज न०-114-115

[46] तनिका सरकार, नारी जीवन में धर्म और जाति, नारीवादी राजनीति: संघर्ष और मुददे, सं. साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविधालय, 2010, पेज न०-199

नियति में बदलाव देखने को भी मिलते है। मसलन, तिलपुट नांगवारी मेघालय में हो रहे बदलाव के बारे में बताती हैं कि-

> "मेघालय का उत्तराधिकार अधिनियम, खामियों के बाद भी समाज में परिवर्तन लाया, इस अधिनियम ने शांत मस्तिष्क के कई जातीय समाज को अपनी वसीयत द्वारा स्व-अर्जित संपत्ति के प्रबंध का अधिकार दिया।"[47]

निष्कर्ष के तौर पर यह समझा जा सकता है कि परिवर्तन की आधुनिक ताकतों ने भी पितृसत्ता का पक्ष लिया। मातृसत्तात्मक समाजों में होने वाले वृहद परिवर्तनों ने महिलाओं की अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला जबकि पितृसत्तात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों ने महिला को बहुत समर्थ नहीं बनाया। इन परिवर्तनों ने परिवार में महिलाओं को किस तरह प्रभावित किया? यह एक अध्ययन की मांग करता है। यह कहा जा सकता है कि परिवार ने अपनी नये बदले हुए स्वरूप में महिलाओं को सीमित अवसर उपलब्ध करवाए। परंतु, पितृसत्ता का आधारभूत मूल्य विद्यमान रहा कि पति या उसके परिवार का कोई पुरुष सदस्य ही नीति-निर्माता होता है। परिवार की संपत्ति में महिलाओं को कुछ कानूनी अधिकार मिले हैं परंतु, व्यवहार में उन अधिकारों को प्रयोग करने में कठिनाई होती है। परिवार के अंदर स्त्री की मातृ-छवि के रूप में फिर, बेटी और कामकाजी महिला के रूप में पेश करने में मीडिया की भूमिका काफ़ी महत्वपूर्ण रही है।

आजादी के बाद विशेषकर आर्थिक अवसरों की गतिशीलता ने संयुक्त परिवार जैसी संरचना में बिखराव देखने को मिलती है। परिवार के सदस्यों पर नियंत्रण और सुरक्षा जैसे बोध कमजोर हुई। लोगों ने नई मान्यता, नई कौशल, नई उम्मीदें और जीवन शैलियों का सामना किया। एकल परिवार की अवधारणा और संवैधानिक अधिकारों ने परिवार में महिलाओं की लिए समानता के प्रयास किए। जिससे यह तथ्य सामने आता है कि परिवार का स्वरूप बदलता रहा है, आज भी बदल रहा है और आगे भी बदलता रहेगा। क्योंकि मूल्यों और अधिकारों को परिवार के मध्य आने से नहीं रोका जा सकता है। जनसंख्यां नियंत्रण के संदर्भ में और मातृवंशीयता के संदर्भ में परिवार को कानून बनाकर बदलने का प्रयास होता रहा है।

---

[47] तिलपुट नांगवारी, जेंडर एंड फैमली स्ट्रल्चर, संपा. ओबेराय पैट्रिशिया, "फैमली, किनशिप एंड मैरिज इन इंडिया", आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1994पेज न०-176

वर्ष 1990 के दशक के बाद परिवार अपनी पारंपरिक और नई चुनौतीयों के साथ अपनी मूलभूत संरचना में कोई परिवर्तन देखने को नहीं मिलता है। परिवार के अस्तित्व और उसकी प्रभावशाली भूमिका को बनाए रखने के लिए दूसरे सामाजिक संस्थाओं का महत्वपूर्ण दखल देखने को मिलता है। शहरों, महानगरों में आवसीय घरों के आकर्षक होडिग्स और अख़बारों में आने वाले पंफ्लैट परिवार के छवि को भड़कीले अंदाज़ में प्रस्तुत करते है। जिससे परिवार के सदस्यों की समस्या गौण या मौन हो जाती है। मीडिया, विशेष कर विविध क्षेत्रों के साहित्य ने परिवार के संयुक्त आयाम का गुणगान इस तरह प्रस्तुत किया है, मानो महिला को पारिवारिक एकता को खंडित करने के मुख्यकर्ता के रूप में चिन्हित है और महिला का सामाजीकरण इस प्रकार से करने का प्रयास होता है महिला ही एक दूसरे के प्रति समर्पित पुरुषों के मध्य लड़ाई करवाती है। मां का आदर्शीकरण, भाई का समर्पण, भाई-बहन के स्नेह का गुणगान किया गया है और परिवार के लिए किसी भी त्याग को सहना व्यर्थ जाता है। परिवार के अंदर महिलाओं के समाजीकरण को हिंदी पत्रकारिता के विश्लेषण के माध्यम से विश्लेषित किया जा सकता है। मसलन, भारतीय समाज के हर माहौल में स्त्रीत्व के विकास की प्रक्रिया में स्त्री-सुलभ कार्यों का प्रशिक्षण दिया जाता है। लिंगाभाव आधारित कार्यविभाजन के कारण रसोई, गृहकार्य संबंधी कार्य और बच्चों के देखभाल का काम का प्रशिक्षण बचपन से ही दिया जाता है।

इस संदर्भ में नीलोफर असगर 'हिंदुस्तान' के अपनी लेख 'क्या परिवार चलाने का प्रशिक्षण बेमानी हो गया है' में लिखती हैं कि -

> "एक जमाना हुआ करता था जब परिवार में लड़कियों को बचपन से ही गृहकार्य का प्रशिक्षण दिया जाता था। जवानी के दहलीज पर पांव रखते-रखते वह हर कार्य में प्रवीण हो जाती थी और शादी के बाद पारिवारिक जिम्मेदारी उठाने के लिए मानसिक रूप से तैयार रहती थी। लेकिन समय के साथ हर परिवार में काफ़ी बदलाव आया है। पढ़ाई को गृहकार्य से अधिक महत्व दिया जाता है। गृहकार्य में अनुभवहीनता के कारण शादी के बाद पारिवारिक जीवन में कड़ुवाहट आ जाती है। तो क्या शादी के बाद आने वाली कठिनाईयों, समस्याओं और संबंधों की बारीकियों को समझने के लिए ऐसी प्रशिक्षण संस्था की ज़रूरत है, जो लड़कियों की समस्याओं को सुलझाने में सफल हो सकें।"[48]

जहां एक तरफ़ यह लेख लड़कियों के समाजीकरण की प्रक्रिया पर प्रहार करते हुए उसे स्त्री-पुरुष समानता के मनोविज्ञान को समझने का प्रयास दिखता है। तो वही दूसरी तरफ़ लड़कियों के समाजीकरण के महत्व को भी स्थापित करता है जहां लड़कियों को केवल उनकी भविष्य की

[48] 24 जून 19वर्ष 19वर्ष 1990,हिंदुस्तान

भूमिका(बहू) के लिए समाजीकृत किया जाता है। परिवार में लड़के-लड़कियों के समाजीकरण पर ही 'हिंदुस्तान' के लेख में 'परिवार में समायोजन की सीख बेटों को भी दें' में संगीता राय लिखती हैं कि-

> "संयुक्त से एकाकी परिवार बनने के दौर में भी इस प्रवृत्ति में कोई बदलाव नहीं आया है। माता-पिताओं की यह मानसिकता बेटियों को समायोजन का पाठ देती है और बेटों को कुछ ऐसा बना देती है कि वे परिवार के सदस्यों के साथ ताल-मेल बैठा पाने में असमर्थ रहते हैं। समायोजन की परंपरा भारतीय संस्कृति में परिवार में श्रम विभाजन की व्यवस्था का संचालन करती है। जहां बेटियां घर-गृहस्थी के कार्यों में दक्ष होती है और बेटों को बाहरी कार्यों में दक्ष किया जाता है। बदलते पारिवारिक व्यवस्था में लड़कियां बाहर कार्यों में दक्ष होती गई। परंतु, पुरुष प्रधान समाज में पुरुषों का वर्चस्व बुनियादी तौर पर उसी तरह कायम है जिसके कारण लड़कों में समायोजन का अभाव रहा। जो मौजूदा समय में परिवारों में तनाव का मुख्य कारण बन जाता है। इसलिए यह जरूरी है कि बदलते परिवेश के साथ बेटों को भी घरेलू कामों में भागीदार बनाया जाये और समायोजन का पाठ दिया जाये। क्योंकि परिवार सामाजिक जीवन की सर्वोच्च पाठशाला है।"[49]

लेख में लड़के-लड़कियों के समाजीकरण के प्रशिक्षण को सही माना गया है परंतु, लिंग के आधार पर परिवार में होते रहे श्रम विभाजन को बदलते परिवेश में बदलने की पैरवी किया गया है। लेखिका कही भी लड़के-लड़कियों के सामाजीकरण के प्रशिक्षण को प्रश्नांकित नहीं करता है और समाजीकरण को समायोजन के साथ जोड़ने की बात करती है। हालांकि कुछ लेख यदा-कदा प्रकाशित होते हुए दिखते है जो महिलाओं की पक्ष को सही परिपेक्ष्य में रखने का प्रयास करता है। 'नवभारत टाईम्स' के लेख 'स्त्रियों की कौन व्यक्तित्वहीन बना रहा है' लेख में भी दिखता है जहां कमल कुमार लिखती हैं कि -

> "आज के भौतिकवादी दौर में आर्थिक-सामाजिक दबाबों के कारण कामकाजी स्त्रियों की स्वीकार किया जाने लगा है। परंतु, रूढिवादी कट्टर मानसिकता के लोग स्त्री को उसकी पारंपरिक भूमिका के साथ चिपकाये रहना चाहते है और उसको व्यक्तिहीनता कीतरफ़ धकेलते चलते है। क्योंकि घर-परिवारों में विवेकवान और विचारशील लड़कियों का कोई स्थान नहीं है। इसलिए शुरू से ही उनकी शिक्षा-दीक्षा उन्हें व्यक्तित्वहीन होने पर जोर देती है। क्योंकि लड़कियों की शिक्षा या उसके आत्मनिर्भर होने का मुख्य उद्देश्य आज भी 'अच्छा वर' पाना है और किसी भी परिवार में विवेकशील और विचारशील लड़कियों का कोई स्थान नहीं है। इसलिए शुरुआत से ही सामाजीकरण के द्वारा भी उन्हें व्यक्तित्वहीन होने पर जोर देती है। भारतीय समाज संरचना

[49] 29 जून 1996, हिंदुस्तान

> के संघर्ष में समतामूलक समाज की परिकल्पना ज़रूर है जिसका उद्देश्य 'व्यकितत्व की प्रतिष्ठा' ही है। परंतु, व्यवहार में यह सामाजिक दवाबों के कारण लिंग आधारित है।"[50]

लेख परिवार में महिलाओं व्यक्तित्व के विकास में रूकावट के कारणों की चर्चा करता हुए परिवार में लिंग आधारित भूमिकाओं के निर्धारण को मुख्य समस्या के रूप में उभारने का प्रयास दिखता है, जो महिलाओं की व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं होने देते। परंतु, इस तरह के लेखों की सख्यां कम होती है। अधिकतर लेख में परिवार संस्था में महिलाओं की कर्तव्य, जिम्मेदारी और पारिवारिक मर्यादा के नैतिक आदर्श को स्थापित करने का प्रयास दिखता है। इन लेखों में परिवार के अस्तित्व को बचाने की जिम्मेदारी महिलाओं पर डाल दिया जाता है क्योंकि परिवार की आवश्यकता महिलाओं को अधिक है। इस तरह पुरानी विचारधारा की निंदा के साथ सामाजिक परिवर्तन के चुनौतीयों को इस प्रकार प्रकट किया जाता है कि महिलाओं की पास दोनों स्थिति में मानवीय गुणों के विकास के अलावा कोई विकल्प नहीं है।

परिवार पर प्रकाशित अन्य लेखों में परिवार संस्था के टूटने के कारणों की पड़ताल करते हुए दिखते है। इस समस्या के रूप में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन, बाज़ार की शक्ति, उपभोक्तावाद की पहचान कई लेखों में दिखती है। मसलन, 'हिंदुस्तान' के लेख 'मामला एक परिवार टूटने का' में नीरा कुमार लिखती हैं कि -

> "आज संयुक्त परिवारों का स्थान एकल परिवारों ने ले लिया है। परंतु, आधुनिक जीवन शैली के कारण एकल परिवार में भी दाम्पत्य काफ़ी हद तक प्रभावित हो रहा है। आज के बदलते परिवेश में जब पति-पत्नी दोनों नौकरीपेशा हैं तो घर चलाने की जिम्मेदारी सिर्फ़ एक पर ही नहीं दोनों पर होनी चाहिए। परिवार के विघटन का कारण यह भी है कि परिवार का स्वरूप तो बदल रहा है परंतु, परिवार के नैतिक मूल्य वही स्थित है। नारी शिक्षित होने के कारण अपनी अधिकारों के प्रति अधिक सजग है तथा पहले की अपेक्षा आर्थिक रूप से स्वतंत्र भी है। इस स्थिति में परिवार के नैतिक मूल्यों के प्रति उत्तरदायी नहीं होना चाहती जो परिवार में उसकी भूमिका को ठीक से नहीं पहचानती। ये नैतिक मूल्य नारी स्वतंत्रता में बाधक हो जाते है और परिवार टूटने की नौबत आ जाती है। "[51]

इस लेख में जहां परिवार के विघटन के कारण के रूप में पारंपरिक नैतिक मूल्यों और परिवार में महिलाओं का अपनी अस्तित्व के प्रति सचेत होने के स्थिति में उसकी भूमिका का सही मूल्यांकन नहीं होना परिवार के विघटन का कारण माना गया है क्योंकि पारंपरिक नैतिक मूल्य

---

[50] 19 अगस्त, 1992 नवभारत टाईम्स

[51] 21 मार्च 1993, हिंदुस्तान

महिलाओं की स्वतंत्रता में बाधक होते है। 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'परिवार बचेगा तो दुनिया बचेगी' में भरत डोगरा बताते हैं कि -

> "मानव समाज की बुनियादी इकाई परिवार है जो आज संकट में है। भारत में परिवार टूटने का कारण पारिवारिक हिंसा तो रहे ही है परंतु, हम हिंसा के कारणों को नहीं पहचान पा रहे है। परिवार की बिगड़ती हालात के लिए क्या सिर्फ़ हम जिम्मेदार है? नहीं सच्चाई यह है कि उपभोक्तावाद, प्रतिस्पर्धा, असंतोष के जिस रास्ते पर दुनिया चल रही है, जिस पर अर्थनीति और राजनीति को आधारित किया जा रहा है, वह ऐसी परिस्थितियां पैदा कर रहा है जो परिवार व परिवार के मूल्यों को तरह-तरह का अघात पहुंचाती है। आधिपत्य व स्वार्थ पर आधारित संबंधों से छुटकारा पायें व उसे यथासंभव कम करने को हम अपनी संबंधों का आधार बनाकर ही संयुक्त और एकल दोनों परिवारों को टूटने से बचा सकते है।"[52]

लेख में आंकड़ों की भरमार है जिससे यह बताने का प्रयास किया गया है कि उपभोक्तावादी संस्कृति और पारिवारिक हिंसा परिवार के टूटने का कारण है जिससे वृद्ध और बच्चों को समुचित देखभाल नहीं मिल पाता है। इसके साथ और कई समस्या का संबंध भी परिवार टूटने के कारण ही सिद्ध किया गया है। 'दैनिक जागरण' प्रकाशित लेख 'बाज़ार के चपेट में परिवार' में हृदयनारायण दीक्षित ने भी परिवार में आए संकट का कारण उदारीकरण और वैश्वीकरण को ही माना है। अपनी लेख में हृदयनारायण दीक्षित लिखते हैं कि -

> "परिवार संस्था को बचाने के लिए बाज़ार के प्रभाव से बचाने की ज़रूरत है। उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों के चलते भारत सारी दुनिया का बाज़ार बना। उपभोक्ता वस्तुएं अपनी साथ उपभोक्ता संस्कृति भी लाती है। भारत का स्वदेशी आंदोलन कमजोर होने के कारण इस बाज़ारवाद से नहीं लड़ पाया। भारतीय उत्सव बाजारी खेल नहीं है यहां हर उत्सव बाजारी खेल नहीं है यहां हर उत्सव प्राकृतिक है। बाजारी उत्सव की संस्कृति ने भारतीय पारिवारों को प्रभावित किया है। मडर्स डे, फादर्स डे, फ्रेंडर्स डे'और वेलेन्टाइन डे जैसे बाजारी उत्सव ने मानवीय संबंधों को भावनात्मक चाश्नी में डालकर उसका शोषण किया है। आज ज़रूरत इस बात की है कि हम अपनी मौलिकता केतरफ़ ध्यान दें, ताकि युवा परिवार के अर्तसंबंध को समझ सके। परिवार में इस संस्कृति के कारण बिखराव नहीं हो इसलिए हमको अपनी मौलिकता को अपना कर बाजारू संस्कृति से परिवार को बचाने की ज़रूरत है।"[53]

लेख में उपभोक्ता संस्कृति की तरह आधुनिकता की अवधारणा को भी नाभिकीय परिवार के टूटने का कारण माना गया है। इसके समाधान के लिए अपनी सांस्कृतिक मौलिकता केतरफ़ आधुनिक

---

[52] 18 दिसंबर 1998, हिंदुस्तान

[53] 18 फरवरी 2004, दैनिक जागरण

पारिवारिक मूल्यों की वकालत की गई है। 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'सीमित परिवार भी अब मझंधार में' हिंदी के चर्चित कथाकार मनोहर श्याम जोशी बताते हैं कि -

> "आधुनिकता की एक खास देन है- नाभिकीय यानी सीमित परिवार। नाभिकीय परिवार में पुरुष ने अपनी साथ-साथ महिला को भी परिवार के मुखिया बनने का दर्जा दिया। परंतु, एशियाई मानसिकता वालों ने यूरोप की इस मानसिकता को पूरी तरह से नहीं अपनाया क्योंकि भारत जैसे विकासशील देश के आधुनिक दंपत्ति अपनी बच्चों को न ही परस्पर निर्भरता सिखा रहे है, न आत्मनिर्भरता। व्यक्ति को स्वतंत्रता और समानता में विश्वास करने वाली जिस आधुनिकता ने संयुक्त और विस्तृत परिवार की तानाशाही और गैरबराबरी खत्म करते हुए नाभिकीय परिवार चलाया उसकी सफलता बीसवीं सदी के अंतिम दौर में नाभिकीय परिवार को ले डूबी है। आधुनिकता ने स्त्री को शिक्षा तो दी लेकिन स्त्री को पुरुष की बराबरी में रखने से परहेज किया। आधुनिकता के प्रवर्तकों ने स्त्री को शिक्षा समानता दिलाने के लिए नहीं, बल्कि बेहतर गृहिणी, संगिनी और बच्चों का लालन-पालन करने की और पति को बेहतर कंपनी देने के लिए की। असमानता के दमघोटू माहौल के कारण नाभिकीय परिवार भी अब बीच मझंधार में है।"[54]

लेख में जहां आधुनिकता के साथ आई समानता और स्वतंत्रता की विचारधारा को सयुक्त परिवार के कारण के रूप में देखता है वही इसकी चर्चा करता है कि नाभिकीय परिवार ने भी समानता और स्वतंत्रता के विचार को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। नाभिकीय परिवार के सदस्यों में असमानता की स्थिति ही नाभिकीय परिवार के टूटने का कारण बन रही है। परिवार संस्था के टूटने के कारणों के विश्लेषण में जहां एकतरफ़ आधुनिकता, उपभोक्ता संस्कृति, परिवार के अंदर असमानता का दमघोटू माहौल का विश्लेषण देखने को मिलता है। तो कुछ लेख बदलते सामाजिक परिस्थितियों में परिवार में हो रहे संरचनागत बदलाव या नये परिवर्तन को परिवार संस्था के खतरे के रूप में अभिव्यक्त करते है। मसलन, 'हिंदुस्तान' में 'खतरे में है परिवार' लेख में प्रो. गोविन्द केलकर बताते हैं कि -

> "पश्चिम में ही नहीं पूर्व में भी परिवार को पुन: परिभाषित करने का प्रयास चल रहा है। एशियाई देशों में परिवार गहन कठिनाई के दौर से गुजर रहे हैं। परिवार में कई परिवर्तन आए हैं तथा इसके असमान शक्ति संबंधों पर प्रश्न चिन्ह लगाया जा रहा है। वियतनाम इसका एक उदाहरण है जहां कई गांवों की महिलाओं ने एकल मां रहने का फैसला किया तथा बिना विवाह के बच्चे पैदा करके उन्हें स्वतंत्र रूप से बड़े करने का फैसला किया है। इस तरह के फैसलों के बारे में गोविंद चेतावनी देते हुए कहते है कि परिवार की संरचना में कई तरह के सुधार की आवश्यकता है नहीं तो परिवार के टुकड़े हो जाएंगे।"[55]

---

[54] 12जुलाई 1999,हिंदुस्तान

[55] 10 अप्रैल 2000, हिंदुस्तान

इसी तरह परिवार में होने वाले परिवर्तनों पर भारत डोगरा 'दैनिक जागरण' में अपनी एक दूसरे लेख 'बदलाव के दौर में है परिवार' में लिखते हैं कि -

> "समाज की बुनियादी इकाई परिवार बदलाव के दौर से गुजर रहा है। कई देशों में परंपरागत परिवारों में व्यक्ति के स्वतंत्रता के लिए बाधक माना गया है, विशेष तौर से महिलाओं की स्वतंत्रता के लिए बाधक माना गया। परंतु, परंपरागत परिवार के बिखरने के बाद संबंधों की प्रगाढ़ता बनाए रखने वाली ऐसी व्यवस्था नज़र नहीं आ रही है जिसे सार्थक विकास के रूप में स्वीकार किया जा सके। व्यक्तिगत परिवार, जो व्यक्ति के स्वतंत्रता के दावे पर स्थापित हुए थे, बच्चों के समुचित विकास में बाधक हो रहे है और इस ढांचे में महिलाओं की ऊपर होने वाली घरेलू हिंसा में भी बढ़ोतरी हो रही हैं। भारतीय सामाजिक संदर्भ में परिवार को काफ़ी महत्व दिया गया है पर हम अपनी वास्तविक समस्या को पहचानने की कोशिश नहीं कर रहे है जिसके कारण परंपरागत और व्यक्तिगत दोनों ही परिवार में स्वतंत्रता और समानता को समझ नहीं पा रहे है। हमें अपनी कमजोरियों को सुधारने की दिशा में प्रयास करने की ज़रूरत है।"[56]

इन लेख मे परिवार में आ रहे बदलावों के कारण उत्पन्न हो रही समस्या का विश्लेषण देखने को मिलता है। लेख इस विषय पर ध्यान केंद्रित करता है कि जिस स्वतंत्रता और समानता की आवश्यकता ने नई पारिवारिक व्यवस्था को जन्म दिया, वहां भी महिलाओं पर घरेलू हिंसा और बच्चों के समुचित विकास की समस्या उभर कर सामने आ रही है। संस्था के रूप में परिवार के सदस्यों की मूल समस्या को समझने से हम कोसों दूर है। 'नवभारत टाईम्स' में जगजीत सिंह अपनी लेख 'घर परिवार है यातना के अड्डे' में परिवार में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा की कारणों की पड़लात करते हुए लिखते हैं कि -

> "परिवार महिलाओं को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का एक सुरक्षित स्थल माना गया था, लेकिन हाल के दशकों में विवाहित महिलाओं की प्रति हिंसा का खतरा लगातार बढ़ा हैं। घरेलू हिंसा की शिकायतें पुलिस तक भी कम पहुंचती हैं, क्योंकि परंपरावादी नसीहतें जो समाजीकरण के दौरान लड़कियों को दी जाती है कि अब इस घर की और उस घर की इज्जत तुम्हारे हाथ में है, मायके से तुम्हारी डोली उठी है ससुराल से तुम्हारी अर्थी उठेगी। पारिवारिक हिंसा के मामले में कानून भी उस तरह से मुखर नहीं है। इसके साथ पारिवारिक हिंसा महिलाओं की असामान्य स्थिति, पति पर आर्थिक निर्भरता, बच्चों तथा स्वयं के जान की असुरक्षा, बार-बार का गर्भधारण, लोकलाज और लोकनिंदा का डर, अधिकारों की जानकारी का अभाव, आत्मविश्वास की कमी और सामाजिक दबाव भी पारिवारिक हिंसा के कारण बनते है।"[57]

---

[56] 10 दिसंबर 2004, दैनिक जागरण

[57] 22 फरवरी 2002, नवभारत टाईम्स

इस लेख में परिवार में महिला के विरुद्ध होने वाली हिंसा का विश्लेषण देखने को मिलता है। महिलाएं अपनी पारंपरिक समाजीकरण के कारण मौन रह जाती है कानूनी एजेंसियां भी इसे गंभीरता से नहीं लेती जिसके कारण कानूनी तंत्र इसका मुकाबला करने में नाकाम रह जाती है। इसीप्रकार 'दैनिक जागरण' के लेख 'हक इऩकार का' में प्रफुल्ल कोलख्यान लिखते हैं-

> "सभ्यता के मूल में परिवार होता है। परिवार में बच्चे ही नहीं पलते हैं, सभ्यता भी पलती है। आज परिवार में घरेलू हिंसा का दायरा बहुत अधिक बढ़ गया है। घरेलू हिंसा के कारण परिवार पर छाया संकट का असर गहरा रहा है वहीं परिवार बचाने के लिए किया जाने वाला सामाजिक आंदोलन भी जोर पकड़ रहा है। घरेलू हिंसा के निवारण का उपाय कानून में खोजने का प्रयास किया जा रहा है। परंतु, पारिवारिक मामले में कानून का दखल क्या मानवीय सभ्यता के लिए शुभ संकेत है? कानून की भाषा जो भी हो, सामाजिकता और नैतिकता की भाषा परिवार में घरेलू हिंसा के सवाल पर चुप्पी शुभ संकेत नहीं हो सकती।"[58]

परिवार में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के तमाम लेख समग्रता में तथ्यों का विश्लेषण करने में हिंसा की पहचान मुख्य बिंदु के रूप में करते है और व्यक्तिगत परिवार की संरचना, कार्य की प्रकृति, हिंसा की प्रकृति पर अधिक विश्लेषण करते है। अधिकांश लेख इस बात का विश्लेषण नहीं करते है कि बदलते सामाजिक परिस्थितियों में नई पारिवारिक संरचना में महिलाओं को एक बेहतर स्थान मुहैया कराया है। जहां उसके व्यक्तिव के समुचित विकास की संभावना उपलब्ध है। महिलाओं की विरुद्ध हिंसा पुरुष वर्चस्व की मानसिकता की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उसकी खंडित मानसिकता का प्रस्तुतीकरण है जो सार्वजनिक जीवन में आधुनिकता की परियोजना को स्वीकार करता है और निजी जीवन में रूढ़ियों और परंपराओं से चिपका रहना चाहता है। महिलाओं की विरुद्ध घरेलू हिंसा के मामले में हमेशा यह तर्क सटीक नहीं बैठता कि सामाजिक स्थिति के कारण ही मर्द औरत को पीटता है, इसलिए घरेलू हिंसा के संघर्ष को व्यापक स्तर पर समाज के ख़िलाफ़ ले जाने की ज़रूरत है न कि पुरुष के ख़िलाफ़ और परिवार के ख़िलाफ़।

इसके अतिरिक्त परिवार के मुद्दों पर ऐसे लेख देखने को मिलते है जो पारिवारिक सरंचना में आ रहे बदलाव, बदलते हुए परिवेश में उसकी चुनौती पर चर्चा करते हुए दिखते है। परिवार में वयोवृद्ध सदस्य, विशेषकर बुजुर्ग महिलाएं की समस्याओं पर 'हिंदुस्तान' में मृदला सिन्हा अपनी लेख 'बुजुर्गों के साथ हो परिवार सशक्तिकरण' में लिखती हैं कि -

> "पारंपरिक परिवार व्यवस्था में या कृषि आधारित परिवार व्यवस्था में बुर्जुगों के लिए भी काम था और वे पूछे भी जाते थे। सामाजिक दबाब भी बुजुर्गों के प्रति सम्मान के लिए उत्प्रेरक का

[58] 4 सितंबर 2008, दैनिक जागरण

> काम करता था। परंतु, बदली हुई पारिवारिक व्यवस्था और कृषि प्रधान समाज से पलायन के बाद शहरी कामकाजी व्यवस्था में बुजुर्गों के आत्मसम्मान की रक्षा जरूरी है। तीन पीढ़ी का एक साथ रहना परिवार के लिए एक सुगम स्थिति हैं। बुजुर्ग, स्त्री या बच्चों के सशक्तिकरण के स्थान पर हमें पुन: परिवार सशक्तिकरण की ही लौटना होगा। हमारी योजनाएं, हमारे द्वारा प्रदत शिक्षा, सुविधाएं भी परिवार सशक्तिकरण को ध्यान में रखकर ही बनानी चाहिए।"[59]

इसीप्रकार, परिवार के मानसिक विकृतियों से ग्रस्त सदस्यों की समस्या पर 'हिंदुस्तान' के लेख में अलका आर्य लिखती हैं कि -

> "मानसिक रूप से बीमार सदस्य को परिवार के सदस्य अपनाने से इऩकार कर देते है और वे दर-बदर भटकने को मजबूर हो जाते है। कई शोधों इसका जिक्र किया है कि दुनिया में मानसिक विकृतियों से ग्रस्त लोगों में महिलाओं की तादात पुरुषों से ज़्यादा है। महिलाओं में मानसिक विकृतियों की वजह को परिवार और समाज में उसकी स्थिति, गरीबी, दोहरा मानसिक शोषण, हिंसा और ताकतवर स्थिति में न होने जैसे कारणों से भी जोड़कर देखा जाता है। कई बार परिवार मानसिक विकृतियों से ग्रस्त सदस्य को आश्रम में छोड़ देते हैं या बेघर छोड़ देते है। इस विषय का चिंताजनक पहलू यह है कि बेघर आबादी में महिलाओं की सख्यां तेज़ी से बढ़ रही है। मानसिक रूप से अस्वस्थ मरीजों को समाज उनके बुनियादी अधिकारों से वंचित कर देता है। ऐसे हर नागरिकों के लिए एक सुरक्षित छत की जिम्मेदारी और जवाबदेही समाजिक संस्थाओं की है इसके लिए अधिनियम की ज़रूरत है।"[60]

सामाजिक जीवन में बदलते शक्ति संबंध ने मौजूदा समय में परिवार के वृद्ध सदस्यों में असुरक्षा की भावना का विकास किया है। राज्य की जिम्मेदारी जब संकुचित होती जा रही है तो सीमित आय के साथ परिवार पर बढ़ता भार, गंभीर समस्याओं को उत्पन्न करता है, जो वृद्धों को मदद करने के लिए विकल्पों पर बहस की आवश्यकता को स्थापित करता है।

वर्ष 1990 के दशक और उसके बाद के दशकों में परिवार के मुद्दे पर हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित लेख एक ओर जहां पारंपरिक सांचों में ढली नारी की छवि दिखाते रहे हैं। तो दूसरीतरफ़ आधुनिक समाज में हो रहे परिवर्तन के बाद परिवार में महिला की नई छवि को प्रकट करने का प्रयास किया है। हालांकि इन दोनों छवियों में संपूर्ण महिला समुदाय की अभिव्यक्ति नहीं होती है क्योंकि भारतीय समाज में हर सामाजिक, धार्मिक, जातीय और वर्गीय संरचना में कई मूलभूत अंतर है और हिंदी पत्रकारिता परिवार में स्त्री-पुरुष संबंधों को परंपरागत छवियों से जोड़कर देखता है। वह परिवार में महिलाओं की दयनीय स्थिति के लिए आर्थिक निर्भरता, पारंपरिक रीति-रिवाज

---

[59] 10 दिंसबर 2006, हिंदुस्तान

[60] 19 मार्च 2007, हिंदुस्तान

और रूढ़िवादिता को ज़िम्मेदार मानता है। परंतु, वह स्वयं को परिवर्तनकारी भूमिका में लाना नहीं चाहता है। इसलिए परिवार के अंदर लोकतांत्रिक स्थिति के निमार्ण के मुद्दे पर रेखांकित करने का प्रयास हिंदी पत्रकारिता ने नहीं के बराबर दिखता है।

एक तरफ़, परिवार में पितृसत्ता को बनाए रखने का प्रयास भी दिखता है तो दूसरी तरफ़, शिक्षा के जरिएस्त्रियों के शोषण, श्रम के स्त्रीकरण पर बहस कर पितृसत्ता को आघात भी पहुचाने का प्रयास करता है। यह सही है कि हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित सामग्री एक सीमा तक पितृसत्ता में घरेलू पत्नी, माता और आश्रिता के रूप में स्त्रियों की भूमिका को एकरूपता के साथ रेखांकित किया गया है। वास्तव में हिंदी पत्रकारिता ने इस प्रवृति को भारतीय समाज में हर सामाजिक, धार्मिक, जातीय और वर्गीय संरचना में एक समान समझने का प्रयास किया। इसके परिणाम स्वरूप हिंदी पत्रकारिता ने परिवार के हर कोने में बसे लिंग-आधारित भेदभाव पर उंगली रखी और उन्हें विकास की ओर बढ़ाने पर जोर दिया। वर्ष1990 के बाद के दशकों के दौरान महिलाओं की परिवार में भूमिका व स्त्री की प्रति समाज के दृष्टिकोण के भी दोनों ही पक्षों को हिंदी पत्रकारिता ने स्वर दिया। इस संबंध में हिंदी पत्रकारिता की भूमिका इसलिए प्रशंसनीय है कि इस दौरान पत्र-पत्रिकाओं ने विशेष क्षेत्रों के साहित्य ने परिवार के संयुक्त आयाम का गुणगाण किया है। प्राय: महिला को पारिवारिक एकता को खंडित करने के मुख्यकर्ता के रूप में चित्रित किया जाता है, महिला ही एक दूसरे के प्रति समर्पित पुरुषों के मध्य लड़ाई करवाती हैं। सास-बहू के बीच झगड़े लोक प्रसिद्ध हैं और लोक साहित्य महिलाओं की व्यवहार के इस पक्ष का खूब बढ़ा-चढ़ाकर चित्रण करते हैं। मां का आदर्शीकरण, भाई का समर्पण, भाई-बहन के स्नेह का गुणगाण किया गया है और परिवार के लिए किसी भी त्याग को सहना व्यर्थ जाता है। प्रिंट मीडिया ने परिवार में स्त्री-पुरुष के प्रति किए जाने वाले भेदभावपूर्ण रवैये और पूर्वाग्रह युक्त मानसिकता को खुलकर उजागर किया।

पुरानी कुरीतियों, गलत प्रथाओं व महिलाओं का दर्जा गौण बनाने वाले धार्मिक मतों पर भी प्रहार किए गए। साथ ही महिलाओं का कार्य-क्षेत्र घरेलू कामकाज व पुरुषों का रोजी कमाने हेतु बाहार जाना निश्चित करने वाली विचारधारा को तोड़ने पर भी जोर दिया गया। कई लेखों की अंर्तध्वनी यह भी देखने को मिलता है कि लिंग के आधार पर जन्म से ही भेदभाव नहीं किया जाये। लड़कियों को भी अभिव्यक्ति के पूरे अवसर मिलने चाहिए। किंतु यह भी उतना ही सच है कि इस सबके साथ उस पुरानी विचारधारा के लेख भी प्रकाशित किए जाते रहे जो महिलाओं की दर्जे में यथास्थिति के पक्षधर थे। ऐसे लेख उनकी स्थितियों में परिवर्तन पर कटाक्ष भी करते है और

कहीं-कहीं निंदा भी। किंतु इस ऋणात्मक लेखों से धनात्मक लेखों का महत्व किसी भी तरह कम नहीं हो सकता है।

1.2 विवाह

विवाह संस्था अपनी तमाम बुराइयों के बाद भी एक जीवंत और जनोपयोगी संस्था के रूप में मानवीय जीवन में मौजूद है जिसके अंदर स्त्री-पुरुष के मध्य एक खास तरह के संबंधों को बनाए रखने की बात अक्सर होती है और इसके अंदर लैंगिकता पर नियंत्रण का प्रश्न और कई पहलू दब के रह जाते है। जिसके कारण महिलाओं की परिप्रेक्ष्य में विवाह एक संबंध नहीं, बंधन बनकर रह जाता है और स्त्री-पुरुष असमानता अधिकारों के संबंध में भी पुन:मूल्यांकन की मांग करता है। खासकर तब जब महिलाएं शिक्षित होकर जागरूक हो रही है और वो अपनी अधिकारों के प्रति सचेत हो रही हैं।

ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में, मानव जीवन की शुरुआत के साथ ही स्त्री-पुरुष संबंधों की शुरुआत होती दिखती है और समय-समय पर इसका स्वरूप बदलता भी रहा हैं। यायावार मानव-समाज में शारीरिक कमजोरी के बावजूद स्त्री-पुरूष के अधीनस्थ नहीं थी कि वह गुलाम कही जा सके। यायावार समाज में स्त्री को गुलाम रखने के लिए न कोई संस्थागत, न व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा और न कोई न्याय व्यवस्था थी, स्त्री-पुरुष बिना किसी बंधन के साथ रहते थे। कृषि-जीवन में प्रवेश के साथ संस्था और कानून बने। जब समाज और परिवार की परिकल्पना अस्तित्व में आयी तो स्त्री-पुरुष के संबंध को स्थायित्व देने के लिए विवाह संबंधों को स्वीकार किया जाने लगा। कृषि मानव समाज से स्त्री को हमेशा पुरुष के संरक्षण में रहना पड़ा। संरचनावादी मानवविज्ञानी लेवी स्त्रास के अनुसार-

> "कृषि मानव-समाज में स्त्री की विवाह का महत्व बढ़ा। जिसके कारण स्त्रियों की विनिमय की संभावना उत्पन्न हुई।"[61]

लेवी स्त्रास स्त्रियों के विनिमय को विनिमय का पहला रूप मानते है। यहां यह सवाल महत्वपूर्ण है कि स्त्री ही विनिमय की वस्तु क्यों बनी, पुरुष क्यों नहीं? सी.डी.डार्लिगटन इसका कारण, जहां स्त्रियों की यौनिकता पर नियंत्रण को मानते है। वहीं, क्लेडा मेलेसा का मत है कि निजी संपत्ति

[61] Simone de Beauvoir, The Second Sex, का हिंदी रूपांतर प्रभा खेतान "स्त्री उपेक्षिता", हिन्द पाकेट बुक्स,नई दिल्ली, 2004 पेज न०- 54

की उत्पत्ति को इसके पहली की परिघटना थी। फ्रेडरिक एंगेल्स ने भी निजी संपत्ति की अवधारणा को ऐतिहासिक विकास-क्रम में सामाजिक स्तर पर स्त्री को हीनतर स्थिति के कारण के रूप में सूत्रीकरण किया। फ्रेडरिक एंगेल्स का कथन है-

> "मातृसत्ता का विनाश स्त्री जाति का विश्व ऐतिहासिक पराजय था, अब घर के अंदर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया। स्त्री अपनी पद से वंचित कर दी गई, जकड़ दी गई, पुरुष की वासना की दासी, संतान उत्पन्न करने का यंत्र मात्र बन कर रह गई।"[62]

फ्रेडरिक एंगेल्स के अनुसार वैयक्तिक संपत्ति के उत्तराधिकार ने ही विवाह संस्था को जन्म दिया। फ्रेडरिक एंगेल्स ने स्त्री की अधीन स्थिति के लिए मुख्य तौर पर दो कारण बताए। पहला, निजी संपत्ति का प्रादुर्भाव और दूसरा उत्पादन के स्थल के रूप में बाहरी दायरे का घरेलू दायरे की जगह लेना और स्त्री का उससे दूर होते जाना। जब विवाह परंपरा शुरू हुई तो स्त्री भी धीरे-धीरे व्यक्तिगत संपत्ति का हिस्सा बन गई। यही कारण है कि फ्रेडरिक एंगेल्स ने स्त्री की मुक्ति के निजी संपत्ति के खात्मे और उत्पादन में उनकी भागीदारी को महत्वपूर्ण मानते है। फ्रेडरिक एंगेल्स ने लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुष के बीच श्रम विभाजन को प्राकृतिक माना। यानी स्त्री और पुरुष के बीच का श्रम-विभाजन स्वाभाविक है, जो स्त्री-मुक्ति के लिहाज से प्रतिगामी सिद्ध होता है। स्त्री की अधीन स्थिति का कारण निजी संपत्ति की उत्पत्ति है। लेकिन स्त्री कब और कैसे निजी संपत्ति बन गई? इसके कारण की चर्चा फ्रेडरिक एंगेल्स नहीं करते। उत्पादन और पुनरुत्पादन को बराबर के महत्व का और समांतर प्रक्रियाएं मानने के बाद भी फ्रेडरिक एंगेल्स ने उत्पादन को अधिक महत्व दिया। फ्रेडरिक एंगेल्स ने घरेलू-श्रम के महत्व को कम करके आंका, जबकि उत्पादक श्रम और उससे प्राप्त होने वाले मूल्य में घरेलू श्रम की बड़ी भूमिका होती है। इन दोनों क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी को कम नहीं आंका जा सकता है।

इन विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निजी संपत्ति की अवधारणा ने ऐतिहासिक विकास-क्रम में सामाजिक स्तर पर स्त्री को निरंतर हीनतर स्थिति में पहुंचाया। विवाह एक दुनिवायी परिकल्पना थी लेकिन समाज की मौलिक संरचना को परिवर्तित करने में असमर्थ थी। परंपरा ने विवाह को स्त्री की नियति माना, सभ्यता के विकास के साथ विवाह-संस्था ने अनुबंध का आकार भी ग्रहण किया। परंतु, अनुबंध का स्वरूप पति और पत्नी के बीच नहीं है। विवाह भारतीय परिपेक्ष्य में ही नहीं, विश्व परिपेक्ष्य में भी महिलाओं की अनिवार्य

[62] फ्रेडरिक एंगेल्स: परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पति, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस(प्रा.) लिमिडेड 2010 पेज न० - 64

नियति रही है। जीवन में स्थिति बदलने का एकमात्र अवसर भी, जिस अवसर के उपभोग का, चयन का अधिकार महिलाओं की पास नहीं रही है।

जे.एस.मिल के अनुसार-

> "विवाह हेतु चयन के कार्य का सिलसिला दो राज्यों, दो कबीलों, दो कुटुम्बों, दो परिवारों से होता हुआ स्त्री की पति और पिता के बीच संभंव होता रहा है।"[63]

संपत्ति पर महिलाओं की अधिकारहीनता और आर्थिक परनिर्भरता ऐसी परिस्थिति के रूप में स्थापित दिखती है जिसके कारण विवाह महिलाओं की एक परियोजना के रूप में जगह बनाती है। विवाह स्त्री की जीवन की ऐसी मौलिक परियोजना है जिसके लिए उसका सामाजीकरण बचपन से ही किया जाता है। सामाजीकरण में सामाजिक संरचना महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। मनुष्य को 'नर' और 'मादा' के रूप में पहचाना जाता है, किंतु पुरुष और स्त्री में विभाजन करने के अन्य सामाजिक कारण रहे है। हाइडी हार्टमैन के अनुसार-

> "जैविक अर्थो में हम नर और मादा के रूप में पैदा होते हैं लेकिन हमें सामाजिक मान्यता प्राप्त लिंग स्त्री और पुरुष बना देता है।"[64]

सामाजिक विकासक्रम में कई सामाजिक परिस्थितियां पुरुष को विशिष्ट और स्त्री को अधीनस्थ की जिम्मेदारी सौंपती है। लड़कियां इस धारणा के बड़ी होती हैं कि मायके में उसकी सदस्यता अस्थायी है। कर्मकांड और सामाजिक व्यवहार उन महत्वपूर्ण साधनों में से एक है जिसके जरिएलड़कियां यह स्पष्ट रूप से समझने लगती हैं कि अपनी मायके से उसका स्थानांतरण अनिवार्य है।

उत्तर भारत में दूर्गापूजा, कर्नाटक, तमिलनाडु, आंघ्र प्रदेश तथा महाराष्ट्र में गौरी पूजा ऐसे कर्मकांड हैं जो लड़कियों का सामाजीकरण में अपनी भूमिका निभाते हैं। सामाजिक व्यवहार में भी लड़कियों को खेलने के लिए गुड़िया और लड़के को कार और अब तो बंदूक, ऐसे व्यवहार हैं जो लड़कियों की सामाजिक भूमिका को बचपन से तय करते हैं। इसके कारण विवाह के मौलिक परियोजना के अलावा स्त्री की सामने अन्य कोई रास्ता नहीं है। वह विवाह संस्था के बाहर स्वतंत्र रूप से सम्मानजनक जीवन नहीं जी सकती? विवाह के अलावा क्या और कोई विकल्प हो ही नहीं सकता? क्या महिलाओं को केवल रक्त या यौन संबंधों और संपत्ति के समीकरणों में ही

---

[63] जे.एस.मिल, स्त्री की पराधीनता, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 1999, पेज न०-29

[64] हाईडी हार्टमेन, मार्क्सवाद और नारीवाद के बीच अप्रिय विवाह, सन्धान, अप्रैल-जून 2001, पेज न०-114.

पहचाना जा सकता है? अगर यही सत्य है तो फिर किसी भी संवैधानिक अधिकारों का अर्थ क्या है? परिवार या समाज में स्त्री के लिए जगह क्या है? और कहां है? विवाह सिर्फ़ स्त्री की लिए नियम है, पुरुष के लिए नहीं। विवाह संस्था में स्त्री-पुरूष की संपत्ति है और विवाह संस्था के बाहर वस्तु। विवाह संस्था में पाई जाने वाली लैंगिक असमानता पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में विस्तार से फलीभूत होती है क्योंकि इस व्यवस्था की सरंचना स्त्री की आर्थिक श्रम को दोयम दर्जे के श्रम के रूप में उपयोग करती है। यानी, परंपरागत और बदलते सामाजिक मूल्यों के बाद भी विवाह को स्त्री की नियति माना जाता है। जो स्त्री-पुरुष के बीच समता का पैरोकार तो हैं, समानता के नहीं।

आर्थिक विकास के कारण स्त्री की समकालीन स्थिति में आए भारी परिवर्तनों ने विवाह संस्था को हिलाने की कोशिश की। आर्थिक विकास के कारण स्त्रियों की समकालीन स्थिति में हो रहे परिवर्तनों ने विवाह संस्था को प्रभावित किया। क्योंकि विवाह संस्था में महिलाओं ने कानूनी और सामाजिक दोनों स्तरों पर स्वतंत्रता और समानता के अधिकारों पर पूर्वाग्रही मूल्यों का वर्चस्व पाया। हालांकि सत्ता संबंधों के माध्यम से निर्मित होते विशेष कायदे-कानूनों और प्रतिबंधों ने भी समय-समय पर स्त्री और पुरुष को एक नई पहचान दी। परंतु, इन क़ायदे-कानूनों के जरिए कई बार उन लिंगों और जेंडरों को हाशिये पर भी ढ़केल दिया जो स्त्री-पुरुष के खांके में नहीं आते हैं। यह कहा जा सकता है कि काल परिपेक्ष्य में विवाह संस्था में कुछ सतही बदलाव देखने को मिलते हैं, लेकिन यह बदलाव स्त्री-पुरुष की समानता वाला, स्त्री को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान देने वाला बदलाव नहीं होता है। इसके कारण के रूप में विवाह से जुड़े उत्तराधिकार के सवाल दिखते हैं क्योंकि किसी के पास पूंजी, व्यापार या उससे जुड़ी संपत्ति है तो उसे अपनी परिवार में बनाए रखने के लिए वैध या अपनी संतान की ज़रूरत है।

किसी भी समाज में व्यक्ति (व्यक्ति शब्द के उच्चारण में स्त्री और पुरुष दोनों ही समाहित हैं पर सभ्यताओं के विकास में स्त्री और पुरुष को अलग-अलग खेमों में डालकर देखा है) की पदस्थिति और पारंपरिक मूल्य तथा आदर्शों पर आधारित होती है। महिलाओं की परिपेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि विवाह महिलाओं की लिए एक ऐसा संस्कार है जो 'दो परिवारों को जोड़ने वाली','स्त्री-पुरुष के संबंध को मान्यता प्रदान करने वाली' एक नैतिक संस्था है। परंतु, इसके साथ-साथ भारतीय संदर्भ में भी विवाह जाति, वर्ग और लिंग पर अपनी चौधराहट बनाए रखने का महत्वपूर्ण औजार है। इसलिए विवाह के संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि विवाह क्या है? विवाह के संदर्भ में शास्त्रीय व्याख्या से निकल कर लिंग संबंधी वर्चस्व नज़रियेसे देखना जरूरी हो जाता

है क्योंकि विवाह से पुरुषों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। परंतु, महिलाओं का पूरा अस्तित्व नये सिरे से परिभाषित होता है। गेल रूबिन बताती हैं कि -

> "स्त्रियों का विनिमय यह इंगित करता है कि नातेदारी व्यवस्था में संबंधों का जो ताना-बाना है उसमें पुरुषों के स्त्रियों पर कुछ अधिकार बनते हैं जबकि स्त्रियों के पुरुषों पर ऐसा कोई अधिकार नहीं बनते..। इस व्यवस्था में स्त्रियों का खुद पर भी कोई अधिकार नहीं होता है।"[65]

स्पष्ट है कि विवाह विभिन्न जातिगत समुदायों में वस्तु विनियम प्रणाली[66] के अन्तर्गत स्त्री-विनमय के धार्मिक अनुबंध का रूप है। इस धार्मिक अनुबंध के तीन पहलू है - पहला, पुरुष को वंश की निरंतरता को बनाए रखने के लिए संतानोत्पत्ति करना जरूरी है। इसलिए विवाह का मुख्य उद्देश्य संतानोत्पत्ति है। इसके लिए महिला के लेन-देन के विनिमय को कन्यादान को सबसे बड़े दान के रूप में महिमामंडित किया जाता है। दूसरा, इस महिमामंडन से विवाह का दूसरा उद्देश्य स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण भी पूरा होता है। उमा चक्रवर्ती बताती हैं कि -

> "पितृवंशीय उत्तराधिकारिता को सुनिश्चित करने के लिए स्त्री यौनिकता को इस तरह से बांधे जाने की ज़रूरत आ पड़ी। इसके लिए जरूरी था कि वह व्यवस्था में स्त्री कीवल एक पुरुष से ही यौन संबंध कायम करे यानी वह किसी एक पुरुष की होकर रह जाये। इतना ही नहीं, मातृत्व का महिमामंडन कर उसे आनुष्ठानिक बना दिया गया। विवाह, गर्भाधान, पुत्र जनन जैसे कई अनुष्ठानों की बात की गई।"[67]

स्पष्ट है सामाजिक नैतिकता को मजबूत बनाए रखने के लिए स्त्री पर प्रजनन की निर्भरता के कारण स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण जरूरी था इसलिए तमाम धर्मग्रंथों और मिथकों द्वारा स्त्री की चरित्र का चरित्र-चित्रण किया गया। तीसरा, वंश की रक्त शुद्धता के लिए विवाह को सजातीय विवाह की रीति पर निर्भर किया गया जिससे जन्म(रक्त) के आधार पर स्तरीकरण हो सके। पुरुष वंश की शुद्धता और निरंतरता को बनाए रखने के लिए सजातीय विवाह के नियम-क़ायदे तय किए गए। जिससे जाति या उपजाति की शुद्धता को बरकरार किया जा सके। भारतीय संदर्भ में सजातीय विवाह(अपनी जाति में विवाह संबंध) का नियम जाति व्यवस्था में निरंतरता बनाए रखने का हथियार है। सजातीय विवाह के नियम-क़ायदे के संबंध में एकरूपता का अभाव है। हर

---

[65] गेल रुबिन, गर्डा लर्नर द्वारा दि क्रिएशन आंफ पैट्रियाकी, न्यूयार्क : आंक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1986 पेज न०- 25

[66] जब किसी एक वस्तु या सेवा के बदले दूसरी बस्तु या सेवा का लेन-देन होता है तो इसे वस्तुविनिमय (Bartering) कहते हैं। मुद्रा के प्रादुर्भाव के पहले सारा लेन-देन (विनिमय) वस्तु-विनिमय के रूप में ही होता था।

[67] उमा चक्रवर्ती, जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी(इंडिया)प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2009 पेज न०- 69

भौगिलिक क्षेत्र में सांस्कृतिक, आर्थिक, क्षेत्रिय और धार्मिक विविधता इसको प्रभावित करती है जिससे विवाह और स्त्री-पुरुष संबंध प्रभावित होते हैं।

समय के साथ सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन परंपरागत आदर्शों पर चोट करती है। भारतीय संदर्भ में -

> "वर्ष 1857 के बाद औपनिवेशिक सत्ता तंत्र ने भारत में पुरानी सामंती व्यवस्था की जगह नयी सामंती व्यवस्था कायम की। जिसने पुरानी उत्पादन पद्धति में काफ़ी बदलाव किया। यह एक उथल-पुथल का दौर था, जिसमें सम्पन्नता और विपन्नता, प्रगति और अवनति, दोनों शामिल थे।"[68]

इस दौर में नई व्यवस्था कायम हुई। नई अर्थव्यवस्था और नई सामाजिक ज़रूरतों को ध्यान में रखकर नई शिक्षा प्रणाली तैयार हुई और नई उत्पादन नीति, नये पेशे, कानूनी अदालतों, अंग्रेजी शिक्षा, नये सार्वजनिक निकायों, रोज़गार के नये अवसरों से एक मध्यम वर्ग उत्पन्न हुआ। इन समाज के नये मध्यम वर्ग ने निजी स्वतंत्रता, बंधन मुक्त व्यक्तिगत विकास, शिक्षा, महिलाओं की सामाजिक और मानवीय अधिकारों को मानवतावादी नज़रियेसे देखना शुरू किया। इस वर्ग ने भारतीय समाज में विवाह संस्था में मौजूद कुरीतियों बाल विवाह, सती प्रथा, विधवा विवाह और महिलाओं की सीमित अधिकार के संबंध को मानवतावादी तार्किक विचारधारा से देखा। परंतु, मानवतावादी समाज-सुधार का यह प्रयास विवाह संस्था में स्त्री-पुरुष के मध्य असमानता को चिन्हित नहीं कर सका। इन मानवतावादी समाजसुधारकों ने 'महिलाओं की प्रश्नों' को समानता के नज़रियेसे नहीं उठाया। हालांकि, विवाह संस्था की कुरीतियों पर वर्ष 1870 के दशक में विवाह कानूनों और विवाह की आयु के सवाल पर समाजसुधारक बंटे हुए भी थे। मसलन, आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती विधवा विवाह पर लिखते हैं कि -

> "विवाह और प्रजनन प्रत्येक स्त्री का प्राथमिक कर्तव्य है परंतु, विधवा विवाह तो विवाह से भी ख़राब स्थिति है। विधवा विवाह मृत पति या पत्नी के प्रति कर्तव्यों का उल्घंघन करता है।"[69]

---

[68] Nandini Gooptu, The Politics of the urban poor in Early Twentieth century India, Cambridge 2001 pp -422

[69] दयानंद सरस्वती, लाइट आंफ ट्रूथ, अनु. चिरंजीव भारद्वाज, लाहौर प्रकाशन, लाहौर 1927, पेज न०-. 83.

स्पष्ट है कि इस युग के समाज सुधारकों में महिलाओं की दशा से जुड़े 'आधुनिकीकरण' के प्रयास उनकी उदार, बुद्धिवादी और समतावादी भावना के कारण महिलाओं की प्रश्नों के लिए प्रतिगामी रहा। अगर वो अपनी प्रयास में सफल भी रहे तो एक खास तबके तक ही और वह था उस युग का अभिजात और अधिकतर शिक्षित वर्ग। अशिक्षित वर्ग और सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़ा समुदाय इस समाज सुधारों से वंचित था। इस युग के समाज सुधार आंदोलनों की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए टु-वर्डस इकुवेलिटी कि रिपोर्ट कहती है -

> "ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज के आंदोलनो ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिंदू परंपराएं महिलाओं की इस दुर्दशा का आधार नहीं हैं। पाश्चात्य प्रभाव में उन्होंने महिलाओं की व्यक्तित्व को पहचाना। किंतु मुख्यत: उनका मुख्य ध्येय स्त्रियों की बेहतर पत्नी या मां बनना था, उनका आदर्श ऐसी महिलाएं थी जो आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर परिवार को सुचारू रूप से चलाएं और अपनी पति और पुत्र के साथ समझ के स्तरों की खाई पाट सकें।"[70]

विवाह संस्था की कुरीतियों पर जिस तरह का संघर्ष समाज सुधारकों ने मनावतावादी नज़रियेकिया। 19वीं सदी(वर्ष1920-40) के मध्य में सार्वजनिक बहसों की विषय सूची से लगभग एकाएक गायब हो चुके थे। यह इस तथ्य कीतरफ़ इशारा करते हैं कि विवाह संस्था समाज सुधारकों के मध्य एक ऐसी परियोजना रही जिसमें वो स्त्री-पुरुष के मध्य असमानता को समाप्त नहीं करना चाहते थे, बल्कि विवाह संस्था में मौजूद कुरीतियों पर चोट करके इसे और द्रुरुस्त करना चाहते थे। इसलिए समाज में स्त्रियों की स्थिति को लेकर उठने वाली बहस में 'स्त्री शिक्षा' के बहसों पर सिमटी हुई दिखती है। हालांकि स्त्री शिक्षा का उद्देश्य भी पहले से निर्धारित था। इसे उस दौर के कुछ उद्धरणों से समझा जा सकता है। मसलन, पुरुषोतम दास टण्डन लिखते हैं कि -

> "स्त्री शिक्षा का आदर्श स्त्रियों की सुगृहिणी बनाना होना चाहिए। चूंकि स्त्री का सच्चा धर्म पति-वर्त धर्म है, शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए इस भूमिका को डांवाडोल करना।"[71]

इसीप्रकार, आर्य समाज ने भी 'स्त्री शिक्षा' की वकालत की। परंतु,शिक्षा का उद्देश्य मौजूदा समाज के ढ़ांचे को आमूल चुनौती देना नहीं था। आर्य समाज को 'स्त्री शिक्षा' को सामाजिक संस्था को मजबूत करने के दायित्व से जोड़कर देखता है। दयानंद लिखते हैं कि -

---

[70] Toward Equality, Report of the Committee on the states of women in India, pp 51-52

[71] पुरुषोतम दास टण्डन, 'स्त्री शिक्षा की रीति पर विचार', 'गृहलक्ष्मी', 3 मई-जून, 1916, पेज न०-.111-13 'मर्यादा'(इलाहाबाद 1910) में जिस से पुरुषोतम दास टण्डन संबंध थे, इस विषय पर लगभग हर अंक में एक लेख प्रकाशित होता था।

> "सभी स्त्री और पुरुषों को पढ़ने का अधिकार है। यदि पत्नी अशिक्षित है तो वह अपनी पति के साथ सामाजिक व धार्मिक दायित्वों में बराबर की हिस्सेदार के रूप में शामिल नहीं हो सकती। यदि पति सुशिक्षित और पत्नी अशिक्षित हो तो घर में सदा युद्ध की दशा बनी रहेगी"[72]

स्पष्ट है कि 'स्त्री शिक्षा' की सारी बहसे स्त्रीत्व को मातृत्व के रूप में परिभाषित करने तक सीमित करने से जुड़ी थीं और अपनी राष्ट्रवादी स्वरों के साथ भारत माता की सेवा करना था। परंतु, इस अवधि के दौरान नारी मुक्ति और जन शिक्षा ऐसे दो सामाजिक विचार थे जिन्होंने वस्तुत: भारतीय समाज की मूल संरचना को चुनौती दी। स्त्री शिक्षा, स्त्री की भूमिका, स्त्री धर्म और प्रकृति को लेकर परस्पर विरोधी तर्क एक-दूसरे से टकराते हुए एक स्व-निर्धारित मर्यादा के पक्ष में ऐसी दलीलें सामने आती जिन्होंने सामाजिक संरचना को बहस के केंद्र में ला खड़ा कर दिया। राष्ट्रवादियों की मातृभूमि की सेवा का आह्वान में हालांकि महिलाओं से जुड़े प्रश्न राष्ट्रीय सवाल विरले ही बनते थे। परंतु, बहसों में औरतों की अस्मिता और भूमिका की परिभाषा नये सिरे से परिभाषित करने का प्रयास किया। औरतों द्वारा खुद को परिभाषित करने के पक्ष में विवाह किसी स्त्री की नियति क्यों हो? इस प्रश्न को सबसे मजबूत ढ़ंग से वर्ष 1932 में चन्द्रावती लेखपाल ने अपनी पुस्तक 'स्त्रियों की स्थिति'[73] में पेश किया है। चन्द्रावती लिखती हैं कि -

> "स्त्रियों का कार्यक्षेत्र शुरु से घर समझा जाता रहा है। घर से बाहर की दुनिया के साथ भी उनका क्या संबंध हो सकता है? इस पर मानव-समाज ने बहुत देर से विचार नहीं किया है। विवाह करना, पति की आज्ञा पालन, संतानोत्पत्ति- यही उसके जीवन का ध्येय क्यों रहा है? इस काम के लिए शिक्षा की आवश्यकता क्या है?"[74]

आगे चन्द्रावती ने स्त्रियों की स्थिति को गुलामी के समकक्ष ठहराया है, बहुविवाह पर विरोध दर्ज करते हुए वो लिखती हैं कि-

> "जैसे एक आदमी गुलाम खरीद सकता था और एक से ज़्यादा गुलामों का मालिक बन सकता है, हिंदुस्तान में पति पत्नी को खरीद सकता था और एक से अधिक पत्नियां रख सकता था।

---

[72] दयानंद सरस्वती, लाइट आंफ ट्रूथ, अनु. चिरंजीव भारद्वाज, लाहौर प्रकाशन,लाहौर 1927, पेज न०- 94

[73] सबसे पहले 1932 में गुरुकुल कांगड़ी द्वारा प्रकाशित; इसे आगे चलकर 1934 में सेकसरिया और सम्मेलन पुरस्कारों के मिलने के बाद गंगा पुस्तक माला ने पुर्नप्रकाशित किया था।

[74] चन्द्रावती लखनपाल, स्त्रियों की स्थिति, गंगा पुस्तक माला, तीसरा संस्करण, लखनऊ 1941, पेज न०- 123

> स्त्री को सदियों से गुलामी की हालत में रखकर पुरुष ने उसकी जो दशा कर दी है, कहा जाता है यह उसकी स्वाभाविक दशा है।"[75]

यानी स्त्री स्वाभाविक रूप से पुरुषों पर निर्भर रहेगी और छत्र-छाया की मांग करेंगी। अंत में चन्द्रावति ने विवाह की अनिवार्यता का प्रश्न को उठाते हुए लिखती हैं कि-

> "क्या स्त्री शादी के बिना समाज में उतनी ही, अथवा उससे अधिक, उपयोगी नहीं हो सकतीं ? किसी भी हालत में, उन्हें छूट मिलनी चाहिए कि अगर वे न चाहें तो शादी न करें। यह समाज का स्त्री की प्रति अन्याय नहीं है"[76]

इस तरह चन्द्रावती अपनी किताब में विवाह और बहुविवाह जैसे प्रश्नों से स्त्री को नये परिभाषाओं में देखने का प्रयास कर रही थी। वर्ष 1920 के आस-पास स्त्रियोचित और सामान्य पत्रिकाओं के बीच जो फासला था वह कम शिक्षित महिलाओं की सहभागिता से कम हो गया। मुख्यधारा की सभी हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में स्त्रियों के खास-खास खण्ड नज़र आने लगे थे, जिनमें शिक्षित स्त्रियों ने परंपरागत भूमिका को पुन: परिभाषित करके, नयी भूमिकाओं पर लिखना शुरू किया। मसलन, बाल विवाह, विधवा विवाह की समस्या को एक सामाजिक समस्या के रूप में पहचाना और इस समस्या के समाधान आंशिक रूप से प्रस्तुत किया। जबकि उस काल में विवाह से जुड़े हुई सामाजिक बुराई भारतीय समाज की सामाजिक आर्थिक संरचना में निहित थी। विवाह से जुड़ी हुई समस्या पर "चांद"[77] पत्रिका अपनी संपादकीय 'घर और बाहर[78] में लिखता हैं कि -

> "समय की गति के अनुसार न बदलने वाली परिस्थितियों ने स्त्री की मन में विद्रोह के अंकुर को जम जाने दिया है और उसे बढ़ने का अवकाश यही घर-बाहर की समस्या दे रही है। जब तक समाज का यह आवश्यक अंग अपनी स्थिति से असंतुष्ट तथा अपनी कर्तव्य से विरक्त है, तब तक प्रयत्न करने पर भी हम अपनी सामाजिक जीवन में सामंजस्य नहीं ला सकते। केवल

---

[75] चन्द्रावती लखनपाल, स्त्रियों की स्थिति, गंगा पुस्तक माला, तीसरा संस्करण, लखनऊ 1941, पेज न०- 123

[76] चन्द्रावती लखनपाल, स्त्रियों की स्थिति, गंगा पुस्तक माला, तीसरा संस्करण, लखनऊ 1941, पेज न०- 141

[77] चांद पत्रिका के संपादक रामरख सिंह थे। यह इलाहाबाद से 1921 में शुरू हुई थी(आकार 100 फुट)। यह एक सामाजिक पत्रिका थी और महिलाओं की उत्थान के लिए मुख्य रूप से कार्यरत थी।

[78] चांद, पत्रिका में 'घर और बाहर' के नाम से संपादकीय प्रकाशित होता था, जनवरी 1937, पेज न०-.269

> स्त्री की दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन हमारे सामूहिक विकास के लिए भी यह आवश्यक है कि स्त्री घर की सीमा के बाहर भी अपना कोई विशेष कार्यक्षेत्र चुनने को स्वतंत्र हो।"[79]

'चांद' ने अपनी विभिन्न लेखों एंव संपादकीय के माध्यम से 'स्त्री स्वाधीनता' के प्रश्न को उठाया। छबिनाथ सिंह जिनके लेख 'चांद' पत्रिका के नियमित प्रकाशित होते थे। अपनी लेख "स्त्री की स्वतंत्रता"[80]में लिखते हैं कि-

> "उसके इस प्रकार के जीवन से मुक्त होने के लिए इस समय समाज की आंखें धीरे-धीरे खुलने लगी है। खुद स्त्रियों में भी बड़ी जोरों से जागृति होती हुई दिखाई दे रही हैं। स्त्रियों की जगह-जगह पर देशीय और सर्वदेशीय सभाएं होने लगीं हैं। खुद स्त्रियों में भी बड़ी जोरों से जागृति होती हुई दिखाई दे रही हैं। पत्र-पत्रिकाओं के भी 'महिला अंक' निकलने लगे हैं। नित्य की मासिक पत्रिकाओं में भी स्त्रियों के अच्छे से अच्छे लेख परिमार्जित भाषा में आधुनिक से आधुनिक विचार के दो-चार मिला ही करते है।"[81]

फिर लेख अंत में अपना अंतिम निर्णय सुनाता है-

> "अब इनकी स्वतंत्रता किस प्रकार की हो? क्या पुरुष इनको मनमानी करने छोड़ दें और तब वे स्वतंत्र कही जाएंगी? इस प्रकार से समाज को भारी धक्का लगेगा। हम चाहते हैं कि स्त्रियों की पूर्ण स्वतंत्रता हो। लेकिन इस समय जिस दिशा में वे पड़ी कराह रही हैं और पशुवत जीवन बिता रही हैं यदि उनको बिल्कुल पुरुष समाज छोड़ दे तो वे अपनी आप हमारी समझ से कुछ करने की इस समय सामर्थ्य नहीं रखतीं। इसलिए स्त्रियों की शीघ्र पढ़ा-लिखाकर, उन्हें अपनी पैरों पर खड़ा हो जाने पर, उन्हें स्वतंत्रता के अमृतमय घूंट का रसास्वादन कराना चाहिए।"[82]

वही दूसरी तरफ़ 'स्त्री स्वतंत्रता' के विषय को पर 'सरस्वती'[83]के लेख "स्त्रियों की स्वतंत्रता"[84] में सावित्री देवी ने स्त्री-स्वतंत्रता का जो ढ़ांचा बनाया है वह परंपरागत एंव आधुनिक दायित्व के बीच सामंजस्य बिठाता है। उन्होंने लिखा है -

---

[79] वही पेज न०-269.

[80] चांद, जनवरी 1937, पेज न०-.301

[81] वही पेज न०-301.

[82] वही पेज न०-302

[83] सरस्वती हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध पत्रिका थी। इस पत्रिका का प्रकाशन इलाहाबाद से सन 1वर्ष 1900 ई . के जनवरी मास में प्रारम्भ हुआ था। 32 पृष्ठ की क्राउन आकार की इस पत्रिका का मूल्य 4 आना मात्र था। 1वर्ष

> "हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि हम लोगों को ऐसी आजादी दी जाये कि आजकल सभ्य कहलाने वाली लेडियों को मिली हुई है। हमारा अभिप्राय केवल यह है कि हम लोगों को ऐसी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए- जैसी प्रताप के राज-पत्नियों या राजकुमारियों को मिलती थी जो अपनी कर्तव्य का पालन भली-भांति करती थीं। अपनी देश तथा राज्य की रक्षा करती थीं, अपनी अतिथियों का भले प्रकार से सत्कार करती थीं, अपनी पतिव्रत के प्रभाव को जानती थी, अपनी पति और पुत्रों को उत्साह दिलाती थीं, बड़े-बड़े शास्त्राज्ञों को शास्त्रार्थ में हराती थीं, राज्य के कामों में योग देती थीं, युद्ध में शत्रुओं को पराजित करती थीं, अपनी संतान को सुसंतान बनाती थीं। ये सब गुण उन्हें स्वतंत्रता से प्राप्त होते थे। बस उन्हीं का अनुकरण करने वाली हम लोगों को भी वैसी ही स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। आंख बंद कर पश्चिमी लेडियों का अनुसरण करने वाली स्वतंत्रता से तो हमारी परतंत्रता ही भली है।"[85]

'सरस्वती' पत्रिका में ही जांन स्टुअर्ट मिल की पुस्तक पर "स्त्री की पराधीनता"[86] शीर्षक से समीक्षा छपी। इसमें मिल के विचारों का सार-संक्षेप पेश किया गया। यह समीक्षा सत्यशोधक के नाम से लिखी गई थी। समीक्षा में सत्यशोधक ने लिखा कि-

> "गुलामी उठ गयी, जागीरदारी उठ गयी, अनियन्त्रित शासन उठ गया। पर, स्त्रियों की गुलामी अभी बाकी है। इसके कई कारण हैं। स्त्री और पुरुष का पारस्परिक आकर्षण, एक स्त्री का एक पुरुष के अधीन होकर रहना, धर्म, शिक्षा और रुढ़ि इत्यादि का प्रभाव इन कारणों ने स्त्रियों के स्वातंत्र्य लाभ में देरी कर दी है। पर अर्वाचीन जगत की सारी प्रवृत्तियां-अर्वाचीन सभ्यता के सारे सिद्धांत पराधीनता के विरुद्ध हैं।"[87]

इन लेखों में स्त्रियों की जागृति, शिक्षा आदि के पक्ष में बात दिखती है। किंतु यह भी निर्देश है कि निर्भर उन्हें पुरुषों पर ही रहना चाहिए क्योंकि स्वतंत्रता का अर्थ 'मनमानी' तो नहीं हो सकता। स्त्रियों के संदर्भ में 'मननानी' शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि लेखक मनु द्वारा निर्मित पुरुष प्रधान समाज में आस्था रखता है और मानता है कि महिलाओं को पिता, पति, पुत्र सरीखे किसी न किसी पुरुष पर निर्भर रहना ही है। स्पष्ट है कि इस अवधि में लगभग सभी

1905 ई० मे . काशी नागरी प्रचारिणी सभा का नाम मुखपृष्ठ से हट गया। 1970 के दशक में इसका प्रकाशन बन्द हो गया।

[84] सावत्री देवी, 'स्त्रियों की स्वतंत्रता', 'सरस्वती' जून 1910, पेज न०- 279.

[85] वही पेज न०- 279

[86] सत्यशोधक, 'स्त्रियों की पराधीनता', सरस्वती, अक्टूबर 1914, पेज न०- 560-61.

[87] वही पेज न०- 560-61

पत्रिकाओं ने स्त्री संबंधी प्रश्नों पर अपनी नज़रियेसे विस्तार दिया। इन पत्रिकाओं ने अपनी समन्यवादी नज़रियेसे समाज में स्त्री की पहचान, स्त्री की स्वतंत्रता, स्त्री शिक्षा और स्त्री-उत्पीड़न के प्रश्नों को केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया और स्त्री को एक भिन्न सामाजिक इकाई के रूप में स्वीकृति के लिए संघर्ष किया। इन बहसों ने स्त्री और पुरुष के संबंध, स्त्री और समाज और स्त्री का अन्य के साथ संबंध को नई सिरे से परिभाषित किया।

परंतु, इन पत्रिकाओं ने महिलाओं की समस्या को सामूहिक और एकरूप कोटि के तर्को के साथ प्रस्तुत किया। जबकि महिलाओं का प्रतिनिधित्व करने के दावों में दूसरे महिला समूहों की समस्याओं को चुपके से अपनी दायरे से बाहर कर रही थी। आजादी के बाद यही पत्रिकाएं मुख्यधारा की पत्रिकाओं के रूप में बड़े पैमाने पर मध्यवर्गीय संस्कृति की वाहक बन गई। जिसने हाशिये पर ढ़केली गई असंगठित महिलाओं की प्रश्नों को विमर्श के केंद्र में नहीं आने दिया।

आजादी के कुछ दशकों बाद बदलती हुई सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने महिलाओं की लिए शिक्षा व रोज़गार के क्षेत्र मे अवसरों का नया रास्ता खोला। राजनीतिक-कानूनी सुविधाओं ने भावनाओं, विचारों, आर्थिक स्वावलंबन जैसे विषयों ने विवाह के विषय को प्रभावित किया। महिलाओं ने अपनी आपको नई स्थिति और भूमिकाओं में पाया। परंतु, विवाह परियोजना मे विवाह और यौन संबंध, विवाह और प्रेम, विवाह और स्वतंत्र व्यक्तित्व, विवाह और मातृत्व एंव विवाह और घरेलू श्रम के प्रश्न अभी भी विमर्श के विषय नहीं थे। इसके बरक्स विवाह संस्था में दहेज प्रथा, घरेलू हिंसा और संपत्ति में अधिकार पर चर्चा अवश्य होते रहे। निस्संदेह, आर्थिक अवसरों में गतिशीलता और गांवों-कस्बों ने नये अवसरों के तलाश में पलायन ने कई पारंपरिक संरचनाओं में बदलाव किए। नई मान्यता, नई जीवन शैली का लोगों ने सामना किया। परंतु, अपनी जड़ों से विमुख नहीं हो सका। लीबरमान का मानना हैं कि-

> "भूमिका में परिवर्तन के कारण व्यक्ति के दायित्वों में परिवर्तन आता है, साथ ही उसके व्यवहार और कार्यों में भी बदलाव आता है जिसका असर उसके सामाजिक जीवन पर भी पड़ता है।"[88]

---

[88] प्रमिला कपूर, कामकाजी भारतीय नारी, बदलते जीवन मूल्य और सामाजिक स्थिति, राजपाल एंड संस, 1976, पेज न०-15

आर्थिक अवसरों की गतिशीलता ने आधुनिकता का स्वागत एंव परंपरा चेतना में विश्वास के परिणामस्वरूप लोगों में खंडित मानसिकता का निर्माण हुआ। यह खंडित मानसिकता जहां सार्वजनिक जीवन में आधुनिकता की परियोजना को स्वीकार करती है वहीं निजी जीवन में रूढ़ियों और कर्मकांडों से चिपकी रहती है। इसी मनोवृत्ति के कारण घर के बाहर आधुनिक, सोसायटी वुमेन और घर के अंदर पारम्परिक स्त्री का निर्माण किया। घर और बाहर के द्वंद्व के सामाजिक प्रवृत्ति ने वैवाहिक और पारिवारिक संबंधों को नये तरीके से परिभाषित किया। निश्चित तौर पर बाज़ारवाद और खुली और गतिशील अर्थव्यवस्था में कामकाजी महिलाओं की आविर्भाव ने स्त्री-पुरुषों संबंधों के समीकरण को प्रभावित करना किया। महिलाएं समाज में अपनी अधिकार, अपनी स्थिति और समस्याओं को लेकर अधिक मुखरित हुई हैं। परिवार ने आर्थिक कारणों से स्त्री को कामकाजी होने के अवसर दिए, महिलाओं की काम के प्रति मनोवृत्ति में फर्क आया। यह नज़रिया भी सामने आया कि आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने पर अकेली रह सकती हैं। यह स्थिति महिलाओं की साथ पहले नहीं थी, महिलाओं में समानता के अधिकारों की चेतना का विकास हुआ। जिसके कारण महिलाएं भी स्वयं को एक व्यक्ति और नागरिक के रूप में देखने लगीं तथा नागरिक के जो अधिकार हैं उसको समझने लगी। इस समझ के कारण विवाह और परिवार के बंधनों की जकड़न को पहले से ज़्यादा महसूस किया जाने लगा और इन बदलावों ने विवाह पर बहस की नींव डाली, जिसने विवाह के संबंध में पुरानी धारणाओं को ध्वस्त किया है। डा. प्रमिला कपूर विवाह की परिकल्पना के संबंध में हुए परिवर्तन पर लिखती हैं कि -

> "विवाह मुख्यत: व्यक्ति के धार्मिक एंव सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए तथा परिवार के कल्याण के निमित्त संपन्न होने वाला संस्कार है परंतु, विवाह के संबंध में आए परिवर्तन के संकेत भी मिलते है। उससे प्रकट होता है कि विवाह का धार्मिक पक्ष धीरे-धीरे कमजोर पड़ता जा रहा है और अधिकाधिक सख्यां में लोग उसमें धार्मिक संस्कार के बजाये सामाजिक अनुबंध के रूप में स्वीकार करते जा रहे हैं जिसमें व्यक्ति मुख्यत: अपनी भलाई तथा व्यक्तिगत सुख-संतोष के लिए शामिल होता है।"[89]

मर्चेन्ट के अध्ययन(वर्ष1935), बंबई की शिक्षित महिलाओं की बारे में हाटे(वर्ष 1930 और वर्ष 1946) और देसाई(वर्ष1945) के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि उन दिनों में विवाह को एक पवित्र धार्मिक संस्कार की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति कमजोर पड़ने लगी थी। विवाह एक सामाजिक समझौता है, यह मान्यता जब विकसित होने लगी तो विवाह की ज़रूरत पर सवाल हुए मसलन विवाह क्यों जरूरी है? जहां धार्मिक मान्यता में यह महत्वपूर्ण कारण थे "सामाजिक सुरक्षा के कारण", "व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा के लिए", "भौतिक सुरक्षा के लिए" सामाजिक

[89] प्रमिला कपूर, कामकाजी भारतीय नारी,राजपाल एंड संस, दिल्ली 1976, पेज न०- 17.

अनुबंध के विकसित होने पर विवाह के कारण "पारस्परिक साहचर्य के लिए", "भौतिक सुख-सुविधा के लिए", "अपनी लिए" महत्वपूर्ण हो गए। इससे प्रकट होता है कि विवाह व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाता है। इन सामाजिक परिस्थितियों के बीच

> "स्वतंत्रता प्राप्ति के आसपास स्त्री को नौकरी और विवाह में से एक चुनना था, विवाह प्राय: निर्विकल्प स्थिति थी, यदि पढ़-लिखकर स्त्री नौकरी करना चाहती थी तो विवाह और परिवार के दायित्वों की उसकी क्षमता पर शक किया जाता था। उस समय यह सामान्य मान्यता थी कि व्यावहारिक दृष्टि से नौकरी और परिवार के दायित्व एक साथ नहीं सम्हाले जा सकते, अत: स्त्रियों ने ज़्यादातर विवाह के विकल्प स्वीकारे और जिन्होंने नौकरी के विकल्प स्वीकारे उनमें से अधिकांशत: विवाह और पारिवारिक जीवन से वचित रहीं।"[90]

लेकिन वर्ष 1960-70 के आसपास हुए सर्वेक्षण स्थिति के दूसरे पक्ष सामने रखते हैं।

> "जीवन की बढ़ती ज़रूरतों ने पुरुष की मानसिकता में परिवर्तन किया और घर की आमदनी में पत्नी की भागीदारी संभव हो सकी। पहले असम्मानजनक समझी जाने वाली नौकरी परिवार के पद, प्रतिष्ठा, इज्जत बढ़ाने लगी। विवाह और नौकरी समानांतर संभव हो सकी।"[91]

इन अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि सत्तर और अस्सी के दशक में महिला समूहों ने विवाह संस्था को नये नज़रिये से समझने का प्रयास किया। इन बहसों ने यौनिकता के मसले को भी उठाया, पोर्नोग्राफी का विरोध किया। परंतु, विवाह और यौन संबंध, विवाह और प्रेम, विवाह और स्वतंत्र व्यक्तित्व, विवाह और मातृत्व एंव विवाह और घरेलू श्रम के प्रश्न महिलाओं की अस्तित्व से जोड़कर नहीं देखे गए। चेतना के अभाव में आज भी बहुसंख्य समाज स्त्री की जीवन में परिवार और विवाह की प्रतीक्षा के समय का उपयोग बनकर रह जाती है। स्त्री आत्मनिर्भर होने पर भी जब तक विवाह नहीं करती, तब तक पूरे मानवीय अधिकार तथा संपूर्ण मानवीय गरिमा नहीं प्राप्त कर पाती। विवाह भारतीय परिपेक्ष्य में ही नहीं विश्व के परिपेक्ष्य में भी महिलाओ की अनिवार्य नियति थी और आज भी बनी हुई है। यह जीवन की स्थिति को बदलने का एक अवसर है परंतु, विवाह के चयन का अधिकार महिलाओं की पास नहीं है। महिलाओं को पति के चयन के

---

[26] हाटे-1946, देसाई 1945 एंव नारायण 1967 के सर्वेक्षण,प्रमिला कपूर,कामकाजी भारतीय नारी,राजपाल एंड संस.दिल्ली1976 पेज न०- 15-16.

[91] प्रमिला कपूर-1960, देसाई-1957, हाटे-1969,कारमैक-1961,सेनगुप्ता-1960, रनाडे एंव रामचंद्रन-1970, रामानुज-1972 एंव गोल्डस्टीन- 1972 के अध्ययन, प्रमिला कपूर, कामकाजी भारतीय नारी, पृ- 52

अवसर मिले भी है तो, इसका प्रतिशत और क्षेत्र सीमित है। स्पष्ट है कि आर्थिक गतिशीलता ने महिलाओं की स्थिति बदली, परिवर्तन के प्रति चेतना भी उसमें जागृत हुई। भारत की आधी आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा 'चौके और शयन कक्ष के वध स्थल' की दुनिया के बाहर की दुनिया से अपरिचित और वधस्थल के यथार्थ का अपनी नियति स्वीकार रहा है। परिवर्तन की परिणति को व्यापक बनाने के लिए महिलाओं तक पहुंचना अभी भी शेष है।

विवाह की संस्था अपनी तमाम बुराइयों बावजूद एक जीवंत और जनोपयोगी संस्था है। उसमें बहुत कुछ ऐसा है, जो बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार स्वत: बदल रहा है, लेकिन बहुत कुछ ऐसा है भी है, जिसे बदला जाना चाहिए और बदला जा सकता है। इसके लिए परिवार और विवाह संस्था के बारे में यह धारणा बदलने की ज़रूरत है कि यह कोई प्राकृतिक व्यवस्था या ईश्वरीय विधि-विधान नहीं, बल्कि मानव निर्मित सामाजिक संस्था है।

वर्ष 1990 के दशक में भूमंडलीकरण की बदली हुई परिस्थितियों ने भी विवाह संस्था में महिलाओं की स्थिति को में कई नए परिपेक्ष्य में प्रभावित किया। परंतु, विवाह के प्राथमिक उद्देश्यों में कोई बदलाव नहीं ला सका। विवाह अब भी पुरुष वंश की निरंतरता, स्त्री की यौनिकता और वंश की रक्त शुद्धता को बरकरार रखने वाली संस्था के रूप में मौजूद है। उदारीकरण के बाद विवाह संस्था में सामाजिक रूतबा अब सामाजिक 'इज्जत' की प्रतिष्ठा बनाने वाली संस्था के रूप में सामने आई है। ऐसी मान्यता मजबूत हुई है कि विवाह के माध्यम से ही परिवार, बिरादरी और समूह का रुतबा बना रहता है, कमजोर या मजबूत होता है। कई चितकों ने उद्योगीकरण को मानव मुक्ति के प्रमुख वाहक के रूप में देखा और यह सूत्रीकरण किया था कि अगर पूंजी को मानव मुक्ति का संवाहक बना दिया जाये तो पूंजी की भूमिका को कल्याणकारी चरित्र में तब्दील किया जा सकता है। मार्क्स का मानना था कि एक श्रमिक के रूप में महिला जैसे घर की देहरी से बाहर निकलकर पुरुष श्रमिक के बराबर हैसियत प्राप्त करेगी, स्त्री-पुरुष संबंध एक नये धरातल पर पहुंचना शुरू हो जाएंगे। परंतु, परंपरा, धर्म और रीति-रिवाजों ने विवाह और परिवार जैसी संस्थाएं एंव इतरलिंगी यौन संबंधों की अनिवार्यता ने नारी बंधनों में जकड़ कर रखा।

भूमंडलीकृत राज्य ने कानून के पितृसत्तात्मक स्वरूप को बदलने की कोशिश नहीं की। परिणामत: भूमंडलीकरण ने रोज़गार के नये अवसर उपलब्ध कराकर स्त्री को 'पावर वुमेन' बना दिया। लेकिन वह एक नई पुरुष को तैयार नहीं कर पाया जो इस 'पावर वुमेन' के साथ नई तरह के नर-नारी संबंधों का सिलसिला शुरू कर सकता। वास्तव में, पुरुष सफल औरतों को सशंकित होकर देखते हैं। वे सांस्कृतिक संकट के शिकार हैं। पुरुष एक खूबसूरत गुड़िया चाहता है जो हर

निर्णय में उस पर निर्भर करें। वह दिखाना चाहता है कि बागडोर उसके हाथ में है (इसके लिए कहीं न कही वो मध्यवर्गीय चेतना से प्रभावित होता है)। परिणामत: 'पावर वुमेन' को विवाह करने के लिए अपनी व्यवसाय या नौकरी छोड़ने का मन बनाना पड़ता है। भूमंडलीकरण का दावा है कि अब पहले से कहीं ज़्यादा स्त्री की पास अपनी निजी आमदनी के स्त्रोत है और वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हैं। स्त्री पहले से कहीं ज़्यादा आर्थिक और प्रशासनिक सत्ता में निर्णयकारी हैसियत को प्राप्त करती जा रही है। यह सब करने के लिए उसे किसी नारीवादी गोलबंदी अथवा सिद्धांतशास्त्र की ज़रूरत भी नहीं पड़ी। परंतु, स्त्री अभी भी वंश चलाने के लिए एक प्रजननकारी कोख के रूप में है, स्त्री को प्रजनन करने या न करने का अधिकार नहीं मिला, न ही उसके प्रति लैंगिक पूर्वाग्रहों का शमन हुआ। इसके साथ आर्थिक प्रक्रिया का प्रभाव समाज के सभी अंगो पर एक समान नहीं होता है।

हर समाज में खासकर भारतीय समाज में वर्ग, जाति, लिंग, समुदाय और प्रादेशिक भिन्नताएं मौजूद है। यह काफ़ी हद तक सरकार के स्वरूप और राजसत्ता की संरचना से भी प्रभावित होता है। महिलाओं पर पड़ने वाले प्रभाव के विश्लेषण में यह ध्यान में रखना जरूरी है कि महिला होने के नाते उन्हें कई भेदभावों का भी सामना करना पड़ता है। समाज में काम का लैंगिक विभाजन, अदृश्य श्रम और निजी एंव सार्वजनिक रेखाओं में विभाजित महिलाओं का काम भी अर्थव्यवस्था में गतिशीलता से प्रभावित होता है। बाज़ार ने सस्ते श्रम की खोज में परिवार, विवाह की संस्था, धर्म और परंपरा को कोई क्षति पहुंचाये स्त्री को घर के दायरे से बाहर निकाल कर स्त्री की आर्थिक सशक्तीकरण के क्षेत्र में उपलब्धियां हासिल की हैं। परंतु, श्रम के महिलाकरण ने काम के लिंगीय विभाजन को कम करके महिलाओं को उनके पारंपरिक कामों से बाहर भी किया है। जिसका असर उन महिला समूहों पर पड़ा है जो तथाकथित आर्थिक सशक्तीकरण के दायरे के बाहर है।

इन सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बदलावों के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-पुरुष सहित सारे मानवीय संबंधों को विभिन्न राष्ट्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि दायरों के साथ-साथ भूमंडलीकृत मानवतावादी परिपेक्ष्य में भी देखने की ज़रूरत है। इसी परिपेक्ष्य में देखने की कोशिश में मार्था सी. नुसबांम ने अपनी पुस्तक "सेक्स एंड सोशल जस्टिस" में करते हुए लिखती हैं कि-

> "विवाह स्त्री-पुरुष के बीच का वह संबंध है, जिसका एक पक्ष उन दोनों को यौन-संबंध से प्राप्त होने वाला निजी आनंद है, तो दूसरा पक्ष प्रजनन की प्रक्रिया और परिवार संस्था से जुड़े सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह। लेकिन विवाह स्वयं एक सामाजिक संस्था भी है जो सामाजिक संस्थाओं के बदलाव से प्रभावित भी होती है। इसलिए विवाह संस्था को यौन संबंध

> तक सीमित करने के बजाये न्याय, नैतिकता, धर्म और राजनीति, मानवाधिकार आदि विभिन्न विषयों से जोड़कर देखना अधिक आवश्यक है।"[92]

भूमंडलीकरण की आर्थिक गतिशीलता और बदलती हुई सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों ने विवाह संस्था में महिलाओं की निजी और सार्वजनिक क्षेत्र को कैसे प्रभावित किया है? विवाह संस्था में बदलाव को समझने के लिए उसे भूमंडलीकरण से जोड़कर समझा जा सकता है, क्योंकि इससे उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया जुड़ी हुई है और इससे महिलाओं के शोषण की प्रक्रिया भी जुड़ी हुई है। विवाह केवल परंपरा और संस्कृति से जुड़ी हुई नहीं है यह अर्थशास्त्र और राजनीति से भी जुड़ा हुआ है। इसके जो निहीत स्वार्थ है वह परंपराओं का इस्तेमाल करके महिलाओं के शोषण को बढ़ावा देते है। बाज़ार भी उसी तरह के विवाह को प्रमोट करता है, जिसमें विवाह मां-बाप के द्वारा तय होता हो, जात-पांत के बंधनों में बांधकर ही परंपरागत रीति-रिवाज के साथ किया जाये। क्योंकि ऐसे में विवाह में ज़्यादा खर्च किया जा सकता है। बाज़ार विवाह के इस रूप को बनाये रखने के लिए प्रेम विवाहों को भी परंपरागत स्वरूप में स्वीकार करता है, और इससे उत्पन्न होने वाले सांस्कृतिक द्वंद पर विचार नहीं करता है। इसका अध्ययन तत्कालीन अख़बारों में विवाह पर प्रकाशित लेखों के माध्यम से किया जा सकता है।

मसलन, विवाह संस्था की नैतिकता की दीवार को अंर्तजातीय विवाह के हथियार से तोड़ा जा सकता है। विवाह संबंधी समस्याओं की जटिलता अंतर्जातीय विवाह पर पाबंदी के कारण और ज़्यादा जटिल हो जाती है। जाति और उसके उपरांत गोत्र की तयशुदा परिधि स्त्री की लिए जीवनसाथी की तलाश के दायरे को सीमित कर देती है। इस मुद्दे पर प्रकाशित लेखों के आधार जाति या दहेज की समस्या नहीं बल्कि रागात्मक संबंध हो सकते है। परंतु, अंर्तजातीय विवाह पर प्रकाशित लेखों ने दूसरी समस्याओं को उजागर किया। इस संदर्भ में 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'अपनी को तरसती अंर्तजातीय बहू' में प्रतिभा तिवारी बताती हैं कि -

> "जैसे-जैसे अंर्तजातीय विवाह को समाज ने स्वीकार कर रहा है वैसे-वैसे समस्याएं उठ रही है, जिसके मूल में जाति-विशेष संस्कार, रीति-रीवाज का अहंकार जैसी प्रवृत्ति है। इस समस्या का सामना लड़कियों को अधिक करना पड़ता है। समाज ने सामाजिक परिवेश में बदलाव को स्वीकार किया है परंतु, अपनी मानसिकता में बदलाव नहीं करना चाहती है। जाहिर है समाजिक

[92] उत्पल कुमार, सेक्स एंड सोशल जस्टिस, रमेश उपाध्याय(सं.) विवाह संस्था में बदलाव की ज़रूरत, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पेज न०- 49

> बदलाव के साथ जातियों के प्रति पूर्वाग्रह को खत्म नहीं किया है। इसलिए दूसरी सभ्यता-सस्कृति के प्रति भी पूर्वाग्रह है।"[93]

अंर्तजातीय विवाह पर शशिप्रभा शास्त्री 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित अपनी लेख 'मात्र उदारीकरण नहीं उदत्तीकरण भी' में लिखती हैं कि -

> "अक्सर समाज की वाह-वाही लूटने के लिए अंर्तजातीय विवाह को स्वीकार करते है, पर सांस्कृतिक कारणों से अक्सर तनाव की स्थिति बनी रहती है। अंर्तजातीय विवाह इस समस्या से कैसे उबरे? जिससे दोनों पक्षों के संबंधी एक दूसरे के साथ समकक्षी बनकर रह सकें।"[94]

अंर्तजातीय और अंतर मजहबी विवाहों में जाति परिर्वतन और मतांतरण की लड़कियो की विवशता पर आपत्ति प्रकट करते हुए बलबीर पुंज 'दैनिक जागरण' में प्रकाशित अपनी लेख 'अंतर मजहबी विवाहों का सच' में बताते हैं कि-

> "समाज में प्रेम विवाह हों इस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन अंतर मजहबी और अंतरजातीय विवाहों से सामाजिक सद्भाव तभी बढ़ सकता है जब विवाह में दोनों प्राणियों के प्रेम के रूप में देखें, न कि जातीय या मजहबी मतांतरित होने के अवसर के रूप में कितने लड़के इस तरह के विवाह में अपनी जातीय और मजहबी अस्मिता को छोड़ते है। लड़कियों पर ही इसका दवाब क्यों होता है?"[95]

इन विषयों से अलग सजातीय विवाह में एक गोत्र में विवाह के विषय पर 'हिंदुस्तान' में दिलीप मंडल अपनी लेख 'खाप, जाति और विवाह का जेनेटिक साइंस' मे बताते हैं कि -

> "खाप पंचायतें चाहती हैं कि हिंदू अपनी गोत्र में शादी न करें और सगोत्र शादियों को अवैध घोषित करने के लिए विवाह कानून को बदल दिया जाये। अब कुछ लोग इस मांग को वैज्ञानिक रूप से उचित भी कह रहे है। खाप पंचायते अपनी फरमानों से स्त्री को जीवन साथी चुनने के अधिकार को बाधित करती है। सगोत्र शादियों के निषेध को अगर वैज्ञानिक नज़रियेसे सही मान लिया जाये तो क्या खाप पंचायते अंतर्जातीय विवाह को बढ़ावा देंगी? क्योंकि खाप पंचायते अंतर्जातीय विवाह को लेकर काफ़ी हिंसक रही है।"[96]

इन लेखों के मूल में विवाह से जुड़ी रहनी वाली इज्जत, प्रतिष्ठा, संस्कृति वरियता और श्रेष्ठता, रीति-रिवाज, समुदाय की संस्कृति की चिंता मुख्य रूप से अधिक दिखती है। कोई भी लेख इस

---

[93] 4 फरवरी 1990, हिंदुस्तान

[94] 7 जुलाई 1996, नवभारत टाईम्स

[95] 6 फरवरी 2007, दैनिक जागरण

[96] 24 जून 2010, हिंदुस्तान

विषय की पैरवी करती नहीं दिखती है कि सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिवर्तन/गतिशीलता के दौर में स्त्री का देह/शरीर, श्रम और विवाह के धरातल पर बदलने में कितनी मदद की है। अगर परिवर्तन हुआ है तो परिवर्तन को लेकर कौन सी चेतना जागृत हुई है? लगभग तमाम लेखों में विवाह और विवाह के बाद उत्पन्न परिस्थितियों का ब्यौरा है, जो कभी-कभी महिलाओं की पक्ष में भी बात करता है। परंतु, मूल रूप से वह विवाह संस्था की प्रासंगिकता को बनाए रखने का प्रयास करता है कि सांस्कृतिक साझीदारी को विकसित करके विवाह संस्था के अस्तित्व को जीवित रख सके।

विवाह के विषय पर प्रकाशित कुछ लेख महिलाओं की इस समस्या को उजागर करते है कि भले ही परिवार ने बचपन से उसका समाजीकरण विवाह परियोजना के अनुरुप किया। परंतु, यह परियोजना मानसिक तनाव को झेलने को विवश करती है। तमाम राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक बदलाव के बाद भी विवाह संस्था अगर एक भविष्य की योजना है तो एक कैरियर विनाश की योजना भी है। 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'विवाह के रास्ते पर कैरियर का गति अवरोधक' में प्रतिभा जैन लिखती हैं कि -

> "कैसी दुविधाओं में उलझा हुआ है महिलाओं का जीवन अगर वो अपनी कैरियर को चुनती है तो जीवन का एक हिस्सा वैवाहिक जीवन पिछड़ जाता है। यदि समय पर विवाह कर लेती है तो जीवन के अन्य सपने अधूरे रह जाते है। उसका जीवन कैरियर और विवाह के बीच डावांडोल रहता है। नारी की प्रगति में व उपलब्धियों में पुरुष और बच्चे बाधा हो जाते है। पुरुष का अहंकार उसका अंह महिला को हमेशा हीन नजरों से देखता है।"[97]

इसी विषय पर 'हिंदुस्तान' में महिला पत्रकार विवाह और कैरियर पर अपनी निजी विचार 'तालमेल की एकतरफा कोशिश' में बताती हैं कि -

> "वो एक पत्रकार है। इस क्षेत्र में तीन-चार वर्ष के अनुभव ने ज़िंदगी के प्रति उनका दृष्टिकोण काफ़ी हद तक बदल दिया है। इस बदले नज़रियेमें मां-बाप भी साथ देते है तो कोई खास दिक्कत नहीं होती है। पर जब कभी भविष्य के बारे में सोचती हूं तो घबरा जाती हूं कि घर-बाहर की कामकाजी स्थितियों का यह सामंजस्य कहीं भिन्न घरेलू माहौल में न बन पाया तो क्या होगा?"[98]

लेख इस तर्क को स्थापित करता है कि स्त्री की व्यक्तित्व की चर्चा नई है पर सामाजिक संस्था से साथ उसकी पीड़ा पुरानी है। लोकतांत्रिक मूल्यों की अवधारणा ने स्त्री शिक्षा, रोज़गार, स्त्री

[97] 17 फरवरी 1990, हिंदुस्तान

[98] 20 अप्रैल 1990, हिंदुस्तान

प्रतिभा, उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को अवसर दिया पर सामाजिक संस्थाओं की एकाधिकार की भावना स्त्री और पुरुष के मध्य उसकी सम्भावनाओं को सीमित करता है। विवाह संस्था क्या सहजीवन में स्त्री को पुरुष प्रभुत्व से मुक्त रख सकता है जो उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास कर सके। यह सवाल विवाह के ढांचे पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित करता क्योंकि यह स्त्री की जीवन का, व्यक्तित्व का सर्वाधिक निर्णायक प्रश्न है।

विवाह पर प्रकाशित कुछ लेखों में उन सांस्कृतिक रीति-रिवाजों की चर्चा करते है, जो विवाह संस्था में महिलाओं को एक वस्तु के रूप में स्थापित करते हैं और उसकी स्वतंत्र अस्मिता को नकारते हैं या प्रश्नांकित करते हैं। यह रीति-रिवाज विवाह पूर्व स्त्री की पूर्ण वजूद को नकारने के अलावा नये परिवेश में महिलाओं को फिट होने का मानसिक दवाब भी निर्मित करते है। कन्यादान पर 'हिंदुस्तान' में विमला रस्तोगी अपनी लेख 'कन्यादान ही क्यों पुत्रदान क्यों नहीं?' में बताती हैं कि -

> "विवाह स्त्री-पुरुष संबंधों को सामाजिकता प्रदान करता है, स्त्री-पुरुष मिलकर एक इकाई बनते हैं। विवाह प्रथा का प्रचलन विभिन्न प्रदेशों, जाति समुदायों और वर्गों में भिन्न-भिन्न है। किंतु कमोबेश हर हिंदू विवाह रीति के अनुसार हमारे कई शास्त्र कन्यादान का समर्थन करते हैं व उसके फलस्वरूप पुण्य-प्राप्ति का आश्वासन देते हैं, लेकिन क्या कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य का दान कर सकता है? ऐसी अवस्था में पिता पुत्री का दान कैसे कर सकता है? कन्यादान ने आज नारी की अस्मिता पर एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया है।"[99]

इसीप्रकार 'नवभारत टाईम्स' के प्रकाशित लेख 'क्या स्त्री दान की चीज है?' में पूर्णिमा श्रीवास्तव बताती हैं कि -

> "क्या स्त्री दान की चीज है ? कन्या का संरक्षण अब पहले की तरह जटिल नहीं है। पढ़ी-लिखी महिला अपना भरण-पोषण करने में सक्षम है। कन्यादान एक और प्रश्न उठाता है -क्या कन्या को शिक्षा और गुणों से युक्त कर उसे दूसरे के हाथों सौंप देने वाले माता-पिता की समाज में क्या स्थिति है? उसे समाज क्या देता हैं? कन्या अगर लक्ष्मी है तो उसे गढ़ने वाले मां-बाप इतने असहाय और दयनीय क्यों है? कन्यादान अगर महान कर्म है तो उसे करने वाले के आगे समाज नतमस्तक क्यों नहीं है? यही कारण है कि ससुराल में प्रताड़ित होकर भी कन्या मां-बाप के घर लौट चुकी है, उसका दानकर्ता से कोई सरोकार नहीं रहा, फिर आत्महत्या, दहेज ही आखिरी परिणति है उसकी।"[100]

---

[99] 4 फरवरी 1990, हिंदुस्तान

[100] 8 मार्च 1992, नवभारत टाईम्स

शिक्षा और समानता के दौर में विवाह में इस प्रकार की कुरीतियों ने महिलाओं को एक उपभोक्ता वस्तु के रूप में प्रस्तुत करता है। कन्यादान की सार्थकता और प्रतीकात्मकता दान द्वारा वंश आगे बढ़ाने, दो वंशों को जोड़ने, कन्या का दान करने वाले वंश को अमरत्व प्राप्त होने जैसे कार्य-व्यापारों के संपन्न होने में निहित होती है। दान के माध्यम से ही जाति के रुतबे और उसकी शुद्धता का भी संरक्षण होता है। क्योंकि कन्या का दान केवल अपनी जाति समुदाय को ही दिया जाता है। स्पष्ट है इन कुरीतियों का महिमामंडन निहित उद्देश्यों के तहत ही किया गया है। तेज़ी से बदल रहे परिवेश ने विवाह संस्था की तमाम खामियों के बाद भी इसे नये तरीके से आकर्षक बनाकर पेश किया है।

'दैनिक जागरण' के साप्ताहिक परिशिष्ट में विवाह की प्रासंगिकता पर सुंदर चंद ठाकुर अपनी लेख 'बाज़ार के रू-ब-रू विवाह' में चर्चा करते हैं कि -

> "पिछले एक दशक में हमारे देश में धूम मचाने वाली आर्थिक उदारवाद और भूमंडलीकरण ने भारतीय विवाह संस्था के समीकरण को बदल दिया है। उसने अधिसंख्य लोगों को बेहतर जीवन देने की आस में कस्बों से निकाल महानगरों में पटक दिया है। उसने वैवाहिक विज्ञापन की भाषा पूरी तरह बदल दी है। वे शिक्षित, सुंदर, घरेलू, सुशील के बजाये प्रोफेशनल, स्मार्ट, नौकरीशुदा, आधुनिक कन्या की फरमाइश करने लगे हैं। भारतीय वैवाहिक जीवन में भी इसका असर पड़ा है। आत्मनिर्भर दांपत्य जीवन के भावात्मक संबंधों में कमी ने विवाह के औचित्य पर भी सवाल खड़ा कर दिया है।"[101]

इसीप्रकार 'दिमाग़ ने ली दिल की जगह' लेख में डा. सरोज़ कुमार वर्मा उपभोक्तावादी जीवन शैली को विवाह के विघटन का कारण बताते हुए लिखते हैं कि -

> "नारीवादी आंदोलन से जब भारतीय नारी का परिचय हुआ तो सहजता से उनपर इसका गहरा प्रभाव पड़ा और वे अपनी लिए भी वहीं मापदंड तय करने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि यहां के दांपत्य जीवन में दरार पड़ने लगी और विवाह विघटित होने लगा। बेशक पुरुष के वर्चस्ववादी रवैये की महत्वपूर्ण भूमिका रही। परंतु, इस स्थिति को हवा देने का काम आज की उपभोक्तवादी जीवन शैली ने किया। इसके कारण हर किसी का अपना निजी सुख इतना महत्वपूर्ण और सर्वोपरि होता है कि उसमें किसी दूसरी चीज की कटौती असहनीय लगती है। अंततः इसकी परिणति तलाक में होती है।"[102]

---

[101] 11 फरवरी 2005 दैनिक जागरण

[102] 11 फरवरी 2005 दैनिक जागरण

विवाह संस्था में हो रहे बदलाव पर इसी परिशिष्ट में कुमार मुकुल अपनी लेख 'विकल्पहीन कौतुक' में बताते हैं कि-

> "विवाह महिलाओं को एक अधिकार विहीन जमीन ज़रूर उपलब्ध कराता है जो जीवन के एक तिहाई श्रम को निर्मूल कर देता है। जहां तक भारतीय समाज की जड़ता को तोड़ने का सवाल है। आज भी विवाह की भूमिका जारी है। एक समय था जब पशुओं और दासों की तरह स्त्री भी संपत्ति थी। धीरे-धीरे विवाह ने उन्हें अर्धांगिनी का ओहदा दिया। आज उसे बराबरी का अधिकार सम्पति में भी मिलने लगा है। अगर विवाह के बाद स्त्री की जीवन की लक्ष्यहीनता को नष्ट किया जा सके तो विवाहों की प्रासंगिकता पुन: कायम हो सकती है।"[103]

इन लेखों में आर्थिक गतिशीलता को विवाह पर पड़ने वाले प्रभाव के कारण के रूप में चिन्हित किया गया है। आर्थिक गतिशीलता के कारण महिलाओं की आत्मनिर्भर होने और इसके कारण उत्पन्न जीवन शैली को माना है। महिलाओं ने समानता के अधिकार की मांग सामाजिक संस्थाओं से की थी। बदलते परिवेश में सामाजिक संस्थाओं में (महिलाओं की चेतना के संदर्भ में) बदलाव होने चाहिए थे जिससे समानता को बल मिल सके। परंतु, विवाह संस्था आज आधुनिक जीवन शैली के मांग पत्र और परंपरागत मूल्यों के बीच झूल रही गई है। विवाह संस्था के प्राचीन और अर्थहीन संदर्भो के साथ पति परमेश्वर से लेकर तीज या करवा चौथ तक की अवधारणाओं में कई बाध्यताओं की नयी जीवन शैली का मिश्रण है। जो विवाह संस्था में महिलाओं की प्रति परिवर्तन की चेतना जागृत भी चाहती है।

मानवीय समाज के नैतिकता के मापदंड में जब भी महिला अपनी स्वतंत्रता और अधिकार के प्रति सजग होती है या परिवार या विवाह संस्था के जिम्मेदारी पर प्रश्न करती है तो सामाजिक संस्थाओं की जड़े हिलने लगती हैं। इन परिस्थितियों में जब स्त्री को कानूनी रूप से सबल करने की वैधानिक कोशिश की जाती है तो सभ्यता अपनी गलतियों को तलाश करने की कोशिश तो करती है पर उसमें सुधार करने की कोशिश नहीं करती है। मसलन, विवाह संस्था में स्त्री की कानूनी अधिकार को मजबूत करने के लिए विवाह पंजीकरण कानून को अनिवार्य किया या राजस्थान हाईकोर्ट का फैसला कि विवाहित महिला अपनी प्रेमी के साथ रह सकती है जैसे फैसले सामने आते हैं तो भारतीय सामाजिक परिवेश की दरारें उजागर होने लगती है। विवाह पंजीकरण के विषय पर 'दैनिक जागरण' में मैत्रीय पुष्पा अपनी लेख 'डराता है शकुंतला का हश्र' में लिखती हैं कि -

---

[103] 11 फरवरी 2005 दैनिक जागरण

> "भूमंडलीकरण के दौर में समय की गतिशीलता के साथ विवाह संस्था को मजबूती प्रदान करने के उद्देश्य से विवाह पंजीकरण कानून की अनिवार्यता एक महत्वपूर्ण कानूनी पहल है। वर्तमान समय में विवाह दो व्यक्तियों के मध्य निजी मामला नहीं है वैवाहिक संबंधों में एक और पात्र निहित है भविष्य में होने वाला शिशु। इसलिए इस भावनात्मक संबंध को सामाजिक बंधन के साथ कानूनी बंधन का रूप देना जरूरी है क्योंकि यह दो व्यक्तियों के बीच का भावनात्मक संबंध जीवन भर के लिए है या नहीं, यह विवादास्पद प्रश्न है। यदि पति-पत्नी अलग हो जाते हैं तो निर्बोध शिशु के अधिकार सुरक्षित हो सके। मौजूदा समय में हर स्त्री आर्थिक रूप से स्वतंत्र और आत्मनिर्भर नहीं है इसके कई सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलू भी है विवाह पंजीकरण कानून से स्त्री को भी कानूनी सबल मिलेगा। जो विवाह के अनिवार्य पंजीकरण का विरोध करते है पुरुष की प्रभुसत्ता और स्त्री को असहाय या दोयम बनाए रखना चाहते है।"[104]

विवाह पंजीकरण की आवश्यकता पर 'दैनिक जागरण' में प्रभा खेतान अपनी लेख 'प्रगतिशीलों के लिए खुशखबरी' में बताती हैं कि -

> "विवाह के पंजीकरण कानून से विवाह का धार्मिक पक्ष गौण और अनुबंधात्मक पक्ष ज़्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है। यह अनुबंधात्मक पक्ष विवाह व्यवस्था में स्त्री अधिकारों की पैरवी करता है। हालांकि पंजीकरण की अपनी समस्या भी है कि कानून स्त्री-पुरुष के भेद को पूर्वानुमानित रूप से स्वीकार कर चलता हैं, जिसमें न केवल परिवार में पुरुष की मुख्य भूमिका बनी रहती है, बल्कि राज्य भी इस पितृसत्तात्मक ढ़ांचे को अपनाता हुआ नज़र आता है।"[105]

'दैनिक जागरण' में मुस्लिम धर्मगुरूओं का विवाह पंजीकरण के विरोध पर ए.सूर्यप्रकाश अपनी लेख 'बेजा विरोध करने की आदत' में बताते हैं कि -

> "सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बावजूद मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड का कहना है कि शादियों का रजिस्ट्रेशन मुस्लिमों के लिए अनिवार्य नहीं बनाया जाना चाहिए। क्योंकि मुस्लिमों के विवाह गवाहों की मौजूदगी में संपन्न होते हैं और स्थानीय काजी उनका रिकार्ड रखते हैं। लिहाजा किसी कानून के जरिएमुस्लिमों के लिए शादियों का रजिस्ट्रेशन अनिवार्य बनाना उचित नहीं है। परंतु, हिंदु, इसाई, सिख और अन्य समुदायों में भी काफ़ी लोग मौजूद रहते है और हर समाज में शादियों के रिकार्ड रखने की विशेषता है। फिर मुस्लिम समुदाय को इस कानून से अलग क्यों रखा जाये? क्या हम मान लें कि भारतीय राष्ट्र-राज्य ने शासन करने की क्षमता खों दी है

[104] 24 फरवरी 2006, दैनिक जागरण

[105] 2 नवंबर 2007, दैनिक जागरण

> और वह उस अनुच्छेद **14** पर अमल सुनिश्चित नहीं कर सकता जो कानून के सामने सभी नागरिकों की समानता रेखांकित करता हैं?"[106]

विवाह पंजीकरण एक विवाह संस्था में महिला अधिकार की दिशा में एक महत्वपूर्ण पहल हो सकती है। यह विवाह संस्था में स्त्री-पुरुष के मध्य मौजूदा असमानता को कम तो नहीं करती। परंतु, विवाह संस्था में महिलाओं की वैधानिक स्थिति के संदर्भ में महत्वपूर्ण पहल सिद्ध हो सकती है। इस वैधानिक स्थिति से विवाह संस्था में महिलाओं की सभी यथास्थिति के बाद अच्छी बात यह है कि आज बहस के केंद्र में केवल महिला के ऊपर होने वाली हिंसा या परिवार ही नहीं है, बल्कि इन बहसों में महिला अधिकारों के लिए भी एक स्पेस तैयार किया जा रहा है। परंतु, इन बहसों पर एक राष्ट्रीय बहस की आवश्यकता है क्योंकि भारतीय समाज में विभिन्न प्रदेशों में जाति, धर्म और हर वर्ग समुदायों में विवाह संस्था में महिलाओं की स्थिति सांस्कृतिक विविधता के कारण अलग-अलग तरह है। हर विवाह संस्था में एकरूपता नहीं है फिर एक कानून से इन सभी विभिन्नता के साथ न्याय कैसे किया जा सकता है?

जहां विवाह पंजीयन के सुप्रीम कोर्ट के फैसले ने विवाह संस्था पर बहस को केंद्र में ला दिया। उसीप्रकार राजस्थान हाईकोर्ट का फैसला जिसमें कहा गया कि विवाहित महिला अपनी प्रेमी के साथ रह सकती हैं भारतीय समाज के दरारों को उजागर करता है। इस विवादास्पद फैसले ने विवाह संस्था और स्त्री-पुरुष संबंधों का नियमन करने वाले पारंपरिक मूल्यों को करारा अघात दिया है। इस संदर्भ में 'दैनिक जागरण' में प्रियम अंकित अपनी लेख 'मुहर विवाहेतर रिश्तों पर' में बताते हैं कि -

> "यह सही है कि विवाह संस्था संपत्ति और संतान उत्पति करने का उपकरण मात्र है जिसे समाज ने अपनी नैतिकता प्रदान की है। विवाह संस्था ने हमेशा स्त्री-पुरुष को संपत्ति और संतान के व्यामोहों में फंसा कर रखा है जिसके कारण बेमेल विवाह, दहेज प्रथा और स्त्री की पराधीनता की स्थिति सामने आई है। इस फैसले का सकारात्मक पक्ष यह है कि इससे बेमेल विवाह के दुष्चक्र में फंसी महिलाओं को तत्काल राहत मिलेगा। इस सत्य से भी इऩकार नहीं किया जा सकता कि नारी चेतना के सामाजिक स्वर नये सांस्कृतिक और आर्थिक जागरण के उम्मीद को जगाया है। आज महिला यह समझ चूंकि है कि सवालों का जवाब मांगने से नहीं, बल्कि दुनिया बदलने से मिलेगा।"[107]

---

[106] 9 नवंबर 2007, दैनिक जागरण

[107] 11 मई 2007, दैनिक जागरण

राजस्थान हाईकोर्ट के इस फैसले को अपूर्वानंद 'दैनिक जागरण' के अपनी लेख 'तुम रहो जहां मन रहे' में लिखते हैं कि -

> "विवाह नामक संस्था के इतिहास पर सरसरी निगाह दौड़ाने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने से बच नहीं सकते कि यह प्राय: स्त्री की लिए ताबूत रहा है। विवाह का अर्थ समाज के उत्पादन के लिए वैध संबंध निर्माण है और स्त्री का चरम दायित्व इस उत्पादन श्रृंखला को टूटने न देने का है। उसे पुरुष की कामेच्छा को संतुष्ट करना है और प्रजनन के क्रम को बनाए रखना है। इस प्रकार विवाह संबंध के अंतर्गत जो यौन संबंध बनता है, उसमें स्त्री की लिए आनंद और तृप्ति जैसी किसी चीज की जगह नहीं है। परंतु, क्या नया जमाना नये प्रकार के मानवीय संबंधों का आविष्कार कर पाया है? उदार उत्पादन संबंध के परिवर्तन के साथ सामाजिक संबंध जिस तरह से बदल रहे है जिन्हें कानूनी रूप देकर वैध करने की तैयारी हो रही है उसके लिए नया जमाना तैयार है? क्या इस नये जमाना में प्रेम में वफादारी का प्रश्न जीवन और मरण का सवाल नहीं होगा?"[108]

इस नये प्रकार के संबंधों की समाज में प्रासंगिकता के विषय पर 'दैनिक जागरण' में राजेन्द्र कुमार अपनी लेख 'टूट रहे है पुराने ढ़ांचे' में चर्चा करते हुए बताते हैं कि-

> "स्वतंत्रता यदि एक मानवीय मूल्य है तो यह जितना पुरुष के लिए जरूरी है उतना ही स्त्री की लिए भी। जिसकी अवहेलना परिवार और विवाह संस्था में होता रहता है। ऐसे में राजस्थान कोर्ट का फैसला स्वागत योग्य है जिसमें कहा गया है कि एक विवाहित स्त्री अपनी पति के अधिकार में बने रहने की अभिशप्त कोई भोग्य वस्तु नहीं है, अगर स्त्री चाहे तो विवाहित होने के बावजूद अपनी प्रेमी के साथ रहने के लिए स्वतंत्र है। विवाह के ढ़ांचे में विश्वास रखने वालों को यह निर्णय अनैतिक लग सकता है पर स्त्री मुक्ति के सवाल से जोड़कर देखा जाये तो यह स्वागत योग्य क़दम है। परंतु, यह प्रश्न भी जरूरी है कि क्या सिर्फ़ अदालती फैसले से सामाजिक स्थिति में बदलाव लाया जा सकता है।"[109]

राजस्थान कोर्ट के फैसले पर प्रकाशित लेख इस बात की चर्चा करते हैं कि अगर सामाजिक संबंधों के सभी आयाम दलदल के गहराइयों में फंसे हुए हैं तो तात्कालिक राहत के ऐसे फैसले कहां तक महिलाओं को उनके शोषण से मुक्ति के लिए कारगर हो सकते है। इसके अतिरिक्त कई प्रश्न अनुउत्तरित है मसलन उस नैतिकता का विकास कैसे हो जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों ही एक दूसरे के स्वतंत्र व्यक्तित्व का सम्मान करना सीख सकें? विवाह के दायरे में एक स्त्री को जिस प्रकार की आर्थिक सुरक्षा की गारंटी मिलती है, क्या वैसी गारंटी बिना विवाह के साथ रहने वाले जोड़े में स्त्री को है या कोई कानूनी गारंटी मिलती है? इन सवालों की तलाश के वर्तमान

[108] 11 मई 2007, दैनिक जागरण

[109] 11 मई 2007, दैनिक जागरण

समाज को ही करनी होगी। इन लेखों में विवाह संस्था में महिलाओं की स्थिति को नये तरह से देखने का प्रयास दिखता है वहीं कई नये सवाल भी उठाये गये हैं। ये सवाल तेज़ी से बदलते हुए सामाजिक परिवेश में महत्वपूर्ण हैं क्योंकि विवाह अब मात्र स्त्री-पुरुष के बीच नये प्रकार के संबंध की शुरूआत नहीं है, स्त्री-स्त्री और पुरुष-पुरुष भी एक दूसरे के साथ रहना चाह सकते है और समाज के एक हिस्से को इसको स्वीकार करने में कोई नैतिक बाधा नहीं है।

इस दशक की हिंदी पत्रकारिता में विवाह के मुद्दे पर लेखन में दो तरह के नज़रिये देखने को मिलते हैं जहां एक तरफ़ लेखों में विवाह से संबंधी परंपरागत नज़रियेकी आलोचना देखने को मिलती है तो दूसरी तरफ़ आलोचना में कहीं से भी विवाह व्यवस्था और जाति के बीच के गठजोड़ पर उंगली नहीं उठाई गई हैं। अख़बारों में विवाह और वैधव्य के प्रश्नों को अज्ञातनामा से लिखा गया। लेखों का तर्क यह ज़रूर देखने को मिलता है कि विवाह संबंधी समस्याओं की जटिलता परंपरावादी मूल्यों के कारण महिलाओं की स्थिति को दोयम बना देती है। परंतु, इसके मूल कारणों पर प्रहार करने के बजाये बदलती जीवन शैली, आर्थिक गतिशीलता के कारण महिलाओं का तयशुदा चौखट से बाहर आना और उदार अर्थव्यवस्था के कारण मानवीय संबंधों की त्रासदी को पहचाना। समाज बदल रहा है पर बदलते समाज में महिलाओं की कई विकल्प है। परंतु, विवाह के विषय में महिलाओं की मां के पास भी विकल्प नहीं था और कामकाजी महिला के पास भी नहीं है। विवाह और जीवन से जुड़े फैसले को लेकर वह लक्ष्मणरेखा के अंदर क्यों है? भारतीय समाज महिलाओं की स्वतंत्रता के मामले में धर्म, समुदाय और परंपरा को किनारे अलग धरातल पर क्यों नहीं सोचता? महिला का अस्तित्व किस तरह जाति, वर्ग और धर्म की इज्जत के साथ जुड़ी हुई है इसपर कोई लेखन नहीं मिलता है। इस दशक की हिंदी पत्रकारिता का सबसे धनात्मक आयाम यह कहा जा सकता है कि विवाह संस्था में महिलाओं की अधिकार और स्वतंत्रता को कानून के द्वारा पुनर्परिभाषित किया जाने लगा। तब हिंदी पत्रकारिता ने सार्वजनिक मानदंडों द्वारा प्रचलित पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही महिलाओं की दोयम स्थिति पर प्रश्नचिन्ह लगाया गया। विवाह संस्था में महिलाओं की स्थिति, दर्जे व उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को लेकर सही दिशा में प्रश्न उठाये गए जो अपनी आप में काफ़ी प्रशंसनीय क़दम है। क्योंकि सही प्रश्न हीं अंततः सही तलाश की शुरूआत होती है। कानूनी और न्यायिक पहल के बाद विवाह के मुद्दे पर भारतीय स्त्री और उससे समाज के रिश्तों की एक ईमानदार व्याख्या धीरे-धीरे बढ़ती चली हुई दिखती है। परंतु, अदालती फैसले के बाद हिंदी पत्रकारिता का महिलाओं से जुड़े विषयों के प्रति असंवेदनशील होना लोकतंत्र के चौथे खंभे के वर्गीय चरित्र पर प्रश्न चिन्ह लगाता है।

1.3 विवाह और तलाक कानून

विवाह संस्था में अपने जीवन-साथी को अपने व्यक्तिगत, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास में सहभागी के रूप में न देखकर, अहंकार के टकवार के माहौल में विवाह संबंध टिक नहीं पाते है और इसकी अनिवार्य परिणति के रूप में "तलाक" उभर कर सामने आते है। विवाह संस्था में तलाक कानून आधुनिक समाज की मूल्य व्यवस्था के विकास के क्रम में बहुत ही ज्वलंत बहस के विषय रहे है। विवाह संस्था में आयी विकृतियों को विवाह की मूलभूत प्रकृति बताकर उसकी निंदा कई नजरियों से होती रही है। इन नजरियों से तलाक के अधिकार पर भी बहसें देखने को मिलती है। ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में, प्रशिया के सम्राट विलियम चतुर्थ ने एक सामाजिक सुधारवादी कार्रवाई के रूप में वर्ष 1842 के लगभग सुधार संबंधी एक विधेयक तैयार करवाया। उनकी इसी मुहिम का एक अंग था तलाक विधेयक। वर्ष 1869 में मिल ने अपनी पुस्तक "दि सब्जैक्शन आफ वुमेन" में स्त्री की ऐतिहासिक दमन के लिए कानूनी व्यवस्था को जिम्मेदार माना। उनके अनुसार पुरुष प्रधान कानूनी-व्यवस्था की वजह से एक लिंग का दूसरे पर वर्चस्व होता रहा है। यह कानूनी वर्चस्व मिल के अनुसार, इंसान को सुधारने में मुख्य बाधा थी। इस कानूनी वर्चस्व का आधार यह था कि पुरुष शक्तिशाली होता हैं। मिल का मानना था कि वैधानिक असंतुलन को स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान अधिकारों का प्रावधान कर सुधारा जा सकता हैं। हालांकि मिल ने अविवाहित और अकेली स्त्रियों की स्थिति पर अपनी विचार नहीं रखे थे। इस दौर में तलाक विधेयक की इस नज़रियेसे आलोचना की जा रही थी कि यह विधेयक दो व्यक्तियों को अपनी मर्जी के विरुद्ध एक साथ रहने को मजबूर करेगा। इसके अलावा एक सनातनपंथी नज़रिया भी था, जो सदियों से चले आ रहे विवाह और तलाक संबंधी कानून में किसी तरह के परिवर्तन को पसंद नहीं करता था। इसी का परिणाम था कि नेपोलियन ने न्यायशास्त्र को काफ़ी बढ़ावा दिया। परंतु, वर्ष 1826 में तलाक की प्रथा खत्म कर दी, जो वर्ष 1884 में जाकर पुन: प्रचलित हुई। 19वीं सदी के मध्य तक विश्व के कई देशों में महिलाओं को पुरुषों के तरह तलाक लेने व देने के समान अधिकार प्राप्त हो चुके थे। परंतु, तब भी कानूनी तौर पर तलाक पाना बड़ा कठिन काम था। कार्ल मार्क्स के विचार विवाह और तलाक विषय पर अपने विचार को रखते समय इसके गहराईयों को समझने का प्रयास किया।

"राईनिश जैंईतुंग"[110] के शुरुआत के अंको में कार्ल मार्क्स ने विवाह और तलाक के बारे में अपनी विचार रखते हुए लिखते हैं कि -

> "वे सिर्फ़ दो व्यक्तियों की बात सोचते हैं, परिवार को भूल जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि प्राय: सभी तलाक एक परिवार के टूटने की घटना भी होते हैं तथा शुद्ध न्यायिक नज़रियेसे ही बच्चों तथा उनकी सम्पत्ति को दो व्यक्तियों के मनमानेपन या उनकी सनक पर नहीं छोड़ा जा सकता। मार्क्स ने बल देकर इस बात को कहा है कि विवाह यदि परिवार का आधार नहीं होता तो उसके लिए किसी तरह के कानून की ज़रूरत ही नहीं होती, जैसी दोस्ती के लिए नहीं होती है। इस प्रकार यह आलोचक सिर्फ़ व्यक्ति की इच्छा और सहीं कहें तो विवाहित युगल की सनक पर सोचते हैं, विवाह की इच्छा पर नहीं सोचते हैं।"[111]

मार्क्स के अनुसार विवाह एक नैतिक वस्तु है। विवाह से सिर्फ़ दो साझेदार ही संबंद्ध नहीं होते, बल्कि परिवार, आगे की पीढ़ियां, संपत्ति आदि भी जुड़े होते हैं। इसलिए तलाक केवल पति और पत्नी के आत्मगत इच्छा, खासकर व्यक्ति की व्यक्तिगत सनक पर आधारित नहीं किया जा सकता। बल्कि इसे विवाह के नैतिक विवेक के अन्तर्निहित कानून के अधीन होना चाहिए। विवाह में बंधने वाला व्यक्ति विवाह की रचना या खोज नहीं करता, इसलिए विवाह को उसकी सनक के अधीन नहीं रखा जा सकता। ठीक इसके विपरीत उनकी सनक को विवाह के अधीन रहना होगा। मार्क्स तलाक को परिभाषित करते हुए बताते हैं कि -

> "तलाक दरअसल महज इस तथ्य का बयान है कि विवाह मृत वस्तु है। उसका अस्तित्व सिर्फ़ बाह्य आकृति, छलावा भर है। जिस प्रकार प्रकृति में क्षय और मृत्यु तभी प्रकट होते है जब कोई अपनी भूमिका नहीं निभा पाता। एक राज्य यह फैसला करता है कि कौन सी परिस्थितियों में एक वर्तमान विवाह, विवाह कहलाने के योग्य नहीं रह जाता। विवाह मर चुका है इस तरह का बयान तथ्यों पर निर्भर करता है, न कि उसमें शामिल पक्षों की इच्छा पर। कानून में तय की गयी परिस्थितियां जिससे यह निश्चित होगा कि विवाह अपनी सारतत्व में मर चुका है, तभी बिल्कुल सही हो सकती है जब कानून के लोगों की इच्छा की सचेत अभिव्यक्ति हो तथा लोगों की इच्छा से ही वह उत्पन्न और निर्मित हो। अन्य शब्दों में कानून की लोकप्रिय प्रकृति ही

---

[110] The ***Rheinische Zeitung*** was German newspaper, edited most famously by Karl Marx. The paper was launched in January 1842 and terminated by Prussian state censorship in March 1843. The paper was eventually succeeded by a daily newspaper launched by Karl Marx on behalf of the Communist League in June 1848.

[111] वही.

> उसकी वैज्ञानिक और बुद्धिसंगत प्रकृति की आधारशिला है। विवाह का कानूनी समापन सिर्फ़ उसके आंतरिक समापन का पंजीकरण हो सकता है।"[112]

मार्क्स तलाक कानून को परिभाषित करते हुए विवाह की धर्मनिरपेक्ष प्रकृति को स्वीकृति देते हुए उसमें धार्मिक तत्वों के प्रवेश का पूरी तरह से विरोध करते है। तलाक के प्रसंग को उन्होंने पूंजीवादी व्यक्तिवादी व्यक्तिवादियों की भांति सिर्फ़ पति-पत्नी की समस्या तक सीमित रखने के बजाये परिवार, आने वाली पीढ़ियों तथा जनता की सामाजिक नैतिकता के मूल्यांकन के साथ तक जोड़ा। मार्क्स ने स्पष्ट तौर पर रेखांकित किया कि विवाह और पारिवारिक संबंधों की एक सामाजिक प्रकृति है, इसलिए उनपर व्यापक सामाजिक संदर्भो में ही बात होनी चाहिए। कानूनी तथा न्यायिक व्यवहार के मामले में विवाह के प्रत्येक पक्ष के भावनात्मक आधार की अवहेलना नहीं होना चाहिए। तलाक उचित है या नहीं इसके लिए क्या विवाह में साझीदार दोनों पक्षों के भावानात्मक पहलू पर ही विचार करना काफ़ी है या इससे ज़्यादा कुछ देखना चाहिए। हालांकि ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या के बाद मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कानून हमेशा व्यापक लोगों की इच्छा और उसके दैनिक व्यावहार की ही अभिव्यक्ति नहीं करता। बल्कि बहुत कुछ उसमें सत्ताशाली वर्ग की इच्छा पर निर्भर करता है।

तलाक विषय पर मार्क्स ने अधिक विश्लेषण देखने को नहीं मिलता है। तलाक विधेयक पर राईनिश जैईतुंग में प्रकाशित मार्क्स के विचार आज के कानूनी और न्यायिक व्यवहार में रोज़-रोज़ उठने वाले कई सवालों पर विचार के लिए काफ़ी सामग्री ज़रूर प्रदान करते हैं। परंतु, पहले के युगों की नैतिकताएं ताकत के आगे सर झुकाने पर टिकी हुई थीं; उसके बाद के युगों की नैतिकताएं ताकतवरों द्वारा कमजोरों के हितों की रक्षा के आधार पर। नई रंग-रूप का समाज और जीवन पुराने समाजों के लिए बनी नैतिकताओं को कब तक ढ़ो सकती है? कानून के नजरों में पति-पत्नी की समानता न केवल दोनों पक्षों को न्याय मिलने का एकमात्र तरीका है, और इसके लिए नैतिक उत्थान एक मात्र रास्ता है। परंतु, नैतिकता की कार्यशाला में विवाह संस्था और संरचनागत वर्चस्व को हमेशा हाशिये पर ले जाती है। नैतिकता के परिभाषा में विवाह संस्था में पत्नी, पति की संपत्ति और घरेलू गुलाम भी है, एकल विवाह सिर्फ़ स्त्री की लिए है। विवाह

---

[112] Marx "The Divorce Bill. Editorial Note", Rheinische Zeitung .18 Nov 1842,18 Dec 1982

संस्था में स्त्री-पुरूष की संपत्ति है और विवाह संस्था के बाहर वस्तु जैसी परिकल्पना हाशिये पर धकेल दिया जाता है। व्यावहारिक रूप से कानून अपनी क्रियान्वयन में पितृसत्ता के यंत्र के रूप में काम करता है जो महिलाओं की दमन का कारण बन जाता है। मार्क्स यह स्वीकार करते है कि विवाह और तलाक कानून निजी कानून का हिस्सा है जिसका वास्तविक स्थान राज्य नहीं, नागरिक समाज होना चाहिए।

इन विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि मार्क्स विवाह और तलाक कानून को निजी दायरे के रूप में देख रहे थे और न्याय को सार्वजनिक। परंतु, विवाह और तलाक जैसे कानून जीवन पर पूरा नियंत्रण करते है यानी सार्वजनिक जीवन का पूरा नियंत्रण निजी दायरे पर पड़ता है। नारीवादी विचारधारा विवाह और तलाक कानून में न्याय की इन दोनों नीतिगत संरचनाओं को जोड़ने के पक्ष में अपना दलील प्रस्तुत करती है। तभी सामाज में मौजूद संस्थाओं में होने वाली नाइंसाफ़ियों का मूल्यांकन हो पायेगा और न्याय का मानवीय विचार सूत्रबद्ध हो पायेगा।

भारतीय संदर्भ में जाति और धर्म भी दो प्रमुख नियामक हैं जो महिलाओं के निजी और सार्वजनिक जीवन में न्याय की अवधारणा को प्रभावित करते हैं। औपनिवेशिक भारत में 19वीं सदी में महिलाओं की सामाजिक और दलीय स्थिति में सुधार के उद्देश्य से समाज-सुधारकों के कार्ययोजना में महिलाओं की प्रश्न उभर कर सामने आते हैं। महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए समाज-सुधारकों ने कानून को एक संभावना के रूप में पहचाना, तो औपनिवेशिक शासकों ने विधिक व्यवस्था से अपनी सकारात्मक छवि को स्थापित करने का प्रयास किया। परंतु, आधुनिक भारतीय सामाजिक व्यवस्था के पुर्नगठन को लेकर आक्रामक और महत्वपूर्ण बहसें व्यक्ति, विचार और संस्थाएं एक-दूसरे के साथ उलझे हुए भी थे। नीरा देसाई और उषा ठक्कर लिखती हैं कि -

> “औपनिवेशिक शासक, अपरिचित परंपराओं व व्यवहारों से, स्थानीय प्रथाओं और प्रचलित शास्त्रोक्त विषय के प्रयोग की अधिकता से, नियमावली और संस्थाओं से, पराजित अनुभव कर रहे थे। औपनिवेशिक शासक लिखित धार्मिक संहिता और उसकी व्याख्या में इस आशय से दिलचस्पी लेने लगे ताकि वह जो निश्चितता नागरिक कानून, आपराधिक उत्तरदायित्व और संपत्ति अनुबंध में चाहते थे उनकी पड़ताल हो सके। उनके इस प्रयास में पंडितों और मौलवियों द्वारा मदद मिली। इस प्रवृति का परिणाम यह हुआ कि धार्मिक आधार पर कानून और व्यवस्था की स्थापना के कारण हिंदू कानूनों का ब्राह्माणीकरण और मुस्लिम कानूनों का

> इस्लामीकरण हो गया। धीरे-धीरे इस विश्वास ने जगह बनाई कि व्यवस्था के मूल में महिलाओं को सीमित अधिकार मिला है।"[113]

धर्म के ओहदेदार पुरुषों ने धार्मिक पाठों की व्याख्या करके सभी महिलाओ के विरूद्ध कानून बनाने का काम किया। इन ओहदेदार पुरुषों ने महिलाओं को हर संभव सख्ती के तहत व्रत रखने और पर्दा में रहने जैसे तरीके अपनाये। अंग्रेजी सरकार, न्यायालय और समाज सुधारकों के रवैयों की विवेचना करते हुए स्त्रियों के मानवीय हिंतों और अधिकारों के संबंध में उमा चक्रवती लिखती हैं-

> "साम्राज्यवादी राज्यों ने स्वयं या मध्यवर्गीय समाज सुधारक बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर स्त्रियों से संबंधित कानून तो बनाए। परंतु, औपनिवेशिक राज्य या समाज सुधारक बुद्धिजीवी विधवा पुनर्विवाह, पारिवारिक ढांचा, पति-पत्नी के संबंधों के तानों-बानों को पूरी तरह परिवर्तित करना नहीं चाहते थे। इसलिए औपनिवेशिक राज्य का नज़रिया इन सवालों पर समय और स्थान के अनुसार बदलता रहा।"[114]

औपनिवेशिक शासक जनता की मांग और महिलाओं की दुर्भाग्य को मानवतावादी तर्क के आधार पर निश्चित प्रथाओं में बदलाव करने का प्रयास किया। बंगाल सती निरोधक अधिनियम (वर्ष 1829), जाति निर्योग्यता निराकरण अधिनियम (वर्ष 1850), हिंदू विधवा पुरर्विवाह अधिनियम (वर्ष 1856) और महिला शिशु हत्या अधिनियम (वर्ष 1870) इसका परिणाम है। परंतु, इन कानूनों के निमार्ण में भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों के आपसी संबंध, सहमति और संघर्ष के बीच झूलते और निरंतर बदलते रहते थे। जिसके कारण हर पक्ष के अपनी मतभेद और विरोधाभास भी खुलकर सामने आ रहे थे। इसमें रूढ़िवादी/साम्राज्यवादी और सुधारवादी तीन विचारधाराएं शामिल थी। पहली दो धाराएं सत्तासीन और स्थापित धाराएं थीं, जबकि तीसरी धारा एक वैकल्पिक धारा के रूप में अपनी जगह मानवीय मूल्यों के आधार पर बना रही थी। सुधीर चंद्र बताते हैं कि-

---

[113] नीरा देसाई और उषा ठक्कर "भारतीय समाज में महिलाएं" नेशनल बुक ट्रस्ट, 2009 पेज न०- 105

[114] Uma Chaudhary, "Rewriting History The Life and Time of Pandita Rama Bai, New Delhi, Kali For Women,1998, pp. 28-29

> "वर्ष 1880 के दशक में नारीवाद ने एक आंदोलन और वैचारिक अभियान के रूप में काफ़ी विकास किया। इसने तर्क और विचार से लेकर खुलेआम क्रूरता और बल-प्रयोग के स्तरों तक सत्ता के कई आयामों को बेपर्दा किया।"[115]

'उम्र का सहमति अधिनियन वर्ष 1891' ने भारतीय समाज महिलाओं की प्रश्न पर विरोधाभास को अधिक मुखर किया। इस अधिनियम में कम उम्र की लड़की के साथ यौन संबंधों स्थापित करने को बलात्कार माना गया था। भारतीय दंड विधान द्वारा मंजूरी की उम्र 10 वर्ष निर्धारित की गई। "फूलमनी दासी का मामला"[116] बाल-वधु की दुर्दशा और मंजूरी की उम्र के मुद्दे को ऊपर लाया। स्त्री की यौनिकता, उसके वय: संधि की उम्र, उसका यौन समागम और प्रजनन लायक उम्र में पहुंचना, ये मुद्दे हिंदी पत्रकारिता में उछाले गए। स्त्री का देह जन-दायरे में इससे पहले कभी नहीं गुजरा था। इस अधिनियम के विरोध में दिए गए तर्क उस दौर के पितृसत्तात्मक विचारों को उभारता हैं। महिला के शरीर के संदर्भ से विशेष धार्मिक और सामुदायिक पहचान के नये स्तंभ भी बनते दिखते है। इस मामले ने समाज के विभिन्न वर्गों में हंगामा मचा दिया, उदारवादी कानून और परंपरावादियों द्वारा मजूरी की उम्र में वृद्धि का निवेदन कर रहे थे। कई लोग यथास्थिति के समर्थक थे जो नहीं चाहते थे कि विदेशी सरकार भारतीय समाज के सामाजिक मुद्दे में हस्तक्षेप करें। इस मामले के बाद जीवन के निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के मध्य एक रेखा औपनिवेशिक शासकों ने तय की। क्योंकि व्यक्तिगत क्षेत्र में हस्तक्षेप से अंसतोष भड़क सकता था। निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के मध्य एक रेखा ही महिलाओं को अधिकार तो देता है। परंतु, महिलाओं की मौलिक लिंग असमानता के सवाल को मौन कर देता है। यह असमानता संबंध विच्छेदन और तलाक कानून में भी अभिव्यक्त होते है।

भारतीय संदर्भ में हिंदू विवाह सटीक अर्थो में एक अनुबंध न होकर एक धार्मिक कर्तव्य रहा है। हिंदू विवाह की अति पवित्र विशेषता को पहली बार वर्ष 1885 में "रख्माबाई केस"[117] में चुनौती मिली थी और रख्माबाई के मुकदमे ने वैवाहिक अधिकारों की पुनर्स्थापना से संबंधित कानून की कुरूपता को उजागर कर दिया था। इस मामले ने सामाजिक परिर्वतन और लिंग न्याय के विषय में तनाव को सतह पर लाया। इस मामले ने हिंदू विवाह अधिनियम में तलाक के आवश्यकता को

---

[115] सुधीर चंद्र, रख्माबाई, स्त्री अधिकार और कानून, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज न०- 27.

[116] फूलमनी दासी 10 वर्ष की बाल वधु थी, जिसका अभी तक यौवनाएंभ हुआ था, जब उसका उम्रदराज पति उसके साथ जबरदस्ती कर रहा था तो अत्यधिक रक्तस्त्राव से उसकी मृत्यु हो गई।

[117] रख्माबाई 11वर्ष के उम्र में दादाजी से शादी कर दी गई थी। उदार वातावरण में पले होने के कारण, रख्माबाई ने दादाजी के साथ रहने से मना कर दिया। बाद में दादाजी न्यायलय गए और न्यायालय में दावा किया विवाह के बाद पत्नी साथ रहे। न्यायालय ने वादी को मदद प्रदान नहीं की। न्यायालय का यह निर्णय भारतीय समाज में उथल-पुथल का कारण बना।

नई बहस का विषय बनाया। अब तक हिंदू महिला को कुछ विशेष परिस्थितियों के अंतर्गत संबंध-विच्छेदन का अधिकार मिलता था- पति का नपुंसकता, परित्याग या क्रूरता। तलाक के लिए परस्पर सहमति का प्रावधान था। हिंदू कानून में जिसमें धर्म के साथ समाज मिश्रित है, ये विवाह को धार्मिक और पवित्र बंधन के रूप में मानते हुए, पति-पत्नी के लिए विशिष्ट भूमिकाएं नियत करते हैं। वास्तव में -

> "हिंदू विवाह सटीक अर्थों में एक 'अनुबंध' न होकर एक धार्मिक कर्तव्य है। प्रारंभ से ही इसमें कभी भी सहमति का कोई महत्व नहीं था।"[118]

इसी तरह मुस्लिम समुदाय में भी तलाक सामाजिक अधिकार से अधिक धार्मिक क़ायदों के रूप मौजूद हैं। मुसलमानों के लिए विवाह संस्कार नहीं, वरन स्त्री और पुरुष द्वारा हस्ताक्षरित नागरिक समझौता है। विवाह के लिए दोनों पक्ष निकाहनामा में विवाह की स्थितियों और शर्तों पर अनुबंध करते हैं। (आमतौर पर यह माना जाता है कि मुस्लिम समुदायों में तलाक की प्रक्रिया बहुत आसान होती है, पति द्वारा तलाक-तलाक-तलाक कहते ही तलाक हो जाता है, जिसके कारण स्त्रियों की दुर्दशा होती है। मगर यह पूरा सत्य नहीं है।) रख्माबाई के मामले के तरह मुस्लिम कानून में "मुंशी बजलुर रहीम बनाम शम्सुन्निसा बेगम"[119] नामक मुकदमा देखने को मिलता है, इस मामले में भी वैवाहिक अधिकारों की पुनर्स्थापना का मुकदमा दायर किया गया था। इस मामले के फैसले को रख्माबाई के फैसले का आधार बनाया गया। जिसमें तलाक दिए जाने के अलावा पत्नी को पति से अलग होने की अनुमति नहीं थी। इस तरह के मामलों में "नेटिव ओपीनियन"[120] ने अपनी लेख में बताता है कि "प्रिवी काउंसिल"[121] को यह निर्देश दिया था कि -

---

[118] सुधीर चंद्र.'रख्माबाई, स्त्री अधिकार और कानून" राजकमल प्रकाश, दिल्ली 2012, पेज न०- 52

[119] यह एक मुस्लिम मामला था, जिसमें एक व्यक्ति ने पांच बच्चों वाली एक धनवान विधवा को उसके पति की मृत्यु के छह महिने बाद झांसा में फंसाकर उसके साथ विवाह कर लिया था। बे कुछ वर्षों तक साथ में रहे और इस बीच उस व्यक्ति ने धोखे से औरत की दौलत का एक हिस्सा हड़प लिया। इसके बाद वह उसके साथ दुर्व्यवहार करने लगा और उसने उसे घर में लगभग बंदी बनाकर रख। काननी हस्तक्षेप के बाद वह महिला पति का घर छोड़कर अलग रहने लगी। बाद में उस व्यक्ति ने वैवाहिक अधिकारों के लिए मुकदमा दायर किया।

[120] नेटिव ओपीनियन, बंबई से निकलने वाला समाचार पत्र था जिसके पहले संपादक एम.जे.रानाडे थे।

[121] भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित होने पर इस देश के न्यायालयों के निर्णय अंतिम रूप से प्रिवी काउंसिल के पास होता था। प्रिवी काउंसिल भारत की सर्वोच्य न्यायालय व्यवस्था थी।

> "विवाह और जाति के मामलों में, और सभी धार्मिक रीति-रिवाजों और संस्थाओं के मामलों में मुसलमानों के लिए मुस्लिम कानून और हिंदुओं के लिए हिंदू कानूनों के आधार पर फैसला किए जाने चाहिए।..."[122]

रख्मा बाई और शम्सुन्निया बेगम दोनों के मामलों में वैवाहिक अधिकार की पुर्नस्थापना या स्थापना की मांग की गई है क्योंकि अपनी-अपनी धार्मिक कानून के आधार पर जो महिलाओं को अलग या स्वतंत्र रहने के स्थिति को खारिज करता है। इसके साथ-साथ भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा वैवाहिक अधिकार की स्थापना को एक गंभीर संकट के रूप में देख रहा था। हालांकि प्रिवी काउंसिल ने इन मुक़दमों के संबंध में कहा था कि -

> "अपनी इस दृढ़ विश्वास के बावजूद कि प्रतिवादी को अपनी पति के पास लौटने के लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए, क्या हम उसे उसके पास लौटने के लिए बाध्य करें ?अगर हिंदू और मुस्लिम कानून में पत्नी किसी भी सूरत में अपनी पत्नी से अलग नहीं हो सकती तो ऐसा कानून साफ तौर पर कुदरती इंसाफ के ख़िलाफ़ है।.....पति का व्यवहार कितना भी बुरा क्यों न हो अगर हिंदू और मुस्लिम कानून पत्नी को किसी तरह की राहत प्रदान नहीं करता तो हमें न्यायानीति और सद्विवेक के आधार पर इस मुकदमे का फैसला करना होगा। इन सिद्धांतों के सामने रखते हुए हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि प्रतिवादी जिन कारणों से अपनी पति से अलग हुई है, वे उसके इस क़दम को न्यायसंगत ठहराते हैं; और अगर उसे अपनी पति के पास लौटने के लिए बाध्य करने हम प्रतिवादी के तन-मन पर वादी को मनमाने अधिकार और नियंत्रण की छूट दे देते हैं तो इस अदालत को घोर अन्याय का साधन बना देंगे।"[123]

स्पष्ट है कि विवाह-स्थापना और तलाक के मामलों में भारतीय समाज और न्याय व्यवस्था दो धड़े में बंटे हुए थे। ऐसी मानसिकता थी कि तलाक सिर्फ़ भ्रष्ट करने वाला और शास्त्रों के विरुद्ध था, बल्कि विवाह संस्था पर भी प्रहार करता है। हालांकि हिंदू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों में पुरुषों को तलाक की व्यवस्था थी और साथ में पुरुषों को तलाक के बिना भी छूट थी। इसलिए इसका विरोध सिर्फ़ महिलाओं को स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने का प्रयास था। इस देशकाल में वैवाहिक अधिकार की पुनर्स्थापन या स्थापना की मांग के मामलों में रक्माबाई के प्रयासों को कुछ लोग एक देवी और लाखों-करोड़ों भारतीय अबला महिलाओं की प्रतिनिधित्व के रूप में देख रहे थे तो कुछ अन्य लोग उसे परिवार और समाज को तोड़ने वाली एक खतरनाक 'आधुनिक

---

[122] नेटिव ओपीनियन, 27 दिंसबर 1885; 11 अक्टूबर 1885 भी देखे

[123] प्रिवी काउंसिल की फाइल में न्यायमूर्ति सी.स्टीमर और न्यायमूर्ति डब्ल्यू.एस. सेटन कैर का फैसला 26 दिसंबर 1885

स्त्री' दिखने लगी। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले मासिक 'हिंदी प्रदीप' पारंपरिक शब्दावली में 'सतीत्व के निर्मल चम्द्रमा को निगल जाने' जैसे शीर्षक से लेख लिख रहे थे जिसमें यहां तक लिखा दिया गया था कि -

> "अब शासकों को यह बात खुलकर स्वीकार कर लेनी चाहिए कि वे हिंदुओं का यूरोपीयकरण करने और उनके धर्म को मिटा देने पर तुल गए है।"[124]

इसीप्रकार, तलाक की आवश्यकता पर औपनिवेशिक दौर के पत्र-पत्रिकाओं में लेखन उस दौर के सामाजिक सोच को अभिव्यक्त करता है, वह काफ़ी विरोधाभासी था। मसलन, आगरा के एक वकील पंडित जगननाथ ने लिखा -

> "मैं ऐसी किसी पवित्र भारतीय महिला को नहीं जानता हूं जिसने अपनी स्वतंत्र इच्छा से पति का परित्याग किया है और जो पति के साथ रहने के लिए तैयार ना की जा सके। कई जवान पत्नियां जेल के भय के कारण भ्रष्ट ज़िंदगी जीने के बजाये अपनी वास्तविक संबंध और कर्तव्य की ओर उन्मुख रहती हैं। इस प्रकार वो अन्ततः एक सुखी जीवन व्यतीत करती हैं जबकि पृथक रहने पर उनके भ्रष्ट होने की आशंका ज़्यादा है।"[125]

"हिंदू समाज में तलाक की आवश्यकता" लेख में पंडित प्रकाश नारायण सप्रू लिखते हैं कि -

> "नारद और पराशर की स्मृतियों के पढ़ने से मालूम होता है कि पुराने ज़माने में हिंदू-समाज में तलाक की व्यवस्था थी। तलाक की ज़रूरत रोज़-रोज़ बढ़ती जायेगी, ज्यों-ज्यों स्त्रियों में जागृति और शिक्षा बढ़ेगी। शिक्षा का एक असर यह अवश्य होगा कि स्त्रियां अपनी पति को पहले की भांति देवता और रक्षक नहीं मानेंगी। वे बराबरी का बर्ताव चाहेंगी। और दो बराबरी के दर्जे वालों का साथ रहना जरा आसान नहीं होता।"[126]

तलाक की ज़रूरत पर "सामाजिक नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता" लेख में रामप्रताप गोंडल लिखते हैं कि-

> "क्या हम शिक्षित भारतीय स्त्रियों की दाम्पत्य जीवन और मातृत्व तक ही सीमित रखकर एक बहुत बड़ी राजनीतिक भूल नहीं कर रहे। क्या हम अपनी नैतिकता के नियमों में ऐसे आवश्यक परिवर्तन नहीं कर सकते, जिनसे स्त्री की चरित्र का आधार एंव उसकी कसौटी सतीत्व, यौनि,

---

[124] सुधीर चंद्र.'रख्माबाई, स्त्री अधिकार और कानून" राजकमल प्रकाश, दिल्ली 2012, पेज न०- 127

[125] सरस्वती, अक्टूबर 1934, पेज न०-337

[126] सरस्वती, अक्टूबर 1934, पेज न०- 338

> कुमारावस्था में सन्तानवादी न होना आदि न होकर अन्य समाजोपयोगी कार्य हो जाएं? तात्पर्य यह है कि सापेक्ष महत्व दूसरी ओर चला जाये और अत्यधिक महत्व जो इन गुणों को दिया जा रहा है, वह कम हो जाये।"[127]

वहीं "पश्चिम जगत में तलाक" लेख में श्री हरिदत्त वेदालंकार तलाक से समाज में आने वाली अस्थिरता का जिक्र करते हुए लिखते हैं कि -

> "पश्चिम में भी अब इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई जा रही हैं। भारत में तलाक संबंधी नये कानूनों के बारे में सोचते हुए उन्होंने जनता से अपील की है कि वे पश्चिम देशों के अनुभवों से सीख ले और तलाक को सुगम न बनने दे।"[128]

स्पष्ट है कि महिलाओं की दाम्पत्य अधिकारों के पुर्नस्थापना के प्रयासों के खंडन के लिए विवेक आधारित ऐसे तर्क स्थापित किए जा रहे थे जो सुधारवादियों के जमीन पर कब्जा कर रहे थे। 19वी और 20 वीं में हिंदू और मुस्लिम दोनों समुदाय निजी कानून के मामले में धर्म को लेकर काफ़ी उलझा हुआ था और राष्ट्रीय एककीकरण जैसी दलीलों के इर्द-गिर्द घूम रही थी। बहुतों के मन में एक अपरिभाषित देशभक्ति से भी जुड़ा हुआ था और वे महिलाओं की समानता संबंधी परिवर्तनों को अपनी समाज/राष्ट्र पर मंडराते बाहरी खतरे के रूप में देख रहे थे। उनका विचार था कि पराधीन देश में समाज-सुधार के नाम पर आपस में फूट डालने के बजाये राजनीतिक सुधारों पर जोर दिया जाना चाहिए। जाहिर है यह विचारधारा समाज में मौजूद श्रेणीक्रम को हाशिये पर डालकर राष्ट्रीय एकीकरण जैसे दलीलों के आस-पास सोच रही थी। महिलाओं की अधिकारों के लिए समाज-सुधारकों की चेतना का बुनियादी आधार पितृसत्तात्मक परिवार के रूप में स्त्री की प्रति सरोकार ही था। समाज-सुधारकों\सुधारवादियों ने परिवार और घर को महिलाओं की जीवन को प्रभावित करने वाले नियामक तंत्र के रूप में देखा। उन्होंने लिंग के आधार पर असामनता को नहीं पहचाना। 19वीं सदी में परंपराएं राज्य शक्ति और राष्ट्र-राज्य शक्ति के प्रदर्शन का आधार बनी, जिसने नई प्रकार के 'स्त्रीकरण' की अवधारणा को विकसित किया। जिस वजह से नई तरह की पितृसत्ता उभर कर सामने आई। उनका प्रयास प्राय: यह था कि नई सामाजिक स्थितियों में महिलाएं माता और पत्नी की भूमिका ज़्यादा सशक्त रूप से निभाए। रख्माबाई मुकदमें और कुछ मुकदमे ने वैवाहिक अधिकारों की पुनर्स्थापना से सबंध में कानून की कुरूपता और असमानता को उजागर करते हैं। औपनिवेशिक देशकाल में अपनी अधिकारों के लिए महिलाओं का संघर्ष यह

---

[127] विशाल भारत, जून 1935

[128] विशाल भारत, जनवरी 1935, पेज न०- 127

स्थापित करता है कि महिलाएं परंपराओं के विरुद्ध अपना प्रतिरोध दर्ज कर रही थी। लतामणि, जिन्होंने औपनिवेशिक सती-प्रथा विमर्श के संदर्भ में कार्य किया है, लिखती हैं कि-

> "परंपराएं वे आधार नहीं थीं; जिनपर महिलाओं की स्थिति को निर्धारित किया जाता था। इसके बजाये सच्चाई बिल्कुल विपरीत थी। वास्तव में, महिलाओं की आधार पर परंपराओं को तय किया जाता था। जो कुछ संकटापन्न था, वह महिलाएं थी। महिलाएं न कर्ता थीं, न कर्म, बल्कि आधार थी।"[129]

स्वतंत्रता के पश्चात महिलाओं द्वारा अनुभव की जाने वाली असमानता को परंपरा के द्वारा पवित्र बनाया गया जिसे कभी-कभी विधि के द्वारा चुनौती मिलती रहती है। जो इस बात को सिद्ध भी करती है कि कानून के विवेचना, निमार्ण और कार्यान्वयन के लिए महिलाओं की आवाज़ काफ़ी कमजोर थी। भारतीय विधिक और महिलाओं की साथ असमानता का अनुभव मथुरा बलात्कार केस,[130] रूपकंवर सती कांड[131], शाहबानो मामले[132] और कई मामलों में हुए जिसने सिद्ध किया कि संवैधानिक और न्यायिक प्रावधान महिलाओं की लिए मील के पत्थर साबित नहीं हुए है। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार सभी क्षेत्रों में महिलाओं की समानता को सुनिश्चित करने में समर्थ नहीं है और राज्य के नीति निर्देशक एक 'पवित्र शब्द' के तौर पर स्थापित है। व्यक्तिगत कानून धर्म आधारित है और मौजूदा समय में धर्म की आजादी के आवरण में महिलाओं का जीवन, धर्म के नियंत्रण में है जो महिलाओं की विवाह-तलाक, संरक्षण,

---

[129] लतामणि, 'कंटेशस ट्रेडिशंस: दि डिबेट आंन सती इन कोलोनियल इंडिया', कुमकुम संगारी एवं सुदेश वैध(संपादन) रीकास्टिंग वीमेन, काली फांर विमेन, नई दिल्ली, 1989, पेज न० 118

[130] Mathura rape case was an incident of custodial rape in India on 26 March 1972, wherein Mathura, a young tribal girl, was allegedly raped by two policemen on the compound of Desai Ganj Police Station in Chandrapur district of Maharashtra. After the Supreme Court acquitted the accused, there was public outcry and protests, which eventually led to amendments in Indian rape law via The Criminal Law (Second Amendment) Act 1983

[131] Roopkuvarba Kanwar (c. 1969 – 4 September 1987) was a Rajput woman who was immolated at Deorala village of Sikar district inRajasthan, India. At the time of her death, she was 18 years old and had been married for eight months to Maal Singh Shekhawat, who had died a day earlier at age 24, and had no children.Several thousand people attended the *sati* event. After her death, Roop Kanwar was hailed as a *sati mata* – a "sati" mother, or pure mother. The event quickly produced a public outcry in urban centres, pitting a modern Indian ideology against a traditional one. The incident led first to state level laws to prevent such incidents, then the central government's Commission of Sati (Prevention) Act.

[132] Shah Bano case, was a controversial maintenance lawsuit in India. Shah Bano, a 62-year-old Muslim mother of five from Indore, Madhya Pradesh, was divorced by her husband in 1978. She filed a criminal suit in the Supreme Court of India, in which she won the right to alimony from her husband. However, she was subsequently denied the alimony when the Indian Parliament reversed the judgement under pressure from Islamic orthodoxy. The judgement in favour of the woman in this case evoked criticisms among Muslims some of whom cited Qur'an to show that the judgement was in conflict with Islamic law.[7] It triggered controversy about the extent of having different civil codes for different religions, especially for Muslims in India This case caused the Congressgovernment, with its absolute majority, to pass the Muslim Women (Protection of Rights on Divorce) Act, 1986 which diluted the judgment of the Supreme Court and, in reality, denied even utterly destitute Muslim divorcées the right to alimony from their former husbands.

दत्तक ग्रहण, भरण-पोषण और संपत्ति पर नियंत्रण रखता है। महिला आंदोलन विधि व्यवस्था के पितृसत्तात्मक आयाम के प्रति सचेत आलोचना प्रस्तुत करती है और महिलाओं की जीवन में बेहतरी के लिए राज्य से कानून हस्तक्षेप की मांग करने में संकोच नहीं करती है। जिसमें कभी वह सफल भी होती है तो कभी असफल भी होती है।

आजादी के बाद महिलाएं और कानून पर बहस का एक महत्वपूर्ण दौर तब शुरू हुआ जब सरकार ने भारत में महिलाओं की दर्जे संबंधी समिति वर्ष 1971 में गठित की गई। जिसका सबसे बड़ा मुद्दा था कि यह समीति उन संवैधानिक कानूनी प्रशासनिक प्रावधानों की जांच करेगी जिनका महिलाओं की सामाजिक स्थिति, शिक्षा तथा रोज़गार पर असर पड़ता हैं। इस समिति ने वर्ष 1975 में एक प्रतिवेदन 'समानता की ओर(Toward Equality)' प्रस्तुत किया। इस रिपोर्ट ने नागरिक संहिता के बारे में महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए। निजी कानून के लूप होल्स की तरफ़ इशारा किया। कमेटी ने भारत के किसी भी निजी कानून को आदर्श नहीं पाया। इसलिए कमेटी की सिफारिश थी कि -

> "वर्तमान कानूनों में संशोधनों के बारे में हमारी सिफारिशें थी कि वर्तमान कानूनों में संशोधनों के बारे में हमारी सिफारिशें सिर्फ़ उस दिशा का संकेत देती हैं, जिससे समानता को हासिल किया जा सकता है, इसलिए समान नागरिक संहिता लागू करने बारे में संवैधानिक निर्देश पर शीघ्रता से अमल करने की सिफारिश करते है।"[133]

समानता की ओर प्रतिवेदन(Toward Equality) में समान नागरिक संहिता की सिफारिश को पारिवारिक कानून में सुधार के रूप में देखते हुए, फ्लेविया एग्नेस बताती हैं कि-

> "भारत में विभिन्न धार्मिक समूहों की महिलाओं को लैंगिक न्याय प्रदान किए जाने हेतु धर्मनिरपेक्ष महिला समूहों का बहुमत पारिवारिक कानूनों में सुधार का हिमायती है।"[134]

इसके पहले, वर्ष 1971 में, पुणे में संपन्न हुए मुस्लिम महिला सम्मेलन में मुस्लिम महिलाओं ने भी समान नागरिक संहिता की आवश्यकता को स्वर दिया था।[135] लतामित्तल, मैरी रांय[136],

---

[133] Toward Equality, Report of the Committee on the status of women in India, pp142

[134] विभूती पटेल,रूढ़िवाद,सांप्रदायिकता एंव लैंगिक न्याय, राम पुनयानी(संपादक), धर्म, सत्ता और हिंसा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2016, पेज न०-183

[135] Nandita Hakser, Compaign for Uniform Code. A.R.Desai (Ed.), Women's Liberation and Politics of Religious Personal Law in India.C.G Shan Memorial Trust, Bombay. 19वर्ष 19वर्ष 1990 pp 23

शाहबानों शेख और ऐसे कई मामलों ने इस तथ्य को सतह पर ला दिया था कि निजी कानून महिलाओं की हितों की अनदेखी करते हैं। परंतु, अस्सी के बाद के दशकों सांप्रदायिक और कट्टरवादी ताकतों के उभार ने अल्पसंख्यक समुदायों विशेषकर मुस्लिमों और ईसाइयों में असुरक्षा की भावना को बढ़ा दिया। नतीजातन, अल्पसंख्यक समुदाय अपनी निजी कानूनों में बदलाव को लेकर अधिक जड़ हो गए। इसके साथ-साथ इन समुदायों को निजी कानून अपनी परंपरा और संस्कृति का अभिन्न अंग दिखने लगा। दूसरी तरफ़, इन बदलावों के कारण महिलाएं अपनी समुदायों में अधिक कमजोर महसूस करने लगी। क्योंकि उनके पास अपनी सामुदायिक सहयोग के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा रहा।

जबकि एक तथ्य यह भी है कि समान नागरिक संहिता की मांग को एक उदार और आधुनिकीकरण अभियान संबंधी विचार के आड़ में प्रस्तुत किया गया, जिसमें जाति, वर्ग, नृजातीयता की श्रेणीबद्धता और क्षेत्रीय विभिन्नता को वैधानिक एकरूपता में लाने की सिफारिश दिखती है। विडम्बना यह है कि इस अभियान को आगे बढ़ाने के लिए जमीनी कार्य वास्तविक लैंगिक चिन्ताओं के साथ महिला आंदोलनों ने किया। हालांकि जब-जब समान नागरिक संहिता की बात उठाई गई है तो या तो किसी एक सम्प्रदाय के कानूनों को दूसरे सम्प्रदाय पर लागू करने का विचार रखा गया है जिसमें समान नागरिक संहिता के नाम पर एक बहुमतवादी कानून थोपने की पूरी गुंजाइश है या सभी निजी कानूनों से अच्छी-अच्छी बातों को लेकर नई नागरिक संहिता की पेशकश की गई है। परंतु, मूल प्रश्न यह है कि जब सभी सम्प्रदायों के निजी कानून स्त्री हित की चिन्ता नहीं करते तो उसमें आदर्श स्थितियां कैसे खोजी जा सकेगीं? परंपरागत नज़रिये का पोषण करने वाले ये कानून आज की आधुनिक परिस्थितियों में, प्रगतिकामी स्त्रियों का हित संवर्धन किस प्रकार कर सकेंगे? इसके ढांचे के भीतर साम्प्रदायिक तुष्टीकरण को जान-बूझकर नज़रअंदाज़ किया जाता है। हालांकि आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया के दौरान यह महसूस किया गया कि कानून में लिंग संबंधी भेदभाव मौजूद हैं। जबकि, सामान नागरिक संहिता की मांग को स्थगित करके जेंडर समानता के विकल्पों पर विचार की रणनीतियां बनाई गई थी।

---

[136] Mary Roy is an Indian educator and women's rights activist, known for winning a lawsuit in 1986, against the inheritance legislation of her Keralite Syrian Christian community in the Supreme Court. The judgement ensured equal rights for Syrian Christian women, with their male siblings in their ancestral property. then, the Syrian Christian community followed the provisions of the Travancore Succession Act of 1916, while elsewhere in India the same community followed the Indian Succession Act of 1925.Mary Roy was denied her share of the familial property due to the sexist Travancore Succession Act of 1916. She sued her brothers after her father's death. This was the case that made its way through the Indian court system and which she won.

रतना कपूर "सबवर्सिव साइट" में लिखती हैं कि -

> "संविधान में दिए गए समानता के मूल अधिकार को लिंग तथा परिवारवादी अवधारणा के संदर्भ में परखा है। लिंग भिन्नता के संदर्भ में तीन नज़रियेविकसित हुए हैं। इनमें से एक रक्षावादी है। इसमें स्त्रियों की पुरुषों से भिन्न, कमजोर, पुरुष पर आश्रित तथा सुरक्षा की आकांक्षी माना जाता है। दूसरा नज़रिया समानता या एकरूपता का समर्थक है। तीसरा नज़रिया स्त्रियों से सदियों से दमित या शोषित मानता है। उसकी स्थिति सुधारने के लिए विशेष प्रावधान की वकालत करता है। लिंग-तटस्थ कानून वास्तव में तटस्थ नहीं होते वरन पुरुषों की आवश्यकताओं के अनुसार बनते हैं। स्त्री-सुरक्षा के प्रावधानों की अवधारणा अक्सर पारिवारिक अवधारणा से प्रभावित होती है। लिंगों की कुदरती भिन्नता को कानूनी सुरक्षा का जामा पहनाया जाता है। इससे स्त्रियों के समानता के अधिकार का हनन होता है।"[137]

जाहिर तौर पर महिलाओं की संदर्भ में संविधान में समानता का सवाल या समान नागरिक संहिता जैसा विचार राज्य और समुदायों के आस-पास ही केंद्रित हो जाती है और लैंगिक न्याय का सवाल लुप्त हो जाता है। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि राष्ट्रीय अखंडता जैसे शब्दों में लैंगिक न्याय की अवधारणा फिट नहीं हो पाती है। क्योंकि सामुदायों की सांस्कृतिक पहचान अधिकारों की मांग को स्वीकार नहीं करते है। स्पष्टत: समान नागरिक संहिता का मुद्दा महिला आंदोलनों के अस्मितावादी राजनीति में बुरी तरह से उलझा हुआ है। महिला आंदोलनों ने समान नागरिक संहिता के बरक्स अनिवार्य समान सहिंता, लैंगिक न्याय पर आधारित कोड और विपरीत विकल्प जैसे सुझावों को भी अभिव्यक्त किया जो भेदभावपूर्ण कानूनों के सवाल पर राज्य, समुदाय और महिला के बीच समझौता की जमीन की पैरवी करता है जो रचनात्मक तरीके से विवादों पर नयी जगह दिखाता है।

भूमंडलीकरण के दौर में लगातार नये-नये प्रश्न और नई चुनैतियां खड़ी हुई हैं, लेकिन बहुतेरे वैसे प्रश्न भी लगातार अपनी उपस्थिति बनाए हुए हैं जिनका सामना दो शताब्दी से करना पड़ा था। वर्ष1990 के दशक के बाद सांप्रदायिक और कट्टरवादी ताकतों का उभार और भूमंडलीकरण के कारण आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप विभिन्न समुदायों में कई तरह की असुरक्षा की भावना बढ़ी है। महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता ने उनकी सामाजिक स्थितियों में कुछ सुधार अवश्य किए है। परंतु, महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता का दायरा काफ़ी सीमित है इसके साथ-साथ

---

[137] गोपा जोशी "भारत में स्त्री असमानता, एक विर्मश",हिंदी माध्यम कार्यान्वयननिदेशालय,दिल्ली,2006, पेज न०-.178-79

धार्मिक-जातीय और सामुदायिक नियम-क़ायदे उसके व्यक्तित्व और आत्मनिर्भरता को प्रभावित करते है। इस माहौल में अब लगभग हर समुदाय अपनी निजी कानूनों में बदलाव के प्रति और जड़ हुए है क्योंकि ये कानून उन्हें अपनी समुदाय का अभिन्न अंग के रूप में दिखता है। सामाजिक असुरक्षापूर्ण माहौल में महिलाएं भी कमजोर पड़ गई हैं, उनके पास अपनी सामुदायिक सहयोग के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा है। इस तथ्य से इऩकार नहीं किया जा सकता है कि बाज़ार आधारित भूमंडलीकरण की आर्थिक नीति ने विक्रेता स्त्री, उत्पादन श्रम में स्त्री, उपभोक्ता स्त्री, सौंदर्य बाज़ार में स्त्री, आत्मनिर्भर नई स्त्री की छवि को गढ़ा है या कह सकते है कि सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की नई उपस्थिति को दर्ज किया है। परंतु, निजी क्षेत्र में महिलाओं की अनुभव अधिक कटु और तनावपूर्ण हुए है। क्योंकि निजी क्षेत्र में महिलाओं पर नियंत्रण सामुदायिक नियम-कायदें और धार्मिक संहिताओं के अनुसार होता है जो महिलाओं की लोकतांत्रिक अधिकार को उनतक पहुंचने ही नहीं देती है। वर्ष1990 के दशक और उसके बाद के अवधि के हिंदी पत्रकारिता ने महिलाओं की अधिकारों से संबंधित कानूनों को आधार बनाकर लिखे गए लेखों व समाचारों में जहां एक ओर कानून में महिलाओं की हित से जुड़े धनात्मक पक्षों को उजागर करते है। तो वहीं उन कानूनों की त्रुटियों व बचाव के रास्तों के संदर्भ में दिल खोलकर प्रश्नचिंह भी लगाते है। विवाह-विच्छेदन या तलाक पर प्रकाशित अधिकांश लेख धार्मिक संहिताओं और लोकतांत्रिक अधिकार के बहसों में आलोचना या तारीफों में उलझ जाते है। मसलन, तलाक में मुद्दे पर 'नवभारत टाईम्स' में महरउद्दीन खां का लेख 'तलाक जैसा दुरूपयोग दूसरी व्यवस्था का नहीं हुआ' देखा जा सकता है। लेख में इस्लामी कानून के बारे में महरउद्दीन खां लिखते हैं कि -

> "इस्लामी कानून का अध्ययन करने पर पता चलता है कि तलाक का प्रचलित तरीका पूर्णत: गैर इस्लामी व गैरकानूनी है मगर आश्चर्य है कि कोई अदालत या धर्माधिकारी इस बारे में फैसला देने की पहल नहीं करते। इस्लामी कानून का मूल आधार कुरान है और कूरान की सूर निसा अहजाब और तलाक में इस कानून की स्पष्ट व्याख्या की गई है। इस कानून में तलाक के बाद महिला को कई मौलिक अधिकार प्राप्त है पर इसकी चर्चा कभी नहीं की जाती है। इसके बरक्स, तलाक के बाद मुस्लिम धर्मावलंबी "हलाल" कानून का उपयोग करने में पीछे नहीं रहते। जिसके कारण इस्लाम की छवि एक औरत विरोधी धर्म की बन गई है। तलाक के बाद पत्नी बेसहारा न हो जाये इस बात का भी तलाक की व्यवस्था करते समय पूरा ध्यान रखा गया था।"[138]

[138] 6 फरवरी 1990, नवभारत टाईम्स

इसीतरह मुस्लिम समाज के तलाक के मुद्दे पर नवभारत टाईम्स के लेख 'सामाजिक न्याय और तिहरे तलाक की विडम्बना' में विजय नारायण मणि लिखते हैं कि -

> "मुस्लिम समाज में तलाक की पूरी प्रक्रिया का अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट होता है कि मुस्लिम विधि में तलाक का अधिकार प्राय: एकतरफा पति को ही है। तीन तलाक के पश्चात पति को केवल इद्दत काल(तीन मासिक धर्म बीतने तक या तीन महीने) तक पत्नी का भरण-पोषण का दायित्व होता है। चाहे पत्नी कितनी भी दयनीय अवस्था में क्यों न हो? इसलिए आधुनिक समाज में तिहरे तलाक में इसका विरोध होता है। शाहबानों वाले ऐतिहासिक मामले में भी इसीप्रकार का प्रश्न था। परंतु, यहां यह समझना भी जरूरी है कि तिहरे तलाक का प्रचलन मुसलमान समाज में सार्वजनिक रूप से नहीं है। शिया समाज में इसे मान्यता नहीं है। सुन्नियों की चार शाखा में हनीफ समाज में इसकी मान्यता है। भारत में बहुसंख्यक मुसलमान हनीफ समाज से ही है।"[139]

लेख में जहां एक तरफ़ तिहरे तलाक को मुस्लिम समाज के महिलाओं की लिए गैरबराबरी को माना गया है। वही दूसरे तरफ़ इसे मुस्लिम समुदाय के एक वर्ग की समस्या बताकर इस समस्या से बचने की कोशिश की गई है।

इसीप्रकार, तलाक के मुद्दे पर मुंबई उच्च न्यायलय के न्यायमूर्ति बी.एच.मार्लपल्ली फैसले को ऐतिहासिक फैसला बतलते हुए फिरोज़ बख्त अहमद 'हिंदुस्तान' में 'तलाक पर मंथन करें,माखौल न बनाएं' लेख में लिखते हैं कि -

> "शरीयत के अनुसार एक बैठक में 'तलाक,तलाक,तलाक' कह कर तलाक देना गलत है और इसे तलाक-ए-बिदत अर्थात अनुचित ढंग से दिया गया तलाक माना गया है। सही तरीका तलाक-ए-हुस्ना है जिसमें तीन महीने के अंतराल में हर महीने अगर पति ऐसा करे, तभी तलाक पूरा होगा। न्यायालय ने अपनी निर्णय में कहा कि यदि मुस्लिम पुरुष गुस्से या जल्दीबाजी में तलाक देता है तो मुस्लिम पुरुष को मेहर और तीन माह के इद्दत का खर्चा देने के पश्चात सारे जीवन भर का खर्चा देना होगा।"[140]

तलाक में मामलों में धार्मिक समुदायों के हस्तक्षेप के विषय पर हिंदुस्तान में भावना सहरवाल 'तलाक की वर्तमान प्रथा में परिवर्तन जरुरी' लिखती हैं -

> "आज तलाक की समस्या को केवल एक धार्मिक समस्या नहीं समझना चाहिए। बल्कि इसका समाज के ढ़ाचे पर भी प्रभाव पड़ता है यह एक विचार करने योग्य बात है। एक सर्वेक्षण के

---

[139] 6 अगस्त 1993, नवभारत टाईम्स

[140] 26 जनवरी2007, हिंदुस्तान

> अनुसार 75 प्रतिशत वेश्याएं मुसलमान हैं। तलाक का एक प्रभाव यह भी है कि यह वेश्यावृति को बढ़ावा देता है। तलाक के बाद मुस्लिम महिलाओं पति के संपत्ति पर अधिकार नहीं रह जाता है। आर्थिक चुनौती में अक्षम मुस्लिम महिलाएं वेश्यावृति केतरफ़ बढ़ जाती है।"[141]

इसीप्रकार मुस्लिम समाज के तलाक के मुद्दे पर कई लेख देखने को मिलते है। मसलन "विवाह-विच्छेदन पर डिक्री प्राप्त करने का अधिकार"[142], "मुस्लिम महिलाएं आंदोलन पर उतारू हो सकती हैं"[143], "तलाक की समस्या व समाधान"[144],"अब मुस्लिम महिलाओं की बात"[145], "मुस्लिम महिला और पर्सनल ला बोर्ड"[146] जैसे लेखों में इस्लामी कानून के अनुसार तलाक पर चर्चा की गई है लिंग के आधार पर मुस्लिम महिलाओं की भेदभाव का भी जिक्र है। अधिकांश लेखों में महिलाओ के अधिकारों के प्रति कोई चिंता प्रकट करते हुए धर्म और धार्मिक संहिताओं को आधार बनाकर आलोचना दिखती है। धार्मिक संहिता के गुण-दोष महिलाओं की लोकतांत्रिक अधिकार का मूल प्रश्न गायब होते दिखते है। क्यों तमाम अधिकारों के उपस्थिति में महिलाएं सामुदायिक नियम-क़ायदों को मानने के लिए बाध्य है, बहस का मूल विषय यह कभी स्थापित नहीं हो पाता। हालांकि इन कानूनों के साथ महिलाओं की संघर्ष को हिंदी पत्रकारिता ने प्रमुखता से जगह दिया। परंपरागत मुस्लिम निजी कानून और मुस्लिम समाज की में महिलाओं की भेदभाव के संदर्भ में नवभारत टाईम्स में शकील अहमद का लेख 'नवजागरण की ओर मुस्लिम महिलाएं' में लिखते हैं कि -

> "पिछले कुछ समय से भारतीय महिलाओं की बीच एक प्रकार का रेनासा की शुरुआत हुई है। मुस्लिम महिलाओं ने हिंदुस्तानी मुस्लमानों में तलाक प्रथा का विरोध करते हुए मुस्लिम पर्सनल बोर्ड से मांग की थी कि एक बार में तीन बार तलाक कह देने से तलाक हो जाने की प्रथा को समाप्त किया जाये। मुस्लिम महिलाओं ने 16 वर्षीय कनीजा का एक अरब शेख से 20 हजार रूपयों के एवज में निकाह को नजायेज ठहराते हुए इसका सार्वजनिक विरोध किया। मुस्लिम महिलाओं ने धार्मिक रूदिवादिता और मजहबी दकियानूसीपन की मुखालफत की।"[147]

इसीप्रकार, तलाक के विषय पर ही हिदुस्तान में प्रफुल्ल किदवई अपनी लेख 'तलाक के नाम पर पाखंड' में लिखते हैं कि -

---

[141] 17मई 1994, हिंदुस्तान

[142] 1 मार्च 1990, हिंदुस्तान

[143] 26 जून 1993, नवभारत टाईम्स

[144] 1 जून 1993, हिंदुस्तान

[145] 10नवंबर 2000, हिंदुस्तान

[146] 7अगस्त 2001, हिंदुस्तान

[147] 11 जनवरी 1994,नवभारत टाईम्स

> "मुस्लिम पर्सनल ला के बारे में न्यायमूर्ति तिलहरी के निर्णय के बाद से सारे देश में एक नई बहस शुरु हो गयी है। उदारवादी मुस्लिम पूरी विश्वास के साथ आगे आ रहे है और तीन तलाक कहकर तलाक देने के मुद्दे पर आखिरी लड़ाई लड़ने को तैयार है। कुल मिलाकर यह एक अच्छा फैसला है जो पाखंड के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए प्रेरित करता है। मजहब और कानून के बीच, मजहब एंव मानवाधिकार के बीच या मजहब एंव लैंगिक समानता के बीच जब भी कोई मतभेद है तो मजहब को ऊपर नहीं होने देना चाहिए।"[148]

इसीप्रकार दैनिक जागरण में फिददौस खान 'तीन तलाक पर मनमानी' लेख में लिखती हैं कि -

> "यह कोई नई बात नहीं है कि तलाक के मामलों में अदालत के फैसले को मुस्लिम पर्सनल बोर्ड या कठमुल्लाओं ने मानने से इऩकार कर दिया है। दरअसल मामला चाहे शाहबानों का हो, गुड़िया का हो, नजमा बीबी का हो या फिर दिलशाद बेगम का - कठमूल्ला चाहते ही नहीं कि मुस्लिम महिलाएं भी बराबरी का दर्जा हासिल करें। मुस्लिम समाज में ऐसे कई मामलें है जहां तलाक के बाद पति-पत्नी साथ रहना चाहते है। परंतु, कठमुल्लाओं के कारण अलग-अलग रहने को मजबूर है। चूंकि शरीयत के नाम पर मुस्लिम महिलाओं का शोषण किया जा रहा है इसलिए यह बेहद जरूरी है कि देख में समान नागरिक संहिता लागू की जाये।"[149]

तलाक के मुद्दे पर हिंदी पत्रकारिता में मुस्लिम समाज के प्रति अवचेतन में बसे पूर्वाग्रह और पूर्वबद्ध धारणाओं का विश्लेषण विशेष रूप से अधिक दिखती है। विवाह और तलाक संबंधी विषयों के परिपेक्ष्य में मुस्लिम समाज की समस्याओं को 'अन्य' के रूप में पेश किया जाता है। कई बार इन अभिव्यक्तियों में अंतध्वनित रहता है कि एक देश, एक राष्ट्र बनने के लिए नागरिकों के साथ समान बर्ताव होने चाहिए और सभी एक ही कानून से शासित हो। अल्पसंख्यक महिलाएं हिंदी पत्रकारिता में इस तरह अभिव्यक्त होती हैं मानो अपनी समुदाय में वे गूंगी हों और एक अभिकरण के रूप में हो। इस बात से इऩकार नहीं किया जा सकता कि अन्य समुदायों के तरह मुस्लिम समाज में भी वर्ग भेद और लिंग भेद स्त्री की पक्ष में नहीं गया है, मुस्लिम निजी कानूनों को 'खुदा का फरमान' नहीं माना जा सकता। भारत में मुस्लिम कानून पैतृक संपत्ति में हिस्सा, बहुविवाह-प्रथा, तीन तलाक का विधान और मुस्लिम तलाकशुदा महिला के भरण-पोषण का प्रावधान के मामलें लिंग संबंधी न्याय के मामले में अंसतोषकारी है। महिलाओं की संदर्भ में मुस्लिम व्यक्तिगत कानून एक संवेदनशील मामला है, जो अवचेतन में बसी इस धारणा को बार-बार 'सिद्ध' करने के लिए पर्याप्त मान लिया जाता है कि मुसलमान नागरिक पूरी तरह से भारतीय नहीं है। आजादी के पहले जिस प्रकार की सोच रहतीं थी और जैसा व्यवहार करती थीं

---

[148] 12मई 1994, हिंदुस्तान

[149] 23 फरवरी 2007, दैनिक जागरण

ठीक वही सोच आज भी प्रभावित करती है। लिंग के आधार पर किए जाने वाला भेदभाव के मामलों में वहीं सोच रखते हैं और वैसा ही व्यवहार भी करते हैं और ऐसा करते हुए वे अपनी-आप को श्रेष्ठ दिखाने का प्रयास करते है। पीढ़ियों से चली आ रही धारणा के अनुसार इस्लाम को भी मुसलमान महिलाओं की समस्याओं का एकमात्र कारण मान लिया जाता हैं, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि गरीबी के प्रभाव की तुलना में यह कारण बिल्कुल ही अप्रासंगिक है। भारत में, जहां आजादी के बाद से लेकर अब तक कई बार मुसलमानों के विरुद्ध हिंसक दंगे भड़क चुके है। भारतीय मुस्लमान अन्य नागरिकों की तुलना में न केवल आर्थिक मामलों और शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़े हुए हैं, बल्कि सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के कारोबार के महत्वपूर्ण पदों और प्रबंधनों के पदों पर भी उनका पर्याप्त प्रतिनिधिनित्व नहीं है। मुस्लिम व्यक्तिगत कानून के विभिन्न आयामों में परिवर्तन देखने के लिए भारतीय मुसलमानों के व्यापक सामाजिक-आर्थिक संदर्भ को देखने की ज़रूरत है। इस संदर्भ में कई शोधकर्ताओं द्वारा किए गए अध्ययन पर ध्यान देने की ज़रूरत है। उनकी टिप्पणियों का आधार केवल उपर्युक्त पूर्वाग्रह हीं नहीं है, बल्कि प्रचलित धारणा यह है कि भारतीय मुसलमान अपनी अल्पसंख्यक दर्जे के बावजूद अन्य मुस्लिम बहुल देशों के समान भारत में सुधार लागू करने की स्थिति में नहीं हैं। मुस्लिम समाज में लिंग विभाजन की श्रेणीबद्धता, जाति, वर्ग, नृजातीयता की श्रेणीबद्धता, क्षेत्रिय विभिन्नता लिंग के स्तर पर किस प्रकार की है? मुस्लिम निजी कानून से वो किस प्रकार से प्रभावित हो रहे है? गरीबी, असुरक्षा और भेदभाव उनको किस प्रकार प्रभावित करती है? इन मुद्दों को हिंदी पत्रकारिता सतह पर कभी नहीं ला पाते है। परंतु, मुस्लिम कानून पैतृक संपत्ति में हिस्सा, बहुविवाह-प्रथा, तलाक और मुस्लिम तलाकशुदा महिला के भरण-पोषण का प्रावधान के मामलें को एकरूपता के साथ प्रकाशित होते है। तलाक के मुद्दों को जब भी विधि के द्वारा चुनौती मिलती है हिंदी के अख़बार उसको प्राथमिकता मिलती है इसके सामने मुस्लिम समाज में महिलाओं से जुड़े अन्य मुद्दे गौण हो जाते है। मुस्लिम महिलाओं द्वारा तीन तलाक के प्रश्न को जब कभी बहस के दायरे में लाया जाता है तो महिलाओं की स्थिति का मूल्यांकन भले न हो परंतु, धर्म के ठेकेदार के विरोध और राज्य की सीमाओं का प्रकाशन हिंदी पत्रकारिता में होता दिखता है।

इसके बरक्स हिंदू निजी कानून के समक्ष दूसरे तरह के पूर्वाग्रह काम करते है। यदि हिंदू कोड बिल पर हुई बहसों पर नज़र डालें तो पता चलता है कि स्त्रियों के लिए बेहतरी के सवाल पर बिल को बहुत अधिक विरोध का सामना करना पड़ा। यह विरोध मूल रूप से इस बात पर केंद्रित था कि हिंदू पारिवारिक कानून में सुधार करके स्त्रियों के अधिकारों को बेहतर करने से हिंदू परिवार के टूटने का खतरा पैदा होगा। इस प्रकार के परिवर्तन हिंदू परंपराओं और मूल्यों के

ख़िलाफ़ हैं क्योंकि हिंदू सोच में स्त्री-पुरुष समानता का अर्थ एक जैसा अधिकार न होकर अलग-अलग प्रकार के अधिकार हैं। परिवार में स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार अलग-अलग हैं। सारा विरोध स्थापित परिवार के संरचना में बदलाव के खतरों से उत्पन्न खतरों से था। ये खतरे परिवार में स्थापित पुरुष सत्ता को भी होने वाले थे। इसके कारण हिंदी पत्रकारिता में निजी कानून पर प्रकाशित लेख या तो सूचनात्मक होते है या तो उस लेख में महिला के हित में होने वाले बातों को एक सिरे से गायब कर दिया जाता है। अधिकांश हिंदी दैनिक अख़बार समान नागरिक संहिता की रट लगाते है। मगर इस बात को अधिकांश अख़बार नहीं समझते है कि मांग का आशय यह है कि न केवल मुस्लिम और ईसाई पर्सनल लां बल्कि हिंदू पर्सनल लां भी समाप्त किया जाये। हिंदी पत्रकारिता में इस बात पर कोई बहस नहीं होती है कि इन पर्सनल लां को भी रद्द करने की ज़रूरत है। गोया हिंदू पर्सनल लां बेहतर है और मुस्लिम पर्सनल लां ज़्यादा अन्यायपूर्ण है यह स्थापित करने का प्रयास ज़रूर दिखता है। अक्सर महिलाओं पर होने वाले हिंसा और उसकी विधीक स्थिति पर खबरों को प्राथमिकता मिलती है जिसमें बलात्कार, सती, दहेज, यौन-शोषण, कामकाजी महिलाओं की साथ शारीरिक शोषण और वेश्यावृति से जुड़ी ख़बरें होती है (जिसकी चर्चा आगे के अध्याय में किया जायेगा)। ताकि महिला और हिंदू निजी कानून पर भ्रम की स्थिति बनी रहे। ग़ौरतलब है भारतीय विधीक स्थिति के अनुसार तलाक के लिए हर संप्रदाय में निजी कानूनों का प्रावधान है। हिंदूओं के लिए वर्ष 1955 का विवाह कानून, ईसाइयों के लिए वर्ष 1869 का भारतीय कानून, पारसियों के लिए वर्ष 1939 का पारसी विवाह एंव तलाक कानून, मुसलमानों के लिए वर्ष 1939 का मुसलमान विवाह विच्छेदन कानून के साथ-साथ परंपरागत रीति-रिवाज अंतर्जातीय विवाहों के लिए विशेष विवाह कानून वर्ष 1956 के तहत तलाक लिया जा सकता है। व्यभिचार तथा क्रूरता, इन सभी कानूनों में तलाक के दो मुख्य कारण माने जाते हैं। मुस्लिम कानून इसका अपवाद है। लेकिन व्याभिचारणी स्त्री को व्याभिचारी पुरुष से अधिक दंडनीय माना जाता है, कारण स्त्री अपनी पति की संपत्ति है। स्पष्ट है कि कानूनी प्रावधान तथा न्यायालयों के निर्णय पुरुष के हित की पारिवारिक हित की संज्ञा देकर रक्षा करते हैं। जबकि पुरुष के यौनाचार संबंधी मामलों में पारिवारिक हित को गौण स्थान दे दिया जाता है। ईसाइयों के वर्ष 1869 के तलाक कानून की धारा दस के अनुसार पत्नी के व्याभिचारिणी होने पर पति तलाक हासिल कर सकता है। परंतु, पत्नी को इसके साथ-साथ बलात्कार, क्रूरता, दूसरा विवाह या परित्यकता होने पर ही तलाक मिल सकता है। इसी कानून के तहत पति पत्नी के प्रेमी से मुआवजे की मांग कर सकता है। परंतु, पत्नी पति की प्रेमिका से मुआवजे की मांग नहीं कर सकती। पत्नी के लिए मुआवजे की राशि निश्चित करने के लिए भी न्यायालय पत्नी से आदर्श पत्नी के मापदंडों में खरा होने की अपेक्षा करता है। हिंदू विवाह कानून

में पति और पत्नी दोनों को तलाक का अधिकार है लेकिन पत्नी के व्याभाचारिणी हो जाने पर उसके गुजारे भत्ते का अधिकार समाप्त हो जाता है। आदर्श पत्नी के मापदंडों के आधार पर पत्नी को व्याभिचारिणी सिद्ध करना आसान हो जाता है क्योंकि न्यायालय के अनुसार पत्नी का मंगलसूत्र नहीं पहनना या पति के परिजनों के साथ रिश्ते न निभाना क्रूरता माना जाता है। अक्सर इन्ही मापदंडो के आधार पर पति को तलाक आसानी से मिल जाता है। क्रूरता के मामले में अक्सर सामाजिक और शैक्षणिक स्तर को ध्यान में नहीं रखा जाता है। पत्नी का आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनने की इच्छा का अदालत में कोई महत्व नहीं होता है। इन गैरबराबरी को ध्यान में रखकर हिंदी पत्रकारिता में तलाक पर लेख नहीं देखने को मिलते है। इस परिपेक्ष्य में हिंदी पत्रकारिता में हिंदू समाज में तलाक पर प्रकाशित लेखों को देखा जा सकता है। मसलन 'हिंदुस्तान' में देवदत्त शर्मा 'शून्य यानी प्रभावहीन विवाह' लेख में कहते हैं कि -

> "महिलाओं से संबधित कानून इतने अस्पष्ट, भ्रामक एंव एक-दूसरे को काटने वाले होते हैं कि अलग-अलग अदालतों में उसकी व्याख्या अलग-अलग तरह की होती है। यही स्थिति शून्य यानी प्रभावहीन विवाह के साथ है। विधि के अनुसार शून्य विवाह का अर्थ है जिसे कानून मान्यता प्रदान नहीं करता है। मात्र वैवाहिक अनुष्ठान सम्पन्न कर लेने से कोई विवाह विधिमान्य नहीं हो सकता है। चूंकि विधि के अनुसार यह विवाह मान्य नहीं है अत: ऐसे विवाह में कोई विधिक दायित्व, अधिकार, कर्तव्य या हैसियत का सवाल गौण हो जाता है। इसलिए हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 9 के अंतर्गत दाम्पत्य अधिकारों की डिक्री पाने का अधिकारी नहीं है। इस स्थिति में पति या पत्नी दोनों में से किसी का दूसरा विवाह करने पर अपराधी नहीं माना जा सकता। इस मामले कई प्रश्न है जो स्पष्ट नहीं है,मसलन इस स्थिति में धारा 11 के अंतर्गत डिक्री के लिए कौन प्रार्थना दे सकता है? पत्नी को किसी अन्य अधिनियम के तहत अपनी पति के दूसरे विवाह को रोकने का अधिकार है या नहीं?"[150]

इसीप्रकार 'हिंदुस्तान' में अपनी एक अन्य लेख 'हिंदू नारी को दूसरी शादी का अधिकार कब' में देवदत्त शर्मा ने हिंदू महिलाओं के दूसरे विवाह के संबंध में विधिक स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। लेख में वो स्पष्ट करते हैं कि -

> "हिंदू धर्म ग्रंथों में पांच स्थितियों में महिलाओं को पुर्नविवाह का अधिकार हैं। परंतु, न ही धर्मग्रंथों में न ही हिंदू निजी कानूनों में दूसरे विवाह के पश्चात परिवार में महिलाओं की वैधानिक स्थिति की स्पष्ट व्याख्या नहीं है जिसके कारण व्यावहारिक रूप में वह अपनी पति

[150] 4 मार्च 1990, हिंदुस्तान

> की कृपा पात्र बनी रहती है। कुछ विशेष परिस्थितियों में डिक्री प्राप्त करने की अधिकारणी है। परंतु, इससे संबंधित धाराएं काफ़ी अस्पष्ट है।"[151]

महिलाओं को लेकर कानूनी पूर्वागह और कानूनी अस्पष्टा को लेकर 'हिंदुस्तान' में श्रीप्रकाश गुप्त अपनी लेख "पारस्परिक सहमति से तलाक कैसे?" में लिखते हैं कि -

> "हिंदू शास्त्रों में विवाह को एक संस्कार माना गया है, इसलिए उनमें विवाह-विच्छेदन के लिए प्रावधान का अभाव है, पारस्परिक सहमति से विवाह विच्छेदन अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए यह प्रावधान है कि विवाह के दोनों पक्षकार मिलकर विवाह विच्छेद की अर्जी दे सकते हैं, विवाह चाहे अधिनियम बनने से पहले का हो या बाद का। पति-पत्नी अगर साथ रहने में असमर्थ हैं तो लड़ते-झगड़ते नारकीय जीवन बिताने के बजाये परस्पर मुक्त होकर स्वेच्छा से अपनी जीवन का मार्ग निधारित कर सकते है।"[152]

इस तरह के कई लेखों में कानून के पूर्वाग्रह और विवाह विच्छेन के संबंध में महिला अधिकारों के प्रति कानूनी अस्पष्टता की चर्चा दिखती है। परंतु, इसके कारण महिलाएं किस प्रकार प्रभावित हो रही है? इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं है। इन अस्पष्टता के कारण महिलाएं तनावपूर्ण जीवन में होने के बाद भी संबंध विच्छेदन के विषय में नहीं सोचती। यह स्थिति हर सम्प्रदाय के महिलाओं की साथ एक समान है जिससे महिलाएं प्रभावित होती है। वही दूसरी तरफ़ कई लेखों में कानूनी अज्ञानता और अपनी अपनी अधिकारों के प्रति सचेत रहने की बात की जाती है। इन कारणों में तलाक विषय पर हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं की समस्या एकरूपता के रूप में उभर कर सामने आती है जिसमें सतही विश्लेषण अभिव्यक्त होते हैं। मसलन, 'नवभारत टाईम्स' के लेख 'नई सुबह के तलाश में भटकती महिलाएं' में नमिता शरण बताती हैं कि -

> "वास्तव में महिलाओं की प्रति जो नज़रिया अपनाया जा रहा है, वह अधिकरतर धर्म के आधार पर दिशा निर्देशित है। इसके अंतर्गत या तो महिलाओं को देवी माना जाता है या राक्षसी। इन दोनों पहलूओं में कहीं भी मानवीय पहलू के रूप में उसका कोई मूल्य नहीं है। लड़कियों के समाजीकरण में उनको हमेशा एडजस्ट करने की शिक्षा दी जाती हैं। जिसके कारण महिलाएं अपनी कर्तव्यों के प्रति जागरूक तो होती है परंतु, अपनी अधिकारों के प्रति वो अनभिज्ञ होती है। जिसके कारण निजी संपत्ति के रूप में उसका शोषण होता रहता है। इसीकारण हिंदू एक्ट के तहत पिता की संपत्ति में से बेटियों को बराबरी का हिस्सा देने की घोषणा की गई लेकिन

[151] 10 जून 1990, हिंदुस्तान

[152] 20 फरवरी 1994, हिंदुस्तान

> व्यवहार में इस एक्ट के उपयोग का प्रतिशत न्यून हैं। इसीप्रकार धारा 304(6) दहेज दाह से संबंधित धारा, छेड़कानी से संबंधित आदि भारतीय दंड संहिता की शोभा बनकर रह गई है|"[153]

'हिंदुस्तान' में मधु जोशी तमाम निजी कानून को महिला के विरुद्ध बताते हुए अपनी लेख 'महिलाओं की विरुद्ध है निजी कानून' में लिखती हैं कि -

> "हिंदू कानून के अनुसार पुरुष को सम्पति पर जन्मजात अधिकार है, जबकि हिंदू महिला स्वतंत्र रूप से न तो पारिवारि क संपत्ति के विभाजन की मांग कर सकती है न ही उसे बेच सकती है। पारिवारिक संपत्ति में उसे केवल भरण-पोषण भत्ते का अधिकार है। आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु को छोड़कर अन्य राज्यों में महिलाओं को संपत्ति पर अधिकार में समानता नहीं प्राप्त है। कानून दत्तक विधान में भी पक्षपात करता है। अडोप्शन एंड मेंटनेंस अधिनियम के अनुसार, बच्चे को गोद लेने के लिए महिला विधवा, अविवाहित अथवा तलाकशुदा हो। अर्थात शादीशुदा महिला बच्चे को गोद नहीं ले सकती, इसके लिए उसे अपनी पति की सहमति आवश्यक है। मुस्लिम निजी कानून भी पुरुषों की हीतरफ़दारी करता है। मुस्लिम लां ने बहुविवाह को न्यायसंगत ठहराया है। पुरुष बिना कचहरी के तलाक शब्द के तीन बार उच्चारण कर तलाक पा सकता है। परंतु, मुस्लिम महिला केवल सम्मत तलाक या तलाक-ए-तफ़वीज ही ले सकती है। मुस्लिम महिला समान परिपोषण पाने की भी अधिकारणी नहीं है।"[154]

लेख में तमाम निजी कानून की किस प्रकार महिलाओं की विरूद्ध है और संविधान के समानता के सिद्धांत का हनन करते है, इसका विश्लेषण किया गया है। महिलाओं की साथ विधिक स्थिति सिर्फ़ कानूनी अस्पष्टता का ही नहीं है। बल्कि अधिकांश कानून में श्रेणीबद्धता का ध्यान नहीं रखने के कारण कभी एक महिला के पक्ष में है तो दूसरे के विरोध में भी है। यह स्थिति कमोबेश हर कानून के साथ है इसलिए तमाम कानूनों के बाद भी महिलाओं को न्याय दिलाने में असफल है।

तलाकशुदा महिलाओं की लिए भारतीय समाज में बिल्कुल अलग तरह का नज़रिया है। तलाक की न्यायिक प्रक्रिया में मानसिक परेशानी भी महिलाओं को अधिक झेलनी पड़ती है। भारत जैसे पिछड़े और रूढ़ियों में जकड़े सामाजिक संरचना में तलाक महिलाओं की लिए मानसिक सजा के साथ आर्थिक सजा भी है। परिणामत: तलाकशुदा महिलाओं को आर्थिक और सामाजिक समस्या का सामना करना पड़ता हैं। तलाकशुदा महिलाओं की समस्या के मानवीय पहलू पर 'हिंदुस्तान' में रेणु कुमारी अपनी लेख 'ताकि सजा न हो तलाक' में बताती हैं कि -

---

[153] 7 जनवरी 1994, नवभारत टाईम्स

[154] 9 मार्च 1998, हिंदुस्तान

> "परिणय-सूत्र में बंधने, की रीति-नीति देश, काल और धर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है, पर उद्देश्य एक ही होता है -ज़िंदगी के सफर के लिए एक साथी की प्राप्ति। इस सफर के दरम्यान जब स्नेह-सूत्र बिखर जाता है। आरोप-प्रत्यारोप के विषाक्त वातावरण से छुटकारा पाने के लिए मन छटपटाने लगता है और इसकी परिणति होती है-तलाक। तलाकशुदा ज़िंदगी का सबसे दु:खद पहलू मानसिक आघात होता है जिसे सबसे अधिक महिलाएं महसूस करती है। समाज में अकेले रहना और अजीबोगरीब सवालों से निपटना एक समस्या है, जो तलाकशुदा महिलाओं की जीवन को अधिक चुनौतीपूर्ण बना देती है। इस स्थिति में यह सवाल महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या क्या सचमुच तलाक वैवाहिक जीवन की समस्या का समाधान खोजने में सफल हुआ है?"[155]

तलाक के तरह अन्य निजी कानूनी की दोहरी प्रवृति पर अरविंद जैन 'हिंदुस्तान' में अपनी लेख 'नारी, न्याय और नैतिकता' में लिखते हैं कि -

> "पूरी न्यायिक प्रक्रिया में कानूनी भाषा परिभाषा, हर स्थिति में पुरुषों की सुरक्षा करते नज़र आती है। सारे न्यायिक तर्क महिलाओं की ख़िलाफ़ खड़े है बलात्कार, यौन शोषण के मामलों में महिलाओं को ही दोषी सिद्ध कर दिया जाता है। न्याय का सारा सिस्टम एक अदृश्य कंट्रोल में नज़र आता है जो हमेशा महिलाओं की विरुद्ध नज़र आता है।"[156]

अरविंद जैन इस लेख में चर्चा करते हुए लिखते है कि महिलाओं की हित में बने तमाम कानून सैद्धांतिक रूप से महिलाओं की पक्ष में दिखते है। परंतु, व्यवहार के रूप में महिलाओं को ही कटघरे में लाकर दोषी सिद्ध करते देते है। जिसके कारण कई मामले में शोषित महिला न्याय के लिए न्यायालय के दरवाजे पर नहीं आना चाहती है। जो महिलाओं की मामले में न्याय के नैतिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाते है। महिलाओं से संबंधी कई कानूनों के बारे में 'दैनिक जागरण' में सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायधीश वी.एन.खरे अपनी लेख 'परंपरा के चक्रव्यूह में महिला कानून' में लिखते हैं कि -

> "पिछले कुछ समय में महिला संबंधी कई कानून बने, पर क्या ये कानून महिलाओं की हालात बदल सकते हैं। जब तक यह सामाज क ढांचा नहीं बदलेगा, कानून महिलाओं का औजार नहीं बन पाएंगे। किसी देश का सामाजिक तानाबाना समाज में महिलाओं की वास्तविक स्थिति का निर्धारण करता है। कानून तो उनके अधिकारों के हिफाजत के लिए रास्ता है। वर्तमान समय में महिलाओं का एक खास समूह ही कानूनी सहारा लेकर संवैधानिक समानता को पाने में सफल हो पाता है। महिलाओं की हित में बने कई कानून इस लिए प्रभावी नहीं हो पाए है क्योंकि उन कानून को सामाजिक मान्यता नहीं मिल पा रही है। कई कानून तो ऐसे है जो सामाजिक

---

[155] 17 फरवरी 1996, हिंदुस्तान

[156] 2 जून 2000, हिंदुस्तान

> मार्यादा के बोझ तले दब कर रह जाते है। यह सही है कि कानूनी प्रक्रिया काफ़ी तनावपूर्ण होती जा रही है और कानूनी प्रक्रिया में कई बार महिला के विरुद्ध हो जाते है। परंतु, कानून के प्रति उदासीनता सामाजिक संरचना को बदलने में मददगार नहीं हो सकती है।"[157]

लेख में महिलाओं की निजी कानून के दोहरे व्यवहार के प्रति महिलाओं को सचेत रहने और महिलाओं को अपनी अधिकार के प्रति जिम्मेदार सामाजिक संरचना में बदलाव को जरूरी मानते है। इन सभी विचार के बीच विवाह और तलाक कानून को महिलाओं की मूलभूत अधिकार के इतर सामाजिक संस्था के टूटने के कारण के रूप में देखा जाता है। परिवार में महिलाओं की इन अधिकारों पर दैनिक जागरण में सुधांशु गुप्त अपनी लेख 'हिंदू मैरेज एक्ट और बढ़ते तलाक के मामले' में लिखते हैं कि -

> "हाल में सुप्रीम कोर्ट ने देश में तलाक के बढ़ते मुक़दमों पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि हिंदू मैरेज एक्ट घरों को जोड़ने के बजाये तोड़ने का काम कर रही है। इस एक्ट ने परिवार व्यवस्था को सबसे ज़्यादा नुकसान पहुंचाया है। इसके कारणों पर चर्चा करते हुए लेख कहता है कि भारतीय समाज में पिछले दो दशकों में तेज़ी से बदलाव हुआ है। उदारीकरण, आर्थिक बदलाव, सूचना एंव तकनीक क्रांति, सामाजिक और नैतिक मूल्य में आ रहे बदलावों ने महिलाओं की सोच में बदलाव किया है। आज महिला शादी को अपना अंतिम गोल नहीं मानती। उसके लिए शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता अहम चीजें हो चली हैं। वे अपनी ज़िंदगी से जुड़े मासलों पर खुद फैसला लेना चाहती है। परिवार संस्था में भी बदलाव आया है कि पुरुष खुद भी तलाक देने की पहल करते है।"[158]

लेख में तलाक के बढ़ते कारणों के लिए तेज़ी से हो रहे बदलाव और बदले हुए समय में आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर महिलाओं को मान लिया गया हैं। परंतु, इन बदलाव के कारण सामाजिक रूढ़िवादी मानसिकता में बदलाव क्यों नहीं हो पा रहा है? इसके कारणों पर चर्चा नहीं की गई है। लेख में इसका विश्लेषण ज़रूर हुआ है कि पुरुष तलाक देने की पहल करते है। परंतु, तलाक के लिए महिलाओं में आई स्वतंत्रता की भावना को जिम्मेदार कारणों के रूप में पहचाना गया है। वही दूसरी तरफ़ इस विषय पर भी लेखन देखने को मिलता है जिसमें तलाक नियमों को आसान बनाने के प्रयास चल रहे है।

इन तमाम विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता कि नब्बे के दशक और नई शताब्दी में, निजी कानूनों पर हिंदी पत्रकारिता का प्रस्तुतीकरण परेशान करना वाला रहा है। इस दौरान प्रकाशित लेखों से यह बात स्पष्टत: सामने आती है देश में विवाह और तलाक कानून अंतत:

---

[157] 8 मार्च 2007,दैनिक जागरण

[158] 1जुलाई 2008, दैनिक जागरण

पुरुषों के हितों की रक्षा करने वाला ही बना हुआ है। यह कानून इतना अस्पष्ट है और इसकी धाराएं पररस्पर इतनी विरोधी हैं कि महिलाओं तक पहुंचने वाला इनका मुनाफा लाभ के रास्ते में कहीं खो जाता है। समय-समय पर इनमें संसोधन भी हुए है पर वो नाकाफ़ी रहे है। हिंदी पत्रकारिता में निजी कानूनों पर दो तरह की प्रस्तुतियां देखने को मिलती है। एकतरफ़ महिलाओं की अधिकारों से संबंधित कानूनों को आधार बनाकर लिखे गए। लेख महिलाओं की हित से जुड़े धनात्मक पक्षों को उजागर किया गया तो वही उन कानूनों की त्रुटियों और बचाव के रास्तों के संदर्भ में भी दिल खोलकर प्रश्नचिन्ह लगाए गए। इन दोनों प्रकार की प्रस्तुतियों में किसी न किसी रूप में महिलाओं की प्रश्न केंद्र में स्थापित थे। किंतु, इस कालवधि में ऐसी भी सामग्री छपी दिखती है जिसमें स्पष्ट रूप से बदलती हूई सामाजिक स्थिति में तलाक के कारण के रूप में महिलाओं की महत्वकांक्षा को निशाना बनाया गया। किसी-किसी लेखों में प्रस्तुति की शैली से पता चलता है कि लेखक गंभीर मामला उठा रहा है किंतु, उसकी दृष्टि कहीं ओर है अर्थात यह मसला वस्तुत: उसके लिए उतना गंभीर नहीं है। निजी कानूनों में मुस्लिम पर्सनल कानून के व्याख्या करते हुए लेखों में इस्लाम धर्म पर प्रश्न लगाकर अन्य पक्षों से बचकर निकलने का रास्ता तलाश करते दिखते है। वही दूसरी तरफ़ हिंदू निजी कानून के व्याख्या के मामले में किसी न किसी रूप में महिलाओं की हित में बात करने के क्रम में महिलाओं की हित को नकार कर उसे ही व्यंग्य के केंद्र में रखने की प्रवृत्ति दिखती है। मसलन, द्विविवाह के विषय पर समुदायों के विवाह की जटिलता और पहली और दूसरी पत्नी की पीड़ा पर न ही न्यायालयों न ही हिंदी पत्रकारिता द्वारा अधिक विचार किया जाता है जबकि मुस्लिम द्विविवाह को हमेशा निशाने पर रखा गया। कई लेखों से यह भी पता चलता है कि हिंदू एक धर्मनिरपेक्ष और लैंगिक न्याय वाले पारिवारिक नियमों से शासित होते हैं और मुस्लिम एक समुदाय के रूप में राष्ट्रीय अखंडता के शत्रु है, क्योंकि वे अपनी व्यक्तिगत कानून का अनुसरण करते हैं। अन्य धार्मिक समुदायों के निजी कानून और उन कानूनों से महिलाओं की जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव की चर्चा या उनपर लेखन बहुत कम देखने को मिलता है जिसके कारण निजी कानून के लूप होल्स के बारे में समग्रता से जानकारी नहीं हो पाती है।

हिंदी पत्रकारिता में विधि आयोग की सिफारिश को खबरों में सिरे से गायब किया जाता रहा है। कहीं-कहीं न्यायलय और विधि के प्रावधानों को समाचारपत्रों ने क्रांतिकारी और महिलाओं की समान अधिकार देने के अभूतपूर्व सुझाव के रूप में प्रकाशित किया जाता रहा है, लेकिन यह प्रचार काफ़ी हद तक भ्रामक रहे है। तमाम निजी कानूनों में महिलाओं को कुछ भी अधिकार देने या देने की बात को ज़रूरत से ज़्यादा विज्ञापित किया जाता है। ताकि ये भ्रम बना रहे कि तमाम

निजी कानून भारतीय समाज में महिलाओं की प्रति उदार और न्यायप्रिय है। हिंदी पत्रकारिता में निजी कानूनों के प्रस्तुतीकरण और चयन में अन्य अल्पसंख्यकों के निजी कानूनों को एक सिरे से खारिज किया है। निजी कानून भले ही अपनी-अपनी नज़रिये रखते हो, उनके शोषण की तकनीक भिन्न-भिन्न हो। किंतु, स्त्री शोषण और अत्याचार के प्रश्न पर सभी निजी कानून एक ही भूमिका निभाते है। निजी कानूनों की व्याख्या में हिंदू और मुस्लिम समुदायों के अलावा अन्य समुदायों की विधिक समस्या का अनदेखापन हिंदी पत्रकारिता के वर्गीय चरित्र के तरफ़ इशारा करती है। क्योंकि व्यक्तिगत कानूनों की वरीयता ने स्त्री-पुरुष असमानता को बरकरार रखने में मदद करती है और संविधान की मंशा से खिलवाड़ करती है।

1.4 निष्कर्ष

महिलाओं की निजी और सार्वजनिक जीवन में परिवार और विवाह संस्था नागरिक नैतिकता के रूप में इस रूप में स्थापित है, जहां विवाह से परिवार बनता है और परिवार देश के भावी नागरिक को बनाते है। इस प्रकार परिवार और विवाह नैतिक आयाम का स्थल है। आदर्शीकरण की यह अवधारणा परिवार और विवाह को सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक संस्थान के रूप में महिलाओं की व्यक्तिगत ज़रूरतों और इच्छाओं को गौण कर, उसके शोषण के लिए नई पितृसत्ता की गतिशीलता के दौरान रचते है। जो महिलाओं की शोषण को अधिक मुखर करते है। परिवार और विवाह के दायरे के तहत महिलाओं की यौनिकता को भी नियंत्रित करने का प्रयास ख़ामोशी से किया जाता है। हालांकि लोकतांत्रिक दायरे में विवाह और तलाक कानून महिलाओं की हक में समानता और स्वतंत्रता के दावे को स्थापित करने का प्रयास करते है। परंतु, महिलाओं की संबंध में तमाम सामुदायिक कानून सामाजिक और धार्मिक नियन-क़ायदों गठबंधन को इस तरह बनाए हुए है कि विवाह और तलाक के आदर्श और लक्ष्यों पर कोई भी सवाल अनैतिक और गलत सिद्ध होता है और वह समुदाय के धार्मिक अस्मिता के लिए चुनौतीपूर्ण बन जाता है। इस तरह तमाम सामाजिक तर्क को जैविक तर्कों के साथ मिलाकर परिवार और विवाह संस्था के अंदर असमानता के सांचे में महिलाओं की लिए विकल्प को अस्वीकार किया जाता है। हिंदी पत्रकारिता में परिवार, विवाह और विवाह-तलाक संस्था के संदर्भ में अभिव्यक्ति मान्यताओं पर आधारित अधिक दिखती है। पहली मान्यता यह है कि परिवार और विवाह संस्था स्त्री-पुरुष के जैविक संबंधों के आधार पर बनी एक प्राकृतिक संरचना है, जो समाज के विकास या प्रगति के नियमों से निरपेक्ष है। दूसरी मान्यता यह है कि सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ परिवार और विवाह संस्था का ढ़ांचा भी बदलता है। तीसरी मान्यता यह भी है कि स्त्री-पुरुष के जैविक संबंधों से जो पितृसत्ता पैदा होती है, वह सामाजिक रूपातंरण या

परिवर्तन के बाद भी कायम रहती है; अत: समाज का रूप बदल कर चाहे कुछ भी हो जाये, इन संस्थाओं में कुछ ऊपरी परिवर्तन होते है। परंतु, अपनी मूल में अपरिवर्तनीय ही बना रहता है। इसके साथ-साथ हिंदी पत्रकारिता के अतिरिक्त संचार के अन्य माध्यम मसलन, टी.वी. पर प्रसारित होने वाले धारवाहिक वस्तुस्थिति के उलट फैंटेंसी को अभिव्यक्त करते है जो तमाम सामाजिक संस्थाओं के संबंध में काफ़ी विरोधाभास का निमार्ण करते है। (यहां ध्यान देने जरूरी है कि परिवार, विवाह, और विवाह-तलाक कानून के संदर्भ में एक स्वरूप वास्तविकता है जो काफ़ी विसंगतियों से भरा है, दूसरा आदर्श स्थिति का है और तीसरा वह है जो हमें साहित्य, सिनेमा और मीडिया में मिलता है। ये तीनों अलग-अलग नहीं चलते है, इनमें काफ़ी अदान-प्रदान होता रहता है, जिससे ये तीनों रूप बदलते रहते है।) इन धारवाहिकों में जहां सामाजिक संस्थाओं को ग्लोरोफाई किया जाता है तो यह स्थापित करने का प्रयास होता है कि पुरुष साथ रहना चाहते है और स्त्रियां आपस में लड़ती रहती है। इसी के साथ परिवार की अनेक प्रथाओं को ग्लैमराइज किया जाता है, दहेज लेना कानूनन अपराध है, इसलिए इसका सीधा लेन-देन नहीं दिखाया जाता है, लेकिन विवाह के तड़क-भड़क को इस तरह दिखाया जाता है कि इसके प्रति आकर्षण पैदा हो सके। इस तड़क-भड़क की अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता के परिशिष्टों में अक्सर होता रहता है। इस दशक में हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित हुए लेख एक तरफ़ परिवार, विवाह और विवाह-तलाक कानून में महिलाओं की यथास्थिति का मूल्यांकन करते है तो साथ में यह बताने कि कोशिश भी करते है कि इन संस्थानों में हो रहे बदलाव महिलाओं की लिए स्थिति में कोई बदलाव नहीं किया है। कई लेखों के माध्यम से एक ऐसा नक्शा खींचा गया मानों महिलाएं अपनी अस्मिता के तलाश में न तो परिवार को चाहती है और न ही अपनी सांस्कृतिक धरोहर को। महिलाएं आधुनिकता के दौड़ में स्वयं को और इन संस्थाओं को बाजारू के मध्य लाने को तुली हुई है। इस तथ्य से इऩकार नहीं किया जा सकता है कि समाज की आर्थिक और सामाजिक गतिशीलता ने महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर या सशक्त नहीं बनाया और इसने महिलाओं की सार्वजनिक और निजी क्षेत्र को कुछ सहज बनया है। परंतु, इसी आर्थिक और सामाजिक गतिशीलता ने पितृसत्ता के नई औजारों को और अधिक ऊर्जा भी प्रदान की या पितृसत्ता का नवीणीकरण भी किया है। तमाम सामाजिक और आर्थिक गतिशीलता ने महिलाओं की अस्मिता के निर्माण में लैंगिक नैतिकता का परित्याग नहीं किया, जिसके कारण महिलाएं निजी और सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी स्वतंत्रता और समानता के लिए आज भी संघर्षरत है और बेहतर भविष्य की तलाश में प्रयासरत है। इस तथ्य के मूल्यांकन में हिंदी पत्रकारिता कोसों दूर खड़ी हुई दिखती है।

अध्याय - 2

आर्थिक व्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी

महिलाओं की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में जैविक स्थिति के साथ-साथ आर्थिक स्थिति भी एक महत्वपूर्ण नियामक है। इसी आधार पर एलीनांर मार्क्स और एडवर्ड एवेलिंग लिखती हैं कि -

> "हमारे जटिल समाज में हर चीज की तरह स्त्रियों की हैसियत भी एक आर्थिक बुनियाद पर टिकी होती है।"[159]

सामाजिक संरचना में महिलाओं कि वास्तविक स्थिति और अस्मिता की पहचान उसकी जैविक स्थिति के साथ-साथ आर्थिक आधार पर होती रही है। क्योंकि, अर्थव्यवस्था में भागीदारी एंव संपत्ति पर अधिकार सामाजिक संरचना में व्यक्ति विशेष को प्रभुत्व संपन्न बनाता है और उसके सामाजिक अस्तित्व को नई पहचान उपलब्ध कराता है। लेकिन भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में महिलाओं की आर्थिक भागीदारी एंव उसकी संभावनाओं का दायरा काफ़ी सीमित है(कुछ समुदाय विशेष के अपवाद को छोड़कर)। अधिकांश भारतीय समाजों में(कुछ अपवादों को छोड़कर) पुरुष मुख्य कार्यकर्ता के रूप में स्थापित है और महिलाएं श्रम करते हुए भी अर्थव्यवस्था में मुख्य भागीदार के रूप में पहचान नहीं की गई हैं। स्त्री-पुरुषों के बीच श्रम विभाजन स्त्री विरोधी एंव पुरुष सत्ता को मजबूत करने के रूप में पहचाना गया और महिलाओं की श्रम की प्रकृति पर एक निश्चित समयांतराल के बाद, सस्ते श्रम की आवश्यकता के कारण सतह पर आई। महिलाएं निजी(घरेलू) क्षेत्र के अतिरिक्त सार्वजनिक(बाहर) क्षेत्र में भी श्रम में भागीदारी कर सकती है। इस स्थिति में बड़ा परिवर्तन औधौगिक क्रांति के पश्चात आया। क्योंकि, औधौगिक समाज में महिलाओं को काम के असंख्य अवसर थे। साथ ही, महिलाओं का श्रम सस्ते मूल्य में उपलब्ध था। इन बदलावों के कारण महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता के अर्थ की महत्ता और घरेलू कार्य के आर्थिक मूल्य की सार्थकता को भी बल मिला। इस आर्थिक स्वतंत्रता ने महिलाओं को श्रम के क्षेत्र में भागीदारी ज़रूर बनाया। परंतु, महिलाओं की श्रम को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में योगदान के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। क्योंकि उसके कार्य का भुगतान नहीं हो रहा है, यानि न तो महिला उत्पादक है और न ही कठिन शारीरिक परिश्रम करने में सक्षम है। महिलाओं की आर्थिक उपलब्धि उसके परिवार की आर्थिक परिस्थिति से जुड़ी हुई हैं और इसप्रकार पुरुष जीविकोपार्जन करने वाला है। जबकि महिलाएं शारीरिक श्रम आधारित कृषि क्षेत्र और अन्य गृह आधारित असंगठित और संगठित क्षेत्र में शामिल है। स्पष्ट है कि श्रम

---

[159] मार्गरेंट बेन्सटेन, स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र, का हिंदी अनुवाद 'दायित्वबोध' जुलाई-सितंबर 2000, पेज न०- 40

शक्ति के आधारित मानकों में महिलाओं का श्रम अदृश्य रूप में मौजूद हैं जिसे मान्यता मिलना अभी भी शेष है।

यह अध्याय हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं की श्रम या कार्य के विभिन्न आयामों को संबोधित करने का प्रयास है जिससे महिला श्रम के मान्यता आधारित कथनों की भ्रम को अनावृत किया जा सकें और लिंग के आधार पर श्रम का विश्लेषण हो सके। हिंदी पत्रकारिता ने कामकाजी महिलाओं की अस्तित्व को स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में नहीं, पारिवारिक इकाई के रूप में स्वीकार किया। जिसके कारण काम करती हुई महिला चाहे वो संगठित क्षेत्र में या असंगठित क्षेत्र में हो, आर्थिक भागीदारी करते हुए भी अदृश्य रह जाती है। साथ ही श्रम करती हुई कामकाजी महिलाओं किस परिपेक्ष्य में देखा जाये? यह समझना का प्रयास इस अध्याय में किया गया हैं।

मनुष्य की विशिष्ट स्थिति का निर्धारण सामाजिक संरचना में उसकी सामाजिक जिम्मेदारियों के आधार पर तय की जाती रही है। इसे उत्पादन के साधनों के साथ मनुष्य के संबंधों के आधार पर परिभाषित किया जाता है, जहां ऐतिहासिक, सास्कृतिक मान्यताओं के कारण स्त्रियों का उत्पादन साधनों से कोई संबंध नहीं बनता है। इसलिए स्त्रियों के श्रम को पुरुषों से कमतर आंकते है। इसके अतिरिक्त नर और मादा के रूप में मनुष्य की पहचान जैविक कारणों के साथ-साथ आर्थिक स्थिति और सामाजिक व्यवहारों के द्वारा भी तय होता है। हाईडी हार्टमैन के अनुसार के अनुसार-

> "जैविक अर्थो में हम नर और मादा की तरह, पैदा होते हैं लेकिन हमें सामाजिक मान्यता के द्वारा औरत और पुरुष बना दिया जाता है।"[160]

यह जैविक आधार, सामाजिक सरंचना की विशिष्ट और आर्थिक व्यवस्था भी स्त्री की यथार्थ को प्रभावित करता है। परस्पर विरोधी वाले सभी वर्गों के सामजिक सरंचना में भी स्त्री परिवार के मातहत ही रही है। इसके लिए जिम्मेदार कारणों के रूप में जे. एस. मिल ने जहां शारीरिक ताकत को महत्वपूर्ण माना, फ्रेडरिक एंगेल्स ने स्त्री की इस स्थिति को 'ताम्र और लौह औजारों के विनियोजन के सम्बन्ध से उपजी' माना और सिमोन द बाउवा ने इसका कारण 'श्रम की क्षमता से भिन्न प्राकृतिक रूप से मां बनने को विवश स्त्री की एक मौलिक और ठोस असुविधा की समस्या से जोड़ा'। इन तमाम विसंगतियों ने ऐतिहासिक तौर पर स्त्रियों की किसी भी तरह के सांस्कृतिक उत्पादन से बाहर रखा। स्त्री और पुरुष दोनों ही श्रम उत्पन्न करने की क्षमता

---

160 हाईडी हार्टमैन, मार्क्सवाद और नारीवाद के बीच अप्रिय विवाह, सन्धान, अप्रैल-जून 2001, पेज न०- 118

रखते हैं लेकिन स्त्रियां इस स्थिति में नहीं रहीं कि उसके द्वारा किए गए श्रम को पुरुषों के समान स्वीकृति मिले। स्त्रियां कभी सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा नहीं रही। यदि वे अपना श्रम निर्मित करने की कोशिश भी करती है जो पुरुष के श्रम से भिन्न हो तो नष्ट कर दिया जाता है। यायावार जीवन के बाद कृषि युग में मानव श्रम की आवश्यकता ने स्त्री की प्रजनन क्षमता का महत्व स्थापित किया। लवीसत्रास के अनुसार-

> "सत्ता चाहे सार्वजनिक हो या सामाजिक, वह हमेशा पुरुषों के हाथ में रही। स्त्री हमेशा अलगाव में रही। उसे पुरुषों ने देवी का रूप दिया तो इतना ऊंचा उठा दिया, निरपेक्ष रूप से इतनी पूज्या बना दिया कि मानव जीवन प्राप्त नहीं हो सका।"[161]

पुरुषों ने न तो विचार में, न श्रम में और न संतानोत्पति में स्त्री का साझा स्वीकार किया। मानव विकासक्रम आदिम युग से यायावार और कृषि युग से औधोगिक युग तक स्त्री की बारे में काफ़ी विरोधाभासी रही है। जबकि स्त्री घर और घर के बाहर सार्वजनिक क्षेत्र में पुरुषों के बराबर श्रम में अपनी भूमिका का निर्वाह करती रही है परंतु, उसका मूल्यांकन उनकी क्षमता के अनुसार कभी नहीं किया गया।

औरतों को घर की चारदीवारी से बाहर निकलने के लिए आवश्यक उत्पादन की प्रकृति में बदलाव, औधौगिक समाज में दिखता हैं। जब पूंजीवाद के सिद्धांत के तहत औधोगिक क्रांति के परिणामस्वरूप औरत को उत्पादक श्रम के क्षेत्र में प्रवेश मिला और यहीं से औरत की स्वाधीनता के दावे को आर्थिक आधार मिला। औधोगिक क्रांति ने महिला कामगारों का उपयोग सस्ते श्रम के रूप में किया। सस्ते श्रम के कारण महिलाओं को काम के असंख्य अवसर प्राप्त हुए।

परंतु, औधोगिक समाज ने किसी भी हद तक लैंगिक संबंधों में परिवर्तनकारी रूप में कोई काम नहीं किया जो स्त्री की हक में जाता। काफ़ी हद तक सामंती/कृषि समाज में महिलाओं की साथ पितृसत्तात्मक दवाबों में कोई खास बदलाव देखने को नहीं मिलता हैं। क्योंकि कार्य-संस्कृति में श्रम-विभाजन अपना प्रमुख स्थान रखता है और श्रम विभाजन में स्त्री-पुरुष के कार्यों की एक सीमा निर्धारण कर रखी है, सामाजिक मान्यताओं ने। औधोगिक क्रांति ने जब स्त्रियों की घर और बाहर उनके काम के अनुसार घरेलू और कामकाजी स्त्रियों के रूप में वर्गीकृत किया गया, तो उनके द्वारा बाहर किए जाने वाले काम को ही काम माना गया, क्योंकि उसके बदले में उन्हें पगार मिलता या मजदूरी मिलती थी। अल्वा मिर्डल अपनी पुस्तक 'अ वुमन इन टू रोल्स' में

---

[161] लवीसत्रास, सिमोन द बोउवा की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' का हिंदी रूपांतरण 'स्त्री उपेक्षिता', अनु. प्रभा खेतान, हिंद पाकेट बुक्स 1998 , पेज न०- 54

लिखती है कि औधोगिक क्रांति केवल प्रगतिशील शक्ति नहीं, बल्कि समाज को पीछे ले जाने वाली शक्ति भी थी, क्योंकि उसने हाउसहोल्ड सेक्टर में लगी स्त्री की श्रमिक वाली भूमिका को समाप्त कर दिया। घरेलू उत्पादन की व्यवस्था में स्त्री की श्रम का जो महत्व था या उसकी श्रम-शक्ति का जो मूल्य था, वह औधोगिक उत्पादन व्यवस्था में नहीं रहा। कुछ इस प्रकार की प्रवृति का विकास भूमंडलीकरण की आर्थिक बदलाव के कारण भी हुआ जिसने महिलाओं को दो हिस्से में बांटकर उसके विकास के नियामक को तय किया। इसका उल्लेख आगे किया जायेगा। जिसके कारण स्त्री-पुरुष में पारंपरिक संबंधों में कोई आमूलचूल परिवर्तन नहीं हुआ। परिणामत: पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री की श्रम पर अपनी लगाम कसने का काम किया। अचल संपत्ति का प्रभाव कम होने पर भी बुर्जुआ पारिवारिक एकता ने निजीकृत संपत्ति के सवाल पर पुरानी नैतिकताओं के साथ चिपका रहा। स्त्रियों की घर के दायरे में लौटने के लिए कहा गया। स्त्रियों की श्रम में अपना प्रतियोगी समझने के कारण मजदूर वर्ग ने भी खतरा समझा, क्योंकि स्त्रियां पुरुषों के अपेक्षा कम वेतन पर काम करने के लिए अभ्यस्त थी। परिवार के पुरुषों से अलग स्त्री अपना वेतन और बदले में घर की व्यवस्था में असंतुलन ने स्त्रियों की बाज़ार की श्रम शक्ति में भागीदारी को स्वीकार नहीं किया। एकल वेतन के स्थान पर पारिवारिक वेतन की सिफारिश की गई ताकि पत्नियों को परिवार में रखा जा सका और संसाधनों का नियंत्रण पुरुषों के हाथों में हो। पूंजीपतियों ने घरेलू मातृत्व की विचारधारा को विस्तार दिया। 19वीं शताब्दी के अंत में और 20वीं शताब्दी के आरंभ तक 'पारिवारिक वेतन' की मांग ने औरतों के लिए समान वेतन के संघर्ष करने की बजाये औरतों को घर केतरफ़ वापस करना चाहते थे। महिलाओं की मुक्ति और स्वतंत्रता के सुधारवादी और समतावादी आदर्श अतिवादी भेदभाव में बदल गए और स्त्रियों की हीनता के स्थिति में डाल दिया गया।

19वीं सदी के मार्क्सवादियों की भविष्यवाणी कि पूंजीवाद सबको सर्वहारा बनाने की आवश्यकता के सामने पितृसत्ता समाप्त हो जायेगी, सच नहीं साबित हुई। औधोगिक समाज में महिलाओं की बारे में जूलियट मिशेल लिखती हैं कि -

> "विकसित औधोगिक समाज में स्त्रियों का काम समूची अर्थव्यवस्था के सिर्फ़ हाशिये पर होता है। जबकि काम के जरिएआदमी प्राकृतिक अवस्थाओं को बदल डालता है और इस प्रकार समाज का निर्माण करता है। जब तक उत्पादन में क्रांति नहीं, श्रम के हालात स्त्रियों की स्थिति को पुरुषों की दुनिया के अंदर ही निर्धारित करते रहेंगे।"[162]

[162] जूलियट मिशेल "स्त्रियां : सबसे लंबी क्रांति" न्यू लेफ्ट रिव्यू दिसंबर 1966

सिमोन द बोऊवार मानती हैं कि औधोगीकरण के आगमन से स्त्री मुक्त नहीं हो सकी। परंतु, बुनियादी आर्थिक कारणों पर मिशेल कम जोर देती है। औधोगिक समाज के तरह किसी समाज ने घरेलू कामकाज का औधोगीकरण नहीं किया था। जिसके बारे में फ्रेडरिक एंगेल्स यह स्पष्ट करते हैं कि -

> "संपूर्ण स्त्रियों की मुक्ति की प्रथम पूर्व शर्त है सामाजिक उत्पादन के कामों में समूची स्त्री जाति का नये सिरे से जुड़ाव और यह केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उधोग के परिणामस्वरूप ही संभव हुआ है, जो बड़ी सख्यां में स्त्रियों की उत्पादन में भागीदारी को न केवल मुमकिन बनाता है बल्कि उन्हें वास्तव में उत्पादन में खींचना जिसके लिए जरूरी होता है। इससे भी अधिक, इसमे घर के निजी कामकाज को भी एक सार्वजनिक उधोग बना देने की प्रवृत्ति होती है।"[163]

जब तक स्त्रियों की सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और घर के निजी कामों तक सीमित रखा जायेगा, तब तक स्त्रियों का स्वतंत्रता प्राप्त करना और पुरुषों के साथ बराबरी का हक पाना असंभव ही बना रहेगा। परंतु, मिशेल मात्र स्त्रियों की मौजूदा औधोगिक उत्पादन में खींचने की बात नहीं करती है बल्कि घर-गृहस्थी के निजी उत्पादन के कामों सार्वजनिक उत्पादन में बदल देने की बात करती है। क्योंकि परिवार में पाई जानेवाली लैंगिक विषमता पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में विस्तार से फलीभूत होती है। जिसकी अनदेखी फ्रेडरिक एंगेल्स अपनी व्याख्या में करते है। फ्रेडरिक एंगेल्स ने घरेलू श्रम की महत्ता को कम करके आंका। घरेलू श्रम साधारण उपयोग मूल्य उत्पन्न करता है, इसलिए उन्होंने इसे गंभीरता से नहीं लिया। जबकि, नारीवादियों ने यह जाहिर किया है कि उत्पादक श्रम और उससे प्राप्त होने वाले अधिशेष मूल्य में घरेलू श्रम की बड़ी भूमिका होती हैं। स्पष्ट है समाजवादी चिंतकों ने उधोगीकरण को मानव मुक्ति का प्रमुख वाहक करार देकर सूत्रीकरण किया कि अगर पूंजी को निजी हितों की सेवा से हटाकर सामाजिक हितों के पक्ष में खड़ा कर दिया जाये तो उसकी प्रतिगामी भूमिका को कल्याणकारी चरित्र में तब्दील किया जा सकता है। बेवल जैसे समाजवादी विचारकों ने घोषणा की थी कि मशीनी सभ्यता नारी को आजाद कर देगी। मार्क्स की भी मान्यता थी कि एक श्रमिक के रूप में औरत जैसे ही घर की देहरी से बाहर निकल कर पुरुष श्रमिक के बराबर हैसियत प्राप्त करेगी, नर-नारी संबंध एक नई धरातल पर पहुंचना शुरू हो जाएंगे(भारतीय संदर्भ में राम मनोहर लोहिया भी स्त्री मुक्ति के लिए महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता की वकालत करते है)। जाहिर है कि पितृसत्ता की शक्ति और लचीलेपन को कम आंका गया और पूंजी की ताकत को बढ़ा कर आंका गया। यह तथ्य सामने आता है कि सभी कारकों में स्त्री को इकाई के रूप में नहीं देखा गया, उसके स्वतंत्र

[163] फ्रेडरिक एंगेल्स, परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, मास्को प्रगति प्रकाशन,1968. पेज न०- 62

अस्तित्व का नकार उसकी निम्नतर स्थिति के लिए जिम्मेदार बना रहा, इसी के समायातंर उसकी निम्न स्थिति में उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास के अवसर क्षीण रहे।

भारतीय उपमहाद्वीप में जाति और धर्म की व्याप्ति ने यहां की समाजिक-व्यवस्था को एक़दम अनूठा बना रखा है। जहां एक तरफ़, भारतीय जाति-व्यवस्था के कारण श्रम विभाजन के स्वरूप के स्तर पर भी भारतीय समाज अन्य समाजों से भिन्नता लिए हुए है। सभी समाज जाति के आधार पर ही गठित नहीं है। यहां जनजाति समाजिक-व्यवस्थाएं भी हैं। दोनों ही तरह के समाजों में श्रम विभाजन अलग-अलग स्वरूप लिए हुआ है। इसलिए जाति का नामकरण समाज के साथ आबद्ध पितृसत्ता का नामकरण ब्राह्मणवादी पितृसता किया गया है। उमा चक्रवती ने इस संबंध में निम्न मत व्यक्त किए हैं -

> Ø यह स्त्री पराधीनता के विभिन्न रूपों में से कोई एक रूप भर नहीं बल्कि हिंदू समाज और जाति आधारित व्यवस्था से आबद्ध खास संरचना है। भारत के अधिकतर क्षेत्रों में जड़ जमा चुकी इस पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान चिह्नित करने के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का प्रयोग उचित है।
>
> Ø यह वस्तुतनियमों का ऐसा पुंज है जिसमें जाति और जेंडर: एक-दूसरे से गुंथे हुए हैं और एक-दूसरे का स्वरूप तय करते हैं; जिसमें जातियों के बीच पदानुक्रम बनाए रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है।
>
> Ø इसने ऐसे कायदे बना रखे हैं कि दायराबद्ध विवाहवृत्तों की पदानुक्रमता-का उल्लंघन हुए बिना जाति व्यवस्था का पुनरुत्पादन होता रहे। जाति की स्थिति और रुतबे के अनुसार ही उसकी स्त्रियों के (अशुद्ध/शुद्ध) लिए कायदे तय किए गए हैं। इन कायदों को तय करने का अधिकार ऊँची जातियों के पास रहा है।
>
> Ø यह पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों के महिमामंडन द्वारा स्त्रियों से उनकी अपनी ही अधीनता के लिए सहमति प्राप्त करता है। ज़रूरत पड़ने पर इसने दंड की भी व्यवस्था कर रखी है।

> Ø अपनी आनुष्ठानिक हैसियत उठाने के लिए निम्न जातियां अक्सर इन कायदों का अनुसरण करना शुरू कर देती है। इस क्रम में वे यह नहीं समझ पातीं कि उच्च और निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए विवाह और यौन संबंधी अलग-अलग कायदों का ऊंची जातियों द्वारा निम्न जातियों के श्रम के दोहन से गहरा संबंध है। यह इस बात की व्याख्या करता है कि क्यों एक तरफ़ तो ऊंची जातियों में विधवा पुनर्विवाह भी निषेध है और दूसरी तरफ़ निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह ही नहीं बल्कि उनसे जबरन सहवास तक की संभावना खुली रखी गई है।

वही दूसरी तरफ़, भारतीय परिपेक्ष्य में श्रम-विभाजन के संबंध में समाज की संरचनाओं में धर्म और आस्था के बीच भी गहरा जुड़ाव रहता है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न धार्मिक समुदायों में श्रम-विभाजन का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न रहा है। जाहिर है कि भारतीय उपमहाद्वीप में जाति, वर्ग, धर्म, आस्था और सामुदायिक नियम-क़ायदे एक ऐसा नियामक है जो महिलाओं की आर्थिक गतिशीलता पर प्रत्यक्ष या अप्रयक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं, जिसके कारण कई दफा आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर महिलाएं भी न तो इन स्थापित नियामकों में न तो बेंध पाती है न ही स्त्री-पुरुष के वर्चस्वशाली मानसिकता को तोड़ पाती हैं। मसलम, हिंदू धर्मग्रंथ में 'यंत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमंते तत्र देवता:' का उल्लेख ज़रूर देखने को मिलता है। परंतु, स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता के बारे में एक पुरानी धारणा चली आ रह हैं कि-

> "बचपन में स्त्री को पिता के अधीन रहना चाहिए, युवावस्था में पति के और वृद्धावस्था में पुत्रों के मतलब यह कि हर अवस्था में उसे किसी न किसी के अधीन अवश्य होना चाहिए, उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।"[164]

स्वयं हिंदू स्त्री भी कभी यह समझ नहीं पाई कि वह स्वतंत्रता और अधिकारों से वंचित क्यों रखी गई है? इसके विपरीत मुस्लिम धर्मग्रंथ में महिलाओं की भूमिका को चार दीवरी के अंदर सीमित नहीं करता जो महिला व्यवसाय करना चाहती है, इस्लाम में उसपर कोई प्रतिबंध नहीं लगाता है। व्यवसाय से अर्जित संपत्ति पर भी व्यक्तिगत रूप से महिला का ही अधिकार होता है। परिवार इस संपत्ति पर अपना दावा नहीं कर सकता है। परिवार के जिम्मेदारी का निर्वाह पुरुषों के ऊपर होता है। जो महिलाएं खेती, व्यापार, हस्तकला में संग्लन थी उन्हें पैगम्बर(सल्ल०) ने कभी हतोत्साहित नहीं किया। इस्लाम धर्म में महिलाओं को पैतृक संपत्ति में अधिकार प्रदान किए गए

[164] राकेश नाथ "क्या हिंदू नारी आज भी उपेक्षित नहीं?" विश्व पुस्तक, नई दिल्ली 2012 पेज न०-79

है, अत: विवाह के संबंध में उसके शोषण का प्रश्न नहीं उठता है।(परंतु, व्यावहारिक स्वरूप में यह अवधारणा इतने आदर्श स्थिति में अपवाद के रूप में दिखती है। मुस्लिम समाज में इसकी सामाजिक स्थिति अलग-अलग तरह से देखने को मिलती है।) लेडी कोबाल्ड के अनुसार-

> "यह वह व्यवस्था है जिसमें उस बंधन को खोल दिया जिसमें महिलाएं इतिहास के उदय से ही जकड़ी हुई थी और उन्हें सामाजिक स्थान और वैधानिक अधिकार प्रदान किया, उन्हें ऐसे अधिकार दिये जिन्हें इग्लैंड में कई सदियों बाद तक नहीं दिये गए थे।"[165]

इसीप्रकार, हर धर्म स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता और सामाजिक अधिकार को अलग-अलग तरीके से व्याख्या करता है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि बदलते समय में आर्थिक गतिशीलता और समुदाय की विचारधाराएं महिलाओं की श्रम की स्थिति को उदार नहीं बनाया है। क्योंकि किसी भी समाज या समुदाय के नैतिक नियम शाश्वत नहीं रहते। वो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों से बदलते रहते है। स्त्री अधिकार को लेकर समय-समय पर आंदोलन खड़े हुए और कई नई कानून स्त्री हित में बनाए जाते रहे हैं। परंतु, श्रम के क्षेत्र में महिलाओं की लिए उपयुक्त महौल का अभाव आर्थिक स्वाबंलबन के दिशा में महिलाओं की अधिकार के लिए लंबे संघर्ष की मांग करता है। जिससे श्रम के क्षेत्र में समानता और स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकें।

औपनिवेशिक भारत में महिलाओं की कार्य प्रकृति पर बहस हिंदी पत्रकारिता में सामने आने शुरू हुए जब हिंदी पत्रकारिता और साहित्यक पत्रिकाओं ने महिलाओं की निजी और सार्वजनिक कर्तव्यों के साथ-साथ उसके ज़रूरतों पर जोरदार बहसें चलाई गई(हालांकि कई ऐसे क्षेत्र थे जहां महिलाएं धर्नाजन कर रही थी, मसलन गणिकाएं, वेश्याएं, खेतों, चाय बगानों, घरों में, गर्भवती महिलाओं की प्रसूती का कार्य। परंतु, इन महिलाओं की कार्य और उनके कार्य की प्रकृति इस दौर में सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा नहीं बन पा रही थी। क्योंकि महिलाओं की कार्य के प्रकृति की बहस मध्यवर्गीय महिलाएं और ज़रूरतमंद महिलाओं की मध्य उलझा हुआ था।)।

धर्म, समाज और परंपरा से जुड़े समाज में महिलाओं की निजी कर्तव्यों और सार्वजनिक दुनिया में महिलाओं की भागीदारी के सवाल पर द्वंद्व देखने को मिलता हैं। 19वीं कई आर्थिक सामाजिक बदलाव ने मध्यवर्गीय शिक्षित महिलाओं को पत्रिकाओं की सम्पादिका, स्कूल-कालेजों में शिक्षिका, अस्पतालों में सहायिका और समाज सुधारक संगठनों में प्रवेश मिलना प्रारंभ हो गया था। वर्ष 1920-40 के अवधि में कई शिक्षित स्त्रियां सामने आ चुकी थी। इन महिलाओं ने

---

[165] मोहसिन हामिद, "मुहम्मद से वफा" .....नई दिल्ली. 2012 पेज न०- 39

भूमिका-आधारित शिक्षा पर के मुद्दे पर संघर्ष किया। साथ ही, सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों के प्रवेश और उनके रोज़गार के प्रश्न को इस तर्क के साथ उठाया कि बहुत सी औरतों के लिए सम्मानजनक रोज़गार की सच्ची जरुरत थी और वह राष्ट्र सेवा का एक रूप भी बन सकता है। फ्रांचेस्का आंर्सीनी सार्वजनिक दुनिया में महिलाओं की सहभागिता पर लिखती हैं कि -

> "गृहलक्ष्मी, स्त्री दर्पण, प्रभा और चांद जैसी पत्रिकाओं ने सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की बढ़ती मौजूदगी को उजागर किया। कुछ महिलाएं अपनी जाति संगठनों के जरिएभी अपनी हिंतों के बारे में जागरूक हो रही थीं और अपनी गतिविधियों का दायरा बढ़ा रही थी। परंपरागत लैंगिक विभाजन की सीमाओं की संकीर्णता को कुछ हद तक चुनौती मिल रही थी।"[166]

महिलाओं की कार्य-क्षेत्र और कार्य प्रकृति को शिक्षित महिलाओं ने स्वयं परिभाषित करने का प्रयास उनके अभिव्यक्तियों में दिखता है। मसलन, चंद्रावती लखनपाल लिखती हैं कि-

> "स्त्रियों का कार्यक्षेत्र सदियों से घर समझा जाता रहा है। घर से बाहर की दुनिया के साथ भी उसका संबंध हो सकता है, इसपर मानव-समाज ने बहुत देर से विचार नहीं किया। विवाह करना, पति की बात मानना, संतानोत्पति- यही उनके जीवन का ध्येय रहा है। इतने काम के लिए शिक्षा की क्या आवश्यकता? अगर उन्हें थोड़ा-बहुत पढ़ना भी हो, तो उतना ही काफ़ी है, जितना पति के जी-बहलाव के लिए पर्याप्त हो। उन्हें चिट्ठी लिखना आना चाहिए, इससे आगे स्त्री-शिक्षा निरर्थक हो जाती है।"[167]

रामरख सिंह सहगल (चांद पत्रिका के संपादक) ने इस तर्क का समर्थन किया। वो लिखते हैं कि-

> "स्त्री की भूमिका के दायरे को समाज और राष्ट्र के अधिक व्यापक क्षेत्र तक फैला देना चाहिए। शिक्षा इस अर्थ में निपट साक्षरता ही नहीं, बल्कि आत्म-सम्मान और आत्म-चेतना के प्रति जागरूकता भी थी।"[168]

रोज़गार के साधन के रूप में महिलाओं द्वारा शिक्षा की पहचान इस अवधि में स्त्रियों की निर्भरता और उन्हें घर में सीमित रखने वाली भूमिका पर बहसों को तेज़ कर रही थी। महिलाओं की रोज़गार के सवाल पर इस पूरी अवधि में तर्क-वितर्क देखने को मिलते हैं। अध्यापिकाओं, महिला डाक्टरों, नर्सो और वकीलों की भारी मांग थी; देश के प्रति कर्तव्य उतना ही प्राथमिक और प्रबल था जितना परिवार के प्रति। शिक्षा ने महिलाओं की ऐसे दरवाजे खोलना शुरू कर दिया था जिसे बंद करना संभव नहीं हो रहा था। इस तरह का बदलाव महिला, परिवार और घर-बाहर की

---

[166] फ्रांचेक्का आंर्सीनी, 'हिंदी का लोकवृत(1920-40)', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011 पेज न० - 318

[167] चंद्रावती लखनपाल, स्त्रियों की स्थिति, गंगा पुस्तक माला, तीसरा संस्करण, लखनऊ,1941 पेज न०- 123

[168] रामरख सिंह सहगल, 'राष्ट्रीय दृष्टि से स्त्री शिक्षा की आवश्यकता', स्त्री दर्पण जुलाई 1921, पेज न०- 13

स्थिति में भी कई परिवर्तन ला रहा था, जिसने इस समय पितृसत्तात्मक असुरक्षाओं को भी बढ़ाया और महिलाओं पर नियंत्रण को जरूरी बना दिया। इन्हीं कारणों से स्त्री शिक्षा को बेहद समाज-सुधारक आशंकित नज़रियेसे देख रहे थे। उन्होंने स्त्री शिक्षा को कभी भी लैंगिक श्रेणीबद्धता को धवस्त करने के रूप में नहीं देखा। समाज-सुधारक अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि -

> "हम अपनी स्त्रियों की शिक्षित देखना तो चाहते हैं पर यदि शिक्षा का अर्थ उनका अपनी मनमाफिक लोगों के साथ मनमाना मेलजोल बढ़ाना, ज्ञान में वृद्धि के साथ नैतिकता का गिरावट जुड़ जाना, हमारे सम्मान का अवमूल्यन और घरों के अन्दर की निजता का हनन होना हो जाये तो हम अपनी स्त्रियों की शिक्षित करने के बजाये अपना सम्मान संजोकर रखना चाहेंगे- चाहे इसके लिए हमें हठधर्मी, पूर्वग्रही या सिरफिरा ही क्यों न कहा जाये।"[169]

चांद पत्रिका जिसमें महिलाओं से संबंधित हर विषय स्थान पाता था, अपनी संपादकीय 'घर और बाहर'(1) शीर्षक के अन्तर्गत कहता है -

> "अपनी असीम विधा-बुद्धि का भार लिए हुए एक स्त्री किसी के गृह का अलंकार मात्र बनकर संतुष्ट हो सकेगी, ऐसी आशा के अतिरिक्त और क्या हो सकती थी। वर्तमान युग के पुरुष ने स्त्री की वास्तविक रूप को न कभी देखा था न वह उसकी कल्पना कर सका। उसके विचार में स्त्री का परिचय का आदि-अंत इससे अधिक और क्या हो सकता था कि वह किसी की पत्नी है। कहना न होगा कि इस धारणा ने ही इतने असंतोष को जन्म देकर पाला और पालती जा रही है। स्त्रियों के उज्जवल भविष्य को अपेक्षा रहेगी कि उसके घर और बाहर में ऐसा सामंजस्य स्थापित हो सके, जो उसके कर्तव्य को केवल घर या बाहर ही सीमित न कर दे। ऐसी सामंज्यपूर्ण स्थिति के उत्पन्न होने में अभी समय लगेगा और संभव है यह मध्य का समय हमारी क्रमगत सामाजिक व्यवस्था को कुछ डांवाडोल भी कर दे। परंतु, निराशा को जन्म देने वाले कारण नहीं उत्पन्न होने चाहिए।"[170]

इसीप्रकार अगले अंक में प्रकाशित 'घर और बाहर' (2) में कहा गया है कि -

> "समय की गति के अनुसार न बदलने वाली परिस्थितियों ने स्त्री की ह्रदय में जिस विद्रोह का अंकुर जम जाने दिया है उसे बढ़ने का अवकाश यही घर-बाहर की समस्या दे रही है। जब तक समाज का इतना आवश्यक अंग अपनी स्थिति से असंतुष्ट तथा अपनी कर्तव्य से विरक्त है, तब तक प्रयत्न करने पर भी हम सामाजिक जीवन में सामंजस्य नहीं ला सकते। केवल स्त्री

[169] Aligarh Institute Gazette, 8 July 1870, Native Newspaper Reports of UP, 1वर्ष 19वर्ष 19909-10, Allahabad, 1911:5.

[170] चांद, दिसंबर, 1936, पेज न०- 166-167

> की दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन हमारे सामूहिक विकास के लिए यह आवश्यक होता जा रहा है कि स्त्री घर की सीमा के बाहर भी अपना कोई विशेष कार्यक्षेत्र चुनने में स्वतंत्र हो।"[171]

समाज सुधारकों ने स्त्री शिक्षा को पहले बेहतर सहचरी के लिए जरूरी समझा और बाद में इसे ज़रूरतमंद दुखियारी महिलाओं के लिए खोला। परंतु, इससे परंपरागत लैंगिक विभाजन और सीमाओं की संकीर्णता को भी चुनौती मिल रही थी। शिक्षित महिलाओं ने इसे अपनी अस्मिता और समाज के उनकी भूमिका के रूप में देखा और सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी भूमिका के बहस को तेज़ किया।

महिलाओं की रोज़गार के संबंध में समाज सुधारकों की भूमिका पर फ्रांचेक्का आंर्सीनी लिखती हैं कि -

> "समाज सुधारकों ने रोज़गार के लिए शिक्षा के सवाल पर पहले 'अबलाओं'- अक्सर बाल-बच्चेदार विधवाओं और परित्यक्त औरतों- की समस्या के समाधान के रूप में प्रस्तुत किया; इस दलील के साथ कि वेश्वावृत्ति या ईसाइयत अथवा इस्लाम में धर्मान्तरण का यही एकमात्र सम्मानजनक विकल्प था। इन बड़े खतरों से जूझते हुए क्या यह बेहतर नहीं था कि वे काम करके आत्मनिर्भर हो जाये?"[172]

हिंदी के सार्वजनिक दुनिया में वर्ष 1930 के दशक तक शिक्षित स्त्रियां, जो खुद काफ़ी कम सख्यां में थीं, शादी अब भी एकमात्र रास्ता था, लेकिन शिक्षित कामकाजी औरतों की छवि- अविवाहित अध्यापिका, समाज सेविका या राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में सामूहिक कल्पना में जगह बना चुकी थी और उसे स्वीकृति भी मिल रही थी। परंतु, इसमें शिक्षित मध्यवर्गीय महिलाएं ही शामिल थी। यह मुख्य रूप से एक शहरी परिघटना ही थी जिसमें ग्रामीण औरतें और निचले तबकों और निचली जातियों की लड़कियां पूरी तरह से वंचित थी। जबकि महिलाओं की एक बड़ी सख्यां अन्य कई व्यावसायिक कार्यों में, कृषि में, घर में काम करने वाली दाईयों और कई कार्यों में संलग्न थी। निचले तबके के मजदूर वर्ग शिक्षा और भाषा जैसी समस्याओं के कारण हिंदी के सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी हिस्सेदारी में असर्मथ थे। शिक्षित वर्ग के प्रतिनिधियों ने अपनी दावों के सामने असंगठित समुदाय के सदस्यों (जिसमें कृषि कार्य में लगे लोग, मजदूर, घरों के काम करने वाले नौकर और कृषि से संबधित अन्य व्यवसायों में लगे लोग शामिल थे) को विमर्श का हिस्सा नहीं बनने दिया। श्रम के साथ उनका या उनके समुदाय का प्रश्न विमर्श के रूप में स्थापित नहीं हो पा रहे थे।

---

[171] चांद, जनवरी, 1937, पेज न०- 269

[172] फ्रांचेक्का आंर्सीनी, 'हिंदी का लोकवृत(1920-40)', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011 पेज न०- 59

इस दशक में हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं की कार्य की प्रकृति और महिलाओं की निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र मे भूमिका पर बहस दो विचारधारा से प्रभावित दिखती है। पहला यह कि स्त्रियां सामाजिक तौर पर मां की भूमिका में अधिक उपयोगी है इसलिए उसके अधिकारों को मान्यता मिलनी चाहिए और दूसरा महिलाओं की ज़रूरतें, इच्छाएं तथा क्षमताएं पुरुषों के समान है इसलिए वे समान अधिकारों की हकदार है। इन विचारधाराओं का प्रभाव महिलाओं की संघर्ष के मुद्दों और महिला संगठनों पर भी दिखता है। भारतीय महिला आंदोलनो पर विचारधाराओं के प्रभाव को मेट्सन एवरेट दो भागों में बांट कर देखते हुए लिखती हैं कि-

> "पहला भाग है महिला उत्थान जिसे प्राप्त करने के लिए सामाजिक कुरीतियों के ख़िलाफ़ जेहाद चल रहा था और दूसरा है महिलाओं और पुरुषों के लिए समान अधिकार। यदि महिला उत्थान का लक्ष्य सामूहिक महिलावाद था तो समान अधिकार उदारवादी महिलावादी लक्ष्य था। महिला उत्थान महिलाओं की त्याग, अहिंसा और वफादारी सरीखे मूल्यों को संजोकर मां, पत्नी और गृहस्थिन की बेहतर भूमिका निभाने के लिए तैयार करने पर जोड़ दे रहा था तो समान अधिकार की अवधारणा इस बात पर जोड़ दे रही थी कि महिलाओं सहित सभी समूहों की क्षमताओं को विकासात्मक कार्यों में लगाया जाये। सामान अधिकारों के लक्ष्य के प्राप्ति के मार्ग में आने वाली सामाजिक और कानूनी आवश्यकताओं सरीखी बाधाओं को खत्म किया जा सके।"[173]

19वीं के दौरान महिला संगठनों के उभार और महिला प्रश्नों के साथ उनके संघर्ष ने कामकाजी महिलाओं(जो फैक्ट्रियों, चाय बगानों, कपड़ा-जूट मिलों, सफाई कर्मचारी का काम करती थी) के सोच में बदलाव लाने की कोशिश ज़रूर की। परंतु, सुधारवादी आंदोलनो में महिलाओं की पुरुषों के साथ पूरक भूमिका निभाने वाले छवि ने पुरुषों का विरोध कभी होने नहीं दिया। जिसके कारण महिलाओं की कई सवाल सही परिपेक्ष्य में उभरकर सामने नहीं आ सके। कामकाजी महिलाओं की सवाल महिला उत्थान के विषय पर सिमटने लगे। इसके साथ-साथ महिलाओं की आमदनी को पुरुषों के आमदनी में पूरक सहायता के रूप में देखने की प्रवृत्ति भी मौजूद थी, जो महिलाओं की अर्थोपार्जन को जीवनयापन के लिए धन कमाने के रोज़गार के रूप में विकसित नहीं होने दे रही थी और महिलाओं की घरेलू भूमिकाओं के प्रशिक्षण को अधिक जोर दिया जा रहा था। मसलन, टाइम्स में प्रकाशित यह उद्दरण को देखा जा सकता है-

[173] Jana Matson Everett, Women and Social Change in India, St.Martin's Press, 1979 pp.66

> "वर्ष 1926 में अखिल भारतीय महिला संघ ने अपनी चार्टर में ऐसी शिक्षा की मांग कि जो भारतीय स्त्री को उनकी घरेलू भूमिका अच्छी तरह से निभाने में सहायक हो तथा इसके साथ ही गरीब स्त्रियों की व्यावसायिक प्रशिक्षण दिए जाने की मांग जोड़ दी गई।"[174]

कामकाजी महिलाओं की लिए इस तरह की सोच और महिला संगठनों की महिला उत्थान के विचार आगे के देशकाल में लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन पर प्रहार करने की पीठिका भी तैयार नहीं हो सकी। इसे फारवर्ड पत्रिका के इस उद्दरण से समझा जा सकता है -

> "समान्यतौर पर इस संस्थान का यह उद्देश्य नहीं होगा कि यह उन स्त्रियों की प्रशिक्षण दे जो प्रशिक्षित होकर संस्थान में प्राप्त प्रशिक्षण को अपनी जीवन-यापन का जरिया बनाने को उत्सुक हैं। परंतु, संस्थान ऐसी महिलाओं का स्वागत करेगा जो इस बात के लिए तैयार हैं कि वे संस्थान से प्राप्त शिक्षा का उपयोग अपनी घर तथा आसपास के लोगों को जानकारी देने में करेंगी ताकि स्त्रियां राष्ट्र के निमार्ण एंव उत्थान के योगदान में अपना उचित हिस्सा प्राप्त कर सके।"[175]

यह उद्दरण यह स्पष्ट करता है कि कामकाजी महिलाओं का प्रश्न इस देशकाल में महिला उत्थान के तरफ़ अधिक परिवर्तित हो रहा था। मातृत्व की विचारधारा कामकाजी महिलाओं पर हावी हो रही थी। जिसके कारण औधोगिक रोज़गार से स्त्रियों की छंटनी के मुद्दे के विरोध वास्तविक बहस का विषय नहीं बन पाई।(हालांकि, मातृत्व की विचाराधारा के साथ रोज़गार का अधिकार आजादी के बाद सत्तर के दशक में एक महत्वपूर्ण सवाल बन कर उभरा और महिलाओं को प्रसूति लाभ, मातृ-स्वास्थ्य सुरक्षा का अधिकार वेतन में बिना कटौती के प्राप्त हुआ)। इस देशकाल के मध्य में गांधीजी ने भी महिलाओं की कार्य की प्रवृति, निजी और सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की उपस्थिति को प्रभावित किया। महिलाओं की प्रश्नों को पुनरूत्थानवादियों और उग्र सुधारवादियों ने एक ओर मां की छवि तो दूसरी ओर शक्ति की छवि पेश की। लेकिन गांधीजी ने मां को नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के खान, पुरुषों के गुरु और मार्गदर्शक के रूप में देखा और दूसरों को इस रूप में देखने पर जोड़ दिया। मधु किश्वर महिलाओं की बारे में गांधीजी के विचारों के विश्लेषण करते हुए लिखती हैं कि -

> "गांधीजी ने महिलाओं को सार्वजनिक जीवन में एक नया आत्मसम्मान, एक नया विश्वास और एक नई आत्मछवि दिलाई। वे निष्क्रिय वस्तु से सक्रिय नागरिक और सुधारक बनी। गांधीजी

---

[174] 28 जुलाई 1929, टाईम्स आंफ इंडिया

[175] फारवर्ड देशबंधु चितरंजन दास पर प्रकाशित विशेषांक, जुलाई 1927, पेज न०- 55

> ने पारंपरिक प्रतीकों को सकारात्मक ढंग से इस्तेमाल करके महिलाओं को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल होने के लिए मजबूर किया।"[176]

परंतु, लैंगिक न्याय के लिए महिलाओं की लिए आर्थिक स्वावलंबन को उन्होंने श्रमदान से जोड़ दिया। नारी मुक्ति या महिलाओं की अधिकारों के प्रश्न पर गांधीजी ने धार्मिक प्रतीकों का इस्तेमाल किया और चरखा को उनके मुक्ति का साधन माना। महिलाएं इस प्रयोग से घर से बाहर तो आई पर यह एक सीमा तक ही संभव हो सका। इस अवधि में प्रशिक्षित महिलाओं द्वारा अर्थोपार्जन के बजाये समाजसेविका के आधार तैयार किया गया। परंतु, महिला श्रमिकों को संगठित करने का महत्वपूर्ण प्रयास नहीं दिखता है। हालांकि स्वदेशी आंदोलन के नारे और राष्ट्र निर्माण के महान आदर्श के लिए रोज़गार सृजन के प्रयास किए गए। इस तरह के प्रयास पुरुषों की आमदनी में महिलाओं की ओर से कुछ पूरक सहायता के मद्देनज़र किए गए न की जीवनयापन के लिए धन कमाने के उद्देश्य से। इसतरह औपनिवेशिक शासन में महिलाएं श्रम के क्षेत्र में अपनी सहभागिता करते हुए मुख्य सहभागी के रूप में अपनी पहचान स्थापित नहीं कर सकी। राष्ट्रीय आंदोलनों ने अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार महिला श्रम की भूमिका का विस्तार किया। मध्यवर्गीय और निर्धन दोनों वर्ग की महिलाएं पारंपरिक घरेलू श्रम, स्वरोज़गार और श्रम के अन्य क्षेत्र के साथ अदृश्य क्षेत्र में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रही थी।

आजादी के बाद संविधान द्वारा स्त्री-पुरुष समानता की घोषणा और बदलती हुई सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने निजी और सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की पुनरुत्पादक क्षमता के बजाये उत्पादक क्षमता को रेंखाकित किया। जिसने कामकाजी महिलाओं को पत्नी-माता-शक्ति की छवि का परित्याग कर उसे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के लिए प्रेरित किया। राष्ट्रीय श्रम आयोग की रिपोर्ट के अनुसार-

> "शिक्षा के प्रसार ने, विशेष रूप से शहरी क्षेत्रों में स्त्रियों के लिए शारीरिक श्रम की अपेक्षा रखने वाले कार्यों, अलग क़िस्म के रोज़गारों- जैसे कलर्क, प्रशासक, वकील, डाक्टर आदि के कामों के लिए अधिक अवसर सुलभ कर दिए।"[177]

---

[176] लता सिंह, राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाएं : भूमिका और सवाल. नारीवादी राजनीति :संघर्ष एंव मुद्दे सं निवेदिता मेनन, साधना आर्य, जिनी लोकनीता, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निर्देशालय, दिल्ली विश्वविधालय, नई दिल्ली पेज न०-168

[177] राष्ट्रीय श्रम आयोग की रिपोर्ट, रिपोर्ट आंन द पेटर्न आंफ ग्रेजुएट एम्प्लायमेंट, भारत सरकार के श्रम मंत्रालय का रोज़गार एंव प्रशिक्षण महानिदेशालय, 1963, पेज न०-380

कई अध्ययनों में यह पाया गया कि आर्थिक कारणों से स्त्री को कामकाजी होने के अवसर मिलने लगे। महिलाओं की काम के प्रति मनोवृत्ति में अंतर आ रहा था। परंतु, यह काफ़ी हद तक शहरी और महानगरों तक ही सीमित था। नर्गिस मिर्जा का केस[178], सी.बी.मधुमा[179] और अन्य कई मामलों इस दशक में कामकाजी महिलाओं की समस्याओं को प्रकट करते है। इन मामलों में महिलाओं की साथ रोज़गार के क्षेत्र में भेदभाव और कार्यक्षेत्र में उत्पीड़न के सवालों को विमर्श के केंद्र में ला दिया। परंतु, स्वतंत्र भारत में महिलाओं की कार्य की प्रकृति पर एक सुनिश्चित बहस आजादी के दो दशक सतह पर उभर कर आई।

जब समानता की ओर(Towards Equality) रिपोर्ट ने भारत में महिलाओं की परिस्थितियों पर विस्तृत अध्ययन किया। इस रिपोर्ट में आर्थिक कार्यों के आधार पर, विशेषकर संगठित और असंगठित क्षेत्रों में महिलाओं की योगदान की उपेक्षा पर प्रकाश डाला। इस रिपोर्ट ने महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता के अर्थ और महत्ता और घरेलू कार्य के आर्थिक मूल्य की सार्थकता को स्थापित करने का प्रयास किया। साथ ही इस तथ्य को भी स्थापित किया कि महिलाओं को निरंतर कार्य का न तो कोई प्रतिफल मिलता है, न कोई पहचान। आजादी के बाद स्वीकृत अर्थव्यवस्था ने रोज़गार महिलाओं की लिए एक ऐसा कठोर यर्थाथ था जिसमें में वह सक्रीय रूप से सहभागी थी। परंतु, संगठित और असंगठित दोनों ही क्षेत्रों में कई बाधाओं का भी सामना करना पड़ता था, जो कामगर के रूप में उनको प्रभावित करते थे। न्यूनतम वेतन, न्यूनतम घंटे, प्रसूति लाभ, मातृ-स्वास्थ्य सुरक्षा, कानूनी सहायता सरीखे अधिकारों से भी उनको वंचित रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त महिलाओं की कार्य की सांस्कृतिक संरचना, महिलाओं की कार्य के प्रति समाज की असंवेदनशीलता, महिलाओं की कार्य मापने में कठिनाई, प्रभावी सामाजिक पूर्वाग्रह भी महत्वपूर्ण कारक के रूप में महिलाओं की रोज़गार को प्रभावित करते है।

आर्थिक व्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी और उसको प्रभावित करने के कारणों की अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलती है। हिंदी पत्रकारिता के साथ समस्या यह भी थी आजादी के बाद के समरस माहौल और संविधान की लैगिंक समानता की गारंटी के वादों के बीच कोई विवाद छेड़ने का जोखिम उठाना नहीं चाहता थी। जिसके कारण इस अवधि की यह विशेषता रही कि चाहें गृहणियां हो या नौकरी-पेशा स्त्रियां उन्हें एक पारिवारिक इकाई के रूप में पेश किया गया। परंतु, जैसे-जैसे महिलाओं की रोज़गार में साधनों में वृद्धि हुई, महिलाओं की

[178] Air India v. Nargis Mirza (AIR 1981 SC 1829) The validity of the Indian Air lines and Air India's service rules providing that an Air Hostess had to retire from service at the age of 35 or on marriage whichever was earlier, or if she got married within four years of confirmation or on first pregnancy was struck down and held arbitrary.

[179] A service rule whereby marriage was a disability for appointment to foreign service was declared unconstitutional by the Supreme Court.

लिए प्रकाशित होने वाले महिला-स्तंभ और कालमों में कामकाजी महिलाओं की ध्वनियां मुखरित होने लगी। प्रकाशित सामग्री में कामकाजी महिलाओं की समस्या और महिलाओं की जीवन में रोज़गार के साथ-साथ घर ही प्राथमिक है जैसे विचार अभिव्यक्त होने लगे। हिंदी पत्रकारिता ने दोनों ही स्वरों को अपना समर्थन दिया। हिंदी पत्रकारिता के इस प्रवृत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण श्रीमति कमला भसीन ने अपनी महत्वपूर्ण लेख "वीमेन डेवलपमेंट एंड मीडिया"[180] में किया है। उन्होंने इंगित किया है कि आजादी के बाद हिंदी पत्रकारिता में एक नव-रूढ़िवाद का जन्म हुआ। इसके दो प्रमुख कारण हुए पहला, नारी मुक्ति आंदोलन का प्रेरणा स्त्रोत स्वाधीनता संग्राम अपनी लक्ष्य सिद्धि के बाद पृष्ठभूमि में चला गया था। दूसरा, स्वतंत्र भारत के उभरते उधोगों ने अपनी व्यावसायिक हित और सस्ते श्रम के साधन के लिए नारी की परंपरागत और आधुनिक छवि दोनों को ही उभारा। 'विमेन्स मैगजीन्स -ए पोजेटिव रोल? वाई आर दे अलाईक' में विधा बल बताती हैं कि-

> "महिलाओं की अधिकतर पत्रिकाएं इस बात का लगातार ध्यान रखती हैं कि उर्जा को एक संकीर्ण सारिणी के ओर मोड़ा जाये और उनके सरोकारों, व्यस्तताओं व आकांक्षाओं को एक मनमाने आरोपित नारीत्व के ढांचे में आबद्द किया जाये। कुछ इस प्रकार की धारणा भी फैलाई जाती है कि घर की दुनिया से महिलाओं का सरोकार है और बाहर की दुनिया पुरुषों का सीधा संबंध है।"[181]

इन विरोधाभासी परिस्थितियों ने कामकाजी महिलाओं में वर्ग-चैतन्य पैदा कर महिलाओं को संगठित और उन्हें एकजुट होने के लिए तैयार किया। साथ ही साथ उन्हें श्रमिक राजनीति में बढ़-चढकर भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। कामकाजी महिलाओं ने अपनी कार्य क्षेत्र में अपनी अधिकारों के लिए संघर्ष करने के लिए संगठनात्मक रूप में सामने आई, जो संगठित और असंगिठत क्षेत्र में महिलाओं की कार्यक्षेत्र और कार्य की प्रकृति का मूल्यांकन और संघर्ष करता है। वास्तव में, महिलाओं की कार्य के अनुभव के आधार पर संगठित और असंगठित क्षेत्र के बीच बहुत पतली रेखा है जो कार्य की स्थिति की मांग के अनुसार प्रशिक्षण और अप्रशिक्षण के आधार पर उसे कभी संगठित और असंगठित क्षेत्र के दायरे में ढकेल देती है। परंतु, यह विभाजन महिलाओं की कार्य की प्रकृति और उसकी वास्तविक स्थिति का सटीक मूल्यांकन भी करता है।

---

[180] Women Development and Media .Co-edited with Bina Agarwal.Kali for Women, New Delhi 1985, page no- 35

[181] vidha Bhail, "women's mazection – a positive Role ? Why are they unlike? Seminer press institute of Mass Communication and I.C.S.S.R.,New Delhi, 1976

2.1 **सगंठित क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी**

संगठित क्षेत्र जो महिलाओं की रोज़गार के मामले में सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित केंद्र, राज्य और स्थानीय स्तर पर की सरकारी सेवाएं, कृषि, उधोग, सार्वजनिक उपभोग सेवाएं और निजी क्षेत्र की सभी गैर कृषि प्रतिष्ठान जो दस या ज़्यादा व्यक्तियों को रोज़गार देते हैं, शामिल हैं। इस क्षेत्र में महिलाओं का रोज़गार वर्ष 1971 में 19 लाख था, वर्ष 1993 में बढ़कर 40 लाख हुआ और यह लगातार बढोतरी के तरफ़ है। संगठित क्षेत्र में महिलाओं ने अपनी कार्य प्रवृत्ति से महत्वपूर्ण आयाम स्थापित कर रही है। इस क्षेत्र में कानून की कई सुविधाएं महिलाओं को सबल प्रदान करते है। परंतु, इन कानूनों का व्यवहार में लचीला न होना महिलाओं की कार्यक्षेत्र को प्रभावित करता है। कई अवसरों में कार्यक्षेत्र में महिलाओं की साथ हुआ उत्पीड़न समक्ष कानूनी सुरक्षा के अभाव में महिलाओं की विरुद्ध चला जाता है और कार्यक्षेत्र में महिलाओं की लिए लक्ष्मण रेखा का दायरा बन जाता है। इसी तरह कई कार्यक्षेत्र महिलाओं की चयन में उसकी वैवाहिक स्थिति के आधार भी महिलाओं की कार्यक्षमता को प्रभावित करता है। नर्गिस मिर्जा केस, सी.वी.मधुमा, रूपन देओल बजाज केस, भंवरी देवी का मामला और न्यायालय की विशाखा गाईड लाईन[182] ने कार्यस्थल पर महिलाओं की साथ होने वाले शोषण और भेदभाव को बहस के केंद्र में लाने का काम किया है। इसके साथ-साथ कार्य जगत में स्त्रियों की कम वेतन, रोज़गार योजनाओं और प्रशिक्षण में भेदभाव, कार्यजगत में यौन-उत्पीड़न, महिलाओं की कार्यों के प्रति असंवेदनशीलता, सामाजिक पूर्वाग्रह और कार्य क्षेत्र में सौहार्दपूर्ण माहौल न होना(छेड़छाड़ और पुरुषों में श्रेष्ठ होने का भाव) भी महिलाओं की कार्य को कार्यक्षेत्र में चुनौतीपूर्ण बना देता है। इन चुनौतीयों के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था में हो रहे बदलाव ने भी महिलाओं की कार्य जगत को प्रभावित किया। इसने जहां एक तरफ़, सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं को आर्थिक आधार को प्राप्त करने का एक मजबूत आधार दिया। तो दूसरी तरफ़, निजी और सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष संबंधो को नये तरीके से पुन: परिभाषित किया।

भारत ने वर्ष 1990 के दशक के प्रारंभ में उदारीकरण और वैश्वीकरण के प्रवाह से सामंजस्य बनाते हुए आर्थिक नीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। इस आर्थिक गतिशीलता में निजी क्षेत्रों में मुनाफे के होड़ में सस्ते श्रम की आवश्यकता की पूर्ति के लिए महिलाओं की लिए रोज़गार के नए साधनों का सृजन किया। जिसने महिलाओं की आर्थिक सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण योगदान

[182] विशाखा और अन्य बनाम राजस्थान सरकार और भारत सरकार के मामले के तौर पर जाना गया। इस मामले में कामकाजी महिलाओं को यौन अपराध, उत्पीड़न और प्रताड़ना से बचाने के लिए कोर्ट ने विशाखा दिशा-निर्देशों को उपलब्ध कराया और वर्ष1997 में इस फैसले ने कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न की बुमियादी परिभाषाएं दी।

भी दिया। परंतु, साथ ही साथ जाति, धर्म के अलावा आर्थिक आधुनिकीकरण और पूर्वाग्रही आग्रहों को पितृसतत्ता के नई सांचों में स्थापित करने का काम भी किया। अभय कुमार दुबे भूमंडलीकरण के दौर में महिलाओं की स्थिति का मूल्यांकन करते हुए बताते हैं कि -

> "भूमंडलीकरण ने औरतों का इस्तेमाल करते समय नर-नारी विषमता के सामाजिक पहलू की तरफ़ ध्यान नहीं दिया। बाज़ार के पास ऐसा कोई औजार नहीं था जिसके जरिए वह सामाजिक शक्ति-संतुलन को प्रभावित कर सके। दरअसल उसका फायदा औरत की अधीनस्थ और परिवार के साथ बंधी हुई स्थिति कायम रखने में थी। उसे औरतों से कम वेतन के बदले अधिक श्रम लेना था। इस तरह भूंमडलीकरण ने पितृसता के नई रूप रचे। उसने परंपरा और धर्म के अलावा आर्थिक आधुनिकीकरण के आग्रहों को भी पितृसत्ता का जनक बना दिया जबकि कभी दोनो को औरतों की आजादी का संभावित जरिया माना गया था। इस तरह भूमंडलीकरण के तहत पितृसता और मजबूत हुई।"[183]

जाहिर है कि आर्थिक गतिशीलता की नई शक्तियों स्त्री-जीवन में नई भूमिकाओं को स्थापित किया और इसके कारण स्त्री-शक्ति में कुछ बदलाव भी आए। लंबे अरसे से यह मान्यता भी रही है कि बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था महिलाओं को आर्थिक रूप से गतिशील बनाती है जिससे परिवार और समाज में महिलाओं की प्रतिष्ठा में सुधार होता है। स्पष्ट है कि नई आर्थिक गतिशीलता कुछ के लिए यह बदलाव वरदान के रूप में उभर कर आई तो बहुतेरों के लिए हानिकारक सिद्ध हुए और इसने स्त्री को नई विषमताओं और असुरक्षा को भी उभारकर सतह पर ला दिया। जबकि भूमंडलीकरण यह दावा करता है कि उसने लैंगिक रूप से तटस्थ होकर बाज़ार का एकीकरण किया है और स्त्री सशक्तीकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियों को हासिल किया है। यहां महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में बाज़ार परंपरागत नर-नारी संबंधो को बदले बिना ही महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बना सकता है? क्या बाज़ार पितृसता की जकड़ को थोड़ा भी ढीला कर पाने में सफल हो पाया है? क्योंकि आर्थिक गतिशीलता के बाद भी स्त्री को प्रजनन करने या न करने का अधिकार नहीं मिला है, न ही उसके प्रति लैंगिंक पूर्वाग्रहों का शमन हुआ है, न ही उसके देह के शोषण का अंत हुआ है - फिर लैंगिक रूप से तटस्थ बाज़ार ने किस महिला का सबलीकरण किया है? निर्मला बनर्जी बताती हैं कि -

> "परिवार के दायरे से निकालकर महिला श्रम को बाज़ार में लाने से पुरुष के मुकाबले महिलाओं की हैसियत में मामूली सा परिवर्तन हुआ। बाज़ार के पास नर-नारी संबंधो को महिलाओं की पक्ष में बदलने का कोई कार्यक्रम नहीं था। अब अगर श्रम क्षेत्र की बात करें तो संगठित क्षेत्र में औरतों को प्रौद्योगिकी काम-काज में प्रशिक्षित करने के सवाल पर समाज की सदियों से जड़

[183] अभय कुमार दुबे, पितृसत्ता के नए रूप, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पेज न०- 63

> जमाए बैठे लैंगिक संबंधो के हिसाब से तय होने लगा। इसके कारण बड़ी सख्यां में महिलाएं बेरोज़गार होने के लिए विवश हुई(हालांकि इस तरह का प्रभाव हर देश में अलग-अलग तरह का रहा है)।"[184]

स्पष्ट है कि आधुनिक आर्थिक गतिशीलता के दौर मे महिलाओं की कार्य क्षेत्र और कार्य की स्थिति को प्रभावित किया। प्रौधोगिक और मांग आधारित अर्हता एंव कौशल ने महिलाओं की रोज़गार के साधन को सीमित किया। संगठित और असंगठित क्षेत्र में भूमंडलीकरण और उदारीकरण की नीतियों के प्रभावों की चर्चा करते हुए जिनी लोकनीता लिखती हैं कि -

> "हालांकि उदारीकरण नीतियों का असर अभी धीरे-धीरे सामने आ रहा हैं यहां इन नीतियों का प्रचंड प्रभाव समाज के बड़े हिस्से पर पड़ता है। श्रम के महिलाकरण के संबंध में जो भी वाद-विवाद हो, एक बात साफ है कि काम की स्थितियों में लचीलापन और अनौपचारिकता आई है। नियमित, स्थाई नौकरियों में अवसर कम हुए हैं। असंगठित क्षेत्र में काम करने से उनके संगठित होकर लड़ने या यूनियन बनाने की संभावनाएं और भी कम होती जा रही है।"[185]

इससे यह प्रमाणित होता है कि जहां श्रम के क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी बढ रही है तो वहीं सगठित और असंगठित दोनों ही क्षेत्रों में असुरक्षा की भावना में वृद्धि हुई है। इसके असुरक्षा के कई आयाम है ये शारीरिक, मानसिक भी हो सकते है और आर्थिक एंव सामाजिक भी। यही असुरक्षा की भावना कभी-कभी यौन-उत्पीड़न या अन्य शोषण के कारण के रूप में उभरकर आते है।

सामाजिक नज़रिये और सामाजिक राय बनाने में संचार माध्यमों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। संचार माध्यमों ने महिलाओं की कार्य के अनुभव के अनुसार संगठित क्षेत्र में महिलाओं की चुनौतीयों को पहचान कर उसके विमर्श के धरातल पर स्थापित करने का प्रयास दिखता है। हिंदी पत्रकारिता ने संगठित क्षेत्र के महिलाओं की समस्या को दो तरह से अभिव्यक्त करती हुई प्रतीत होती है। पहला कार्यक्षेत्र में महिलाओं की समस्या (इसमें कार्य क्षेत्र में महिलाओं की कार्य के संबंध में पूर्वाग्रही मानसिकता, उनके साथ लैंगिंक भेदभाव, यौन-शोषण को रखा जा सकता है) और दूसरा कामकाजी महिलाओं को लेकर परंपरावादी मानसिकता के ख़िलाफ़ संघर्ष। मसलन, कार्यक्षेत्र में महिलाओं की न्यूनतम वेतन, न्यूनतम घंटे, स्वास्थय सेवा, कानूनी सहायता जैसी

---

[184] वही पेज न०- 74

[185] वी.एन.सिंह व जनमेजय सिंह, आधुनिकता और महिला सशक्तिकरण, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2010 पेज न०-133

समस्याओं के हर संस्थाओं में काम करने वाली महिलाओं की अलग-अलग तरीके की है। संगीता शर्मा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'मजदूरी और मजबूरी' में लिखती हैं कि -

> "व्यावसायिक कंपनियों ने अपनी सभी कर्मचारियों (पुरुष और महिलाओ) को सभी मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध कराई है। महिलाओं को अपनी अधिकार के विषय के विषय में जानकारी हो सके इसके लिए ओर प्रशिक्षण केंद्र भी है। परंतु, निजी क्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं की स्तर और स्थितियों में सुधार करने में श्रामिक संघों की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है। महिलाओं की लिए श्रमिक संघों का विकास नहीं हो पाया है"[186]

लेख में बताया गया है कि श्रमिक संघों के नहीं होने के कारण महिलाओं की लिए बनाए जा रही नीतियों में उनकी मिल रही सुविधाओं का दमन होने लगता है। गोया, भारत सरकार ने वर्ष 1961 में कामकाजी महिलाओं की हित में प्रसूति सुविधा कानून परित किया था। जिसके अनुसार 80 दिन काम करने के बाद यह हक मिलता है कि वे अपनी मालिकों से प्रसूति सुविधाएं पा सकें। सुविधाओं में 12 सप्ताह का प्रसूति से पहले तथा उपरान्त का अवकाश तथा इस दौरान पूरी तनख्वाह अथवा कम से कम रोज़ का भत्ता\वेतन पाना अनिवार्य है। इसके साथ अन्य कई प्रावधान भी शामिल है। यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि मातृत्व संबंधी अधिकार या वैवाहिक स्थिति के आधार महिलाओं की लिए विशेष प्रावधान संगठित और असंगठित क्षेत्र में कार्य करने वाली महिलाओं की लिए अलग-अलग नियम और शर्तों के साथ लागू होता है। असंगठित क्षेत्र की महिलाएं इन प्रावधानों से लाभान्वित नहीं हो पाती है अगर कहीं-कहीं होती है तो नियम-शर्ते में काफ़ी फर्क आ जाता है। इन नियमों में परिवर्तन कार्य के अनुबंध के प्रवृत्ति भी निर्भर होता है। मसलन, ठेके पर नौकरी चाहे वह संगठित/असंगठित क्षेत्र हो महिलाओं को मिलने वाली सुविधाओं में बहुत बड़ा अंतर हैं। इसीप्रकार महिलाओं की कार्यक्षेत्र में कानून के अनदेखी पर मृणाल पांडे 'हिंदुस्तान' में अपनी लेख 'नारी तुम केवल टारगेट हो' में लिखती हैं कि -

> "भारतीय समाज में जहां संपत्ति और संपत्ति के बंटवारे के सवाल महत्वपूर्ण हैं, परिवार नियोजन को दूसरी दृष्टि से देखा जाता है। ज़रूरत इस बात है कि इस पर एक समग्र दृष्टि अपनायी जाये। नारी को टारगेट नहीं एक महत्वपूर्ण मानवीय संसाधन के रूप में देखा जाना चाहिए। परंतु, संपूर्ण परिवार नियोजन की लक्ष्य प्राप्ति को उत्सुक हमारे सरकारी नीति-निर्माताओं को लगने लगा है कि दो बच्चों को जन्म देने के बाद किसी भी मां को जन्म देने के बाद किसी भी मां को यह सुविधाएं पाने का हक नहीं होना चाहिए वरना बच्चा पैदा करती

[186] 9 जून 1991, हिदुस्तान

> रहेगी। महिलाओं को मिली सुविधाओं में कटौती करना और परिवार नियोजन की असफलता के लिए महिलाओं को उतरदायी ठहराया जाना एक भयानक प्रवृति है।"[187]

लेख चर्चा करते हुए लिखता है कि जब महिलाओं का प्रजनन पर नियंत्रण का अधिकार उसे प्राप्त नहीं है तो प्रजनन संबंधी कानून की सुविधाएं पाने से उसे कैसे वंचित किया जा सकता है? इन लेखों में जहां महिलाओं की कार्यक्षेत्र में महिलाओं की अनुभव के आधार पर श्रमिक कानून के प्रभावशाली तरीकों से लागू नहीं होने और नीतियों के निमार्ण में महिलाओं को टारगेट करने की प्रवृत्ति की चर्चा देखने को मिलती है। वही कार्यक्षेत्र में तकनीक प्रशिक्षण में मौजूद लैंगिक चुनौती और तकनीकि काम में महिलाओं की साथ भेदभाव का जिक्र करते हुए प्रणव उत्पल अपनी 'हिंदुस्तान' के लेख 'चुनौतीयां यहां भी है' में लिखते हैं कि -

> "विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में शुरू से ही पुरुषों का आधिपत्य रहा है। परंतु, समय-समय पर महिलाओं ने भी अपनी प्रतिभा का परिचय देकर संपूर्ण विश्व को विस्मय में डाल दिया। तकनीक के क्षेत्र में कार्यकुशलता के कारण महिलाओं की मांग अधिक है। परंतु, पुरुषों की रूढ़िवादी मानसिकता के कारण महिलाओं को परेशानियों का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत महिलाओं की मानसिकता कुछ और ही है। पुरुषों को नीचा दिखाना उनका लक्ष्य नहीं होता बल्कि उनके साथ चल कर समाज में अपनी आत्म-सम्मान की रक्षा करना और मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध करना ही उनका उद्देश्य है।"[188]

लेख चर्चा करता है कि प्रौद्धोगिकी के तहत महिलाओं को काम करने को सामाजिक प्रोत्साहन कम से कम मिलाता है। इसके अतिरिक्त महिलाओं को अपनी कामकाजी जीवन में उसके कार्य स्थल में दफ्तर और दफ्तर के बाहर अक्सर इस प्रकार की बातें, द्वि-अर्थी शब्दों का व्यंग्य सुनने को मिलता है जिसका विरोध वो कर नहीं पाती। उनका चुप रहना भी उनके लिए खतरे से खाली नहीं होता और वो अनावश्यक रूप से विवाद, निंदा, हंसी और चर्चा का केंद्र बनाती है। वास्तव में हम सब जिस सामाजिक व्यवस्था का अंग है जहां पुरुष वर्ग सीमा के बाहर अपनी अधिकारों, अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करता है। श्रेष्ठता के इस प्रदर्शन के कारण महिलाओं को कार्यस्थल पर कई समस्या/शोषण/मानसिक तनावों का सामना करना पड़ता है।

---

[187] 14 दिसंबर 1993, हिंदुस्तान

[188] 3 अगस्त 1994, हिंदुस्तान

कार्यस्थल पर महिलाओं की छेड़छाड़ की समस्या पर 'हिंदुस्तान' के लेख 'दफ्तर में अकेली लड़की' में गीता लिखती हैं कि -

> "कानून की भाषा में दफ्तर या सार्वजनिक जगहों पर छेड़छाड़ की घटनाओं को ईव-टींजिंग कहते है जो पुरुषों के मन में बचपन से बैठाई गई धारणा का विस्तृत रूप है कि वे स्त्रियों से श्रेष्ठ है। आज कामकाजी महिलाओं की साथ-साथ अन्य महिलाओं की लिए भी ऐसे संहिता की ज़रूरत है, जिसमें मानसिक या शारीरिक उत्पीड़न को कानूनी हस्तक्षेप का विषय बनाया जाये और इन मामलों का फैसला फौजदारी कानून के दायरे में हो।"[189]

कामकाजी महिलाओं को दफ्तर या सार्वजनिक जगहों पर जिस दमघोटू माहौल और पुरुष मानसिकता को झेलना पड़ता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण रूपन देओल बजाज और के.पी, एस. गिल मामले[190],भंवरी देवी का मामला(जिसके बाद न्यायालय ने विशाखा गाईडलाईन्स दिए) में सामने आया। इस मामले ने कार्यक्षेत्र में महिलाओं की साथ होने वाले भेदभाव, लैगिंक शोषण और महिलाओं की साथ किए जाने वाले व्यवहार को विमर्श के धरातल पर लाने का काम किया। 'नवभारत टाईम्स' में अपनी प्रकाशित लेख 'गिल के सजा से उठे सवाल' में नीलम लिखती हैं कि -

> "पंजाब के पूर्व महानिदेशक के.पी.एस.गिल के ख़िलाफ़ रूपन देओल बजाज के मामले में चंडीगढ़ की निचली अदालत के फैसले पर देश के मीडिया में गजब का विरोधाभास है। किसी भी अख़बार के संपादकीय ने इस बात से इन्कार नहीं किया है कि श्री गिल ने छेड़छाड़ नहीं की थी। कुछ अख़बारों ने तो यह भी माना कि तनाव से मुक्त महौल में गिल यह क़दम उठा बैठे हो। जहां तक कठोर फैसले का सवाल है इस विषय पर भाषायी अख़बारों में विरोधाभास है। हिंदी के अख़बार इस फैसले को सही माना है वही अंग्रेजी के अख़बारों को आपत्ति है। उनका मानना है कि ऐसे हरकत करने वाले किसी समान्य व्यक्ति के लिए तो शायद कठोर हो सकती है पर गिल के लिए नहीं। कारण समान्य व्यक्ति की कमजोरी का भुकतान वो स्वयं या उसके आस-पास के लोगों को करना पड़ता है पर राष्ट्रीय पदों पर बैठे व्यक्तियों की कमियों का भुगतान पूरा राष्ट्र करता है। श्री गिल के फैसले के मामले में न्यायालय को इस संदर्भ में देखना चाहिए।"[191]

हिंदी पत्रकारिता में रूपन देओल बजाज और के.पी.एस.गिल के मामले पर और उसके फैसले पर कई लेखन देखने को मिलता है। परंतु, काम के क्षेत्र में महिलाओं की सख्यां में बढ़ोतरी को देखते हुए उनके सामाजिक सुरक्षा के लिए कड़े कानून के आवश्यकता को बहस का विषय के रूप में

---

[189] 17 अगस्त 1996, हिंदुस्तान

[190] आईएएस रूपन देओल बजाज, जिन्होंने आईपीएस ऑफिसर के.पी.एस. गिल पर अभद्र व्यवहार करने का आरोप लगाया था और उन्हें इस अभद व्यवहार को न्यायालय में चुनौति दी थी।

[191] 24अगस्त 1996, नवभारत टाईम्स

स्थापित नहीं करती। उसके बाद किसी कामकाजी महिला के यौन शोषण के मामले को प्रमुखता से नहीं छापा। महिलाओं की रोज़गार के विषय पर हिंदी पत्रकारिता में एक दूसरा ही स्वर सामने आया। मसलन, कई पत्र-पत्रिकाओं में निजी और सार्वजनिक क्षेत्र में सफल कामकाजी महिलाओं पर आवरण कथा या विशेष अंक निकाल कर कामकाजी महिलाओं की फ़र्श से अर्श तक पहुचने को अमर चित्रकथा के तरह प्रस्तुत करता है। इन प्रस्तुतीकरण में महिलाओं की प्रति कार्य-स्थल पर मौजूद लैगिंक पूर्वाग्रहों को विमर्श के केंद्र में जगह बनाने नहीं दिया।

कार्य क्षेत्र में लैंगिक भेदभाव कार्य-स्थल पर ही नहीं, कार्य क्षेत्र के चुनाव प्रक्रिया के दौरान भी होता है, जो महिलाओं को स्वतंत्रता से किसी भी कार्य क्षेत्र के चुनाव के पूर्व सोचने को विवश करता है। मसलन, भारतीय प्रशासनिक सेवा में महिलाओं की लिए लिंगभेद की समस्या पर 'हिंदुस्तान' में अपनी लेख 'सिविल सेवा में महिलाओं से भेदभाव' में कल्पना शर्मा लिखती है कि -

> "भारतीय सिविल सेवा में शिकायतों के स्वर यह बताते है कि सेवा में जाने के बाद पुरुषों और महिलाओं की लिए खेल के नियम एक जैसे नहीं रहते। भारतीय विदेश सेवा में विवाहित महिलाओं को आने की अनुमति नहीं थी। विवाह करने के लिए विशेष अनुमति लेनी पड़ती है। महिलाओं की साथ पक्षपात के और कई तरह के पक्षपात है जिसका महिला के योग्यता से कोई लेना-देना नहीं है, बल्कि इसकी वजह उसका महिला होना है। प्रशासनिक सेवा में लिंगभेद की समस्या प्रदर्शित नहीं रहती है। परंतु, व्यवहार में पक्षपात होता है। एक महिला अधिकारी दो गुना काम कर के भी पुरुष सहयोगी के मुकाबले आधी मानी जाती है।"[192]

प्रस्तुत लेख इस तथ्य को स्थापित करते है कि महिलाओं के लिए आर्थिक गतिशीलता संगठित क्षेत्र में लिंग आधारित चुनौतीयों से भरी हुई है। आर्थिक कारणों से महिला को कामकाजी होने के अवसर दिये। परंतु, स्त्रियों के काम के प्रति मनोवृति में कार्यक्षेत्र फर्क नहीं आया है। संविधान की समानता की परिकल्पना और महिलाओं को सक्षम करने वालों कानूनी सुविधाओं की पहुंच महिलाओं तक सीमित दायरों तक ही है। उच्च वर्ग सत्ता और समृद्धि के बल पर इन टेबुज को नकारता है। अन्य वर्ग मूल्यबोधों की नियंत्रण शक्ति की सीमा से परे होता है क्योंकि उन्हें खोने का भय होता है। इन्ही खंडित मूल्यबोधों के कारण कामकाजी महिलाओं को परंपरावादी मानसिकता के साथ संघर्ष करना पड़ता है।

महिलाओं की कार्य क्षेत्र में मौजूद समस्या के साथ-साथ एक पुरानी प्रवृत्ति की ख़बरें और लेख भी चलते दिखते है जो कामकाजी महिलाओं की उपस्थिति को गंभीरता और आदर के साथ ग्रहण नहीं करती जैसे पुरुष कामगारों के संदर्भ में करती है। इन अभिव्यक्तियों में महिलाओं की

[192] 29 मई 2009, हिंदुस्तान

कार्यक्षेत्र के बाहर पाई जाने वाली समस्या और पूर्वाग्रहों का विश्लेषण देखने को मिलता हैं। मसलन, 'नवभारत टाईम्स' में वीना पांडेय लेख 'महिलाएं कैरियर में आगे क्यों नहीं बढ़ पाती' में लिखती हैं कि-

> "विश्व बैंक ने भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने पर जोर दिया है। रोज़गार की इच्छुक महिलाओं की सख्यां में वृद्धि भी हो रही है। परंतु, महिलाओं की प्रति विचार और व्यवहार में बहुत कम परिवर्तन हुआ है। आज परिवार के सदस्य महिलाओं को नौकरी करवाना चाहते है क्योंकि इससे आर्थिक संपन्नता बढ़ती है। लेकिन यह भी एक कटु सत्य है कि एक सीमा के बाद परिवार के लोग ही आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते, बल्कि हतोत्साहित किया जाता है। यदि कोई महिला अपनी पति से अच्छे रैंक में पहुंचना चाहती है तो हीनता की भावना से उसे पति का सहयोग नहीं मिल पाता। इस प्रकार की परिस्थितियां भारतीय कामकाजी महिलाओं का व्यावसायिक नज़रिया नहीं बनने देती है।"[193]

कामकाजी महिलाओं की समस्या यह भी है कि आर्थिक रूप से संपन्न ज़रूर हुई हैं, लेकिन भावानात्मक स्तर पर वे असुरक्षा और अन्य कई परेशानियां भी झेलती है। वो पूरी तरह से आधुनिक परंपराओं को स्वीकार भी नहीं पाती और पुराने मूल्यों को छोड़ भी नहीं पाती है। नई और पुराने मूल्यों का द्वंद्व उनको बनावटी और बोझिल ज़िंदगी के लिए मजबूर करता है। सिंधु भारती 'हिंदुस्तान' में अपनी लेख 'नये पुराने मूल्यों के बीच में उलझी औरत' में लेखिका अमृता प्रीतम के संदर्भ से लिखती हैं कि -

> "समाज भीड़ का नाम है। आप इस भीड़ का हिस्सा हो कर रहे तो ठीक है, लेकिन जहां अपना अलग अस्तित्व बनाना शुरू किया, वहीं आपके अपनी दोस्त भी दुश्मन होते नज़र आएंगे। सच यह भी है कि परंपराओं को ढ़ोने से अस्तित्व तो कायम नहीं किया जा सकता। औरत के लिए तरक्की के सभी रास्ते बंद कर दिये है। वास्तव में परंपरा और आधुनिकता के बीच हम रास्तों की तलाश नहीं कर पाये है। समाज विशेष तौर पर पुरुष पत्नी के रूप में सुपर विमेन की तलाश है। इन नाकारात्मक मानसिकता के कारण महिलाओं का जीवन अनिर्णय के स्थिति में रहता है। इन परिस्थितियों में जीवन में संतुलन की तलाश हमेशा जारी रहती है।"[194]

इसके अतिरिक्त भारतीय समाज में मातृत्व की अवधारणा कामकाजी महिलाओं पर अतिरिक्त भार डालता है। यह महिलाओं की कामकाजी होने की समस्या को बढ़ा देता है। परिवार के सदस्य के रूप में आर्थिक रूप से स्वतंत्र महिला भी अपनी पारम्परिक जिम्मेदारीयों से मुक्त नहीं हो पाई है, न ही परिवार के सदस्यों ने इस भूमिका के निर्वाह में अपनी सोच को बदला है। इन दायित्वों की पूर्ति न कर पाने वाली महिला पर अयोग्य मां, पत्नी का आरोप लगाया जाता है,

---

[193] 23 अगस्त 1992, नवभारत

[194] 6 सिंतबर 1992, हिंदुस्तान

स्त्री की अपराध बोध को जगाया जाता है। पुरुष का घर-गृहस्थी के काम में मदद करना अपमानजनक और पुरुष स्वास्थ के लिए हानिकारक माना जाता है।

हिंदी पत्रकारिता कामकाजी महिलाओं की इस समस्या का समाधान रूढ़िवादी सांचे में खोजने का प्रयास करता है। वह आर्थिक स्वतंत्रता के लिए महिलाओं को घर में ही कोई काम धंधा शुरू करने, स्वेटर बुनने जैसे मशीन लगा ले, पाकशाला खोल लें, अथवा ब्यूटी कोर्स कराने या ब्यूटी पार्लर खोलने की सलाह हिंदी पत्रकारिता के परिशिष्ट अंको में देखने को मिलती है। कई लेखो में यह ध्वनि भी मुखरित होती है कि महिलाओं की लिए आर्थिक स्वतंत्रता से क्या लाभ होते है क्योंकि मां, नानी, दादी ने आर्थिक परतंत्रता के बावजूद खुशी जीवन बिताया हैं। यह धारणा महिलाओं की आर्थिक रूप से स्वतंत्र छवि बनाने के लिए उसके कार्य-क्षेत्र को सीमित करने की कोशिश करता है। मसलन, संगीता वर्मा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'कामकाजी औरतों की प्राथमिकता' में बताती हैं कि -

> "कामकाजी औरतों के लिए संयुक्त परिवार बहुत उपयोगी है क्योंकि बच्चों के लालन पालन और घर के कामकाज में कठिनाई नहीं होती। संयुक्त परिवार में रहने से सबके दायित्व भी संयुक्त हो जाते है, जबकि अकेले रहने पर दायित्व को अकेले ही उठाने पड़ते है। अन्य कई सामाजिक चुनौतीयों का समाधान भी संयुक्त परिवार में होता है। इसलिए कामकाजी महिलाओं की प्राथमिकता संयुक्त परिवार ही होना चाहिए।"[195]

पूरे लेख में संयुक्त परिवार कामकाजी महिलाओं किस प्रकार से फायदेमंद हो सकता है इसके कई तर्क है। परंतु, संयुक्त परिवार महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता और व्यक्तित्व के विकास में बाधक रहा है जिसके कारण संयुक्त परिवार का विघटन हुआ है। इसपर कोई चर्चा नहीं दिखती है इसीप्रकार, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर महिलाओं की समस्या पर 'हिंदुस्तान' के लेख 'हाशिये पर ही है स्त्री' में पूनम बेदी लिखती हैं कि-

> "महिलाओं को घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर कामकाज करना कोई नई बात नहीं है क्योंकि गांव में हमेशा से ही आजीविका के लिए महिलाएं पुरुषों के साथ-साथ काम करती है। भूमंडलीकरण के दौर में आर्थिक सुरक्षा हेतु महिलाओं की सक्रिय भूमिका ने तेज़ी पकड़ी लेकिन परिवर्तन के लंबे दौर से गुज़रने के बाद भी कामकाजी महिलाओं की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया, क्योंकि तमाम बदलावों के बाद भी महिला और पुरुष के संबंध में कोई बदलाव नहीं हुआ। घर और दफ्तर की दोहरी भूमिका के साथ परंपरागत भूमिकाओं के कारण विवाहित

[195] 3 नवंबर 1994, हिंदुस्तान

> कामकाजी महिलाओं और पुरुषों के मध्य अंतर्विरोध जन्म लेता है। इस दिशा में सामाजिक बदलाव जरूरी है ताकि कामकाजी महिलाओं की कार्यक्षमता की सही पहचान हो सके।"[196]

हिंदी पत्रकारिता में कामकाजी महिलाओं के सामाजिक और निजी समस्या पर प्रकाशित लेख रोज़गार के क्षेत्र में उन समस्याओं का जिक्र करते हैं जो आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के बाद भी उनको नियंत्रित करने का प्रयास करते है। इस तरह के लेख कामकाजी महिलाओं की वस्तुस्थिति को प्रदर्शित करते है कि उच्च शिक्षा और आर्थिक व्यवस्था में उसकी भागीदारी ने उसे सोसायटी वूमन तो बना दिया है पर घर के कूलवधु के रूप में उसकी छवि ज़्यादा सहज है वह स्वतंत्र व्यक्ति बाद में है लेकिन पत्नी, मां, बहन और बेटी पहले है।

बदलते हुए सामाजिक-आर्थिक परिवेश में कामकाजी महिलाओं की अवधारणा का विकास हुआ। आर्थिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए कामकाजी महिलाओं की अस्तित्व को इसलिए भी स्वीकार किया गया। क्योंकि कार्यक्षेत्र में श्रम के बदले मूल्य मिलता है। परंतु, परंपरा की बेड़ी और आधुनिकता को अपनाने के चक्कर में घर में काम करती महिलाओं का श्रम किसी ने स्वीकार नहीं किया उसको अदृश्य श्रम के दायरे में रख दिया। यह समस्या संगठित और असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं में समान है। हमने कामकाजी महिलाओं की अवधारणा को स्वीकार किया। परंतु, उसके लिए समाज के संरचना में कोई परिवर्तन नहीं किया। इसलिए काम करती हुई महिला पैसा कमाती है, फिर भी पुरुष वर्चस्व की शिकार है, आत्मनिर्भर हैं, पर आत्म-निर्णय के अधिकार से वंचित हैं। हिंदी पत्रकारिता ने शहरी मध्यवर्ग की मानसिकता के परिवर्तन को पहचानने का प्रयास अपनी कुछ लेखों में किया है। शहरी मध्यवर्ग ने लड़कियों का आत्मनिर्भर होना, श्रम के बदले पैसा कमाना और अपनी इच्छाओं को सहज सुलभ क्रय शक्ति से पूरा करना स्वीकार किया है। 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'कामकाजी महिलाएं और बदली भूमिकाएं' में क्षमा शर्मा लिखती हैं कि -

> "बच्चे के लिए मां के साथ पिता का चिंतित होना, पिता का एक नया चेहरा है। यह शहरी मध्यवर्ग का पिता है, जो इस बात को जानता है कि वे दिन और विचार अब चले गए हैं, जब पिता कमाता था और मां घर में रहकर घरेलू जिम्मेदारियां उठाती थी। अब दफ्तर हो या घर जब तक स्त्री-पुरुष दोनों जिम्मेदारी न निभाएं, तब तक काम नहीं चलता। यही नहीं अब इस विचार को भी कोई नहीं मानता है कि जो लड़कियां काम करती हैं वे अपनी बच्चों पर बिल्कुल ध्यान नहीं देती।"[197]

---

[196] 26 जनवरी 2003, हिंदुस्तान

[197] 30 नबंवर 2006, हिंदुस्तान

समाज में कामकाजी महिलाओं को लेकर हो रहे परिवर्तनों के बारे में 'हिंदुस्तान' के एक दूसरे लेख '21वीं सदी में बदलते सास बहू' में क्षमा शर्मा बताती हैं कि -

> "अब शहरी मध्यवर्गीय कामकाजी स्त्रियों ने सास-बहू की परंपरागत छवि को तोड़-फोड़ दिया है। संसार में हर एक को प्यार और ब्रीदिंग स्पेस चाहिए, इसे सास-बहू समझने लगी हैं। किसी का अपना बनाना है तो प्यार के साथ-साथ दूसरे की इच्छाओं का सम्मान भी करना आना चाहिए। सासें बहुओं पर ड्रेस कोड लादने वाली सबसे खतरनाक इकाई हुआ करती थीं। यही नहीं, वे अपनी बेटे के हर बुरे व्यवहार का दोष बहू पर मढ़ देती थीं। लेकिन अब वक्त बदल गया है। समस्याएं अब भी होंगी, मगर समस्याओं से निपटने का तरीका बदल गया है। बदलते समय में आर्थिक आवश्यकता के कारण परिवार के संरचना में बदलाव एक अच्छा संकेत है। इन बदलावों से दहेज और कई बुराईयों से भी लड़ा जा सकता है, आवश्यकता है इस बदलाव के लिए चेतना जागृत करने की।"[198]

इस प्रकार रोज़गार के क्षेत्र में संगठित क्षेत्र में महिलाओं की सक्रिय सहभागिता एक जीता जागता यर्थाथ रहा है, जो महिलाओं की अस्तित्व और अस्मिता को प्रभावित करती रही है।

महिलाएं और संगठित क्षेत्र में उसके रोज़गार के विषय हिंदी पत्रकारिता में जहां एक तरफ़ स्थान मिला तो दूसरी तरफ़ सकारात्मक और नकारात्मक नज़रिये से उनकी समस्याओं की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। कामकाजी महिलाएं किस प्रकार आदर्श गृहिणी का रूप में अक्षुण रखें कि स्थायी से शुरू होने वाला प्रकरण चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ता ही चला गया। नौकरी के क्षेत्र से जुड़ा एक-एक मुद्दा उदारीकरण के दौर में भी हिंदी पत्रकारिता में चर्चा-प्रतिचर्चा और इसके साथ-साथ व्यंग्य और कटाक्ष का लक्ष्य बनता गया। इसप्रकार केवल घर की आमदनी बढ़ाने के उद्देश्य से महिलाओं को घर की देहरी लांघने की जो इजाजत मिली थी वह उसके आर्थिक स्वातंत्र की यात्रा का पहला पड़ाव सिद्ध हुई। यह उल्लेखनीय है कि हिंदी पत्रकारिता भी पहले पड़ाव से अगामी पड़ावों तक की यात्रा करती चली गई जिस प्रक्रिया में कामकाजी महिलाओं की जीवन से जुड़े सभी पक्ष पर खुलकर चर्चा का विषय बने। हिंदी पत्रकारिता ने कामकाजी महिलाओं की आवश्यकताओं, समस्याओं, मांगो व स्थितियों को रेखांकित किया। लेखों ने कामकाजी महिलाओं की समस्याओं को ज़रूर उठाया परंतु, इसमें गंभीर बहस का विषय नहीं बनने दिया। ताकि यथास्थिति को यथावत रखने में भी सहयोग दिया जा सके। इस प्रकार महिलाओं की आर्थिक रूप से स्वतंत्र छवि को हिंदी पत्रकारिता के लेखों ने नई दृष्टि पथ का अंग नहीं बनने दिया। जाहिर है कि आर्थिक स्वतंत्रता से होने वाले लाभों से वह सहमत नहीं थे। इसतरह से हिंदी पत्रकारिता ने पितृसत्ता मूल पर आघात किए बिना पितृसत्ता को पुष्ट करने का भी काम किया। यहां यह

---

[198] 21मार्च 2007, हिंदुस्तान

सवाल महत्वपूर्ण हो सकता है कि हिंदी पत्रकारिता में इन बहसों के बाद संगठित क्षेत्र में काम करने वाली कामकाजी महिलाओं की काम के महौल में स्थायी बदलाव हुआ है ये अभी भी एक खुला सवाल है।

2.2 **असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी**

किसी भी अर्थव्यवस्था में, विशेषकर भारत में महिलाओं की काम को निजी और सार्वजनिक रेखाओं के बीच में रखा जाता है। महिलाएं अपनी परिवार के भरणपोषण के लिए कार्य करती है जहां वह अगली पीढ़ी को तैयार करने का काम करती है और इसके साथ-साथ ऐसे कार्य भी करती है जिससे जीवन निर्वाह सरल और सहज हो सके। कार्य की प्रकृति और और कार्य स्थिति के आधार पर असंगठित क्षेत्र की पहचान इस तरह से किया जा सकता है, जहां स्त्री और पुरुष दोनों शारीरिक श्रम के आधार जीवकोपार्जन करते है परंतु, उनके श्रमिक के रूप में लोकतांत्रिक अधिकारों से महरूम होते है।

> "राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन द्वारा 2013 में किए गए सर्वेक्षण के आधार पर देश में करीब 43.7 करोड़ कामगार असंगठित क्षेत्र में कार्यरत थे जिसमें 26.4 करोड़ अकेले कृषि क्षेत्र में, 4.4 करोड़ निर्माण में और शेष अन्य विनिर्माण एंव सेवाओं में क्षेत्र में कार्यरत है। असंगठित क्षेत्र में काम करनी वाली महिलाएं 96 प्रतिशत है।"[199]

असंगठित क्षेत्र में महिलाओं को कार्य स्थिति के मांग के अनुसार प्रशिक्षित और अप्रशिक्षित कार्य के बीच झूलती रहती है। जिसके कारण इस क्षेत्र के अधिकतर काम अकुशल श्रेणी में रखे जाते हैं। इस क्षेत्र में स्थायी या अस्थायी, औपचारिक और अनौपचारिक एंव संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों की विभाजन रेखा इतनी पतली है कि ऊपर से नीचे तक असुरक्षित ठेके तथा अपर्याप्त वेतन का बोलबाला होता है। कानून के होते हुए भी यूनियनों के अभाव के कारण बराबर का काम के लिए बराबर का मेहनताना दिलाने के लिए लड़ने वाली संगठित व्यवस्था नहीं होती है। मैत्रेयी कृष्णा राज असंगठित क्षेत्र को कार्य की प्रकृति के आधार पर बताती हैं कि -

> "वास्तव में असंगठित क्षेत्र में ग्रामीण और नगरीय भारत में महिलाओं द्वारा संपादित कार्य की कई श्रेणियां हैं। जो निम्नवत हैं-(1) मजदूरी और वैतनिक रोज़गार (2) परिवार के बाहर लाभ के लिए स्व-रोज़गार (3) खेती और घरेलू उधोग में लाभ के लिए स्वरोज़गार (4) अपनी उपभोग

---

199 http://drushtipaat.blogspot.in/2015/05/blog-post_76.html दिनांक 21.8.2016

> के लिए कृषि में स्व-रोज़गार (5) संबद्ध क्षेत्रों में अन्य जीविका-निर्वहन की गतिविधियां- डेरी उधोग, पशु पालन, मछुवाही, शिकार करना, फल और सब्जी की खेती करना (6) घरेलू कार्यों से संबंद्ध गतिविधियां, जैसे- ईधन, चारा, पानी, वन उत्पाद, घर की मरम्मत करना, गाय के गोबर के उपले बनाना, खाध संरक्षण इत्यादी (7) घरेलू कार्य जैसे -खाना बनाना, सफाई, बच्चों, वृद्धों और बीमारों की देख रेख। कार्य की वर्तमान परिभाषा के अनुसार कार्य(कार्य जिसके लिए भुगतान होता है) वेतन या लाभ के प्रथम तीन श्रेणीयां ही आती है। हालांकि इसमें स्वयं के उपभोग के लिए फसल उत्पादन को शामिल किया गया है पर इसके पूर्व और पश्चात फसल क्रिया में जो घरेलू परिसर में महिलाओं द्वारा संपादित की जाती है, को इसमें शामिल नहीं करता है।"[200]

स्पष्ट है कि भारत जैसे विकासशील देशों की विशाल घरेलू और असंगठित क्षेत्र पर आधारित अर्थव्यवस्था स्त्रियों के कार्य के स्थिति का मूल्यांकन, अदृश्यता के कारण नहीं हो पाता है, जबकि उसमें स्त्रियों का योगदान पुरुषों से ज़्यादा होता है। पुरुष काम करते और कमाकर लाते दिखाई देते हैं परंतु, महिलाओं की कार्य भुगतान के सांख्यिक गणित में छुप जाते है।

इतिहास में झांकने पर पता चलता है कि औपनिवेशिक काल में भी असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की कार्य कई कारणों से अदृश्य थी- महिलाओं की कार्य की सांस्कृतिक संरचना, महिलाओं की कार्य के प्रति समाज की असंवेदनशीलता, परिवार, कृषि और असंगठित क्षेत्रों में महिलाओं की कार्य को मापने में कठिनाई (आर्थिक और अनार्थिक गतिविधियों के मध्य पलती रेखा के कारण), महिलाओं की समाजीकरण में अपनी कार्य की गणना निरर्थक कार्यो में करना, प्रभावी सामाजिक पूर्वाग्रहों प्रधान कारण थे जो महिलाओं की श्रम की गणना नहीं करते थे। मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग की महिलाओं ने रोज़गार के साधन के रूप में शिक्षा के महत्व को समझा और संघर्ष भी किया। इस संघर्ष के कारण लैंगिक विभाजनों की सकीर्णता की सीमाओं को चुनौती मिलनी शुरू हुई। परंतु, इस संघर्ष में निम्न वर्ग की अशिक्षित महिला बाहर थी, जबकि वह कई तरह के रोज़गार का हिस्सा थी। मसलन, दूध बेचना, फल और सब्जी बेचना, दाई के रूप में काम करना, जाति के आधार पर स्वीकृत कार्य, कृषि आधारित और गृह आधारित रोज़गार में शामिल होना आदि। औपनिवेशिक भारत में जाति, धर्म, वर्ण और मशीनीकरण के कारण निम्न वर्ग की अशिक्षित महिलाएं पारंपरिक रोज़गार के क्षेत्र से बाहर हुई जिसकी चर्चा नहीं के बराबर होती है। औपनिवेशिक काल में बदलती हुई अर्थव्यवस्था, जातीय, धार्मिक और सामुदायिक अस्मिताओं के कारण महिलाओं का रोज़गार में नई क्षेत्रों में प्रवेश रोकने के लिए जातिगत आलोचनाओं को

---

[200] मैत्रेयी कृष्णा राज, वुमेन वर्क इन इंडियन सेंसस : बिगनिंग आंफ चेंज, इकानांमिक एंड पांलिटिकल वीकली, xxv, नं.5, दिसंबर 19वर्ष 19वर्ष 1990, पेज न०48-49,

आधार बनाया गया। चारू गुप्ता अपनी किताब "स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक" में ऐसे संदर्भों का जिक्र करती है। वे लिखती हैं कि -

> "हिंदी प्रदेशों में जाति का दर्जा महिलाओं की स्थिति और भूमिका का निर्धारण करते थे। कई जातियां अपनी सामाजिक कद मजबूत करने के लिए महिलाओं की कार्यों पर कई तरह के नियंत्रण लगाने शुरू किए। कई चमार सभाओं ने अपनी महिलाओं को दाई बनाकर दूसरों के घरों से जाने से रोका।[201]
>
> लखनऊ के खटीकों ने अपनी महिलाओं को केवल दूकान में समान बेचने को कहा, ना कि ठेला पर। कई अहीर परिवारों ने अपनी महिलाओं को दूध बेचने के लिए बाहर जाने से रोका।[202]

इस प्रकार निम्न वर्गों के बीच महिलाओं की आय-उपार्जन पर कई तरह की पाबंदियां राजनीतिक संघर्षों के कारण लगाई जाती थी। जाति, काम, पेशा, रोज़गार के नये अवसर के आसपास जातीय और धार्मिक पहचान ने महिलाओं की काम करने के अवसर को प्रभावित करते थे। इन विरोधाभासों का नफा-नुकसान उच्च, मध्यवर्ती और निम्न वर्ग के सभी समुदायों के महिलाओं को हो रहा था। गरीबी और बेरोज़गारी को लिंग के संदर्भ में नहीं देखने कारण औपनिवेशिक भारत में महिलाओं की कई आय-उपार्जन के कार्यों का श्रम के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। वर्ष 1920-40 के दशक में हिंदी के सार्वजनिक दुनिया में राजनीतिक चेतना का जो उभार आया था उसका सामाजिक आधार मध्य वर्ग था। इस अवधि में कार्य क्षेत्र और विचार क्षेत्र दोनों मुख्य रूप से उच्च और मध्य वर्ग की महिलाओं तक सीमित थे। इसमें निम्न वर्ग की महिलाओं की विशेष स्थितियों पर ध्यान नहीं दिया गया। जिसके कारण नारी मुक्ति का आंदोलन इस युग में जनांदोलन नहीं बन पाया।

आजादी के बाद भी महिलाएं परंपरागत रोज़गार, गृह आधारित रोज़गार, गृहकार्य और कई व्यवसायों में महिलाओं की सहभागिता थी। परंतु, इन कार्यों की पहचान या मूल्यांकन की कोई तरीका विकसित नहीं हो पाया था, न ही ये राजनीतिक प्रश्न के रूप में विकसित हो पाएं थे। स्वतंत्रता के दो दशक बाद, वर्ष 1974 प्रस्तुत रिपोर्ट समानता की ओर(Towards Equality) आर्थिक कार्यो, विशेषकर असंगठित क्षेत्रों में, महिलाओं की उपेक्षा की तरफ़ ध्यान दिलाया गया। असंगठित कार्य क्षेत्रों में द्वारा किए गए कार्य को सांख्यिकी अदृश्यता में रखने की वजह की पहचान करने की कोशिश हुई। इस रिपोर्ट ने बताया कि आधुनिक अर्थव्यवस्था में उत्पादन प्रक्रिया में असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं का बहिष्कार है और असंगठित महिलाओं की निरंतर कार्य का न तो कोई प्रतिफल मिलता है न कोई पहचान। आयोग ने

---

[201] चारु गुप्ता, स्त्रीत्व से हिन्दुत्व तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पेज न०30

[202] वही, पेज न०30

विभिन्न क्षेत्रों का विस्तृत अध्ययन किया जिसमें शारीरिक श्रम करने वाली महिलाएं जैसे कृषि क्षेत्र में, अन्य स्वरोज़गार में महिला श्रामिक प्रति नग दर पर काम करने वाली महिलाएं शामिल थीं। आयोग ने अपनी रिपोर्ट "श्रम शक्ति" में निर्धारित मानकों से इतर यह स्पष्ट किया कि सभी महिलाओं को श्रामिक के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। इसके परिणामस्वरूप महिलाओं की लिए जो भी विकास की नीति अपनाया गया, उसका जोर सामामाजिक आर्थिक कल्याण पर था। यहां यह समझना जरूरी है कि महिलाओं पर विकास के प्रभाव को समझने के लिए केवल विकास के नीति को समझना जरूरी नहीं है बल्कि समाज में व्याप्त असमानता और प्रभुत्व और अधीनता के संबंधों को भी समझना जरूरी है।

समानता की ओर(Towards Equality) की ऐतिहासिक रिपोर्ट के बाद प्रस्तावित नीतियों ने असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की श्रम के विषय पर कोई दूरगामी प्रभाव ही नहीं छोड़ा। अपितु, लिंग के आधार पर श्रम विभाजन की प्रक्रिया मजबूत हुई और विकास के प्रक्रिया में महिला श्रम के प्रश्नों में नई समस्याएं उभर कर सामने आई। आपातकाल के बाद लोकप्रिय भाषा में जानी जाने वाली हरित क्रांति का मूल उद्देश्य खाधान्नों में आत्मनिर्भरता के उद्देश्य से कृषि उत्पादन में वृद्धि हासिल करना था। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मशीनों और बड़े फार्मो पर जोर दिया गया। जिसके कारण कृषि का व्यावसायीकरण, कृषि आधारित रोज़गार तथा ग्रामीण महिलाओं का तबका भी प्रभावित हुआ। मशीनीकरण के कारण हस्तशिल्पी, दस्तकारी और भूमि आधारित रोज़गारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उस युग में महिलाओं का अधिकतर काम असंगठित क्षेत्र में होता था। फेल्विया ऐग्नेस बताती हैं कि -

> "मशीनीकरण के कारण महिलाओं द्वारा किए जाने वाले कई काम पुरुषों के द्वारा हथिया लिए गए। बदली हुई परिस्थितियों में भी स्त्री की काम के विषय में धारणा में कोई बदलाव नहीं हुआ न ही परिश्रामिक की दरें। मसलन, चावल के मिलों का मशीनों के प्रवेश से चावल से भूसी निकलने का काम महिलाओं आजीविका का मुख्य साधन था पुरुषों के हाथ में चला गया।"[203]

इसीप्रकार पशुपालन से जुड़े पारंपरिक व्यवस्था भी महिलाओं की जिम्मेदारियों में था। मशीनीकरण\आधुनिकीकरण तथा बाज़ार व्यवस्था के तहत आने से महिलाओं का इससे नाता टूटने लगा। अध्ययन बताते है कि -

> "गुजरात में अमूल क्षेत्र में डेरी व्यापार में स्त्रियों की भागीदारी को हाशिये पर ले जाते पाया। आधुनिकीकरण करने वाली संस्थाओं ने महिलाओं की परंपरागत भूमिका को मान्यता नहीं दी।"[204]

---

[203] Flavia Agens, " Law and Gender Inequality: The Politics of Women Rights in India",New Delhi OUP, 1999.pp 19-33
[204] Sharma, and others, "women's work in Never Done" EPW, 24 No.17,29-4-1989.pp.ws 38-44

स्पष्ट है कि खाधान्नों के आत्मनिर्भरता के उद्देश्य ने ग्रामीण क्षेत्र में मशीनीकरण को बढ़ावा दिया। जिससे विकास के तमाम प्रक्रिया महिलाओं के कार्य के तरीके में सकारात्मक परिवर्तन नहीं हो सकी और महिला बड़ी सख्यां में कार्य क्षेत्र से बाहर हो गई। मशीनीकरण के कारण महिलाओं का विस्थापन स्वरोज़गार के क्षेत्र से असुरक्षित असंगठित क्षेत्रों जैसे- निर्माण से संबंधित गतिविधियां, फल तथा सब्जीयां बेचना और घरेलू नौकर के रूप में हुआ। असंगठित क्षेत्र की महिलाएं अपनी आपको संगठित करने एंव अपनी कार्यदशाओं को सुधारने का प्रयास में संघर्षरत रही। परंतु, इस दौर में संगठित क्षेत्र में महिला संगठन अपनी अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही थी। साथ-ही साथ संगठित क्षेत्र में भी अंशकालिन नियुक्तियों को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। तो इस स्थिति में अंसगठित क्षेत्र में संगठित महिला समूह किस प्रकार संघर्ष की जमीन तैयार किया, यह एक खुला प्रश्न है?

वर्ष 1990 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था ने उदारीकरण और वैश्वीकरण के प्रवाह में नई आर्थिक नीति ने कई महत्वपूर्ण बदलाव, सार्वजनिक पूंजी में निवेश न करने, समाज कल्याण पर कम खर्च करने, सब्सीडी कम करने और गरीबी कम करने वाले कार्यक्रमों में कटौती के नीति के साथ की। इस नीति ने मांग आधारित आर्हता और कौशल के आधार पर नगरीय शिक्षित महिला के लिए रोज़गार के लिए नई अवसरों को सृजन किया। परंतु, अपर्याप्त कौशल के साथ ही गरीब, अशिक्षित या कम शिक्षित महिलाओं की लिए कोई रोज़गार विकसित नहीं किया। देश की नई आर्थिक नीति ने महिलाओं की रोज़गार के मामलों में महिलाओं की स्थिति का आकंलन ज्यां द्रेज और अर्मत्य सेन अपनी किताब 'इंडिया: इकानांमिक डेवेलपमेंट एंड सोशल आंपुर्चुनिटी' में करते हुए लिखते हैं कि -

> "भारत में, महिलाओं की श्रम शक्ति में भागीदारी की उच्च दर का सीधा संबंध उनकी बेहतर स्थिति उनकी अधिक स्वायत्तता, और कम अतिरिक्त मृत्यु दर से होता है। महिलाओं की रोज़गार और आर्थिक स्वायत्तता की स्थिति में नेशनल सेंपल सर्वे आर्गेनाइजेशन ने वर्ष 2011-12 के दौरान ग्रामीण क्षेत्रों में महिला श्रामिकों की सख्यां में वर्ष 1990 लाख की कमी आई। काबिले ग़ौर है कि वर्ष 1990 के मध्य तक राष्ट्रीय श्रम में महिलाओं का योगदान 40 प्रतिशत था जो वर्ष 2004-2005 में गिरकर 29 फीसदी हो गई है। जबकि वर्ष 2009-2010 में यह 23 फीसदी है। इसमें वे महिलाएं भी शामिल है जिन्होंने एक दिन भी काम किया हो। बाज़ार आधारित आर्थिक नीतियां महिलाओं को हर क्षेत्र में श्रम बाज़ार से धकेल रही है।"[205]

[205] आतिफ रब्बानी, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में लैंगिंक असमानता, समायंतर अंक चार, जनवरी 2016, पेज न०-59

महिलाओं का श्रम शक्ति से दूर रहने की स्थिति ही महिलाओं की प्रति अन्य दकियानूसी सामाजिक नज़रिया को बदलने नहीं देता है। क्योंकि पुरुष प्रधान व्यवस्था को बदलने के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता पहली शर्त है और इसी से वह समाज में बराबरी का दर्जा पा सकती है। इस परिपेक्ष्य में, नई आर्थिक नीति का महिलाओं पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए, चारू गुप्ता लिखती हैं कि-

> "भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों ने स्त्रियों के रोज़गार की सुरक्षा, उसके यूनियन बनाने जैसे सामुदायिक अधिकारों और सामाजिक सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। स्त्रियों पर भूमंडलीकरण का असर यह है कि श्रम का स्त्रीकरण हुआ है और श्रम-शक्ति में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी है। इससे स्त्रियां रोज़मर्रा की जिंदगीं में नये सिरे से संगठित हुई है। वास्तव में भूमंडलीकरण से स्त्रीवादी राजनीति का मूल विमर्श बदल रहा है। स्त्री मुक्ति आंदोलन कई प्रकार की नई स्थितियों में नई स्थितियों में नयी शक्ल ले रहा है। उसकी सक्रियता और संघर्ष से एकतरफ़ उसके सक्रियता और संघर्ष से एकतरफ़ विश्व पूंजीवाद के वैश्विक विस्तार से जुड़े आधिपत्य को चुनौती मिल रही है, तो दूसरीतरफ़ उसके जमीनी संघर्षों से रोज़गार, नागरिक अधिकार आदि कुछ मुद्दों पर हस्तक्षेप की स्थिति बन रही है।"[206]

स्पष्ट है कि आर्थिक बदलाव की नीतियों के कारण मांग आधारित अर्हता एंव कौशल ने शहरी शिक्षित महिलाओं की लिए जहां ज़्यादा अवसर दिए वही अपर्याप्त कौशल के साथ गरीब, अशिक्षित या कम शिक्षित महिलाओं की लिए रोज़गार के अवसर को कम कर दिया। इस प्रकार एक तरफ़ जहां संगठित क्षेत्र में महिलाएं मुखर और दृश्य हैं असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाएं प्रतिदिन जीवित रहने के लिए संघर्ष में व्यस्त है। महिलाओं और कार्य की एक सपूर्ण चित्र को प्रस्तुत करना संभंव नहीं है क्योंकि विभिन्न नीतियां और परिस्थितियां विभिन्न समूहों\स्तरों पर महिलाओं को अलग-अलग तरीके से प्रभावित करता है। रोज़गार के क्षेत्र में असंगठित क्षेत्र महिलाओं की सक्रिय सहभागिता का एक ऐसा यथार्थ है जहां उनका अधिकतर श्रम अदृश्य है। जबकि इस क्षेत्र के हरेक काम में महिलाओं की समस्या चक्रवृद्धि ब्याज के तरह बढ़ता ही चला जाता है।

हिंदी पत्रकारिता में असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की परीस्थिति को अभिव्यक्त करता है, लेकिन समस्या यह है कि हिंदी पत्रकारिता में असंगठित महिलाओं की समस्या पर प्रकाशित लेख असंगठित क्षेत्र की समस्याओं को एक ध्रुवीय समस्या के रूप में देखता है। जबकि अंसगठित क्षेत्र

---

[206] चारु गुप्ता, भूमंडलीकरण से स्त्रीवादी राजनीति बदल रही है,सं.रमेश उपाध्याय, आज का स्त्री आंदोलन,शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली,2011 पेज न०-49

में महिला समस्या एक ही तरह नहीं है वरन विभिन्न पहचानों के आधार पर जनपक्षीय समझ की मांग करते है ताकि इस क्षेत्र में महिलाओं की कार्य के प्रकृति से जुड़े सभी पहलुओं पर खुलकर चर्चा हो सके। रोज़गार के अवसर के रूप में असंगठित क्षेत्र ने विशेष रूप से रोज़गार में महिलाओं की शोषण की समाप्ति, उन्हें संगठित होने का अधिकार, स्वास्थ्य और सुरक्षा का प्रश्न और असंगठित क्षेत्र में कार्य की प्रकृति और समस्याओं पर विशेष बल दिया गया है। गंभीर मुद्दों को भी ज़रूर उठाया गया परंतु, इसे विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया कि मुख्य समस्या केवल यहीं है। जबकि असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की समस्याओं का अर्तगुंथन उसकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्थिति के कारण भी है। बीना अग्रवाल बताती हैं कि-

> "कृषि में तकनीक परिवर्तन के प्रभाव से जुड़े लिंग विभेदों का विश्लेषण महिलाओं और पुरुषों के बीच शुरुआती भिन्नता के आधार पर किया जाना चाहिए।"[207]

इस आधार पर असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी की प्रकृति, महिलाओं की भागीदारी और परिवार की आय और उपभोक्ता सामग्रीयों के वितरण की पद्धति पर उसके नियंत्रण की सीमाओं का मूल्यांकन भी किया जाना चाहिए। मसलन, इस क्षेत्र में महिलाओं की समस्या के बारे में मीना कौशिक 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'कम पैसे में मजदूरी की मजबूरी' में बताती हैं कि-

> "असंगठित क्षेत्र में तकरीबन 90 प्रतिशत महिला श्रमिक भागीदारी है। विशेष रूप से ऐसी महिलाओं ने जो स्वनियोजित हैं, घर, लघु उधोग व कृषि आदि व्यवसायों में जुटी हैं, पारिवारिक व खाद्य प्रसंस्करण क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है, लेकिन यही महत्वपूर्ण वर्ग सबसे सधिक अलाभदार और शोषित है। श्रम कानूनों के बावजूद वह अनेक शोषण के शिकार है। कानून नियमों के विरुद्ध उनसे 12 से16 घंटे काम लिया जाता है लेकिन कोई न्यूनतम मजदूरी निर्धारित नहीं है। काम की गारंटी नहीं होने के कारण हर समय हटाने जने का भय बना रहा है। इस डर के कारण उनका आर्थिक और यौन शोषण भी किया जाता है।"[208]

लेख असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की श्रम, श्रम कानून की असफलता और कार्य क्षेत्र में महिलाओं की साथ होने वाले शोषण की चर्चा करता है। लेख महिलाओं की समस्या का बस तुलनात्मक विवरण अभिव्यक्त करता है। परंतु, इन समस्याओं के मूल कारणों की चर्चा लेख में अभिव्यक्त

---

[207] Bina Aggarwal, Rural women and the High Yielding Variety Rice Technology in india, in Economic and political weakly, 31March 1984 pp- 39-52

[208] 1जुलाई 1990, हिंदुस्तान

नहीं होती है। इसीप्रकार 'हिंदुस्तान' के लेख 'आधी दुनिया के पूरे यर्थाथ को नकारने की पूर्वाग्रही प्रवृति' में जगजीत सिंह बताते हैं कि-

> "परंपरावादी हिमायती दलील के कारण महिलाओं की घरेलू और श्रम के अन्य कार्यों को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में योगदान या मर्दो के बराबर दर्जे का नहीं माना जाता है। कई रिपोर्ट ने इसका खुलासा किया है कि गरीब वर्गो में अनेक परिवार सिर्फ़ महिलाओं की ही आय पर निर्भर करती हैं। परंतु, यह वर्ग बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था में उत्पादित वस्तुओं का बड़ा उपभोक्ता नहीं है। इसलिए अर्थशास्त्री या नीति निर्माता उनको नज़रअंदाज़ करते है।"[209]

इन लेखों में असंगठित कार्य क्षेत्र में महिलाओं के समस्या का एकपक्षीय मूल्यांकन दिखता हैं। इस तथ्य से इऩकार नहीं किया जा सकता है कि महिलाएं असंगठित कार्य क्षेत्र में कई श्रेणीबद्ध समस्याओं के साथ संघर्ष नहीं कर रही है परंतु, इसके कारण में एकरूपता नहीं है। हर एक समस्या अलग-अलग प्रवृत्तियों से प्रभावित है। असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की वस्तुस्थिति के बारे में 'नवभारत टाईम्स' के लेख 'बिहार में शोषण की शिकार हैं महिला श्रमिक'[210] और 'कितना सहे और कब तक सहे महिला बीड़ी मजदूर'[211] में चर्चा देखने को मिलती है। जो समस्याओं की वस्तुस्थिति का मूल्यांकन भर करते है।

असंगठित क्षेत्र में महिलाओं का एक बड़ा हिस्सा आदिवासी महिलाओं का भी है जो स्वीकृत अर्थव्यवस्था में विस्थापन के कारण कामगार के रूप में काम करने को विवश है। परंतु, आदिवासी महिलाओं की स्थिति अगड़ी\अन्य जाति की स्त्रियों से भिन्न हैं, क्योंकि इस समुदाय की सामुदायिक व्यवस्था, पितृसत्ता का स्वरूप और सांस्कृतिक समझ अन्य समाजों से अलग है। यह तथ्य सही है कि औपनिवेशिक काल से ही इस समुदायों को जड़-जमीन से अलग करने की प्रक्रिया अनवरत चल रही है जिसके कारण यह समुदाय बंधुआ मजदूरी और कई क्षेत्रों में श्रम करते है।

'नवभारत टाईम्स' में विनोद कुमार अपनी लेख 'झारखंड क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति तब और अब' में आदिवासी महिलाओं की असंगठित क्षेत्र में स्थितियों का मूल्यांकन करते हुए बताते हैं कि -

> "आदिवासी समाज में भी परंपरागत समाज जैसी स्थिति नहीं रह गई है। वास्तविकता तो यह है कि आधुनिक समाज में आदिवासी समाज की महिलाओं की कार्यक्षमता बढ़ी है। पहले जो

[209] 10मार्च 1991, हिंदुस्तान

[210] 17 जुलाई 1992, नवभारत टाईम्स

[211] 14 अक्टूबर 1996, हिंदुस्तान

> कार्य आसानी से मिल जाते थे, वह अब नहीं मिलते। जनसख्यां में बढ़ोत्तरी के कारण रोज़गार के अवसर कम होते गए और इन महिलाओं को भी प्रतिस्पर्द्धा के दौर से गुजरना पड़ रहा है। इन्हें काम की तलाश में शहर, कस्बों में ईट-भट्टों, भवन पुल व सड़क निर्माण कंपनियों व एजेंटों के यहां जाना पड़ता है। जंगल पर इनके अधिकार समाप्त होते ही इन्हें ठेकेदारों के हाथों अपनी को सौप देना पड़ता है। उनकी परम्परागत समाज में यह स्थिति नहीं रही, जो पहले थी। इसके साथ-साथ सरकारी कानूनों के तहत आदिवासी जमीन कोई गैर आदिवासी नहीं खरीद सकता है। अब धनी होने और जमीन के मोह से गैर आदिवासी महिलाओं से विवाह कर लेते है और फिर महिला की मृत्यु के बाद जमीन पर उनका अधिकार हो जाता है। जिससे आदिवासी अपनी जमीन से धीरे-धीरे बेदखल हो रहे है।"[212]

लेख जहां एकतरफ़ आदिवासी महिलाओं का असंगठित क्षेत्र में कार्य करने के कारणों की चर्चा करता है, वहीं आदिवासी समाज के में मौजूद महिला अधिकारों के साथ कानूनी प्रावधान के तालमेल नहीं होने की भी चर्चा करता है जिसके कारण भी महिलाएं सामुदायिक कानूनों के बाद भी श्रम क्षेत्र केतरफ़ ढ़केली जा रही है। आदिवासी समुदाय की महिलाएं बड़े पैमाने पर घरेलू कामगार महिला के रूप में बड़े शहरों, कस्बों और महानगरों में ठेकेदारों के माध्यम से आती है। इन आदिवासी घरेलू महिला कामगारों की समस्या पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाश लुईस अपनी लेख 'आदिवासी घरेलू कामगार: उपनिवेशवाद की शिकार' में बताते हैं कि-

> "घरेलू कामगर, विशेषकर घरेलू कामकाजी महिलाओं की खोज महानगरों से शहरों और छोटे-छोटे नगरों में होने लगी है। घृणात्मक नज़रियेसे 'आया' कहीं जाने वाली आदिवासी महिलाओं की विशेष मांग बढ़ गई है। 17 साल से 70 साल की महिलाएं इस काम में लगी है। उच्च वर्ग के लिए घरेलू कामकाज के लिए पात्र बन रही है क्योंकि आदिवासी घरेलू कामगार सस्ते मजदूर है। जहां वे किसी न किसी ठेकेदार या एजेंट के जरिएकाम पर लगाई जाती है। आदिवासी घरेलू कामगार मजदूर महिलाएं प्रवासी होने के कारण शोषण का शिकार होती है। प्रवासी आदिवासी घरेलू कामगार मजदूरों की स्थिति को सुधारने के लिए कुछ बुनियादी मुद्दों पर विचार करना होगा। आदिवासी प्रवासी मजदूरों के अस्तित्व, अस्मिता एंव पहचान को बनाए रखने के लिए संगठित करने का प्रयास किया जाने की ज़रूरत है।"[213]

लेख अनुमान के आधार पर दिल्ली में कम से कम एक लाख आदिवासी लड़के-लड़कियों के घरेलू कामगार मजदूर के रूप में कार्यरत होने का जिक्र भी करता है। हिंदी पत्रकारिता में आदिवासी समुदाय की समस्या उनकी संस्कृति और प्रकृति आधारित जीवन पर लेख देखने को मिलती है। परंतु, असंगठित क्षेत्र में कामगार के रूप में उनकी समस्याओं का मूल्यांकन की अभिव्यक्ति नहीं

---

[212] 7मार्च 1992, नवभारत टाईम्स

[213] 11 अक्टूबर 2002, हिंदुस्तान

के बराबर दिखता है। यदा-कदा प्रकाशित लेख उनकी समस्या को अभिव्यक्त करते है परंतु, उन लेखों में आदिवासी महिलाओं की समस्या एकवचीन रूप में अभिव्यक्त होती है। उसमें समस्या के मूल कारण पर चोट नहीं के बराबर होता है। आदिवासी समुदाय के छोटे-बड़े आदिवासी किस प्रकार औपनिवेशिक नीति, अतिक्रमण और सामुदायिक अधिकार के बाद भी आदिवासी महिलाएं श्रम के क्षेत्र में किन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों के कारण आई। इसका विश्लेषण कई शोधों से प्रकट हुआ हैं। परंतु, यह हिंदी पत्रकारिता में मुखर रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पा रही है। स्पष्ट है कि हिंदी पत्रकारिता ने असंगठित क्षेत्र में आदिवासी समुदाय की समस्या को श्रमिक के रूप एक पक्षीय रूप में देखा और अभिव्यक्त किया है।

हमारी अर्थव्यवस्था में घरेलू कामकाज में सहायक लोगों को बेनाम और बेशक्ल रूप में रखे गये हैं। घरेलू कामकाज में सहायता करने वाले लोग नौकर/नौकरनी के रूप में असंगठित क्षेत्र का वह तबका है जो देश के कस्बों, शहरों और महानगरों में आबाद मध्यवर्गीय परिवारों में सहायक के रूप में श्रम करते हैं। इनके काम से जुड़े अधिकारों के जो विशिष्ट प्रावधान है भी तो उनके अमलदारी में भारी कमी है।

> "अंतराष्ट्रीय श्रम-संगठन के अनुसार, जीविका के लिए किसी और के घरेलू कामकाज में सहायता करनेवाली महिलाओं की सख्यां बीते एक दशक में (वर्ष 2001-10) के बीच तकरीबन 70 प्रतिशत बढ़ी हैं। नेशनल सैंपल सर्वे के 2004-05 के आंकड़ों में जीविका के लिए किसी अन्य के घर में कामकाज में बतौर घरेलू सहायक काम करनेवाले लोगों की सख्यां 47.50 लाख बतायी गई और कहा गया कि इसमें 30 लाख ऐसी महिलाएं हैं, जो किसी न किसी शहरी घर में सहायक का काम करती है।"[214]

इसके अतिरिक्त घरेलू कामगार के कार्यक्षेत्र में उनकी सामाजिक हैसियत और जाति से जुड़े सामाजिक पूर्वाग्रह उनके कार्यस्थल पर भी नई चुनौतीयां देते हैं, महिलाओं की साथ यौन-प्रताड़ना का शिकार होना भी इसका एक रूप है, दूसरा रूप है उन पर चोरी का आरोप, गाली देना, अभद्र भाषा में बात करना या फिर इन्हें घर के भीतर शौचालय आदि का इस्तेमाल न करने देना है। घरेलू कामगार महिलाओं का एक अन्य कार्य क्षेत्र विदेशों में घरेलू काम के लिए जाना भी है। स्टेट आंफ वर्ल्ड पापुलेशन वर्ष 2006 के रिपोर्ट के अनुसार विदेशी भूमि पर घरेलू महिला कामगार दासी बनकर रह जाती है। उनके काम का दायरा सार्वजनिक नहीं होने के कारण उनकी स्थिति दयनीय हो जाती है। इसके साथ ही अधिकतर घरेलू कामगार श्रम कानूनों के दायरे के

[214] http://www.prabhatkhabar.com/news/shiksha/story/93159.html

बाहर रहते है जिसके कारण उनको कोई कानूनी सहायता भी नहीं मिल पाती। अलका आर्य 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'प्रवासी घरेलू महिला कामगार या दासी' में लिखती हैं कि -

> "घरेलू महिला कामगारों के निर्यात में विदेशी मुद्रा पाने\कर्ज से उबरने की रणनीति काम कर रही है। इसके लिए हजारों महिलाएं विदेशों में बतौर घरेलू कामगार जाती हैं। लेकिन वहां पहुचते ही उनकी तकलीफों का सिलसिला शुरू हो जाता हैं। इनको वहां घर से बाहर निकलने की अनुमति नहीं होती। फिर यौन-शोषण तो आम बात है। इनके पासपोर्ट भर्ती एजेन्सी या नियोक्ता अपनी पास रख लेता है तथा वीजा की तारीख खत्म होने की सूचना उन्हें नहीं देते। फिर उन्हें अवैध आवास के मुद्दे पर ब्लैक मेल किया जाता है।"[215]

घरेलू कामगार महिलाओं की रूप में अबला समझी जाने वाली महिला का एक वर्ग ऐसा भी हैं, जिसने अपनी श्रम धैर्य और सहनशीलता के बलबूते पर जिंदंगी की तल्खियों को ठेंगा दिखा दिया है। ये वर्ग घरेलू कामगार महिलाओं का हैं, जो घरों, स्कूलों या छात्रावासों में सफाई, कपड़ों की धुलाई या अन्य ऐसे कार्य करती हैं जिनके लिए पढ़ाई-लिखाई की नहीं देह के ताकत की ज़रूरत होती है। इन घरेलू कामगार महिलाओं की समस्या पर चर्चा दीपशिखा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'हाशिये पर पलती ज़िंदगी' में करती है। वो लिखती हैं कि-

> "दाईयों के रूप में काम करने वाली घरेलू कामगार महिलाएं आर्थिक शोषण का शिकार बनती है तो कभी मलिकों के हाथों प्रताड़ित होती है। सुरक्षा और आरक्षण की ज़रूरत वास्तव में इन्हीं वर्ग के लोगों का है। परंतु, शिक्षा के अभाव में इनके लिए आरक्षण के बारे में जानना भी संभव नहीं, उसका लाभ उठाना तो दूर की बात है।"[216]

इसीतरह 'हिंदुस्तान' के आधी दुनिया कालम में कल्पना शर्मा अपनी लेख 'आसपास की अदृश्य औरतें' में लिंखती हैं कि-

> "हमारे आस पास घरेलू कामगार महिलाएं गायब आपा की तरह काम करती है। हमें उनके होने का तब पता चलता है जब वे काम पर नहीं होती। इन महिलाओं को न आराम की छूट है न कोई अधिकार प्राप्त है। इनका संपूर्ण जीवन एक अदृश्य पहलू के तरह है।"[217]

कल्पना शर्मा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'घरेलू नौकर कब बनेगें कामगार' में लिखती हैं कि-

> "महिला कामगारों की समस्या के समाधान के लिए जितने भी विधिक प्रयास हुए हैं या हो रहे है, वह कानून घरेलू कामगारों के अधिकारों को मान्यता तो देते हैं। परंतु, इनकी समस्याओं को केवल कानूनी धाराओं से नहीं निपटा जा सकता हैं। घरेलू कामगारों से जुड़े कानून तभी प्रभावी

---

[215] 7 नवंबर 2006, हिंदुस्तान

[216] 21 जनवरी 1995, हिंदुस्तान

[217] 22 मई 2008, हिंदुस्तान

> हो सकते है, जब उन्हें काम पर रखने वालों के व्यवहार में परिवर्तन हो। क्या काम पर रखने वालों को पता है कि तय न्यूनतम वेतनमान कितना है? स्थितियां तभी बदल सकती हैं जब मालिक इन्हें नौकर न समझकर कर्मचारी समझें। वे समझें कि औरों की तरह उनके भी अधिकार हैं।"[218]

हिंदी पत्रकारिता में घरेलू कामगार के रूप में महिलाओं की कार्य की स्थिति का मूल्यांकन करते हुए उसकी समस्याओं की अभिव्यक्तियां देखने को मिलती हैं। लेखों में इन तथ्यों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है कि देश में लाखों महिलाएं घरेलू कामगार के रूप में काम कर रही हैं लेकिन देश की अर्थव्यवस्था इनके कार्य को गैर-उत्पादक कार्य की श्रेणी में रखने के कारण अर्थव्यवस्था में उनके योगदान का मूल्यांकन नहीं हो पाता। कार्य करती हुई महिलाओं के श्रम को समाज और सरकार गंभीरता और आदर नहीं देती है जैसा पुरुष कामगारों के संदर्भ में होता है। वास्तव में यह स्थिति कुदरतन नहीं उपजी हैं, बल्कि एक सामंती समाज के उस उत्पादन के ढांचे से निकली है, जहां मर्दाना सोच अधिक हावी है, जो घरेलू कामगार महिलाओं की श्रम को श्रम मानता ही नहीं है। तमाम लेख कामगार महिलाओं की समस्या को अभिव्यक्त करते हैं परंतु, श्रमिक के रूप में उनके श्रम को अभिव्यक्त नहीं करते है।

मानवीय जीवन-मूल्य सामाजिक परिवर्तनों से प्रभावित होते रहे है, उसक प्रभाव सामाजिक जीवन व्यवहार पर भी पड़ता है। महिलाओं का पुरुष के साथ रोज़गार के साधनों में भागीदारी उसके स्वावलंबन का प्रतीक है। परंतु, भारतीय उपमहाद्वीप के बहुधिक समाज में महिलाओं की स्थिति एक तरह की नहीं है। सांस्कृतिक वातावरण, पारिवारिक संरचनाएं, जाति, वर्ग, व्यवसाय, संपत्ति-संबधी अधिकारों के अनुसार महिलाओं की स्थिति हर जातीय-धार्मिक समुदाय में अलग-अलग तरह की हैं। असंगठित कार्य क्षेत्र में कृषि या कृषि आधारित रोज़गार में ग्रामीण महिला कामगार संलग्न है।

> "ग्रामीण भारत में वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार 27.06 प्रतिशत ग्रामीण महिलाएं कामगार हैं, उसमें से 19.07 प्रतिशत प्रमुख कामगार और 8 प्रतिशत सीमांत कामगर है। प्रमुख कामगारों में से 31.68 प्रतिशत काश्तकार हैं, 48.83 प्रतिशत कृषक मजदूर हैं। इस प्रकार भारत में कृषि क्षेत्र महिलाओं की रोज़गार का एक प्रमुख क्षेत्र है और आज की स्थिति के अनुसार ग्रामीण भारत की प्राय: सभी महिलाओं को किसी न किसी रूप में किसन माना जा सकता है। क्योंकि वर्ष 1977 और वर्ष 1991 की अवधि के दौरान पुरुष कृषक मजदूरों की तुलना में महिला कृषक मजदूरों का अनुपात 57 से बढ़कर 60 प्रतिशत हो गया था। इसीप्रकार पुरुष काश्तकारों की तुलना में महिला काश्तकारों का अनुपात 14 से बढकर 19 प्रतिशत हो गया है। भारत सरकार मानव संसाधन विकास मंत्रालय राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना के

[218] 23 जनवरी 2009, हिंदुस्तान

> अनुसार ग्रामीण उत्पादन पद्धति में महिलाओं की सहभागिता इस प्रकार हैं - कृषि 18.7 लाख, डेरी उधोग 750 लाख, मत्स्य पालन 10 लाख, लघु पशुपालन 150 लाख, खादी एंव ग्राम उधोग 17 लाख, हस्तशिल्प 5.4 लाख, रेशम पालन 8 लाख, हथकरघा 29 हैं।"[219]

प्रस्तुत आंकड़े ग्रामीण रोज़गार में महिलाओं की सहभागिता को बढ़ोतरी को दिखाते हैं। जिससे यह सिद्ध होता है कि महिलाएं ग्रामीण रोज़गार के साधनों में संलग्न हैं। परंतु, कृषि उत्पादन में वृद्धि के उद्देश्य ने कृषि के आधुनिकरण एंव मशीनीकरण को प्रोत्साहित किया। जिसने बड़ी सख्यां में कृषि महिला कामगारों खेती के कार्य से बेदखल भी किया है। स्पष्ट है कि असंगठित क्षेत्र में ग्रामीण रोज़गार में महिलाओं की सहभागिता कई स्तरों पर प्रभावित होती है, जहां एक तरफ़ उनकी सहभागिता के बाद उनके श्रम के अदृश्य रहने की समस्या है तो दूसरी तरफ़ कृषि उत्पादकता में वृद्धि के लिए अपनाई जा रही नीतियों ने रोज़गार क्षेत्र से बेदखल होने की समस्या भी साथ-साथ मौजूद है। जिसके कारण ग्रामीण रोज़गार में महिलाओं की सहभागिता के आंकड़े स्थिर नहीं रहते हैं। यह समस्या का एक रूप है, इसका दूसरा रूप यह भी है कि उपलब्ध रोज़गार के क्षेत्र में भी महिला कामगारों की कार्य स्थिति संतोषजनक नहीं हैं। वहां ग्रामीण महिलाएं पारिवारिक, कार्य स्तर की समस्या, अधीनस्थों द्वारा प्रताड़ना और सामाजिक स्तर पर समस्या से रूबरू होती हैं। कृषि उपकरणों के मशीनीकरण का महिला कामगारों की समस्या पर जगजीत सिंह 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'खेती के काम और महिला कृषक' में बताते हैं कि -

> "कृषि को आदिकाल से ही पुरुष-प्रधान व्यवसाय समझा जाता रहा है, अत: इस क्षेत्र में समान्य ग्रामीण महिला के योगदान को या तो पहचाना नहीं जाता या फिर जानबूझ कर अनदेखी की जाती है। जबकि कृषि कार्यों में रोपाई हो या बुआई, सिचाई हो या खाद का छिड़काव और या फिर कटाई -खेतीबाड़ी से जुड़े इन सभी महत्वपूर्ण पहलुओं में महिलाएं न केवल समान रूप से बल्कि कई बार मर्द खेतिहरों के मुकाबले कहीं ज़्यादा काम करती हैं। परंतु, पूर्वाग्रही मानसिकता के कारण, कृषि उपकरणों में महिलाओं की शारीरिक बनावट की अपेक्षाओं के अनुरूप विरले ही परिवर्तन किए जाते हैं और इस क्षेत्र में उन्नत व नई तकनीक का लाभ सिर्फ़ मर्द किसानों तक पहुंच पाता हैं। कृषि तकनीकों के विकास से महीलाओं के कृषि कार्यों में कोई खास बदलाव नहीं आया है। उनके लिए कृषि कार्य न ही आसान हुआ है न ही उनके काम के घंटे कम हुए है।"[220]

---

[219] मनोज कुमार मिश्र, कृषि क्षेत्र में लगी महिलाओं की समस्याएं, सं,सुमन कृष्णकांत, इक्कीसवीं सदी की ओर,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पेज न०- 175-176

[220] 5 मार्च 1992, हिंदुस्तान

कृषि के क्षेत्र में तकनीक के विकास ने महिलाओं की भागीदारी को सीमित किया है क्योंकि अधिकांश कार्य जो महिलाओं के हाथों से होता था वो मशीनों के द्वारा होता हैं। मशीनों के प्रयोग से श्रमिक के रूप में महिला श्रम की आवश्यकता ज़रूर कम हुई है परंतु, महिलाओं की काम के घंटे कम नहीं हुए है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कृषि उत्पाद पर सरकार द्वारा अपनाई नीतियों ने भारतीय कृषि उधोग मुनाफे का व्यवसाय नहीं रह गया है। उन्हें बाज़ार में अपनी फसल का लागत मूल्य नहीं मिल पा रहा है। जिसके कारण कृषि कार्य में कम मुनाफे के कारण बड़ी सख्यां में पुरुष मजदूर शहरों में गैर कृषि कार्यों के तरफ़ जीविका के लिए पलायन कर रहे है। परिणामत: ग्रामीण इलाकों में कृषि कार्यों में महिलाओं की भूमिका बढ़ रही है। इसे कृषि का महिलाकरण के रूप में पहचाना जाता है। बीना अग्रवाल 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'कृषि का महिलाकरण' में बताती हैं कि -

> "हाल के वर्षो में ग्रामीण क्षेत्रों में पुरुष कामगार अपनी जीविका के उपार्जन के लिए शहरी या ग्रामीण क्षेत्रों के गैर कृषि-कार्यों में लग रहे है, वही दूसरीतरफ़ अधिकतर महिलाएं कृषि कार्यों में ही संलग्न हो रही हैं। कृषि कार्यों में लगी महिलाओं और पुरुषों की सख्यां में फर्क लगातार बढ़ता जा रहा है। नतीजतन अधिक से अधिक परिवार जीवन-यापन के लिए महिलाओं पर आश्रित हो रहे हैं क्योंकि वही खेतों की भी देखभाल कर रही है। परंतु, कृषि भूमि पर उनका अधिकार एक केयरटेकर के तरह की है। कृषि भूमि पर महिलाओं की अधिकार में कानूनी, सामाजिक एंव प्रशासनिक सभी तरह की बाधाएं आड़े आती हैं। इसके कारण महिलाएं कृषि भूमि पर पारिवारिक मजदूर के समान हैं क्योंकि कृषि से उपार्जित धन पर भी उसका अधिकार नहीं है।"[221]

स्पष्ट है कि कृषि आधारित रोज़गार से पुरुषों के पलायन के बाद महिलाओं की सहभागिता इस क्षेत्र में बढ़ी है। इसके कई कारण है पहला, कृषि अधारित रोज़गार परिवार के लिए अतिरिक्त आय के स्त्रोत के रूप में उभरा है। दूसरा, कृषि आधारित रोज़गार से पलायन करने वाले पुरुष भूमि पर अपना अधिकार बनाए रखने के लिए अपनी महिलाओं को कृषि आधारित रोज़गार में सहभागिता के लिए प्रेरित करते हैं। तीसरा, कृषि आधारित रोज़गार में महिला कामगार को कम मजदूरी में काम करने को विवश किया है क्योंकि महिला कामगार के पास रोज़गार के अन्य विकल्प मौजूद नहीं है।

[221] 7 मार्च 1997, हिंदुस्तान

इसी तरह असंगठित क्षेत्र में महिला कामगारों के समस्या पर 'असंगठित क्षेत्र में मजदूरों की समस्या'[222], 'अधर में लटके असंगठित क्षेत्र के मजदूर'[223] ,'खतरे में है असंगठित मजदूर'[224], 'महिलाओं की श्रम बाजर में भागीदारी'[225], 'महिलाओं की श्रम बाज़ार में भी बराबरी नहीं[226]' जैसे लेख देखने को मिलते है जिनमें असंगठित क्षेत्र में महिला कामगारों के समस्या पर हो रहे सेमिनारों में हुई बहसों, उदारीकरण के दौर में असंगठित महिला कामगरों के स्थिति का विवरण देखने को मिलता है। कुछ लेखो में 'कंजर्वेटिव बैकलैश' का अंतविरोध भी दिखता है। यह सही है कि हिंदी पत्रकारिता में असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की रोज़गार की समस्या को एक सीमा तक सार्वजनिक विमर्श में स्थापित करने का प्रयास किया है। इस क्षेत्र में महिलाओं तक स्वास्थ्य सुविधाओं का ना होना, उनके हित में कानून होने पर भी उन तक उनके पहुंच का न होना, समान कार्य के लिए समान वेतन न मिलना, कार्य क्षेत्र में उनके साथ शारीरिक-मानसिक-आर्थिक शोषण पर हिंदी पत्रकारिता विरक्त भाव से लेखों, संपादकीय और सूचनाओं का प्रकाशन कर रही थी। परंतु, उसका आदर्श स्वरूप पेश करने में उसे पुरुषों के सहायक सम्पूरक रूप का भी विश्लेषण किया है। समस्याओं के विश्लेषण में यथास्थितिवाद की व्याख्या करते हुए समस्या के मूल प्रवृत्ति पर प्रहार से बचने की कोशिश भी दिखती है। असंगठित क्षेत्र में महिला कामगार की समस्या सामाजिक व्यवहार, पूर्वाग्रही सामाजिक मानसिकता, सरकारी संस्थाओं की असंवेदनशीलता, सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक बदलाव के कारण भी प्रभावित होते है, जिसकी चर्चा लेखों में कम देखने को मिलती है। मसलन, अगर देश-समाज में कोई बड़ी घटना(दंगे, आगजनी, हिंसा या कोई आंदोलन) असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की कार्य स्थिति को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। इन घटनाओं के बाद महिलाओं की सामाजिक सुरक्षा का भाव इस कदर हावी होता है कि वह महिलाओं को कार्य क्षेत्र को नियंत्रित करता है। यही स्थिति जातीय संघर्ष के दौरान भी मुखर होती है।

असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की कार्य स्थिति के मूल्यांकन में इस प्रवृत्तियों की अनदेखी हिंदी पत्रकारिता के वर्गीय चरित्र पर प्रश्न चिन्ह लगाते है। असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की समस्याओं की श्रेणीबद्धता पर कई शोध कार्य हो चुके हैं(अर्थात इस क्षेत्र में महिलाओं की समस्या में एकरूपता का अभाव है) जो समस्याओं का तथ्यपरक मूल्यांकन पेश करते है। मसलन, जातीय-वर्गीय और धार्मिक संरचना महिलाओं की कार्य-क्षेत्र को कैसे प्रभावित करती है? क्यों हेय और

---

[222] 4 जून 2002, हिंदुस्तान

[223] 2 मई 2003, हिंदुस्तान

[224] 2 मई 2003, दैनिक जागरण

[225] 25 मार्च 2008, हिंदुस्तान

[226] 4 मई 2008, हिंदुस्तान

निम्न माने जाने वाले कार्य पिछडे वर्ग की महिलाओं को ही करना पड़ता है?[227] आर्य-अर्जन करने के बाद भी महिलाएं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर क्यों नहीं हो पा रही हैं? स्पष्ट है कि असंगठित क्षेत्र में कई ऐसे रोज़गार है जो महिलाओं को जाति आधारित व्यवस्था के कारण करना पड़ता है इन परंपरागत कार्यों के पीछे कई पहलू है जो अदृश्य है। इनकी प्रश्नों को मुखर अभिव्यक्ति देने में हिंदी पत्रकारिता परहेज करता है। जाहिर है हिंदी पत्रकारिता महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों को निरपेक्ष भाव से अभिव्यक्त नहीं करता है। यानी हिंदी के पाठक लिए हिंदी पत्रकारिता महिलाओं की आर्थिक सहभागिता पर व्यापक हित में राजनीतिक, सामाजिक खबरों में एक बड़ा फर्क पैदा करता है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि हिंदी पत्रकारिता महिलाओं की आर्थिक सहभागिता के विषय पर एक पूर्वाग्रही विचारों की अभिव्यक्ति करता है।

2.3 निष्कर्ष

आर्थिक व्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी का सवाल, महिलाओं की स्व-अस्मिता, सशक्तिकरण और महत्व की तरह यह समझना बहुत जरूरी है कि स्वयं स्त्रियां बदलाव के लिए कितनी जागरूक या इच्छुक हैं। ग़ौर से देखे तो पाते है कि इस दिशा में उनके लिए कोई आदर्श स्थिति है कभी नहीं रही है। वे खुद आगे बढ़ रही है और अपनी अधिकारों को हासिल कर रही हैं। अपनी कौशल और योग्यता से पुरुष वर्चस्व के साथ-साथ सदियों पुरानी धारणाएं तोड़ रही हैं की उनकी भूमिका केवल पत्नी, मां और सेविका की ही नहीं है। आर्थिक व्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी जीता जागता ऐसा यथार्थ है, जहां महिलाएं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कठिन श्रम कर रही हैं। एक तरफ़ शहरी क्षेत्र में कामकाजी महिलाएं आत्मनिर्भर और अर्थव्यवस्था में श्रमिक के रूप में भागीदार है। तो दूसरी तरफ़ महिलाएं विशेषकर असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाएं, प्रतिदिन के चुनौतीयों का सामना कर रही हैं और उनका पूरा श्रम अदृश्य हैं। आर्थिक परिदृश्य में बदलाव के बाद भी महिलाओं ने अपनी स्वाभिमान को विकसित करते हुए कमाई की क्षमता को विकसित किया और संघर्ष किया। महिलाओं की श्रम के एकजुट तस्वीर पेश करना असंभव है क्योंकि विभिन्न नीतियों और परिस्थितियां विभिन्न समूहों/स्तरों की महिलाओं को विभिन्न तरीके से प्रभावित करती है। इस महौल में हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं की रोज़गार के विषय पर एकरूपता के साथ अभिव्यक्ति, महिलाओं की यथार्थ का भ्रामक तस्वीर प्रस्तुत करता हैं और

[227] भाषा सिंह, अदृश्य भारत किताब में मैला ढ़ोने वाली महिलाओं की राजनीतिक, सामाजिक, कानूनी वजहों को टटोलनों की कोशिश करती है और यह रेंखाकित करती है कि श्रम क्षेत्र में लैंगिक उत्पीड़न किस तरह से जागीरदारी के छलावे में सहेज कर मैले की टोकरी को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सरकाया जाता है।

महिलाओं की कार्य के संबंध में यथार्थ के करीब होकर भी उसे विमर्श के रूप में स्थापित होने नहीं देता है। हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं की रोज़गार पर प्रकाशित लेख कामकाजी महिलाओं की समस्याओं के साथ यह भी अभिव्यक्त करने का प्रयास साथ-साथ करते है कि उनके जीवन की प्राथमिकता रोज़गार नहीं बल्कि घर है। कई लेखों में कार्यक्षेत्र में महिलाओं की स्थितियों पर बहस आयोजित करते हैं। साथ ही यह वस्तुस्थिति को प्रकट करते है महिलाओं की आर्थिक अधिकारिता सिर्फ़ महिलाओं की सास्कृतिक संरचना, महिलाओं की कार्य के प्रति असंवेदनशीलता और सामाजिक पूर्वाग्रह से प्रभावित है। इस तरह महिलाओं की कार्य और उसके योगदान इस रूप में अभिव्यक्त होते है कि परिवार के बेहतरी और उसको बनाए रखने का उनका योगदान, समाज परिवार के लिए उसकी चिंता, पारिवारिक सदस्यों का पालन-पोषण और इन सबके लिए स्वयं को मिटा देने की प्रवृत्ति, प्राकृतिक और स्त्रियोचित गुणों का परिणाम है। जिसके कारण महिलाओं की रोज़गार या कामकाज को लेकर हिंदी पत्रकारिता में एक स्वर साथ-साथ चलता हुआ दिखता है जो मनुकालीन धारणाओं से प्रभावित होता है। हिंदी पत्रकारिता की यह धारणा महिलाओं को आर्थिक रूप से स्वतंत्र छवि को न ही स्थापित होने देती है, न ही संगठित, असंगठित क्षेत्र में कामकाजी महिलाओं की समस्याओं का मूल्यांकन करने का प्रयास करती हैं। इस दशक की हिंदी पत्रकारिता ने नये व्यंजन, सिलाई कढाई, बुनाई, घर-दफ्तर के बीच में सेतु व संतुलन के नुस्खों के आगे बढ़कर विभिन्न व्यवसायों में महिलाओं की स्थिति परिस्थितियों, कठिनाइयों पर भी विचार करना प्रारंभ किया। कभी-कभी वो एक पक्षीय भी रहे है। तो साथ में संगठित व असंगठित दोनों क्षेत्रों में कामकाजी महिलाओं की विभिन्न समस्याओं पर लेखों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं। परंतु, रोज़गार के क्षेत्र में महिलाओं की कार्य स्थिति, शोषण की विसंगतियों पर चुप्पी हिंदी पत्रकारिता में समय के साथ बदलते हुए मिजाज को कटघरे में रखता है।

अध्याय- 3

हिंसा

वर्तमान समय में यदि हिंसा शब्द को परिभाषित करने का प्रयास करें, तो कह सकते है कि मानव विकास के शर्तों पर सामाजिक व्यवस्थाओं को मापने का सबसे महत्वपूर्ण तरीका यह हो सकता है कि वह अपनी नागरिकों को इस योग्य बनाए कि हिंसा मुक्त जीवन जी सकें। परंतु, हिंसा व्यक्ति, समूहों या समुदायों की वह मनोवृत्ति है जो विभिन्न अवसरों पर विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग रूप में प्रकट होती है। हिंसा के प्रत्यक्षीकरण के अवसरों की विभिन्नता और उसके स्वरूप के संबंध में कोई एक राय नहीं होने के कारण इसे परिभाषा के दायरे में सीमित करना संभव नहीं हो पाता है। मसलन, सांप्रदायिक दंगों और आगजनी में जहां इसका कारण धार्मिक असहिष्णुता को माना जाता है तो परिवार और व्यक्तिगत स्तर पर हिंसा काफ़ी हद तक सामाजिक हिंसा का प्रतिफल भी माना जाता है। इसीप्रकार कुछ वर्गों का परंपरागत शोषण को स्वीकार करने से इऩकार करना, भी हिंसा के कारण के रूप में उभरता है। इसके साथ-साथ जातीय और वर्गीय हिंसा भी समुदायों के विरुद्ध उभरते है। जाहिर है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हिंसा की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं मौजूद हैं इसलिए हिंसा को परिभाषित या उसकी पहचान करने के प्रयास में इसकी गंभीरता, संवेदशीलता और घटना के सूक्ष्म तत्वों की पड़ताल करना असंभव हो जाता है। वैसे यह कहा जा सकता है कि हिंसा एक व्यक्ति, समूह, समुदाय या विचारधारा का दूसरे पर अधिकार बनाए रखने का माध्यम है जिसमें शक्ति का इस्तेमाल क्रूरतम तरीकों से होता है और हिंसा की प्रवृत्ति को अंकुशित-नियमित रखने के लिए धर्म, नैतिकता, सामाजिक संस्था-विन्यास और वर्चस्व आधारित मानसिकता आदि की भूमिका होती है।

महिलाओं की संदर्भ में अक्सर हिंसा की बात करते समय उनके उत्पीड़न की व्याख्या में हिंसा के एक पहलू पर केंद्रित हो जाते हैं जिसके कारण महिलाओं की साथ हिंसा के मामले सार्वजनिक बहस के दायरे में उस संदर्भ में स्थापित नहीं हो पाते हैं जिसकी वो मांग रखती है। वास्तव में महिलाओं की ख़िलाफ़ हिंसा का एक व्यापक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ है जिसमें एक तरफ़, महिलाओं की ख़िलाफ़ हिंसा का मुख्य कारण आर्थिक विपन्नता और सामाजिक सुरक्षा है। तो दूसरी तरफ़, सार्वजनिक जीवन और सामाजिक टकरावों में उसकी उपस्थिति। सामाजिक-आर्थिक कारणों की वजह से विभिन्न जातियों, समुदायों एंव वर्गों के बीच जब भी संघर्ष होता है तो महिलाएं उनका आसान निशाना बनती है। इसके साथ-साथ सामाजिक टकरावों के दौरान महिलाओं की साथ हिंसा जातीय और सांप्रदायिक हिंसा के रूप में अपना विस्तार कर रही है। महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का स्वरूप सती-प्रथा, घरेलू हिंसा, दहेज के कारण शोषण/उत्पीड़न, बलात्कार, कन्या शिशु हत्या/कन्या भ्रूण हत्या, गर्भनिरोधक या जनसख्यां नियत्रण के साधन, महिला उत्पीड़न और अन्य कई आयाम है; जिसकी अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता में होती है। हांलाकि महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के अन्य कई आयाम या स्वरूप हैं। हिंदी पत्रकारिता में

महिलाओं की साथ हिंसा का संदर्भ समय के साथ समाज सुधार और महिला आंदोलनों के दवाब में बदलता भी रहा हैं। स्वतंत्रता के पहले महिलाओं की विरुद्ध हिंसा को मानवीय आधार पर अभिव्यक्त किया जा रहा था तो आजादी के बाद कामकाजी महिलाओं की घर और दफ्तर की दोहरी भूमिका का सामांजस्यपूर्ण निर्वाह के रूप में उभर कर आया। ऐसा नहीं रहा कि हिंसात्मक व्यवहार में समाज में कोई परिवर्तन आया या ये पहले भी मौजूद नहीं थे। किंतु यह सही है कि हिंदी पत्रकारिता में पहले ये स्थान नहीं पाते थे जैसे अन्य कुरीतियों या अन्याय के विरोध में लिखा जाता था। समय के लंबे अंतराल के बाद ये हिंसात्मक व्यवहार सार्वजनिक तौर पर उल्लेख व चर्चा के योग्य समझी गई। इस अध्याय में महिलाओं की संदर्भ में हिंसा के कारणों की पहचान उसका विस्तार और हिंदी पत्रकारिता में हिंसा के संदर्भ में उस मूल्य बोध को समझना है जिसे महिलाओं की संदर्भ मे वह अभिव्यक्त करती है और विमर्श के रूप में स्थापित करने का प्रयास करती है।

3.1 हिंसा और महिला

हिंसा मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति है जिसकी अवधारणा का विकास सभ्यता की दिशा में मनुष्य के क्रामिक उन्नति से संभव होता रहा है। समाज, परिवार या व्यक्तिगत स्तर पर भी हिंसा न हो, यह सबसे आदर्श और अच्छी स्थिति हो सकती है। लेकिन वास्तविक स्थिति यह है लगभग सभी स्तरों पर सभ्यता के आरंभ से आज तक हिंसा मौजूद रही है। व्यक्तिगत स्तर के साथ अन्य स्तरों पर हिंसा संगठित रूप में मौजूद है। हिंसा मानवीय संदर्भ में सांस्कृतिक आधार पर सैद्धांतिक और व्यावाहारिक स्तर पर कुछ प्रश्न राज्य और समाज के पारंपरिक मूल्यों पर खड़ा करती हैं। राज्य सत्ता, पारंपरिक मूल्य (जो धार्मिक और जातीय मूल्यों द्वारा संचालित होते हैं), पूंजी और पितृसत्ता आदि के अंतर्गुथन से मिलकर हिंसा के वर्णक्रम को उभारते है। राज्य सत्ता अपनी आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व महिलाओं की सांस्कृतिक व्यक्तित्व पर गहरा सामंजस्य स्थापित कर उनका शोषण करते हैं। महिलाओं की साथ हिंसा की घटनाएं इस अंतर्गुथन का विस्तार(एक्सटेंशन) अतीत से वर्तमान तक सती-दहन, दहेज-हत्या, बलात्कार, कन्या शिशु-भ्रूण-हत्या, गर्भनिरोधक\जनसख्यां नियंत्रण नीति, यौन-शोषण, यौन उत्पीड़न, घरेलू हिंसा और हिंसा के अन्य रूपों में पाती हैं। इन परिस्थितियों में कई सवाल उभरते है जो आपस में टकराते हैं। मसलन, महिलाओं विरुद्ध हिंसा की स्थिति राज्य, सत्ता, पूंजी और पितृसत्ता ऐतिहासिक तौर पर किस तरह एक दूसरे से जुड़े है? अगर नहीं, तो ये किस तरह पैदा हुई और आधुनिक समय में यह किस तरह मौजूद है? ऐसे तमाम सवाल महिलाओं की साथ हिंसा की घटनाओं के बाद सतह

पर तेज़ी से उभर कर आते हैं। महिलाओं का उत्पीड़न और हिंसा हर वर्ग विभाजित समाज की एक आम पहचान है। कविता कृष्णन हिंसा के बारे में लिखती हैं कि -

> "असल में हिंसा औरतों पर पितृसत्तात्मक अनुशासन थोपने का एक तरीका है, जो औरतें इस अनुशासन का विरोध करती हैं उन्हें उनकी धृष्टता पर हिंसा के द्वारा दंडित किया जाता है।"[228]

इसीतरह, मैत्रेयी कृष्णराज हिंसा के बारे में लिखती हैं कि -

> "एक के ऊपर दूसरे के अधिकार को बनाए रखने की पीड़ादायक प्रक्रिया है जो शक्ति के बोध का अहसास कराने या साबित करने का क्रम है। व्यक्तियों में विधमान शक्ति द्वारा शक्तिहीनों के विरुद्ध हिंसा को जारी रखा जाता है या अपनी शक्तिविहीनता को दूसरों के द्वारा अस्वीकार करने पर अनिवार्य रूप से हिंसा का प्रयोग करते है।"[229]

महिला संगठनों ने महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के अनुभवों को यौन हिंसा, महिला के ऊपर पितृसत्तात्मक सत्ता के अधिकार को बनाए रखने की अभिव्यक्ति के रूप में दर्ज किया। इसके साथ हिंसा शारीरिक हिंसा तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसमें आतंक के महौल का निर्माण, धमकी और प्रतिशोध भी शामिल है। व्यावहारिक स्तर पर महिलाओं की विरूद्ध उत्पीड़न और हिंसा आर्थिक, सास्कृतिक और समाजीकरण के द्वारा प्रभावित और अनुशासित होते है। आर्थिक शोषण महिलाओं की गतिशीलता को सीमित करता हैं, उनको आश्रित बनाता है और महिलाओं की आंतरिक व्यक्तित्व को प्रभावित करता हैं। समाज में महिलाओं की पहचान पत्नी, मां और घरेलू कामकाज संभालनेवाली भूमिकाओं से जुड़ी हैं, पुरुषों की पहचान उत्पादक कार्यो, सार्वजनिक मौजूदगी और ताकत से जुड़ी है। परिवेश का यह बंटवारा कार्य और श्रम के विभाजन के रूप में अभिव्यक्त होता है। बदलती अर्थव्यवस्था में महिलाओं द्वारा कार्य और श्रम के क्षेत्र में किया जाने वाला कर्तव्यों के विस्तार को समाजिक मान्यता आर्थिक कारणों से मिली हैं। परंतु, परंपरागत मानसिकता के कारण घरेलू और सार्वजनिक परिवेश में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा को बल मिलता है।

इसके विपरीत सांस्कृतिक उत्पीड़न, महिलाओं में मनुष्य होने के बोध को पैदा नहीं होने देता। जब वह स्वयं को मनुष्य के रूप में स्वीकार ही नहीं करेगी तब अस्मिता, मुक्ति, समानता और न्याय जैसे मानवीय मूल्यबोधों की वह कल्पना नहीं कर सकती, क्योंकि उसे कल्पना करना ही नहीं आता है। पितृसत्ता अपनी आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण को ज़्यादा मुकम्मल रूप देने के लिए सांस्कृतिक परिवेश पर अपना नियंत्रण बनाने की कोशिश करती है। इतिहास बताता है

---

[228] कविता कृष्णन, "बलात्कार संस्कृति के विरुद्ध" पेज न० 1, www.debatonline.in से। 24 फरवरी 2013।

[229] मैत्रीय कृष्णराज और गोविंद केलकर 'वूमेन एंड वांयलंस ए सेमिनार रिपोर्ट, इकोनामिक एंड पालिटिकल वीकली, नं.12, 23 मार्च 1985

कि किसी भी व्यक्ति या जाति को गुलाम बनाकर रखने के लिए उसके सांस्कृतिक जीवन का स्थायी तौर पर दमन कर दिया जाता है। इसके लिए जरूरी है कि स्त्री वर्ग को उभरने न दिया जाये। उसके मानस को इस प्रकार नियंत्रित किया जाये कि अपनी बात कहते हुए वह सत्ता के हित की रक्षा करने लगे। समकालीन समाज में कई महिलाएं सत्ता संस्कृति की पोषक हैं क्योंकि महिलाओं की जीवन में सांस्कृतिक प्रतिरोध के प्रति दुविधा के क्षण अधिक होते हैं। सत्ता अपनी वर्चस्व को बनाए रखने के लिए सांस्कृतिक उत्पीड़न को मजबूत करने के लिए समाजीकरण की प्रक्रिया को टूल के तरह इस्तेमाल करता है। समाजीकरण के द्वारा उत्पीड़न के बारे में प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखिका सिमोन द बोउवार की पुस्तक 'द सेकण्ड सेक्स' में लिखती हैं-

> "स्त्री, पुरुष प्रधान समाज की एक कृति है। वह अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए स्त्री को जन्म से ही अनेक नियमों के ढांचे में ढालता चला आया है। स्त्री मानती है कि विश्व उन पुरुषों का है जिन्होंने इसे बनाया, इस पर आधिपत्य स्थापित किया और आज भी शासन करते हैं। स्त्री अपनी को विश्व के निर्माण की जिम्मेदार नहीं समझती। वह पुरुष की आश्रित और उससे निम्न स्तर पर रहती है। उसने हिंसा और विद्रोह के पाठ नहीं पढ़े हैं। वह अपनी शरीर तक ही सीमित रहती है और घर की सीमा में बंधी रहती है। वह पुरुष के मुखड़ों वाले देवताओं के सम्मुख हमेशा शान्त रहती है। ये ही नरदेव उसके जीवन के लक्ष्य और मान्यताओं के निर्धारक होते हैं। ऐसे जीवन से छुटकारा पाने के रास्ते स्त्रियों की सुलभ नहीं होते। विवाह की बेड़ियाँ बड़ी मज़बूत होती हैं और स्त्री को अपनी को उस स्थिति के अनुकूल बनाना ही पड़ता है, वह इससे छुटकारा नहीं पा सकती। कुछ स्त्रियाँ अपना महत्त्व बताते हुए अत्याचारी या कर्कशा बन जाती हैं तो कुछ शान्ति और समझौते की स्थिति में रहती हैं।"[230]

स्पष्ट है कि समाजीकरण की प्रक्रिया महिलाओं की विरुद्ध हिंसा सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पदानुक्रम(हायर्की) वर्चस्व और प्राधिकार(डामिनेश) की तस्वीर सामने लाती हैं। यही समाजीकरण कई मामलों में महिलाओं को अपनी इच्छा और ज़रूरत का त्याग करने के लिए मजबूर करती है। खास तौर पर उन महिलाओं पर जो अपनी ज़रूरतों को पुरुष की ज़रूरतों में समाहित कर देने का दबाव होता हैं। महिलाओं को दब्बू बनाने और घरेलू हिंसा के ख़िलाफ़ मौन रहने में इसकी बड़ी भूमिका होती हैं। भारत जैसे देश में जहां समुदायों पर लागू सामाजिक कायदे अलग-अलग तरह के है। महिलाओं की विरूद्ध व्यावहारिक स्तरों पर कायदों की व्याख्या नहीं की जाती हैं। परंतु, आम तौर पर इन्हें धार्मिक तर्कों के आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है। इन सामाजिक कायदों को कायम रखने में सत्ता का खेल साफतौर पर दिखाई देता है। इसके इतर महिलाओं की विरूद्ध हिंसा के पीछे जैविक संरचना प्रधान कारण के रूप में सामने आती है।

---

[230] Simone de Beauvoir, The Secound Sex, का हिंदी रूपांतर प्रभा खेतान "स्त्री उपेक्षिता", हिन्द पाकेट बुक्स,नई दिल्ली 2004 पेज न० 25

जैविक से होकर आगे बढ़ती हुई सामाजिक संरचना महिलाओं को मानसिक नियंत्रण के लिए विवश करती दिखती है। अधिकांश स्थितियों में महिलाएं प्राकृतिक रूप से नियंत्रित रहती है और कुछ में उसे जबरन नियंत्रित किया जाता है। विवाह संस्था, परिवार और अन्य सामाजिक संस्थाओं में सामाजिकता में महिलाओं की स्थिति और नियंत्रण का परिचायक होती है।

स्पष्टत: महिलाओं की ख़िलाफ़ हिंसा एक व्यापक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिणामों की परिणति हैं। बदलते समय में आर्थिक गतिशीलता के बाद राजनीतिक संदर्भ भी इसके साथ जुड़ता चला गया। जातीय और सांप्रदायिक हिंसा में राजनीतिक संदर्भ व्यापक रूप से मुखर होते है। मानवाधिकार के नज़रियेसे महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का पूरा जीवनक्रम को इस प्रकार समझा जा सकता हैं -

1. जन्मपूर्व हिंसा - लिंग चुनाव के लिए हत्या, लिंग-जांच हो जाने पर गर्भावस्था के दौरान औरत पर अत्याचार क्योंकि वह बालिका शिशु को जन्म देने वाली है।
2. शैशव हिंसा - बालिका शिशु के जन्म लेते ही उसकी हत्या। इसके साथ ही उसे जन्म देने वाली औरत को दिए जाने वाले शारीरिक, यौन और मानसिक उत्पीड़न।
3. बालिका उत्पीड़न - बाल विवाह, महिलाओं का खतना, शारीरिक, यौन और मानसिक उत्पीड़न, दुराचारपूर्ण व्यवहार, बाल वेश्यावृत्ति और अश्लील सामग्री तैयार करने के लिए उनका इस्तेमाल।
4. किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था में हिंसा-डेटिंग और सामंती हिंसा (एसिड फेंकना, डेंट के दौरान बलात्कार करना), गरीबी के कारण मजबूर करने यौनाचार करना, कार्यस्थल पर यौनशोषण, बलात्कार, यौन उत्पीड़न, जबरदस्ती करवाई गई वेश्यावृत्ति, अश्लील सामग्री के लिए दुरुपयोग और हत्याएं, मानसिक उत्पीड़न, विकलांग महिलाओं का यौन शोषण, बलात करवाया गया गर्भधारण।
5. वृद्ध महिलाओं की साथ हिंसा - आत्महत्या करने के लिए विवश कर देना या आर्थिक कारणों से की गई हत्या। यौन, शारीरिक और संवेदना के स्तर पर मानसिक उत्पीड़न।

अर्थात बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक महिलाएं हिंसा की शिकार होती हैं। महिलाओं की विरूद्ध हिंसा उत्पीड़न के कई पहलुओं को सामने लाता हैं। आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक और राजनीतिक कारणों के साथ पितृसत्ता की जटिल संरचना भी हिंसा का कारण बनती है जिसका असर महिलाओं पर अलग-अलग तरीकों से होता हैं। इन तमाम कारणों के बाद महिला के विरूद्ध हिंसा का विस्तार सिर्फ़ दैहिंक सीमा तक सीमित नहीं होता है। महिलाओं की विरूद्ध हिंसा को महिला-पुरुष खांचे में देखने के साथ-साथ उसे उन नीतियों और राजनीति में देखने की ज़रूरत हैं,

जो वर्चस्ववादी मूल्यों और संस्कृति को विकसित करने में मदद करते है। समाज में वर्चस्वशाली समूहों द्वारा राज्य तथा राज्य की सामाजिक संस्थाओं द्वारा हिंसा का वैधानिक प्रयोग होता है। जो राजनीतिक (सांप्रदायिक, नस्ली, जातीय और वर्गीय) हिंसा के रूप में सामने आती है। इन सभी हिंसाओं का सबसे आसान शिकार महिलाएं होती है। वृंदा करात लिखती हैं कि -

> "किसी भी समुदाय में महिलाएं दोयम दर्जे की स्थिति में होती हैं; एक गौण नागरिक होती हैं और समुदाय विशेष की मिल्कियत होती हैं। उन्हें 'इज्जत', 'सतीत्व' और 'शुचिता' के साथ जोड़ कर देखा जाता है। यदि किसी समुदाय का वर्चस्व कायम करना है तो इसी पर सबसे पहले हमला किया जाता है।"[231]

वर्तमान समय में भारत में महिलाओं की प्रति होने वाली हिंसा के विरुद्ध संघर्षों के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह एक तरफ़ उदारीकरण की ताकतों से टक्कर ले रहा है तो दूसरी तरफ़ सांप्रदायिकता से। इसके अलावा इसमें यह भी आयाम भी जुड़ा हुआ है कि पिछली जातियों के महिलाओं की प्रति हिंसा उदारीकरण और सांप्रदायिकता का मिश्रित नीतियों का परिणाम हैं। आजादी के पहले और आजादी के बाद भारतीय समाज में विभिन्न वर्गों का आपसी सामंजस्य एंव संगठानात्मक स्वरूप को बिगाड़ने में विरोध के हिंसात्मक रवैये खास तौर पर जिम्मेदार रहे। ये हिंसात्मक व्यवहार महिलाओं की स्वतंत्रता और समानता के सवाल को कई तरह से प्रभावित करते रहे है। स्पष्टत: महिलाओं की विरूद्ध हिंसा ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में जहां वर्ग-संघर्ष का इतिहास है जिसके पीछे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारण रहे हैं। आज व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में उसके नये कारण सामने प्रकट हो रहे है(हालांकि इनमें से कई पहले से मौजूद रहे है जिनका समय के साथ नवीनीकरण भी हुआ है)। इसका कुछ कारण अगर अन्याय का प्रतिकार है तो कुछ कारण वर्चस्व का संघर्ष भी है। परंतु, हिंसा जाति, नस्ल और सांप्रदायिकता के नये-नये रूपों में सामने आ रही है। कमोबेश हिंसा के हर मामलों में महिलाएं ज़्यादा वेध्य होती हैं।

औपनिवेशिक भारत में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के बहसों की पड़ताल करें तो यह तथ्य उभर कर आते है कि औपनिवेशिक देशकाल में समाज सुधारकों ने आत्मपरिभाषित करने की प्रक्रिया में तमाम सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। परंतु, इसमें ज़्यादातर अभियानों में बुर्जुआ से संबंधित मुद्दों पर अधिक जोर दिया। मसलन, समाज-सुधारकों ने महिलाओं की संदर्भ में तमाम धार्मिक और जातीय कुरतीयों का पुरजोर विरोध करते हुए भी महिलाओं की अधिकारों और कर्तव्यों के प्रश्न पर धर्म और जाति व्यवस्था के प्रावधानों को उचित करार देते थे। इन समाज-

---

[231] बृंदा कारात, 'भारतीय नारी: संघर्ष और मुक्ति', ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली,2008 पेज न०-194

सुधारकों का मानना था कि धार्मिक और जातीय नियम-कायदें सामाजिक व्यवस्था के लिए उचित है पर इससे मौजूद कुरतियां प्रगतिगामी है। यही कुरतियां धर्म और जाति व्यवस्था के प्रासंगिकता को चुनौतीपूर्ण बनाते है। इसलिए इस कुरीतियों का उन्मूलन जरूरी समझा गया। परिणामत: समाज-सुधारकों ने स्त्री-पुरुष संबंध और इस मध्य मौजूद लैगिंक असमानता को मानवतावादी तार्किक विचारधारा के संदर्भ में देखा या समझा। जिसके कारण औपनिवेशिक भारत में समाजसुधारकों के जेहन में महिलाओं की समस्याओं के संघर्ष में हिंसा या घरेलू हिंसा जैसा कोई शब्द दिखाई नहीं देता है। इसका बहुत महत्व महिला आंदोलन के समय हुआ और अन्याय और उत्पीड़न जैसे नये शब्द सामने आए। जबकि महिलाओं की हिंसा के कई प्रश्न निजी और सार्वजनिक दायरे में उपलब्ध थे। मसलन, सती के कारण महिलाओं का दहन, बाल विवाह व अनमेल विवाह, बहुविवाह, पर्दा, व्यभिचार, दुर्व्यवहार, छेड़छाड़ बलात्कार, स्त्री क्रय-विक्रय, दासी, वेश्यावृत्ति आदि। परंतु, 'घर की शोभा', 'गृहलक्ष्मी','तुमसे ही घर कहलाया' जैसे विशेषणों में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के प्रश्न अभिव्यक्त नहीं हो पा रहे थे या विमर्श के रूप में सतह पर स्थापित नहीं किए जा रहे थे। महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के मामले को रेखांकित करते हुए चारु गुप्ता लिखती हैं कि -

> "महिलाओं या लिंग, पर ध्यान रखकर महिलाओं की विरुद्ध पितृसता के सांप्रदायिक बुनावट को बेहतर समझा जा सकता है। इस आधार पर हिंसा, महिलाओं की बड़ी पैमाने पर बरामदगी, साम्प्रदायिक उभार में उनकी भागीदारी या उनका उत्पीड़न को समझा जा सकता है। औपनिवेशिक भारत में महिला और साम्प्रदायिक राजनीति के चोली-दामन रिश्ते की समझदारी, सामूहिक हिंसा और दंगों की राजनीति का इस्तेमाल रोज़मर्रा की जिन्दगी में हो रहा था।"[232]

हिंसा का इस्तेमाल जातीय वर्चस्व बनाए रखने या एकाधिकार कायम करने में किया जाता था, तो महिलाओं को भौतिक तरक्की या सामाजिक हाशिये से दूर रखने का औजार मानते थे। जातीय विभेद की आक्रामक अभिव्यक्तियों और सीमित समावेशी सुधारों की परिभाषाओं में महिलाओं की स्थिति पेंडुलम की तरह थी। किसी भी समुदाय की एकमुखी पहचान होने के कारण पितृसता के नवीनीकरण और महिलाओं को नियंत्रित करने के लिए हिंसा महत्वपूर्ण औजार के रूप में हर जातीय समाज में मौजूद थी।

जिन समाज सुधारकों ने महिलाओं की स्थिति में किसी-न-किसी क़िस्म के सुधार की वकालत करनी शुरू की थी, उन्होंने महिलाओं की विरुद्ध किसी भी प्रकार की हिंसा का विरोध नहीं किया। इस अवधि के तमाम समाजसुधरकों के सामाजिक कुरीतियों के विरोध की सीमा यह थी कि समाजिक कुरतियां और महिला प्रश्न भारतीय राष्ट्रवाद के राजनीतिक एजेंडे के बीच आ गए थे।

---

[232] चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2012, पेज न० 17

जिसके कारण महिलाएं राष्ट्रीय आंदोलन में अवधारणात्मक फ्रेमवर्क में महिलाओं की स्थिति को बेहतर समझने के लिए स्वतंत्र कार्यक्रम या स्वतंत्र चितंन नहीं था। समाजसुधारकों ने महिलाओं की विरुद्ध तमाम समस्याओं को सामाजिक समस्या के रूप में देखा और उसके समाधान के लिए संघर्ष भी किया। इस विभाजित मानसिकता के कारण महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के मूल कारणों को नहीं पहचाना और न ही उसके विरुद्ध संघर्ष किया गया। जबकि महिलाएं घर और बाहर दोनों जगहों पर हिंसा की शिकार हो रही थी। इस देशकाल में भारतीय जनमानस की यह विशेषता रही कि वह घर के बाहर स्त्री पर होने वाले जुल्मों की निंदा करते थे। किंतु, स्वयं घर में स्त्री पर जुल्म की निंदा नहीं करते थे। घर के बाहर दिखाने के लिए स्त्री की प्रति अलग नज़रिया और घर के अंदर अलग नज़रिया। बालकृष्ण भट्ट[233] ने लिखा हैं कि -

> "अपनी देश के बर्ताव रीति बर्ताव में स्त्रियों पर अत्याचार की आप बाहर बड़ी निंदा करते हैं पर घर में जैसा बर्ताव आपका उनके साथ है उसे जौ मात्र भी नहीं बदलते। बाहर आप पर्दानशीनी के बड़े भारी दुश्मन हैं पर अपनी घर की स्त्रियों के जरा भी काबू के बाहर निकलने दें यह कभी न होगा।"[234]

बालकृष्ण भट्ट ने "स्त्री शिक्षा","स्त्री पहचान" और "स्त्री आंदोलन" के अंतरसंबंध को जोड़ कर देखा, और "महिला स्वतंत्रता" लेख में लिखा -

> "सिर्फ़ शिक्षा से महिलाओं की पहचान और समस्या का समाधान संभव नहीं है। इसके लिए स्त्री संगठन एवं आंदोलन जरूरी है।"[235]

सही मायने में महिलाओं की विरूद्ध हिंसा के मामले तब सामने आना शुरू हुए जब महिलाएं स्वयं सामने आई और संगठित होकर इसके विरुद्ध संघर्ष करना शुरू किया। जब महिलाएं शिक्षा पाकर पत्रिकाओं की सम्पादिका और स्कूल-कालेजों में शिक्षिकाएं बनकर उभरीं। गृहलक्ष्मी, स्त्री दर्पण, प्रभा और चांद जैसी कई पत्रिकाओं ने सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की बढ़ती मौजूदगी को उजागर किया।[236] कुछ महिलाएं अपनी जाति संगठनों के जरिए भी अपनी हितों के बारे में ज़्यादा जागरूक हो रही थीं और अपनी गतिविधियों का दायरा बढ़ा रही थीं।[237] इससे परंपरागत लैंगिक विभाजनों और सीमाओं की संकीर्णता को कुछ हद तक चुनौती मिली और महिलाओं की हिंसा के

---

[233] बालकृष्ण भट्ट 19वीं शताब्दी में बौद्धिकों के उस वृहत्तर नजरिये को व्यक्त कर रहे थे जो नवजागरण की धुरी था। बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी के सफल पत्रकार, नाटककार और निबंधकार थे। हिंदी-प्रदीप नामक मासिक पत्रिका निकाला। इस पत्र के वे स्वयं संपादक भी थे।

[234] सत्यप्रकाश मिश्र,(सं) बाल कृष्णभट्ट प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 1996 पेज न० 25

[235] सत्यप्रकाश मिश्र,(सं) बाल कृष्णभट्ट प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट,दिल्ली, 1996 पेज न० 24

[236] Francesca Orsini , The Hindi Public Sphere 1920-1940: Language and Literature in the Age of Nationalism, Delhi, 2002pp 99

[237] चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2012, पेज न० 29

कई विषय सामने आये जिसकी अनदेखी अबतक होती रही थी। मसलन, चांद पत्रिका ने 'संवेदना के अधिकार' कालम में ऐसे लेख और पत्रों को छाप कर महिलाओं की निजी आवाज़ को अभिव्यक्ति करने की जगह दी। 'संवेदना के अधिकार' कालम ने महिलाओं की ज़िंदगी के अन्य पक्ष और आयाम को अभिव्यक्त किया और उनकी भावनात्मक ज़रूरतों का समर्थन दिया। संवेदना के अधिकार कालम में मथुरा जिले की एक औरत ने घर-परिवार के भीतर बहू की असुरक्षित स्थिति का सवाल उठाया था -

> "जब से विवाह हुआ है, मुझे पर नाना प्रकार के अत्याचार होते हैं। इन अत्याचारों से घबरा कर मैंने आपकी शरण ली है। आपकी बड़ी कृपा होगी, यदि मेरा पत्र "चांद" में छापकर मेरी सहायता करेंगे। विवाह के कुछ दिनो बाद जब मैं ससुराल आई तो एक दिन कुछ लोग मेरी सास से मिलने आए और कहने लगे कि अगर बहू को भी अपनी तरह बना ले तो वह पचास रूपये महीना कमा सकती है। मेरी समझ में नहीं आया कि ये क्या कह रहे है? इसके कई दिनों के बाद जब मैं कोठे पर सो रही थी, तो मेरे जेठ ने आकर मुझे दबा लिया। परंतु, मैं उसे धक्का देकर कमरे से बाहर चली आई। इस पर मेरी सास मुझसे लड़ने लगी और बोली कि मेरे दोनों लड़के एक ही पेट से निकले हैं, दोनों को मैंने एक ही प्रकार का अन्य खिलाकर पाला-पोसा है। तुम दोनों को एक ही तरह समझना चाहिए। उसके आगे लिखा था कि उसके जेठ पर परिवार चलाने का जिम्मा था जबकि पति निकम्मा आदमी था और नाटकों और रास-मण्डिलयों में नाचता-फिरता था।"[238]

इसीप्रकार का उल्लेख एक अन्य चिट्ठी में दिखता जिसे 'संवेदना के अधिकार' कालम प्रकाशित किया गया। लेख में जिक्र आता है कि -

> "व्यापारी परिवार की एक अभागी गुजराती लड़की ने, जिसे 11 साल की उमर में एक अनपढ़ और गरीब लड़के से ब्याह दिया गया था, हिंदू परिवार में औरतों के अधिकारों के अभाव की व्यापक आलोचना करते हुए औरतों द्वारा खुद अपनी आदर्शों को परिभाषित करने का सवाल उठाया। उसने अपनी पति की आम गैर-जिम्मेदारी और मार पिटाई के बारे में लिखते हुए कहा कि जब उसका भाई उसे वापस लेने आया तो उसे गालियां देकर भगा दिया गया था। उसके आगे लिखा था कि पारिवारिक सम्पति में उसका कोई हक नहीं था। हिंदू कानून और हिंदू समाज भी मेरी कोई सहायता नहीं कर सकता।"[239]

ये कुछेक मिसालें हैं, जो इस बात की गवाही देती हैं कि चांद पत्रिकाओं ने महिलाओं की घरेलू समस्या और घरेलू हिंसा को स्वर देने का प्रयास किया। हालांकि पत्र-पत्रिकाओं में महिलाओं की साथ सार्वजनिक हिंसा के विषय प्रकाशित होते थे (इसके अतिरिक्त हिंदी पत्रकारिता में कई सामग्री अभिव्यक्त होती दिखती है जो महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के व्यवहार को स्थापित करता

---

[238] चिट्ठी-पत्री, चांद, 12,भाग 2,1मई 1934, पेज न०- 99-100

[239] चिट्ठी-पत्री, चांद, 15,भाग2,1मई, 1927, पेज न०-86-71

था) । घरेलूं हिंसा के साथ-साथ व्याभिचार, दुर्व्यवहार, छेड़छाड़, बलात्कार, स्त्री क्रय-विक्रय, वेश्यावृत्ति की समस्या पर भी चिट्ठी-पत्री और लेख पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिलते है। मसलन, डा. कल्याणसिंह शेखावत ने कन्यावध के प्रचलन की चर्चा करते हुए लिखा हैं कि -

> "राजपूत जाति में कन्यावध की प्रथा अधिकता से पाई जाती है और इसके संबंध में सामयिक पत्रों ने भी प्रकाश डाला गया है.....हमारे राजपूत भाई तो आए दिन नवजात बालिकाओं की हत्या करते रहते हैं, वह बड़ा भयानक दृश्य होता है, जब लड़की पैदा होते ही गला दबोचकर उसे मार दिया जाता है और लोगों से यह कह दिया जाता है कि गर्भपात हो गया है या मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ। समाज में ही ऐसे कारण उपस्थिति हैं कि एक राजपूत विवश होकर लड़कियों को पैदा होते ही मार डालना चाहते है।"[240]

ठाकुर हरिसिंह शेखावत डाबड़ी के एक आलेख में कन्या-वध की स्थिति और अधिक स्पष्ट होकर सामने आती है-

> "कतिपय राजपूतों में विशेषत: शेखावतों को ही लीजिए जिनके घरों में पुत्री-वध सोउत्साह चल रहा है। अनेक राजपूत कुलकलंक मां बांछ अपनी निर्दोष कन्याओं को पैदा होते ही अथवा कालपर्यन्त भिन्न-भिन्न रूप से वध कर देते हैं। इस प्रकार की घटनाएं मध्यम कोटि के राजपूतों में ही पाया जाता है।"[241]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक काल में महिलाओं की विरूद्ध हिंसा की सामाजिक समस्याओं का स्वरूप विविधरूपात्मक रहा हैं। एक तरफ़ जहां कुछ प्रथाएं अपनी अवसान के रूप में थी तो कुछ प्रथाएं यथावत, पर मानसिकता के स्तर पर ये हिंसा कई रूपों में अपना विस्तार पाती रही थी। कन्या शिशुहत्या की इस समस्या को देखते हुए वर्ष1870 में ब्रिटिश सरकार ने इसके लिए कठोर-कानून की व्यवस्था करके, इसपर नियंत्रण का प्रयास किया। कुछ स्थानीय राजा-महराजाओं ने भी कठोर कानून की पैरवी की। इन प्रयासों से महिलाओं की संबंधित पूर्वाग्रहों में कुछ सुधारात्मक परिवर्तन हुआ, तो कुछ समस्या का स्वरूप बदल गया है जैसे कन्यावधा का स्थान भ्रूण हत्या ने ले लिया है, पर जन-मानसिकता में परिवर्तन नहीं हुआ। इसी तरह धार्मिक और जातीय वैसे नियम-कायदें या सामाजिक व्यवहार पर भी कठोर फैसले देखने को मिलते है, जो महिलाओं की विरुद्ध शोषण और हिंसा को उजागर करते है। मसलन, महराजा मानहानी मामला[242] में भी समाज सुधारकों ने धार्मिक नियम-क़ायदों के सामाजिक

---

[240] क्षात्रधर्म मासिक,(समाचार पत्र), वर्ष 1, अंक 8, मई 1938 पेज न०- 37-38,NMML,माइक्रोफिल्म

[241] 'कन्यावध' आलेख द्वारा धीर सिंह शेखावत, क्षात्रधर्म मासिक वर्ष 1, अंक 9, जून 1938 पेज न०- 44-46 ,NMML,माइक्रोफिल्म

[242] **T**he case known as the "Maharaj Libel Case", was tried in 1862 in the Supreme Court, before Sir Joseph Arnould. The plaintiff in the suit was the head of the Vallabhacharya sect of the Vaishnavas. The defendant was one Karsandas Mulji, who edited a newspaper in which he wrote a number of articles, exposing the abuses that, according to him, prevailed in the Vallabhacharya sect. It seems that something akin to what

व्यवहार का विरोध किया। परंतु, इन सामाजिक व्यवहारों के विरोध कर रही महिलाओं की आंदोलनों में साथ खड़े होने की जहमत नहीं उठाई, न ही इन पांखड़ों के विरोध में महिलाओं की आत्म-अनुभवों को कोई जगह नहीं दिया। वास्तव में इन दौर के समाज-सुधारक धार्मिक पांखड और कुरीतियों के विरोधी थे। परंतु, वे धर्म के विरुद्ध नहीं थे। इस दौर के समाज सुधारकों कि चिंता स्त्री की विरुद्ध हिंसा या इस तरह के व्यवहारों के प्रति नहीं थी। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के मामले को सरलीकरण के द्वारा शांत कर दिया जाता था। कभी-कभी इस समस्या को पूरमपूर कर्ता(सब्जेक्ट) के रूप में स्थापित कर दिया जाता था। देश में नारी मुक्ति आंदोलन स्वतंत्रता आंदोलन के समायांतर चलता रहा है। समय के साथ-साथ किसी भी आंदोलन की भांति इस आंदोलन का स्वरूप भी बदलता रहा है। एक युग में नारी मुक्ति का तात्पर्य यदि सती-प्रथा के नाम पर स्त्रियों की अग्नि में जिंदा जलाए जाने का विरोध करना था

---

was known in Roman Law as Jus Primae Noctes, was claimed by or accorded to the religious heads of the sect; and their blind votaries, in their ignorance and credulity, sacrificed young women at the altar of a foul superstition. The articles created a great stir in the community, and threw the parasites of their temples, and the worshippers of the" holy" religious head, into consternation and fury. The hold of spiritual superstitions was so strong upon ignorant people in those days, that it demanded great courage and determination to expose and denounce practices which, if essentially lewd and repulsive, were sacrosanct in the eyes of the ignorant and orthodox classes. Karsandas braved public odium, and persisted in his course in the face of threats and persecution. The result was that the head priest, the subject of the attacks, sought legal redress. He filed a suit for defamation against Karsandas. In doing so, he threw himself unwittingly into the arms of an enlightened court, and a fierce and fearless advocate. Karsandas was lucky in securing for his defence the services of Anstey. Anstey's brain was inflamed by the tale of trickery, fraud, and filth, which was placed before him; and he came to court determined to expose the foul practices, and crush a dangerous delusion. Few could withstand the scathing and relentless cross-examination of Anstey least of all anybody with a dark and dubious record. It is not necessary to narrate the tale of credulity and corruption, licence and degradation, elicited in the course of the evidence; nor is it necessary, as Edwardes puts it, "to trace the gradual conversion of the high-toned mysticism of early Hindu religion, into a debasing anthropomorphic superstition." The case excited great public interest; and the contemporary press referred to its result as "triumph over public immorality". The true significance of the case is stressed in the concluding portion of the judgment of Sir Joseph Arnould: "This 'trial is spoken of as having involved a great waste of public time; I cannot agree with that. No doubt, much time has been spent in hearing this case; but I would fain hope it has not been all wasted. It seems impossible that this matter should have been discussed thus openly before a population as enlightened as that of the natives of Western India, without producing its results. It has probably taught some to think; it must have led many to inquire. It is not a question of theology that has been before us. It is a question of morality. The principle for which the defendant and his witnesses have been contending is simply this that what is morally wrong cannot be theologically right that when practices that sap the very foundations of morality, which involve a violation of the eternal and immutable laws of Right, are pursued in the name and under the sanction of religion, they ought, for the common welfare of society and in the interest of humanity itself, to be publicly denounced and exposed. They have been exposed and denounced. At a risk and a cost which we cannot adequately measure, these men have waged determined battle against a foul and powerful delusion. They have dared to look custom and error boldly in the face; and proclaim before the world of their votaries that their evil is not good, that their lie is not truth. In thus doing, they have done bravely and well. I may be allowed to express a hope that what they have done will not have been in vain; that the seed they have sown will bear its fruit; that their courage and consistency will be rewarded by a steady increase in the number of those whom their words and their example have quickened into thought and animated into resistance, whose homes they have helped to cleanse from loathsome lewdness, and whose souls they have set free from a debasing bondage." It seems that the public conscience had indeed been stirred to its depths by the exposures in the case. Karsandas Mulji's brave example emancipated the minds of many, and redeemed them from debasing and defiling beliefs and practices.He illuminated Carlyle's maxim that" a lie cannot live ".

या विधवा विवाह या बाल विवाह था तो दूसरे युग में इसका अर्थ स्त्री-शिक्षा हो गया। महिलाओं की प्रति समाज में व्याप्त वेश्यावृति, सती-प्रथा, बाल विवह जैसी कुरीतियों के साथ-साथ उन पर किए जाने वाले दहेज, बलात्कार, कन्या हत्या, यौन-शोषण, विज्ञापनों में स्त्री शरीर का दुरुपयोग आदि जैसे शोषण भी पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पाने लगे। ऐसा नहीं था कि ये कुरतियां या हिंसात्मक व्यवहार समाज में औपनिवेशिक काल में नहीं थे, किंतु यह भी सत्य है कि हिंदी पत्रकारिता में उस प्रकार स्थान नहीं पाते थे जैसे अन्य अन्यायों या कुरीतियों के विरोध में लिखा जाता था। क्योंकि हिंदी पत्रकारिता ने और समाज सुधारकों ने लिंग के आधार पर स्त्री-पुरुष के बीच के असमानता को साफ रूप में परिभाषित नहीं किया था। इसके साथ-साथ भारतीय समाज में चली आ रही परंपरा, रीति-नीति, आदर्श और मान्यताएं अनेक जातियां उपजातियों पर अधिक हावी थी। इसे जाति व्यवस्था के साथ-साथ धर्म विशेष का भी समर्थन प्राप्त था। धर्म और जाति की धारणा रूढ़िवादी रूप के साथ राष्ट्रवादी धर्म के रूप में उभर कर सामने आई। जिसने महिलाओं की विरूद्ध हिंसा के तमाम बहसों को विमर्शों के केंद्र में स्थापित नहीं होने दिया। उन्होंने स्त्री-शिक्षा को ही महिलाओं को सामाजिक जड़ता से निकलने का विकल्प माना।

स्वाधीनता प्राप्ति के प्रयासों के अंतिम वर्षों में महिलाओं की साथ हिंसा तमाम प्रश्न राष्ट्रीय आंदोलन में समाहित हो गए क्योंकि स्त्री मुक्ति को भी भारतीय स्वाधीनता से जोड़कर देखा जाने लगा। परिणामत: आंदोलन में सक्रिय स्त्रीयां घर लौट गई या समाज सुधार की ओर उन्मुख हुई। स्वतंत्रता के पश्चात संविधान में स्त्रियों की समान अधिकार और बहुआयामी मिश्रित संस्कृति में लिंग-संबंधों के आधार पर पितृसत्ता की सही पहचान स्पष्ट नहीं होने कारण कुछ दशकों तक नारीवादी आंदोलनों में बिखराव ला दिया या नारीवादी आंदोलन स्थिर रहा। आजादी के कुछ दशकों के बाद नारीवाद चाहे किसी भी विचारधारा या राजनीतिक दल से जुड़ी हो महिलाओं की विरुद्ध होनेवाले शोषण और अत्याचारो के प्रकारों पर ध्यान केंद्रित कर यौनाचार या महिलाओं की उत्पीड़न को पहचाना; इसके लिए संघर्ष भी किया। वसंती रमण बताती हैं कि -

> "आजादी के बाद सातवें और आठवें दशक में सामाजिक, आर्थिक एंव राजनीतिक आंदोलनों की गति और नई आर्थिक नीतियों ने महिलाओं की ख़िलाफ़ हिंसा और उत्पीड़न की घटनाओं में मात्रात्मक एंव गुणात्मक तौर पर इज़ाफ़ा किया। इसको महिला संगठनों ने पहचाना और महिलाओं की साथ होने वाले हिंसा के विरुद्ध संघर्ष किया।"[243]

[243] वसंती रमण, सार्वजनिक जीवन की हिंसा को भी बहस के दायरे में लाइये, सं. सुमन कृष्णकांत, इक्कीसवीं सदी की ओर,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2001 पेज न०-159

जिसके परिणाम स्वरूप समकालीन नारीवाद आंदोलन ने दो असरदार आंदोलन शुरू किए। पहला आंदोलन दहेज मृत्यु के विरोध में चलाया गया तथा दूसरा आंदोलन बलात्कार के विरुद्ध चलाया गया। इन आंदोलनों ने महिलाओं की विररुद्ध हिंसा के कारणों को उभारा। जिसके कारण महिलाओं की विरुद्ध हिंसा एक व्यापक बहस का विषय का हिस्सा बना और इसके समाधान की संभावना की तलाश शुरू हुई।

3.2 सती और हिंसा

महिलाओं की प्रति होने वाले हिंसक अपराधों में परंपरागत एंव सर्वाधिक गौरान्वित करने वाले माध्यम के रूप में 'सती' भारतीय समाज के कुछ हिस्सों में मौजूद रहा है। पी.वी.काणे बताते हैं कि-

> "आजकल भारत में सती होना अपराध है, किंतु लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व (वर्ष 1829 के पूर्व) इस देश में विधवाओं का सती हो जाना एक धर्म था। विधवाओं का सती अर्थात पति की चिता पर जलकर भस्म हो जाना केवल ब्राह्मण धर्म में नहीं पाया गया है, यह प्रथा मानव समाज की प्राचीनतम धार्मिक धारणाओं एवं अंधविश्वासपूर्ण कृत्यों में समाविष्ट रही है। इसका प्रचलन बहुधा राजघरानों एवं भद्र लोगों में ही रहा है। पति की मृत्यु पर विधवा के सहमरण या सहगमन या अन्वारोहन कहा जाता है, किंतु अनुसरण तब होता है जब पति और कही मर जाता है तथा जला दिया जाता है और उसकी भस्म के साथ या बिना किसी चिन्ह के उसकी विधवा जलकर मर जाती है।"[244]

मूल रूप में यह महिलाओं की प्रति यह जघन्यतम अपराध रहा हैं, जिसे धर्म और श्रेष्ठ चारित्रिक गुणों से जोड़कर अभेद बनाया गया था, जिसका विरोध में कुछ भी कहने-सुनने की हिम्मत किसी की नहीं हुई। कर्नल एच.एम.लारेंस सती को परिभाषित करते हुए बताते हैं कि-

> "विधवाओं, माताओं एंव अन्य महिलाओं द्वारा अपनी संबंधियों की मृत्यु के अवसर पर अग्नि में स्वयं को अर्पित करना।"[245]

---

[244] पी.वी.काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, उ.प्र.हिंदी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1930, पेज न०- 348-49

[245] दुष्यन्त, स्त्रियां पर्दे से प्रजातंत्र तक, राजकमल प्रकाशन,दिल्ली 2012, पेज न०-29

सती स्मारकों व सती के हाथों के चिन्ह, जो दुर्गों, महलों व जनसाधारण के घरों के बाहर प्राप्त साक्ष्यों की उपलब्धता इसके समाज में स्वीकारता को स्थापित करते है। इस प्रथा की मौजूदगी के बारे में शशि अरोड़ा बताते हैं कि -

> "सती प्रथा भारतीय समाज में कुछ क्षेत्रों में वर्गीय चरित्र के अनुसार मौजूद रही हैं, राजाओं के मृत्यु के पश्चात उनकी रानियों, खवासों, सहेलियों आदि के सती होने के विवरण मिलता हैं, साथ ही इस क्रूर प्रथा में अपवादस्वरूप माताओं, दासियों के भी सती होने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। जनसधारण में इस प्रथा के प्रमाण धार्मिक कृत्य के रूप में मिलते है।"[246]

ऐतिहासिक संदर्भ में इस प्रथा को रोकने के बारे में भी कई प्रमाण सामने आते है जो भारतीय समाज में सती के होने के प्रमाण को सिद्ध करते है। इस प्रथा के रोकने का ऐतिहासिक प्रयास आधुनिक भारत में राजा राम मोहन राय ने किया। राजा राम मोहन राय के प्रयासों की चर्चा करते हुए विनय भूषण राय बताते हैं कि -

> "19वीं शताब्दी में जब सती प्रथा के ख़िलाफ़ संघर्ष शुरू हुआ तो इसने विचारधारात्मक, सामाजिक एंव राजनीतिक गोलबंदियों को जन्म दिया। सती की घटनाएं सबसे ज़्यादा उच्च जाति के परिवारों में दर्ज की गई। खासकर बंगाल के आसपास के इलाकों में ये घटनाएं सबसे ज़्यादा हुई। संपत्ति के प्रबंधन के कारण सती की घटनाएं ज़्यादा घट रही थी। यह भी संभव है कि संपत्ति के अधिकार के प्रश्न को लेकर इस तरह की घटनाएं सबसे ज़्यादा घटित हुई हों।"[247]

वर्ष 1829 में विलियम बैंटिग ने इस प्रथा के समाप्ती के लिए प्रस्ताव परिषद में रखा और परिषद ने यह कहते हुए अनुमति दी कि -

> "हम निश्चित रूप से इसके पक्ष में हैं कि खुले तौर पर दृढ़ता से साथ आम निषेध लागू कर दिया जाये और इसका आधार, एक्ट की अच्छी भावना और उसे लागू करने में हमारी शक्ति से होना चाहिए।"[248]

इस कानून के तहत अदालतों को यह अधिकार दिया गया कि वे इस अपराध में दोषी पाए जाने वाले व्यक्ति को मौत की सजा दे सकती है। परंतु, यह सुधार बंगाल, बिहार और उड़ीसा तक ही सीमित रहे। अन्य रियासत राज्यों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। क्योंकि देशी रियासतों को अपनी स्थानीय प्रशासन के मामले में स्वतंत्रता प्राप्त थी। परिणामत: वैधानिक रूप से रोक के बावजूद सती प्रथा न केवल छिटपुट प्रचलन में रही बल्कि जनआस्था के रूप में सती केंद्र

---

[246] शशि अरोड़ा, राजस्थान में नारी की स्थिति, तरूण प्रकाशन, बीकानेर, 1981, पेज न०- 81

[247] विनय भूषण राय, सोशियो इकोनांमिक इम्पैक्ट आंफ सती इन बंगाल एंड दि रोल आंफ राजा राममोहन राय, नया प्रकाश, 1987, पेज न०- 40

[248] दुष्यन्त, स्त्रियां पर्दे से प्रजातंत्र तक, राजकमल प्रकाशन,दिल्ली 2012, पेज न०-30

आराध्य स्थल के रूप में मौजूद रही। इस कारण वैधानिक रोक अधिक प्रभावी सिद्ध नहीं हो सका।

हिंदी पत्रकारिता में सती प्रथा एक ऐसा विषय के रूप में स्थापित दिखता है जिसके ख़िलाफ़ महिलाओं की पक्ष में और इसको बनाए रखने के पक्ष में लेखन देखने को मिलता हैं। यह एक ऐसा विषय था जिसके माध्यम से पहली बार महिलाओं की विषय बहस के लिए सार्वजनिक दायरे में आना शुरू हुए। इसके पहले महिलाओं की विषय विरले ही अभिव्यक्त हो पाते थे। औपनिवेशिक देशकाल में हिंदी पत्रकारिता और हिंदी साहित्य में सती प्रथा पर कई अभिव्यक्तियां देखने को मिलती है। मसलन, रानी बिंरजी ने "सती बिलास" (वर्ष 1948) नामक पुस्तक लिखी।[249] भारतेंदु हरिशचंद्र ने "सती प्रताप"(वर्ष 1884) शीर्षक नाटक लिखा। इसमें सती का महिमा मंडन है।[250] प्रेमचंद ने सती पर केंद्रित दो कहानियां लिखीं। सुभागी और सती।[251] 'चांद' पत्रिका में मई, वर्ष 1926 में शिव सहाय चतुर्वेदी ने 'सती प्रथा का रक्तरंजित इतिहास' शीर्षक लेख धारावाहिक रूप में लिखा गया। इसके अलावा 'सरस्वती' पत्रिका में बाबू त्रिलोक चंद ने 'सती की प्रथा'(1911) में लेख देखने को मिलता है। इन लेखों और कहानियों में सती प्रथा के सवाल पर सती विरोध संघर्ष का विरोध कम देखने को मिलता है, उसके महिमा मंडन अधिक देखने को मिलता है। लतामणि, जिन्होंने औपनिवेशिक सती-प्रथा विमर्श के संदर्भ में उल्लेखनीय कार्य किया है, उनकी टिप्पणी है -

> परम्पराएं वे आधार नहीं थी; जिन पर महिलाओं की स्थिति का निर्धारण किया जा सकता था। इसके बजाये सच्चाई बिल्कुल विपरीत थी। महिलाओं की आधार पर परम्पराओं को तय किया जाता था।[252]

आधुनिक नवजागरण की सबसे बड़ी उपलब्धि सती-प्रथा की समाप्ति पर आलोचनात्मक लेख का अभाव हिंदी पत्रकारिता और हिंदी साहित्य के वर्ग चरित्र का मूल्यांकन स्पष्ट करता है।

आजाद भारत में 80 के अंतिम दशक में महिलाओं की विरुद्ध होने वाले हिंसा के विषयों में 'सती प्रथा' के घटना ने महिला आंदोलनों और भारतीय जनमानस को झकझोंर दिया। सिंतबर,1987 में

---

[249] विनोद बंधु मिश्र, मिश्रबंधु संमग्र, तीसरा भाग, 1985, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ पेज न०- 105

[250] हेमंत शर्मा, भारतेंदु संमग्र, हिंदी प्रचारक संस्थान, तीसरा संस्करण, वाराणसी, 1989, पेज न०- 536--542

[251] प्रेमचंद, सुभागी और अन्य कहानियां, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पेज न०- 82-95

[252] लतामणि, कंटेशस ट्रेडिशंस: दि डिबेट आन सती इन कोलोनियल इंडिया, कुमकुम संगारी एवं सुदेश वैध (सं) रकास्टिग वीमेन, काली फांर वूमेन, नई दिल्ली, 1989 पेज न० 118

राजस्थान के गांव में "रूप कंवर सती"[253] की घटना ने राष्ट्रीय स्तर पर उथल-पुथल मचा दिया। इसके दो वर्ष पूर्व मार्च, 1985 में पुलिस ने जयपुर में सती की एक घटना को रोका गया और प्रस्तावित सती स्थल पर एकत्र लगभग तीस हजार लोगों की भीड़ को तितर-बितर करने के लिए पुलिस ने आंसू गैस के गोले तथा लाठीचार्ज भी किया।[254] इस घटनाओं ने हिंदू समाज में स्त्री की साथ होनेवाले धार्मिक कायदों के कारण बर्ताव के मुद्दे को उठाया। बल्कि, साथ ही साथ धार्मिक पहचान, सामुदायिक रीति-रिवाज तथा भारत के बहुआयामी, विविध समाज में कानून की स्थिति एंव कानून को लागू करने में राज्य की भूमिका के प्रश्न को कटघरे में ला दिया। लंबे मानवतावादी तार्किक संघर्षों के बाद वर्ष 1829 में सती निरोधक कानून बना था। समय के साथ यह भी भ्रम बना कि चेचक के भांति सती प्रथा भी भारतीय समाज से विलीन हो गया। परंतु, भारत में सती की हर वर्ष औसतन घटना ज़रूर होती थी।

आजादी के बाद के देशकाल में हिंदी पत्रकारिता में विभिन्न लेखों, चश्मदीद गवाहों द्वारा दिए गए साक्षात्कार के हवाले से ऐसी घटनाओं की पुष्टी होती है कि पति के मृत्यु के बाद उसकी विधवा को सती हो रही थी। कई बार ऐसे तथ्य भी सामने आते हैं कि विधवा हुई महिला को पति के चिता में जबरदस्ती झोंक दिया जाता था।

इस तरह की घटनाओं ने भारतीय महिलाओं मे उनके खुद के उत्पीड़न के प्रति भी प्रोत्साहित भी किया जा रहा था। सती की इन घटनाओं के परिणामस्वरूप कई तरह की दलील एक साथ उभर कर सामने आई। हिंदी और अंग्रेजी दोनों अख़बारों ने सती के समर्थन और विरोध के बहसों को अभिव्यक्त किया। राध कुमार बताती हैं कि-

> "दिल्ली के राष्ट्रीय दैनिक अख़बार जैसे जनसत्ता (29.9.1987),इंडियन एक्सप्रेस (आंशीष नंदी, 5.10.1987)तथा स्टेट्समैन(पैट्रिक डी हैरीगन, 5.11. 1987) में अपनी लेखों के माध्यम से भारतीय नारीवाद की आलोचना करते हुए जो दलीलें पेश कीं, उसमें भारतीय नारीवादियों को आधुनिका का एजेंट होने का आरोप लगाया। इन लेखों के अनुसार ऐसे समाज पर बाज़ार-प्रभावित समानता और आजादी का विचार थोपने की कोशिश की जा रही है जिसमें आत्म-बलिदान का सर्वोत्तम उदाहरण पेश किया तथा जिसके कारण उन्हें समाज में आदर मिला। परंतु, आज उनकी गरिमा एंव ग़ौरवशाली छवि को निहित बाजारी शक्तियों द्वारा क्षति पहुंचायी जा रही है।"[255]

---

[253] रूपकंवर नामक युवती के पति की मृत्यु शादी के आठ महीने(जिसमें से भी पति के साथ वह सिर्फ़ एक माह ही रही थी) बाद एक सड़क दुर्घटना में हो गई। रूपकंवर को उसके पति के चिता पर बैठा कर जिंदा जला दिया गया। रूपकंवर को सती देवी का नाम देकर मिथक का रूप दे दिया गया।

[254] साप्ताहिक हिंदुस्तान 16 मार्च 1985

[255] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पेज न०-340-341

मधुप सहाय अपनी लेख 'जारी की सती सावत्री : जिसकी चिंता बांदा क्षेत्र की धर्मप्राण जनता का आकर्षण बनी हुई है' देखा जा सकता है। लेख में सावित्री के सती होने की घटना का बहुत श्रद्धाभाव से वर्णन किया गया है। अपनी ओर से लेखन ने एक भी टिप्पणी नहीं की है जिससे इस घटना के प्रति उसका रोष प्रकट होता हो। अंत में लेख कहता है कि -

> "अभी तक सावित्री की चिंता नारियलों से जल रही है और रोज़ भक्त दर्शनार्थ जा रहे है। यह चिंता पूरे एक वर्ष तक जलनी है। बांदा ही नहीं, अपितु भारत के कोने-कोने से दर्शक यहां आ रहे हैं व मनौती मान रहे हैं। भले ही सती जावित्री, सती सावित्री की मानिन्द ग्रंथों का अंग न बने लेकिन वह एक महान आत्मा थी- इसमें कोई शक नहीं।"[256]

इस प्रकार के कई अन्य लेख भी प्रकाशित हुए। मसलन, वामा में प्रकाशित प्रमिला ओबराय का लेख 'वृन्दावन की कुंज गलियों में दौड़ते अभिशप्त पैर'[257], धर्मयुग में प्रकाशित नीलम कुलश्रेष्ठ का लेख 'वृंदावन की गलियों में गूंजती करूण स्वर लहरियां'[258], मनोरमा में प्रकाशित नीलम कुलश्रेष्ठ का लेख 'वृन्दावन पर खिंची दर्द की लकीरें'[259]। मनोरमा पत्रिका ने 'विधवापन: एक सर्वेक्षण'[260] भी छापा। स्पष्ट है कि रूपकंवर सती कांड से पूर्व ही जनमानस को को प्रभावित करने के लिए लेख प्रकाशित हो रहा था और इसने सती का समर्थन कर रहे परंपरावादियों को संयुक्त भी किया। सती विरोध के आंदोलनों के दौरान धर्म, राजनीति और पितृसता में खुला गठजोड़ दिखता है। यह बात भी उभर कर सामने आई कि राज सत्ता के पुरुष प्रधान मानसिकता से ग्रसित होने के कारण उसका स्पष्ट झुकाव प्रगतिगामी ताकतों के प्रति था।

महिला आंदोलन को रूपकंवर सती घटना के विरोध करने पर ऐसी दलीलों का सामना करना पड़ा जो पहले भी दिए जाते रहे थे। भारतीय महिला आंदोलन को अस्सी के आखरी दशकों में ऐसे दलीलों का शिकार होना पड़ा जब ऐसी विचारधारा को कानूनी जामा पहनाया जा रहा था। जिसके अनुसार महिला को अपनी पति के साथ मर जाने के कृत्य को सर्वोत्त्म कहकर प्रसंशा की जा रही थी।

सती प्रथा के विरोध में महिला आंदोलनों को एक धक्का यह भी था कि परंपरा और आधुनिकता, भौतिकवाद एंव अध्यात्मवाद, ग्रामीण और शहरी के मध्य हुए महिलाओं की ध्रुवीकरण ने महिलाओं की प्रति धार्मिक हिंसा के प्रश्नों को हाशिये पर डाल दिया। जबकि धार्मिक कट्टरतावाद

---

[256] साप्ताहिक हिंदुस्तान, 30 सिंतवर 1989

[257] वामा, जून 1985

[258] धर्मयुग 31 अगस्त, 1980

[259] मनोरमा. मार्च(प्रथम) 1982

[260] मनोरमा. मार्च(प्रथम) 1985

न केवल महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का समाजीकरण करती हैं बल्कि उनके खुद के उत्पीड़न के प्रति प्रोत्साहित भी करती है। सती के विरुद्ध चलाए गए अभियान में महिला आंदोलन के विरोध को शक्तिशाली रूप से उभरते हुए देखा। महिला आंदोलन ने धर्म के नाम पर महिलाओं की प्रति होने वाले अपराधों के महिमामंडन पर प्रतिबंध लगाते हुए नया कानून की मांग की। सती निरोधक अधिनियम वर्ष 1987 में परित हुआ जबकि इस अधिनियम में पींड़ित के बच जाने पर उसे भी दंडित करना, शामिल है। इस कानूनी प्रावधान के बाद भी सती के महिमामंडन को कम नहीं किया जा सका। सती निरोधक अधिनियम वर्ष 1987 के बाद सती की घटना होने के बाद ही हिंदी के अख़बारों में रिपोर्टिग, लेख या संपादकीय लेखन देखने को मिलता है। मसलन, कुट्टूबाई सती[261] के घटना के बाद प्रियंका सिंह 'नवभारत टाइम्स' में प्रकाशित अपनी लेख 'सती बनाने में शामिल समाज' में लिखती हैं कि -

> "कट्टूबाई का सती होना, अपनी पीछे सवालों की कतार छोड़ गई हैं। आखिर पूरी तरह गैरकानूनी होने के बावजूद क्यों होती है, सती होने की घटनाएं। क्यों परिवार और समाज सती के नाम पर किसी महिला को आत्महत्या के लिए उकसाते है या अपनी मूक सहमति जताते है। क्यों पूर्व सूचना के बावजूद पुलिस इन कृत्यों को रोक पाने में नाकाम रहती है। क्यों सतियों के मंदिर बनाकर उन्हें पूजा जाता है ? क्यों सरकार के तमाम दावों के बाद भी गाहे बगाहे सती होने की ख़बरें सुनाई पड़ती रहती हैं ? सती की हर घटना के बाद ये सवाल उठ कर सामने आते है और ये सवाल वक्त के साथ फिर धूमिल हो जाते है और तब तक ओझल रहते है जब तक कोई महिला अपनी पति की चिता पर नहीं चढ़ जाती।"[262]

इसी घटना पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'सती, लोकतंत्र और हम' मृणाल पांडे लिखती हैं कि -

> "रूपकंवर के सती घटना के बाद 1999 में उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड इलाकों में पचपन वर्षीय महिला चरण शा के पति के चिंता पर कथित तौर पर आत्मदाह और तीन वर्ष बाद कुट्टूबाई का सती होना और इसके बाद ऐसे प्रयासों को निरस्त किए जाने की ख़बरें। स्पष्ट है कि हमारे धर्म-निरपेक्ष लोकतंत्र के बीचो-बीच स्त्रियों की दोयम दर्जा देने वाली एक प्रतिगामी धार्मिकता लगातार ऐसे आत्मदाहों से और भी मजबूत हो रही है, जो कन्या भ्रूण की हत्या से लेकर सांप्रदायिक हिंसा तक नैतिक रूप से जायेज और अनुकरणीय बनाती है।"[263]

रूपकंवर सती की घटना के आलोक में हिंदी पत्रकारिता में पिछले अनेक कांडों की भी समीक्षा हुई जिसका आधार दस वर्षों में तैयार हो चुका था। इस बात से इऩकार नहीं किया जा सकता है कि

---

[261] अगस्त 2002 में मध्यप्रदेश के पटना तमोली गांव में कट्टूबाई सती होने की घटना सामने आई।

[262] 17 अगस्त 2002, नवभारत टाइम्स

[263] 18 अगस्त 2002, हिंदुस्तान

सती कानून के बाद देश में सती की घटनाएं नहीं हो रही थी। परंतु, रूपकंवर सती घटना ने महिला के विरुद्ध हिंसा की सती की कई घटनाओं को सतह पर ला दिया। इस दशक के दौरान स्त्रियों द्वारा पति के साथ सहमरण का वरण करने के तथ्यात्मक व विवरणात्मक समाचार, रपट व लेख, पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे। ये सभी लेख घटना की जानकारी तो देते थे किंतु लेखक इनमें अपनी ओर से विशेष टिप्पणी नहीं करते थे। वह वितरागी ही बना रहता है, उसका यह स्वभाव स्त्री विरोधी ही सिद्ध होता है। इस प्रकार विरक्त भाव से लिखे गए और स्त्रियों की गौरान्वित करने वाले लेख भी साथ-साथ छप रहे थे। इन लेखों में इस प्रथा को सामाजिक समस्या के रूप में नहीं, अपितु धार्मिक मामलों में दखलअंदाजी के रूप में देखा जा रहा था।

इस प्रकार विरक्त भाव से लिखे गए लेख और सती होने वाली स्त्रियों की गौरान्वित करने वाले लेख भी साथ-साथ छपते दिखते है। पाठकों पर निस्संदेह इन लेखों का प्रभाव पड़ता है और सती विरोध वाली मानसिकता, अगर कहीं वह होती भी है तो नेपथ्य में चली जाती है। जिसके कारण हिंदी पत्रकारिता में सती-कांडों को पर्याप्त कवरेज देने के बावजूद स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। उन सतियों के विवाह की ख़बरें कभी भी हिंदी पत्रकारिता की सुर्खिया नहीं बने लेकिन उनका सहमरण अवश्य ख़बर बना। स्पष्ट है कि इस कुप्रथा को समाज में सामान्य कभी नहीं माना गया। इस प्रक्रिया में धीरे-धीरे आधुनिकता अवश्य तैयार हुई जिसने इसको धीरे-धीरे सीमित कर दिया। परंतु, समाप्त नहीं किया। एक लगभग निषिद्ध धार्मिक विषय के नितान्त आर्थिक-भौतिकतावादी आयाम मुखरित हुई जैसे सती के आड़ में पुरुष संबंधियों का नारी की संपत्ति पर नज़र रखना अथवा सती मंदिरों की आड़ में कारोबार चलाना आदि। इसपर हिंदी पत्रकारिता में लेखन कथा-साहित्य के जरिए ही किया गया। हिंदी पत्रकारिता ने इस प्रवृत्ति से सीधी चुनौती कभी नहीं ली। इस रौ में हिंदी पत्रकारिता ने विधवाओं के रूप में भारतीय समाज में जी रही जीती-जागती सतियों की स्थिति का जायेजा ज़रूर लिया।

3.3 घरेलू हिंसा और महिला

परिवार के निजी दायरे में महिलाओं की साथ भेदभाव या शोषण को घरेलू हिंसा के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है, जो काफ़ी हद तक सामाजिक हिंसा से प्रभावित होती है। चूंकि परिवार समाज की एक इकाई है इसलिए परिवार के सदस्य भी हिंसा के स्वरूपों से प्रभावित होते है। परिवार में जनतंत्र की अवधारणा निजी दायरे में पारिवारिक हिंसा या घरेलू हिंसा के कारणों के मूल्यांकन की मांग करता हैं। ताकि लोकतांत्रिक स्वरूप में परिवार में निजी दायरे में पारिवारिक हिंसा या घरेलू हिंसा की गुंजाइश कम हो सकें।

घरेलू हिंसा या पारिवारिक हिंसा किसी भी समुदायिक परिवार में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का वह रूप है जो महिलाओं की मानवीय अधिकारों को कुंद करने के साथ-साथ परिवार में महिलाओं की सुरक्षित होने के दावे को भी धूमिल या खारिज करता हैं। महिलाओं की साथ होने वाली घरेलू हिंसा के आकंड़े इस तथ्य केतरफ़ ध्यान आकर्षित करते हैं कि महान सांस्कृतिक मूल्यों के मध्य महिलाओं की विरुद्ध असंवेदनशीलता दब जाती हैं। महिलाओं की विरुद्ध हिंसा को परिभाषित करने के प्रयास में सयुक्त राष्ट्र आयोग ने इसे "लैगिंक आधार पर हिंसा का कोई कृत", जिसमें महिलाओं की शारीरिक, यौन-संबंधों या भावनात्मक क्षति या कष्ट पहुचता हैं, शामिल है। इस परिभाषा में परिवार और परिवार के बाहर होने वाली हिंसा भी शामिल है। परिवार के मध्य होने वाले हिंसा को परिवार के सदस्यों के द्वारा व्याभीचार, छेड़छाड़, लैगिंक आधार पर उत्पीड़न, वैवाहिक बलात्कार और घरेलू हिंसा और पत्नी पर अत्याचार के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जा सकता है या किया जाता रहा है। परिवार के मध्य लिंग के आधार पर महिलाओं की साथ होने वाले घरेलू हिंसा को शारीरिक, लैंगिक मौखिक, भावात्मक और आर्थिक आधार पर समझा जा सकता है।

पारिवारिक हिंसा या घरेलू हिंसा को आधुनिक जीवन शैली की उपज भी मानी जाती है। परंतु, महिलाओं की साथ परिवार के निजी दायरे में हिंसा उतनी ही पुरानी है जितनी मानवीय सभ्यता(समय अतंराल के साथ-साथ इसके साथ अन्य कारण भी संहिताबद्ध होते चले गए, परंतु घरेलू हिंसा का दमन नहीं हो सका)। परिवार के मध्य महिलाओं की साथ हिंसा का सामना दो स्तरों पर करना पड़ता हैं विवाह पूर्व माता-पिता के घर में भोगी जाने वाली हिंसा तथा विवाह के बाद पति के घर में होने वाला घरेलू उत्पीड़न। अपनी पैतृक परिवार में एक लड़की पिता, भाई, संगे-संबधियों आदि के हिंसापूर्ण व्यवहार को झेलती है और पति के निवास स्थान पर भी पति के साथ-साथ अन्य संबंधियों की भी यातना झेलती हैं। यह यातना शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और भावात्मक स्तर पर महिलाओं को प्रभावित करती हैं। महिलाओं की साथ पारिवारिक और घरेलू हिंसा का कारण, उनका स्वयं का व्यक्तित्व जिसे आसानी से आहत किया जा सकता है- पराजेय दुहिता। दूसरा मुख्य कारण है पितृसतात्मक सामाजिक व्यवस्था, जो यह प्रतिपादित करती है कि कन्या एक बोझ मात्र है, पुरुष उसका प्रयोग जैसे चाहे कर सकता है। अपनी बात मनवाने के लिए बल प्रयोग भी कर सकता है।

महिलाओं की विरुद्ध घरेलू हिंसा के ऐतिहासिकता के पड़ताल में हम यह कह सकते हैं कि 19 वीं सदी के मध्य में भारतीय समाज में "घरेलू स्त्री" की अवधारणा पनप रही थी, जिसे आज हम "हाउस वाईफ" के शब्दावली में परिभाषित करते है। इस देशकाल की नैतिकताओं ने ही महिलाओं

को घरेलू बनाए जाने के लिए परंपरागत मूल्यबोधों के साथ, आधुनिकता के आईने में घरेलू स्त्री की नये प्रतिमानों का निर्माण किया। सरला सुदंरम बताती हैं कि-

> "घरेलू स्त्री 19वीं शताब्दी में तथाकथित पहली दुनिया (यानी पश्चिम के पूंजीवादी, विकसित या औद्यौगिक देशों) में आई। यह एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम था, एक खास तरह के मांगों के अनुसार महिलाओं को घरेलू बनाया गया। उनकी प्राकृतिक विशेषताओं के आधार पर घरेलू नहीं बनाया गया। उन्हें एक खास तरह के अर्थव्यवस्था की मांगो के मुताबिक घरेलू बनाया गया था- चर्च के जरिए, कानून के जरिएऔर श्रामिकों को दी जाने वाली फैमली वेज"(पारिवारिक मजदूरी) के जरिए।[264]

उसके बाद तीसरी दुनिया के देशों में भी स्त्रियों के घरेलूकरण की प्रक्रिया शुरू हुई, जो आज भी पूरे जोर शोर से जारी है। आज इसे विकास के नीतियों के जरिए(महिला सशक्तिकरण), परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों की दुहाई देकर तथा उन नीतियों को अमल में लाने वाले प्रशासन के जरिए किया जा रहा है।

भारतीय संदर्भ में यहां यह महत्वपूर्ण है कि महिलाओं को घरेलू बनाने के प्रक्रिया में जहां पहली दुनिया में "पारिवारिक मजदूरी" की चर्चा हो रही थी, जिससे महिलाओं को परिवार के मध्य भी आत्मनिर्भर बनाया जा सकें। भारत में महिलाओं को घरेलू बनाने के लिए "गृहस्वामनी" और "घर की मालकिन" कहकर केवल शिक्षित करने का प्रयास हो रहा था। जिससे वो परंपरागत कुरीतियों के प्रभाव से बच सके और शिक्षित पुरुषों के मध्य आचार-व्यववहार कर सकें। औपनिवेशिक दौर में सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा या घरेल/निजी क्षेत्र में घरेलू हिंसा का विषय काफ़ी द्वंदात्मक रूप में उलझा हुआ है। भारतीय समाज में परिवर्तनवादी और यथास्थितिवादी के मध्य सामाजिक शक्तियों के बीच का संघर्ष सामाजिक बुराइयों के मध्य उलझा हुआ था, जिसने महिलाओं की घरेलू हिंसा की समस्या एक बड़े कैनवास पर उभर कर नहीं आ रहा थी। पुरुष समाज सुधारकों ने महिलाओं की विरुद्ध सामाजिक कुरीतियों के कारण महिलाओं की दोयम स्थिति पर विचलित होते दिखते हैं। परंतु, इन कुरीतियों से प्रभावित हो रही महिलाओं की साथ हो रही "हिंसा" को विमर्श के रूप में स्थापित नहीं करते हैं। तमाम समाज सुधारक महिलाओं को एक व्यक्ति के रूप में विचार करते हुए नहीं दिखते हैं। समाज सुधारक सामाजिक ढ़ांचे के चौखट में काम करते हुए केवल उन पहलुओं को सुधारने का प्रयास करते हुए दिखते हैं जो उनकी राय में आर्थिक व सामाजिक प्रगति में रुकावट बन रहे थे। महिलाओं का दमन करने वाली सामाजिक

---

[264] सरला सुंदरम, "स्त्रियां घरेलू बनाई जाती है", सं.रमेश उपाध्याय, परिवार में जनतंत्र, शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2004, पेज न०-61-62

परिस्थितियों में बदलाव लाने के बजाये स्वयं महिलाओं को सुधारना था। मधु किश्वर अपनी लेख "आर्यावर्त्त की बेटियां" में पंजाब के जनगणना रिपोर्ट के हवाले से लिखती हैं कि -

> "इस दौर में सुधारकों को इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत महसूस नहीं हुई कि औरतों का सबसे भयानक शोषण तो परिवार के भीतर ही होता था और उनके पुरुष संबंधी ही उनका सबसे ज़्यादा शोषण करते थे। आमतौर पर घर के अंदर महिलाओं की स्थिति भयावह थी।"[265]

औपनिवेशिक देशकाल में तमाम समाजसुधारक मानवतावादी मूल्यों के अनुसार जिन सामाजिक क्रूरता का विरोध कर रहे थे। वह कहीं न कहीं घरेलू हिंसा से जुड़ा हुआ ही था। मसलन, बाल विवाह, सती प्रथा, जौहर, बहुविवाह, विधवा विवाह, कन्या शिशु हत्या, वैवाहिक बलात्कार या दहेज प्रथा का जायजा लिया जा सकता है। ये तमाम सामाजिक कुरतियां परिवार संस्था के अंदर सामाजिक या सामुदायिक नियम-क़ायदों से बंधे हुए थे, जिसका पहला शिकार महिलाएं ही किसी न किसी रूप में होती थी। परंतु, समाज सुधारको ने इस कुरीतियों को परिवार के मध्य घरेलू हिंसा के रूप में नहीं पहचाना या देखा। न इसके मूल में पितृसत्ता के वर्चस्वशाली मानसिकता या अन्य कारणों की पहचान की। इन समस्याओं के समाधान के रूप में उन्होंने महिलाओं को शिक्षित करने पर अधिक जोर दिया। इन समस्याओं के प्रति सामाजिक चेतना विकसित नहीं होने के कारण कानून बनने के बाद भी, ये विषय परिवार के निजी दायरे में घरेलू हिंसा के रूप में और सार्वजनिक दायरे में हिंसा के रूप में देखने को आज भी मिलते है। सार्वजनिक दायरे में महिलाओं की उपस्थिति भी महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का कारण बनती है। कई महिलाओं की आत्मअनुभव, डायरी, पत्र, या अख़बारों, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख इस तथ्य को अभिव्यक्त करते है कि महिलाएं परिवार के निजी दायरे में घरेलू हिंसा की शिकार हो रही थी।

परिवार के दायरे में घरेलू हिंसा की चर्चा आनंदीबाई जोशी के अपनी पति के साथ निजी पत्राचार में देखने को मिलता है कि उनका संबंध काफ़ी हिंसा से भरा था। जिसकी चर्चा उमा चक्रवति अपनी लेख "पुरुष, महिला और संघर्षरत परिवार" में करती है और बताती है कि - गोपालराव ने दस वर्ष की कम उम्र पत्नी को लकड़ियों से पीटा था, उनपर कुर्सियां फेंकी थी और उनको छोड़ देने की धमकी देते थे। उन्होंने पितृसत्ता के एक रूप की हिंसा सही ताकि पितृसत्ता को दूसरी

[265] मधु किश्वर, आर्यवर्त्त की बेटियां, विमेन एंड सोशल रिफार्म इन मांडर्न इंडिया, संपादक, सुमित सरकार और तनिका सरकार, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली, 2007 ,पेज न०- 298-340, .

रूप में कायम रखा जा सके। बीस वर्ष की उम्र में उन्होंने अपनी पति को लिखे पत्र में अपनी पीड़ा को फिर से याद करते हुए लिखा कि -

> "मैंने आपसे निवेदन किया था कि मेरा अस्तित्व समाप्त कर दें। स्त्रियों के विरुद्ध होनेवाली ऐसी चीज़ों को रोकने के लिए कानून में कुछ नहीं हैं। अगर कुछ कानून हैं भी तो वे स्त्रियों के ख़िलाफ़ ही काम करते हैं। इसलिए चुपचाप सहने के सिवा मेरे पास कोई विकल्प नहीं है। एक हिंदू महिला को अपनी पति के ख़िलाफ़ एक शब्द भी बोलने या सलाह देने का कोई अधिकार नहीं है। उसे एकमात्र अधिकार है अपनी पति को अनुमति देने का कि वह जो करना चाहता है, वह करे और खुद चुप रहने का।"[266]

इस पत्र के माध्यम से आनंदीबाई अपनी पति गोपालराव को याद दिलाती है कि उनके हाथों उन्हें क्या-क्या सहना पड़ा है। वह गोपालराव पर कोई आरोप नहीं लगाती है महज़ जतला देती है कि परिवार के निजी दायरे में उन्होंने क्या-क्या झेला है?

आनंदीबाई का विवरण, परंपरा और पितृसत्तात्मक प्रचलनों के कारण महिलाएं घरेलू हिंसा का शिकार होते हुए, उसके समर्थन को भी मान्यता दे रही थी, क्योंकि उनके पास कोई विकल्प नहीं था। कमोबेश इसी समय में रक्माबाई भी बाल विवाह को चुनौती दे रही थीं और जबरन दांपत्य को स्वीकार करने से इऩकार कर रही थी। इसके जरिए रक्माबाई हिंदू स्त्रीत्व के सनातनी मांडल को खारिज करने की मांग कर रही थी और परिवार के निजी दायरे में जबरन दांमत्य को स्वीकार करने से इऩकार कर रही थी, उनका विरोध भी थोपी गई घरेलू हिंसा के विरुद्ध था। रमाबाई रानडे के विवरणों में भी घर के अंदर पिता-पुत्री के बीच का बूढ़ी स्त्रियों और युवा पत्नी के बीच उस बात को लेकर तनाव के विवरण मिलते हैं। पंडिता रमाबाई भी हिंदू पितृसत्ता के कारण परिवार के निजी दायरे में हो रही हिंसा को सामने लाने की कोशिशें कर रही थी। स्पष्ट है कि अलग-अलग तरीकों से हिंसा के अभिव्यक्तियां सामने आ रही थी। परंतु, परंपरागत मूल्यबोंधों में जकड़े होने के कारण या इसके विरुद्ध विकल्प नहीं होने के कारण परिवार के मध्य घरेलू हिंसा के प्रश्न मौजूद होने के बाद भी खुद को अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा था या हिंसा/घरेलू हिंसा के महिलाओं की प्रश्न विमर्श का हिस्सा नहीं बन पा रहा था। इसके साथ-साथ इस देशकाल में महिलाओं को घरेलू बनाने के प्रयास परिवार के मध्य महिलाओं की कई पुराने सवालों का मूल्यांकन नहीं करती हैं और न ही परिवार के मध्य स्त्री-पुरुष\स्त्री-स्त्री की बीच असमानता के कारणों की पड़ताल करती हैं।

---

[266] उमा चक्रवति, पुरुष, महिला और संघर्षरत परिवार(अंश), काली फांर विमेन/ज़ुबान, नई दिल्ली,1998, पेज न०- 200-245

औपनिवेशिक देशकाल में परिवार में महिला उत्पीड़न या घरेलू हिंसा के बारे में राधा कुमार बताती है कि-

> "लिंग के आधार किए जाने वाले उत्पीड़न के विरुद्ध प्रश्न उठने लगे थे। पत्नी को पीटने की समस्या को कम्युनिस्ट आंदोलनों ने उठाया। पर यह सवाल घरेलू हिंसा के रूप में स्थापित नहीं हो सका। परिवार के मध्य महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के कारण के रूप में विवाह संबंधी कुरीतियों की पहचान की गई। जिसने परिवार के मध्य स्त्री-पुरुष असमानता को स्थापित नहीं होने दिया।"[267]

"चांद" पत्रिका में बुनियादी मानवीय मूल्यों के आधार पर पारिवारिक नियम-क़ायदों को चुनौती और घरेलू हिंसा या उत्पीड़न के संबंधी महिलाओं की अनुभवों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं। पत्रिका आप बीतियां महिलाओं की आवाज़ को, जो पारिवारिक मान-दण्डों और नियमों की समीक्षा भी करती थीं। मसलन,

> "व्यापारी परिवार की एक अभागी गुजराती लड़की ने, जिसे 11 साल की उमर में एक अनपढ़ और गरीब लड़के से ब्याह दिया गया था, हिंदू परिवार में औरतों के अधिकारों के अभाव की व्यापक आलोचना करते हुए औरतों द्वारा ख़ुद अपनी आदर्शों को परिभाषित करने सवाल उठाया। उसने अपनी पति की आम ग़ैर-जिम्मेदारी और मार-पिटाई के बारे में लिखते हुए कहा कि जब उसका भाई उसे वापस ले जाने आया था तो उसे गालियां दे कर भगा दिया गया था। उसने आगे लिखा था कि पारिवारिक सम्पत्ति में उसका कोई हक नहीं था। हिंदू-समाज और हिंदू-लां भी मेरी सहायता नहीं कर सकते। आर्य संस्कृति और वैदिक विवाह प्रणाली संसार भर में प्रसिद्ध है और पति-सेवा स्त्री का परम धर्म और कर्तव्य बतलाया जाता है। पर कब? जब पति को अपनी सम्मति से वरण किया हो और वह गुणवान हो।"[268]

इसी तरह एक अन्य अभिव्यक्ति में सम्पन्न घराने में विवाहित मध्य भारत की एक विधवा की क़िस्मत में लिखी भीषण असहायता के बारे में लिखा गया।

> "तीन साल और चार महीने के दो बच्चों की मां, इस युवती के पति की मृत्यु के बाद उसके देवर ने उससे कलुषित प्रस्ताव किया। मना करने पर घर से निकलने का भय दिखलाया गया।"[269]

ये अभिव्यक्तियां औपनिवेशिक भारत में परिवार के निजी दायरे में घरेलू क्रूरता और महिलाओं की असुरक्षा का पर्दाफ़ाश करती हैं, जो महिलाओं, विधवाओं, परित्यक्त स्त्रियों और अकेली औरतों के आत्म अनुभव थे। परंतु, इस तरह की अभिव्यक्ति ने घरेलू क्षेत्र में घरेलू हिंसा के

---

[267] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2009, पेज न०- 210-2

[268] चांद 15, भाग 2, 1 मई 1927, पेज न०- 86-87

[269] वही

प्रश्न बहस के केंद्र में स्थापित नहीं किया। अपितु महिलाओं को सामाजिक दायित्व के रूप में पेश किया, जिसके कारण महिला सामाजिक जिम्मेदारी की अनुभूति बनकर रह गई। घरेलू हिंसा और पारिवारिक उत्पीड़न विमर्श के धरातल पर अपनी जगह ही नहीं बना सका। क्योंकि इस देशकाल के तमाम सामाजिक परिवर्तनों ने परिवार संस्था या अन्य संस्थाओं के मध्य स्त्री-पुरुष असमानता को कम नहीं किया। स्त्री-पुरुष असमानता के नीव के पर पारिवारिक संस्था के मध्य स्त्री जाति के समस्या के मूल्यांकन की कल्पना कैसे की जा सकती है?

स्पष्ट है कि घरेलू हिंसा के संदर्भ में महिला और पुरुष के मध्य समानता का अधिकार परिस्थितियों के माहौल में संस्था के राजनीति से अलग नहीं हो पा रही थी। परिवार संस्था में महिलाओं की शोषण और उत्पीड़न का कारण अशिक्षा और जातीय या धार्मिक कुरीतियों या परंपरगर मूल्यबोधों को माना जा रहा था। जिसके कारण सामाजिक और राजनीतिक प्रयास महिलाओं की त्याग जैसे मूल्यों को सजाकर मां, पत्नी और घर में बेहतर भूमिका निभाने के लिए तैयार करने पर अधिक जोर दे रहे थे। समान अधिकार की अवधारणा में इस बात पर अधिक जोर था कि महिलाओं की क्षमताओं को विकासात्मक कार्यों में कैसे लगाया जाये? "तुमसे ही घर कहलाया", "घर की शोभा","गृहलक्ष्मी", "अन्नपूर्णा" जैसे न जाने कितने विशेषणों से महिलाओं को नवाजा जा रहा था। जिसने घरों के चारदीवारों में रहते हुए महिलाओं पर क्या गुजरती रही थी ? यह किसी ने नहीं देखा, न ही उसपर सवाल उठाया गया। महिलाओं की घरेलू हिंसा के सवाल शालीनता और संस्कृति के नाम पर चुप्पी के ताले जड़ जा रहे थे।

आजादी के बाद महिलाओं ने स्वयं को इस रूप में देखना प्रारंभ किया। जिसको भारतीय संविधान ने घर के अंदर और घर के बाहर समानता और स्वतंत्रता के कई अधिकार दिए है। परंतु, आजादी के दो दशकों के मध्य और उसके बाद महिलाओं की कई आत्म अनुभवों ने समानता के अधिकार के लू-पोल्स केतरफ़ ईशारा किया और घर के अंदर "घरेलू हिंसा" के बहसों को सतह पर लाकर कर दिया। संविधान के अनुच्छेद 14,15 और 16 में यह स्पष्ट किया गया कि लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होगा, लेकिन यह प्रावधान कागज पर ही रह गया है। भारतीय न्याय प्रणाली के अंतर्गत पत्नी को मारे जाने के संबंध में कोई विशेष प्रावधान नहीं हैं भारतीय दंड संहिता की धारा 319 से 326 तक मारने पीटने की घटनाओं एंव उसके लिए दंड का उल्लेख किया गया है। धारा 319 के अनुसार यदि कोई भी किसी को शारीरिक चोट पहुंचाता है या विकलांगता एवं रोग का कारण बनता है, तो वह अपराधी माना जायेगा। धारा 320 में गंभीर चोट को परिभाषित किया जाता है। यदि प्रहार से कोई नपुंसक बन जाये, या आंख या कान में किसी प्रकार की अपूर्णता आ जाये या हड्डियों का स्थान बदल जाये या चेहरे में बदलाव आ जाये

तो उसे घातक चोट माना जायेगा। कोई भी ऐसा प्रहार जिससे जीवन ही खतरे में पड़ जाये, घातक माना जाता है। इन परिस्थितियों में पुलिस सीधी कारवाई हो सकती है। इन अपराधों के लिए लंबी अवधि की कारावास सजा तथा आर्थिक दंड का प्रावधान है। लेकिन यदि स्त्री को खतरा है कि उसपर घातक हमला होगा, तो पहले से पुलिस उसे बचाने के लिए कुछ नहीं कर सकती।

साठ के दशक के अंत में महिला आंदोलनों ने महिलाओं की व्यक्तिगत समस्याओं को सार्वजनिक समस्या के रूप में पहचानने का प्रयास किया, जिसके कारण "घरेलू हिंसा" पर खुलकर चर्चा होने लगी। महिला आंदलनों ने परिवार के मध्य घरेलू हिंसा के सवाल को पितृसत्ता और पूंजीवाद के फ्रेमवर्क से जोड़ कर देखने की कोशिश की। वास्तव में घरेलू हिंसा के पीछे पितृसत्ता की जटिल सरचनाएं भी हैं और इसलिए घरेलू हिंसा का असर महिलाओं पर अलग-अलग तरीके से होता है। परंतु, स्त्री की ऊपर घर के दायरे में और वैवाहिक संबंधों के दुनिया में होने वाली हिंसा के पहलुओं पर ही चर्चा होती है। वी.गीता बताती हैं कि -

> "स्नेहीदी समेत घरेलू हिंसा पर काम करने वाले संगठनों के लेखन में यह मानकर चला जाता है कि स्त्री की सेक्शुअलिटी के लिए उत्पीड़न का शिकार होना सामान्य बात है। इसे सगे-संबंधी, जातिगत, वर्गगत या सामुदायिक संरचनाओं का नतीजा मान लिया जाता है। स्त्री उत्पीड़न विरोधी मंच, महिला केंद्र (मुंबई), सहेली(दिल्ली), विमोचन(बंगलूर) और लायर्स कलेक्टिव जैसी संस्थाओं द्वारा किए गए प्रकाशनों और दि लायर्स जैसी पत्रिकाओं में छपे लेख विस्तार से स्त्री उत्पीड़न के कई पहलुओं का वर्णन करते हैं।"[270]

इन आधारों पर वीं.गीता घरेलू हिंसा के संदर्भ में पितृसत्ता को परिभाषित करते हुए, लिखती हैं कि -

> "घरेलू हिंसा एक जटिल और असमतल संरचना ज़रूर है जिसमें दोनों पक्षों, स्त्रियों और पुरुषों, की भागीदारी हैं; लेकिन पितृसत्ता एक ऐसी शै भी है जो हर स्तर पर स्त्री की देह के नित्य-प्रति और आदतन अतिक्रमण के हालात पैदा करती है।"[271]

इसके साथ-साथ महिला आंदोलनों ने परिवार के निजी दायरे में घरेलू हिंसा को पितृसत्तामक सत्ता सरंचना के जोड़कर देखना शुरू किया, जिससे महिलाएं भी संचालित होती हैं। घरेलू हिंसा को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि यह परिवार में स्त्री-पुरुष और स्त्री-स्त्री(घर के भीतर एक औरत भी, सामंती मूल्यों व मान्यताओं के बीच पली-बढ़ी होने के नाते, दूसरी औरत की दुश्मन बन जाती है, उसे मारती-पीटती भी है) के मध्य शक्ति के असतुंलन के साथ-साथ

---

[270] वी.गीता,दैहिक प्रेम और दैहिक हिंसा, सं.मैरी ई.जांन और जानकी नायर, कामसूत्र से कामसूत्र तक, अनु. अभय कुमार दुबे,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पेज न०-155

[271] वही, पेज न०- 155

कुछ मामलों अंतरजातीय और अंतरमजहबी विवाह के कारण असमानता का मामला भी है। आर्थिक बदलाव के साथ-साथ सामाजिक बदलावों के परिस्थितियों ने परिवार के ढ़ाचों या संरचना के मध्य कई बदलाव हुए।परंतु, सामाजिक सोच, मानसिकता और व्यवहार में जो परिवर्तन आना चाहिए था वह नहीं आया। क्योंकि इन बदलावों के मध्य जो सांस्कृतिक बदलाव समुदाय या परिवार के मध्य आना था, वह ठस रहा। घरेलू हिंसा के संदर्भ में परिवार के मध्य दहेज हत्याओं, बहू-दहन, वैवाहिक बलात्कार और संबंधियों का व्याभिचार जैसे पारिवारिक दायरे के अपराधों पर सामाजिक चर्चा अक्सर होती हैं। परंतु, सामुदायिक सांस्कृतिक संहिताएं भंग करके होने वाले अंतरजातीय और अंत:जातीय विवाहों के ख़िलाफ़ होने वाली हिंसा किसी बड़ी घटना के बाद चर्चा के रूप में अपनी जगह बना पाते है। प्रेम चौधरी, स्टीव डर्न के हवाले से बताते हैं कि-

> "उत्तर भारत के कई ग्रामीण इलाकों में विवाह की संस्था से जाति, वर्ग और जेंडर से जुड़े हुए हैं।"[272]

अंतरजातीय और अंत:जातीय विवाहों के मामलों में सास्कृतिक संहिता, इज्जत और हिंसा का त्रिकोण मिलकर पूरे समुदाय का समर्थन हासिल करता है। इसके साथ-साथ जाति और ग्राम की पंचायत भी प्रतिरोध करने वाले जोड़े को दंडित करने की कार्रवाई चलाती है। सरकारी संस्थाएं भी सामुदायिक और जातिगत नेतृत्व का साथ देती है। जिससे परिवार के दायरे कि हिंसा निजी दायरे से निकलकर सार्वजनिक दायरे में आ जाती है। वास्तव में जब कोई स्त्री अपना पति खुद चुनती है तो इसका मतलब यह माना जाता है कि वह अपनी सेक्शुअलिटी और सेक्शुअल पार्टनर चुनने में स्वाधीनता का दावा कर रही है। उसके साथ ही उसकी श्रम करने की क्षमता और संतानोत्पत्ति करने की क्षमता भी स्थानांतरित हो जाती है। हालांकि शादी करने में दहेज वगैरह के चक्कर माता-पिता बड़े आर्थिक दबाव का सामना करते है,पर इस दिक्कत के बावजूद सजातीय रिश्ता कायम करना उनके सामाजिक दर्जे के लिहाज से बहुत जरूरी है। अगर कोई पुरुष भी शादी अपनी मन से करता है, तो बुजुर्गों को लगता है कि उनका रुतबा भी खतरे में पड़ा है। जाहिर है कि जाति, वर्ग, लैंगिक आयाम और वरिष्ठता की सत्ता के सहारे अंतरजातीय और अंत:जातीय विभेदों विषमताओं के कारण घरेलू हिंसा व्यापक रूप से उभर कर सामने आता है। सामाजिक अवस्था में होनेवाले कुछ परिवर्तनों ने भी परिवार के मध्य महिलाओं पर होने वाली हिंसक घटनाओं में बढ़ोतरी ही की हैं। जिसके कारण स्त्री-पुरुष और स्त्री-स्त्री की मध्य अहमं

---

[272] प्रेम चौधरी, सेक्शुअलिटी और सांस्कृतिक संहिताएं, सं.मैरी ई.जांन और जानकी नायर, कामसूत्र से कामसूत्र तक, अनु. अभय कुमार दुबे,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पेज न०-176, स्टीव डर्न ने ऐसे रिश्तों को प्रेम विवाह बनाम पारंपरिक विवाह के नजरिए से समझने की कोशिश की है। यह एक संकीर्ण नजरिया है जो रिश्तों में जाति और नातेदारी के प्रभाव पर ध्यान नहीं देता, जबकि इन्हीं वर्जनाओं के टूटने का परिणाम हिंसा में निकालता है।

घरेलू हिंसा के रूप में प्रकट होता है। जो कभी-कभी आर्थिक, सास्कृतिक, सामाजिक और भावानात्मक भी होते है। यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उभरता है कि एक महिला किस-किस स्तर तक इन स्थितियों से संघर्ष करें? इन स्थितियों में परिवार के मध्य महिलाओं का डर काफ़ी भयावह हो जाता है। यह डर समस्त मानवीय-मूल्यों व भावनाओं को उलट-पलट कर देता हैं। जहां घरेलू हिंसा पति-पत्नी के मध्य सामंजस्य की कमी के कारण अहमं के टकराव भी उभरते है। यह भी देखने में आता है कि हीनता की भावना भी घरेलू हिंसा को जन्म देता है जो पत्नी को ताने, गाली-गलौज,घर से निकालने की धमकी और मारपीट के रूप में प्रकट होते है। जो महिलाओं की साथ परिवार के मध्य घरेलू हिंसा के महिलाओं की अनुभव परिवार का महिलाओं की लिए प्रेम, स्नेह, सौहार्द और सुरक्षा के तमाम दावों को खारिज करता है और घरेलू हिंसा के संदर्भ में परिवार के मूल्यांकन और महिलाओं की सुरक्षा के लिए संवैधानिक अधिकारों की मांग करता हैं।

महिलाओं से साथ पारिवारिक हिंसा के कारणों के तलाश के प्रयासों में यह पाया गया कि "पारिवारिक झगड़ा" लगभग सभी जातियों, वर्गों, धर्मों एंव समुदायों में समान्य बात हैं(कुछ अपवादों को छोड़कर)। यह पारिवारिक झगड़ा सभी संप्रदायों और सभी जातियों के शिक्षित-अशिक्षित, शहरी-देहाती पुरुषों द्वारा की जाती है। यहां यह एक महत्वपूर्ण सवाल हो सकता है कि क्या जाति, वर्ग और धर्म के आधार पर मौजूद श्रेणीबद्धता निजी दायरे में महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा को अलग-अलग तरीके से प्रभावित होता है या इसके कारण अलग-अलग हो सकते है। अगर घरेलू हिंसा के मामलों में महिलाओं की भी सहभागिता है तो क्या महिलाओं की सहभागिता वर्ग, जाति और धर्म के आधार पर अलग-अलग तरीकों से काम करती है? कई मामलों में घरेलू हिंसा में स्त्रियां भी स्त्रियों के विरुद्ध शामिल होती हैं- जैसे बहुओं को मारने-पीटने और जिदा जला देने के अनेक मामलों में महिलाओं का भी हाथ होता है। जो निजी क्षेत्र में घटित होते है, जिसके एक नहीं कई कारण हो सकते है, इनकी पहचान की तलाश में महिला आंदोलनों ने "घरेलू हिंसा" शब्द की पहचान की। इसके पहले कारण के रूप में सत्तर के दशक में नशाखोरी या शराबखोरी की पहचान की गई। राधा कुमार बताती हैं कि -

> "मीरा सावदा तथा सुजाता घोटोस्कर के अनुसार पत्नी-उत्पीड़न के पीछे पतियो की नशाखोरी का मुख्य कारण था। जिसके परिणामस्वरूप शराब-विरोधी आंदोलन की शुरूआत हुई। पत्नी-उत्पीड़न का मुद्दा शहादा आंदोलन समेत कई आंदोलनों का मुख्य केंद्र बिंदु बनकर उभरा।

> जिसके वजह से जो मुद्दा अब तक निजी माना जाता था, उसे इन आंदोलनों ने सार्वजनिक बना दिया।"[273]

उतराखंड में जंगल की कटाई पर अकुंश के समानांतर शराबखोरी के ख़िलाफ़ आंदोलन में स्त्रियों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया क्योंकि यह अप्रत्यक्ष रूप से स्त्रियों की पिटाई और पति के कमाई गवाने से जुड़ा हुआ था। शहादा आंदोलन में भी स्त्रियों की भागीदारी बढ़ने पर लिंग आधारित मुद्दें उठाए गए एंव पतियों की नशाखोरी को पत्नी उत्पीड़न का महत्वपूर्ण कारण स्वीकारा गया एवं पतियों की नशाखोरी को पत्नी उत्पीड़न का महत्वपूर्ण कारण स्वीकारा गया। हालांकि, बाद के दिनों में कई महिलाओं की मतों से इस तथ्य को भी स्वीकार किया गया कि घरेलू हिंसा का कारण पूरी तरह से नशाखोरी या शराबखोरी नहीं था। मीरा सावार और सुजाता घोटोस्कर बताती हैं कि -

> "स्त्रियों का मत था कि पत्नी-उत्पीड़न का कारण पूरी तरह से शराबखोरी ही नहीं था, हमारा विरोध शराब से नहीं बल्कि पत्नियों की पिटाई से था जो कि अपरिहार्य रूप से शराबखोरी का नतीजा था।"[274]

घरेलू हिंसा के कारण सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के साथ-साथ और कारण भी हो सकते है। परिवार के निजी दायरे में महिला उत्पीड़न या घरेलू हिंसा के कारणों को लेकर नारीवादी समूहों में मतभेद भी रहे है। राधा कुमार के अनुसार, बहस की शुरूआत इस प्रश्न को लेकर थे कि -

> "महिला उत्पीड़न का कारण उनका पुरुष एंव परिवार से संबद्ध होना है या पुरुषों का स्त्रियों पर नियंत्रण महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा का कारण हैं। या इसका कारण सामंती सोच है या वर्तमान में पूंजीवाद के रूप में अवतरित सामंतशाही नज़रिया इसके लिए जिम्मेदार है। क्या परिवार को इसके कारण के रूप में देखा जाये या वर्ग के आधार पर मध्य वर्ग और अन्य वर्गों में अलग तरीके से दिखता है।"[275]

इसके कारण के रूप में आर्थिक विपन्नता और सामाजिक असुरक्षा की पहचान भी की गई। जाहिर है किसी भी कारण को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है। महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा का कारण सब-समुच्च(sub-set) के रूप में मौजूद है। कई बार घरेलू हिंसा की वारदात बेटी

---

[273] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2009, पेज न०- 212

[274] मीरा सावरा तथा सुजाता घोटोस्कर, इन सर्च आंफ आंसर्स:इंडियन विमेंस,वायलेस, सं. मधु किश्वर तथा रूथ वनिता, मानुषी, नई दिल्ली,1984, पेज न०- 135

[275] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2009, पेज न०- 226

द्वारा अपनी पैतृक संपत्ति में हिंस्सेदारी मांगने पर भी होती है। वासंती रमण घरेलू हिंसा के पीछे आर्थिक कारणों की पड़ताल करते हुए, बताती हैं कि -

> "महिलाओं की ख़िलाफ़ अत्याचार में घरेलू हिंसा पर सबसे ज़्यादा जोर बाहरी कारणों को दिया जा रहा है। इस बात की जरा भी चर्चा नहीं हो रही है कि परिवार के बाहर के वातावरण और असुरक्षा ने इसमें अहम योगदान दिया है। महिलाओं की ख़िलाफ़ घरेलू हिंसा का कारण आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा भी है।"[276]

जहां एक तरफ़ महिलाओं की ख़िलाफ़ हिंसा के कारण का एक पहलू सार्वजनिक जीवन और सामाजिक टकरावों में इसकी उपस्थिति है। जिसमें देश के कहीं भी सामाजिक-आर्थिक कारणों की वजह से विभिन्न जातियों, समुदायों एंव वर्गों के बीच संघर्षों के कारण महिलाएं आसान निशाना बनती हैं। तो दूसरी तरफ़ पारिवारिक दायरें में दहेज के लिए और पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी की मांग के कारण घरेलू हिंसा कि प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। यहां इस तथ्य को ध्यान में रखने की ज़रूरत है कि दहेज और पैतृक संपत्ति में हिंस्सेदारी के मामले में घरेलू हिंसा को एक ही तरह से परिभाषित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि दहेज और पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी के कारण घरेलू हिंसा में गतिशीलता शहरी और ग्रामीण समुदाय में अलग-अलग तरह की है। इसके साथ-साथ दक्षिण भारत और उत्तर भारत में भी दहेज और पैतृक संपत्ति में भागीदारी की गतिशीलता अलग-अलग तरह से काम करती है। दहेज और घरेलू हिंसा के संदर्भ में यह माना जाता था कि दहेज एक पुरानी सामंतवादी रूढ़ि या कुरीति है, जो समाज के आधुनिक होते जाने के साथ-साथ कम होते-होते खत्म हो जायेगी। लेकिन आज भी, जबकि हमारा समाज काफ़ी हद तक आधुनिक बन चुका है, दहेज-प्रथा न केवल कम नहीं हुई है, बल्कि बढ़ती जा रही है। पैतृक संपत्ति में महिलाओं की हिस्सेदारी के मामलों में भी स्थितियां एक ही तरह की नहीं हैं। परंतु, यह परिवार के निजी दायरे में घरेलू हिंसा का कारण के रूप में मौजूद है। परंतु, इन विभिन्नता के कारण इससे इऩकार नहीं किया जा सकता है कि पारिवारिक मामलों में घरेलू हिंसा ही नहीं है या दहेज एंव पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी के कारण महिलाएं प्रभावित नहीं हो रही है। इसके साथ-साथ महिलाओं की ख़िलाफ़ घरेलू हिंसा का जन्म व्यक्ति-विशेष की भौतिक और भावात्मक स्थिति से होता है और उसमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अवयव जुड़ जाते है। इस तथ्य से भी असहमत नहीं हुआ जा सकता है कि नई आर्थिक नीतियों और भूमंडलीकरण के दौर में नई उपभोक्तावादी समाज के सदस्यों के मानवीय इच्छाओं के प्रवृत्तियों में बहुत बड़ा अंतर है। रातोंरात सबकुछ पा लेने की ललक और संपन्न बनने की ख्वाहिश में दहेज उपभोक्तावादी

[276] वसंती रामन, सार्वजनिक जीवन की हिंसा को भी बहस के दायरे में लाइये, सं सुमन कृष्णकांत, इक्कीसवीं सदी के ओर,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2001. पेज न०-159

समाज की लालसा को शांत करने का एक माध्यम के रूप में उभरता हुआ दिखता है। जिसके कारण परिवार में महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा देखने को मिलती हैं (दहेज के कारण महिलाओं की साथ होने वाली हिंसा या घरेलू हिंसा पर चर्चा अगले अध्याय में किया गया है।)। इसके साथ-साथ परिवार के निजी दायरे में नवजात कन्या शिशु की हत्या(जिसका एक नया रूप भ्रूण हत्या के रूप में भी समाज के समकक्ष है) भी घरेलू हिंसा के रूप में औपनिवेशिक देशकाल से ही देखने को मिलती है। इसकी भयावह स्थिति को देखते हुए औपनिवेशिक हूकूमत ने इसे रोकने के लिए वर्ष 1870 में कानून बनाया था। परंतु, सामाजिक-सास्कृतिक और राजनीतिक चेतना के अभाव में नवजात कन्या शिशु हत्या की पहचान घरेलू हिंसा के रूप में नहीं की जा सकी। इसकी पहचान घरेलू हिंसा के रूप में आजादी के दो दशक के बाद देखने को मिलती है, जब कन्या शिशु जन्म-मृत्यु दर के आंकडे में बड़ा अंतर देखने को मिला। यह घरेलू हिंसा का ऐसा रूप था जिसके ऊपर सामुदायिक दवाब के साथ-साथ आर्थिक दवाब भी पूरी तरह से हावी रहता है।(कन्या शिशु हत्या/भ्रूण हत्या की चर्चा विस्तार से आगे के अध्याय में किया गया है।)

महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा के कारण के रूप में महिला आंदोलनों ने इस तथ्य को भी उठाने का प्रयास किया कि परिवार के मध्य घरेलू हिंसा का कारण सामंती सोच या पूंजीवाद के रूप में अवतरित सांमतशाही नज़रिया भी जिम्मेदार हैं। क्या परिवार के मध्य उत्पीड़न के तंत्र को वर्ग के आधार पर समझा जाना चाहिए? क्योंकि वर्ग की चेतना कुछ हद तक जातीय, सामुदायिक सीमाओं को तोड़ पाने में सहायक होता है। ये सारी बहसें महिला आंदोलनों के सामने घरेलू हिंसा के पहचान के कारणों के तलाश के समक्ष थी।

इन बहसों और तथ्यों से यह स्पष्ट है कि परिवार के मध्य महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा के कार्य को मानवतादी नज़रियेसे नहीं देखा जा सकता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यक्ति को, किसी भी कारण से पीट नहीं सकता है। जहा प्रेम और जुड़ाव नहीं होगा वहां घरेलू हिंसा के अनेक स्वरूप उभरेगे, मृणाल पांड़े बताती हैं कि -

> "पाश्विक हिंसा की जड़ें सदैव दहेज हीं नहीं होती। अपनी यहां सिर्फ़ विवाहिताएं ही नहीं, बड़ी तादात में अविवाहितांएं, बच्चियां, विधवाएं भी घरेलू हिंसा की शिकार बनती रहीं हैं। क्योंकि परिवार के मध्य शक्ति के बीच गहरा असंतुलन है।"[277]

इस उद्धरण के आधार पर घरेलू हिंसा की पहचान संस्थागत संरचना के अंदर शक्ति संबंधों के आधार पर कर सकते है। जहां संस्था के अंदर घरेलू हिंसा को सामाजिक और सांस्कृतिक नियम-कायदें एंव रीति-रिवाज और शक्ति संबंधों को प्रभावित करने वाले पूर्वाग्रही मानसिकता भी

[277] मृणाल पाड़े, हिंदुस्तान, 3 दिसंबर 2005

प्रभावित करती है। ये पूर्वाग्रही मानसिकता जातीय, धार्मिक और आर्थिक स्थितियों से संचालित हो सकती है। इस तमाम आधारों पर घरेलू हिंसा के लिए किसी एक कारण को उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता है। घरेलू हिंसा के लिए शारीरिक, लैंगिक, आर्थिक, भावनात्मक शाब्दिक हिंसा तथा वैवाहिक बलात्कार आदि सभी का भी जायजा लिया जा सकता है; इसे एक तरह से न ही परिभाषित किया जा सकता है और न ही एक कारण को इसके लिए उतरदायी ठहराया जा सकता है। हम ये कह सकते है कि घरेलू हिंसा सामाजिक सरंचना में स्त्री-पुरुष या स्त्री-स्त्री की मध्य संस्थागत निजी दायरे में होने वाली घटना है जो शारीरिक, लैगिक, भावात्नामक आधार पर काम करती है और इसके कारण आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक और सरंचनागत ऊंच-नीच का पूर्वाग्रह हो सकते है। इसकी पहचान शारीरिक चोटों या शरीर को क्षति पहुंचाने वाली विश्वसनीय धमकियों द्वारा चिन्हित किया जा सकता हैं। इसके साथ-साथ घरेलू हिंसा उन सोचे-समझे नियन्त्रणकारी आचरणों और प्रवृत्तियों का भी जोड़ा हैं जिन्हें सांस्कृतिक रूप से समर्थन प्राप्त होता है और जो पाशबद्धता वाले संबंध-स्वरूप को जन्म देते है।

घरेलू हिंसा के कारणों की पड़ताल में महिला आंदोलनों के कई नई तरह के अनुभव भी सामने उभर कर आए, जिसने इस तथ्य को उजागर किया कि महिलाओ के घरेलू हिंसा के रुझानों का सामाजिक आधार क्या हैं? क्या यह कुछ लोगों के विचार का नतीजा हैं? या महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा के मामलों में समाज का अपराधीकरण हो चुका हैं? यह सवाल घरेलू हिंसा के घटनाओं के इन प्रवृतियों से उभरकर सामने आए कि महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा के अधिकांश मामलों में, पड़ोसी बिल्कुल बहरे-गूगे बने रहते हैं। इससे बुरी स्थिति पुलिस थानों की है। कई ऐसे अनुभव उभरकर सामने आए कि पीड़ित महिला जब अपनी तकलीफ लेकर थाने गयी और रिपोर्ट दर्ज करना चाहा तो, थाने में मौजूद पुलिस कर्मियों ने यह कह कर रिपोर्ट लिखने से मना कर दिया कि भारतीय परिवारों में औरतों के साथ मारपीट तो चलती ही हैं, इतना “एडजस्ट” तो औरतों को करना ही चाहिए। कुछ मामलों में पुलिस कोई कार्यवाही नहीं करती है और पीड़िता की मृत्यु के बाद स्थिति तनावपूर्ण बन जाती है। इस तरह के मामले घरेलू हिंसा पर सामाजिक संस्थाओं में घरेलू हिंसा के हालात और राज्य की प्राथमिकता को सतह पर ला देते है। घरेलू हिंसा के मामलों में कई बार “निजी मामला” कहकर टालने की कोशिश का अनुभव भी महिलाओं ने किया जिससे यह तथ्य प्रमुख रूप से उभरा की “घरेलू हिंसा” राज्य या राज्य की सामाजिक संस्थाओं के लिए महिलाओं की संदर्भ में चिंता का कारण नहीं था। घरेलू हिंसा के कई मामलों के ख़िलाफ़ कई कानून बने और नई कानून बनाए भी जा रहे है, लेकिन उन्हें लागू करने की कोई व्यवस्था और मशीनरी नहीं बनाई गयी है। इसका मतलब यह प्रतीत होता है कि राज्य और शासन-प्रशासन को स्त्रियों की दशा सुधारने में कोई दिलचस्पी नहीं हैं, उनकी रूचि घरेलू हिंसा के

मामलों में यथास्थिति को बनाए रखने में है। महिलाओं की इन आत्म अनुभवों ने घरेलू हिंसा के मामलों पुलिसकर्मियों और राज्य की नीतियों पर पड़े पर्दा को हटा दिया। इन परिस्थितियों में परिवार के अंदर होने वाली घरेलू हिंसा घटनाएं महिलाओं को "मौन" को बनाए रखने में योगदान देती है। परिवार के मध्य बच्चे के साथ नातेदारी और परिवार को लेकर परंपरागत नैतिकता अक्सर मुंह बंद रखने को बाध्य कर देती है। "मौन" रहने की संस्कृति महिलाओं को घरेलू हिंसा के बारे में बोलने से रोकती है। सार्वजनिक और निजी के बीच भेद की सामाजिक संरचना, महिलाओं की नि:शब्दता का कारण बनती है। पितृसत्तात्मक तरीके का अनुपालन न करने के कारण महिलाओं को नियंत्रित/दंडित करने के लिए मारपीट को उचित समझा जाता है।

घरेलू हिंसा के संदर्भ में हिंदी पत्रकारिता की अभिव्यक्ति अधिक उत्साह पैदा करने वाली नहीं दिखती है। भारत के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में स्त्रियां गैर-बराबरी, भेदभाव, हिंसा, उत्पीड़न तथा अनेक प्रकार के शोषण का शिकार हैं। एक स्वतंत्र और जनतांत्रिक कहे जाने वाले देश में, जहां के संविधान में स्त्रियों की पुरुषों के समान ही नागरिक का दरजा और मताधिकार का अधिकार दिया गया है। परंतु, आधुनिक मूल्यबोंधों में भी पुरानी सामंती व्यवस्था के अवशेष बचे हुए है, जिसके कारण निजी और सार्वजनिक दायरे में स्त्रियां हिंसा की शिकार है। औपनिवेशिक देशकाल में घर-परिवार के अंदर महिलाओं की घरेलू हिंसा के सवाल पर महिलाओं का सपूर्ण जीवन उसके व्यक्तित्व की समग्र अभिव्यक्ति तक ही सीमित कर दिया जा रहा था। जातीय और धार्मिक कुरीतियों के संघर्ष में परिवार के स्त्री-पुरुष असमानता के प्रश्न या घरेलू हिंसा के प्रश्न विमर्श का हिस्सा नहीं बन पा रहे थे। हालांकि कुछ सीमित स्वर उस दौर में उभर ज़रूर रहे थे, जब महिलाओं ने स्वयं अपनी समस्याओं को परिभाषित करना शुरू किया। परंतु, "घर की रानी" अथवा "बेगम" जैसे संबोधन उसे सीमाबद्ध करने का प्रयास भी कर रहे थे।

आजादी के बाद हिंदी पत्रकारिता में इस स्थिति में परिवर्तन तो आया। परंतु, इन बदलावों ने घर-परिवार से जुड़ी उसकी मान्यताओं और परिवार में असमानता को निरस्त नहीं किया। आजादी के दो दशक बाद जब महिला आंदोलनों ने घरेलू हिंसा के कारणों की पड़ताल प्रारंभ किया। तब हिंदी पत्रकारिता में "घरेलू हिंसा" को केंद्रिय विषय बनाने का प्रयास दिखता है। हिंदी पत्रकारिता की भूमिका इसलिए प्रशंसनीय कहीं जा सकती है कि इस दौरान पत्र-पत्रिकाएं और अख़बारों ने परिवार में स्त्री-पुरुष के प्रति किए जाने वाले भेदभावपूर्ण रवैये और पूर्वाग्रह युक्त मानसिकता को खुलकर उजागर किया। पुरानी कुरीतियों, गलत प्रथाओं व महिलाओं का दर्जा गौण बनाने वाले धार्मिक मतों पर भी प्रहार किए गए, जो परिवार के निजी दायरे में घरेलू हिंसा के कारण बनते

है। परंतु, इन सबके साथ पुरानी विचारधारा के लेख भी प्रकाशित हो रहे थे, जो परिवार के मध्य परिर्वतनों पर कटाक्ष करते थे और कहीं-कहीं निंदा भी। इसके साथ-साथ एक तथ्य यह भी है कि परिवार के मध्य हो रहे परिवर्तनों या सामाजिक परिवर्तनों के कारण निजी दायरे में घरेलू हिंसा के नई प्रवृतियों कि पहचान और कारणों की पड़ताल भी हिंदी पत्रकारिता में नहीं के बराबर की।

मसलन, "रविवार" में मधु सिंह की एक कथा प्रकाशित की गई "क्या आप अपनी पत्नी को पीटते है"[278]। लेख के अनुसार यह प्रश्न हमारे देश में किसी भी पति से यह नहीं पूछा जाता क्योंकि यह मानकर चला जाता है कि स्त्री पति की सम्पति होती हैं। लेख बताता है कि पिटने वाली पत्नियां सिर्फ़ गरीब और अशिक्षित परिवारों की ही नहीं होती है। लेख आगे यह लिखता है कि यह सार्वजनिक तौर पर स्वीकार किया जाता है कि परिवार में मर्द ऊंचा, मालिक और प्रभावी होता है और औरत छोटी एंव सतायी जाने योग्य। एक औरत का अस्तित्व मात्र उसके परिवार में ही होता है और यह ज़्यादा अंगीकृत हो चुका है कि परिवार के अंदर यथास्थिति बनाए रखने के लिए हर तरह का सामाजिक दवाब पड़ता है एंव अन्य किसी को भी पारिवारिक मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता है। लेखिका बताती है कि शादी के बाद औरतें मर्द की संपत्ति मानी जाती है क्योंकि आज की सारी संस्थाएं यहां तक विवाह भी पुरुष प्रधान है जिसमें मर्द औरतों का संरक्षण होता है। वे कहती है कि परिवार में स्त्री की शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार की हिंसा का सामना करना पड़ता है। पारिवारिक हिंसा, खासकर इसके अंतिम रूप औरत की पिटाई, के प्रति अक्सर क्रियाशील समूह भी उदासीन रहते है। श्रामिक आंदोलनों में कार्यरत लोगों का यह तर्क होता है कि औरतों की पिटाई का मामला उठाने का मतलब होगा मजदूर औरतों को मजदूर मर्दो के ख़िलाफ़ रखकर उन्हें विभाजित करती है। मधु सिंह बताती है कि सामाजिक स्थिति के कारण मर्द औरत को पीटता है, अत: संघर्ष को व्यापक स्तर पर समाज के ख़िलाफ़ ले जाना चाहिए, न कि पुरुष के ख़िलाफ़। इसपर वो अपनी दूसरे लेख में टिप्पणी करते हुए लिखती हैं कि -

> "अत: जो लोग सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ते हैं, वे भी परिवार में स्त्री की प्रति की जाने वाली हिंसा को अनदेखी करने की दृष्टि बना लेते है।"[279]

[278] रविवार, 23 जनवरी 1982

[279] रविवार, 12 जुलाई 1981

इसीप्रकार, "रविवार" में प्रकाशित एक दूसरे लेख "अपनी-अपनी द्वीप" में मृदला गर्ग परिवार में एक गृहिणी की स्थिति का उल्लेख करते हुए, उसकी भावानात्मक घरेलू हिंसा की चर्चा करती है और लिखती हैं कि-

> "शादी के बाद पाया गृहिणी के अलावा परिवार का हर सदस्य एक द्वीप होता है, जिसे जब पानी में छप-छप करने की इच्छा होती है, तो वह गृहिणी को पुकार लेता है। पर कहीं गृहिणी गलती से खुद अपना टापू सजा ले, तो तूफान आ जाता है। बाकि के तमाम टापू हम-समन्दर होकर उसपर धावा बोल देते हैं। पानी सिर पर से गुजर जाता है और वह लहरों के ज्वार के साथ खिंची चली जाती है।"[280]

लेख परिवार के मध्य महिलाओं की घरेलू हिंसा के कारणों के रूप में आर्थिक कारणों की चर्चा करता है और महिलाओं की कार्यों को उत्पादक कार्य के रूप में देखने के स्थान पर समाज में मौजूद हेय नज़रिये पर भी आघात करता है।

इसीप्रकार, मानुषी में प्रकाशित एक लेख "नशा नहीं, रोज़गार दो" में शराबबंदी को लेकर महिलाओं की विरोध और नशाखोरी के कारण महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा की चर्चा करते हुए लिखती हैं कि -

> "पुरुषों के शराब पीने से औरतों को ही सबसे ज़्यादा नुकसान पहुंचता है। दिन भर के श्रम के बाद शाम को घर में शराबी पति-भाई-पिता की मार खाना महिलाओं की नियति है। इसके विरोध में महिलाओं ने घरेलू दबावों व नाराजगियों के बावजूद इसमें भाग लिया।"[281]

इस तरह के लेख जो निजी क्षेत्र में महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा के कारणों की पड़ताल करते है और उनके मूल कारणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास करते है, यदा-कदा ही प्रकाशित होते दिखते है या कम मात्रा में प्रकाशित होते दिखते है। इसके बरक्स घरेलू हिंसा के कारण परिवार के बिखराव को जोड़ने के लिए संतुलित वाले लेखों का प्रकाशन अधिक दिखता है। जो घरेलू हिंसा के कारण महिलाओं की समस्या को सीमित स्तर पर ही स्थापित करने की कोशिश करते है। हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं की लिए विशेष रूप को व्यंजन बनाने की विधियां बताना या उनके लिए बुनाई-कढ़ाई विशेषांक निकालने की आलोचना या निंदा इस आधार पर नहीं हो सकती है क्योंकि इसको पढ़ने का पाठक वर्ग हिंदी पत्रकारिता के पास है। परंतु, प्रश्न यह उठता है कि यह सामग्री किस अनुपात में प्रकाशित की जा रही है। कई पत्रिकाओं और अख़बारों में महिलाओं की लिए प्रकाशित सामग्री में काफ़ी संतुलन देखने को मिलता है, उनमें महिलाओं की विकास की बात कहने वाले लेख सुबकते हुए नहीं दिखते है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि

---

[280] रविवार, 11 मार्च 1985

[281] मानुषी, अंक 6, 1984, पेज न०- 52-53

आजादी के दो दशक के बाद हिंदी पत्रकारिता में घरेलू हिंसा के संदर्भ में कुरीतियों या हिंसात्मक व्यवहारों पर लेखन हो रहा था। ये सही है कि ये अभिव्यक्ति उस प्रकार से स्थान नहीं पाते थे जैसे अन्य अन्यायों या कुरीतियों के बारे में लिखा जा रहा था। इन बदलावों के कारण घरेलू हिंसा के कारण और प्रभाव सार्वजनिक तौर पर चर्चा के विषय बनने लगे। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आजादी के दो दशक के बाद हिंदी पत्रकारिता स्थापित रूप से प्रतिक्रियावादी होते हुए भी अपनी विशिष्ट रूझान के कारण या महिला संघर्षों/आंदोलनों के दवाब के कारण घरेलू हिंसा के समस्याओं को अभिव्यक्त कर रही थी। परिवार के निजी दायरे में महिलाओं की साथ होने वाले शारीरिक-मानसिक-आर्थिक शोषण होने की सामग्री को पत्र-पत्रिकाओं और अख़बारों में तटस्थ होकर या कह सकते है कि विरक्त भाव से प्रकाशित हो रहे थे। अन्य प्रकाशित समाग्री के समक्ष घरेलू हिंसा का विषय नगण्य हो रहे थे। हालांकि इन प्रकाशित लेखों के मध्य घरेलू हिंसा के विषय पर जो भी अभिव्यक्ति हो रही थी, उसके बारे में मृणाल पांडे लिखती हैं कि -

> "क्या हम सिर्फ़ इसलिए इन क्षेत्रों को पत्रिका में स्थान देने से इऩकार कर दें, कि इन मुद्दों को कई व्यावसायिक पत्रिकाएं या अख़बार स्थान देने से इऩकार कर दें, कि इन मुद्दों को कई व्यावसायिक पत्रिकाएं भौडे तरीके से प्रस्तुत कर रही हैं? क्या इससे बेहतर हल यह न होगा, कि इन मुद्दों को हम अच्छे सुसंस्कृत तरीके से पेश करके इन पर लगा हुआ दाग हटाएं,...."[282]

इन अभिव्यतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आजादी के दो दशक बाद हिंदी पत्रकारिता ने महिला आंदोलनों के दवाब में अपनी पिटी-पिटाई समझौतावादी लीक से हटकर महिलाओं से संबंधित विसंगतियों या अंतविरोधों से आगे निकलते हुए प्रश्नचिन्ह लगाने का पैतरा अपनाना शुरू किया। कभी-कभी व्यंग्य भी किए गए स्थितियों को अनदेखा नहीं किया जा सका या इन स्थितियों को दबाने की कोशिश नहीं हुई। महिला आंदोलनों के द्वारा एक बहुत ही संवेदनशील क्षेत्र, जो पहले बहुत निजी और व्यक्ति के परिवार का निजी मामला था, उसे केंद्र में ला दिया। अब तक परिवार मध्य होने वाले घरेलू तनाव "पति-पत्नी का मामला" या पारिवारिक मामला के रूप में विचारणीय था, जिसको नारीवादियों ने सार्वजनिक विचारणीय मामला बनाया, जिसका असर हिंदी पत्रकारिता के अभिव्यक्ति पर भी पड़ा। परिवार में महिलाओं की साथ होने वाली हिंसा इस आधार पर समर्थित था कि यह आतंरिक मामला है। महिला आंदोलनों के प्रयास से परिवार के निजता का प्रश्न जो वास्तव में एक अखाड़ा बन गया है, विशेषकर पुरुष सदस्यों

[282] रविवार, 12 जुलाई 1985

के लिए जो यहां अपनी सत्ता का प्रयोग करते हैं। इसको हिंदी पत्रकारिता ने अनावृत्त कर दिया, हालांकि इस तरह के प्रयास सीमित दायरे में ही हुए।

वर्ष 1990 के दशक में उदारीकरण के दौर में महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा का सवाल दरअसल उपनिवेश के सवाल से जुड़ा हुआ है क्योंकि नई आर्थिक नीति की गतिशीलता ने पितृसत्ता के व्यवहारों को मजबूती प्रदान की है। इस दशक में घरेलू हिंसा के कारण के रूप में आर्थिक कारणों ने अपनी भूमिका को स्थापित हुई दिखती है। इस दशक से शुरू हुई आर्थिक संकट को नई आर्थिक नीति, उदारीकरण और भूमंडलीकरण की प्रक्रियाओं ने और गहरा किया। इससे दो तरह की स्थिति दिखती है एक, परिवार अपनी स्वाभाविक सामाजिक वातावरण से कट गए, जिससे उसकी रोजी रोटी का स्थायी साधन छूटने लगा। दूसरा, ये परिवार पूरी तरफ़ बाज़ार की अर्थव्यवस्था और उसके उतार-चढ़ाव पर निर्भर हो गए। नई आर्थिक नीति एंव उदारीकरण तथा उपभोक्ता संस्कृति ने जोर पकड़ लिया। उपभोक्ता संस्कृति शहरीकरण के साथ जुडी हुई है। इस संस्कृति से प्रभावित लोग ग्रामीण इलाकों के लोग शहरी संस्कृति या शहरी मूल्यों को शक के निगाहों से देखते है और उसका सबसे अधिक प्रभाव महिलाओं पर पड़ता है। मर्दानगी, सांमती मूल्यबोध का अंतर्विरोध पहले निजी और पारिवारिक स्तर पर हिंसक विधियों से सुलझाने की कोशिश करता है, जब ऐसा नहीं हो पाता है तो फिर बिरादरी या समुदाय के स्तर पर हिंसा होती है। इसतरह की गतिविधियां हर वर्ग, जाति या धार्मिक समुदायों के साथ देखने को मिलता है इसके स्वरूप अलग-अलग तरीके के हो सकते है। जिसके कारण महिलाओं की ख़िलाफ़ घरेलू हिंसा की घटनाओं में मत्रात्मक एंव गुणात्मक तौर पर इज़ाफ़ा देखने को मिलता है। इसने पारिवारिक मूल्यों एंव संबंधों पर आर्थिक तनाव और सामाजिक असुरक्षा ने प्रहार किया। इससे परिवार छितराने लगे और उनमें छीजन के दौर की शुरूआत भी हुई। इस सामाजिक, आर्थिक और मानसिक अवसाद का सीधा असर महिलाओं पर पड़ा। यह नहीं कहा जा सकता है कि घर की संरचना में पुरुष महिलाओं को हेय नज़रिये से देखने लगे। परंतु, आर्थिक परेशानियों के कारण समाज में हाशिये पर चले जाने की कुंठा और निराशा से उसकी भावनाओं के स्त्रोत सूखने लगे। इस स्थिति में घरेलू हिंसा की मात्रा में वृद्धि का संकेत खतरे की घंटी है। निराशाजनक स्थिति यह है कि जिस मात्रा में महिला के साथ घरेलू हिंसा के मामले बढ़ रहे है, सामाजिक मान्यताओं का दवाब के कारण पीड़ित महिलाओं का “मौन” या चुप्पी, उस तक राहत को पहुंचने नहीं देता है। अगर वो कभी अपना मौन तोड़ती भी है या घरेलू हिंसा के अपराध के होने की बात पर संकेत करती है तो महिला के शक्ति और व्यक्तित्व पर होने वाले प्रभाव को मापना मुश्किल है। साथ ही साथ, महिलाओं की संदर्भ में अपनी ऊपर हुए घरेलू हिंसा की शिकायत करने के बाद अपनी ही घर-परिवार में लौटना उनके लिए कठिन हो जाता है। इसके साथ-साथ घरेलू हिंसा के

संदर्भ में महिलाओं की संवैधानिक अधिकार भी स्पष्ट नहीं है जिसके कारण पीड़िता तक पहुंचने वाला न्याय रास्ते में ही कहीं खो जाता है।

इस देशकाल में हिंदी पत्रकारिता में घरेलू हिंसा की ख़बरें उस वक्त ही अभिव्यक्त होती हुई दिखती है जब यह सवाल राजनीतिक रूप से बहस के लिए स्थापित होती है या कोई घरेलू हिंसा का कोई मामला कहीं घटित होता है और वह घटना मध्यवर्गीय समाज को झकझोर देता है। मसलन, किरणजीत अहूलवालिया का मामला[283], नैना साहनी तंडूर कांड[284] जिसने मध्यवर्गीय मानवीय चेतना को हिला दिया और घरेलू हिंसा और महिलाओं की मानवाधिकार पर बहसें तेज़ हुई। कुछ लेख परिवार में मध्य महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा के स्थितियों का जायजा लेते हुए दिखते है। परिवार के पवित्रता का विचार महिलाओं की समानता और मानवाधिकार को किस प्रकार खंडित करता है, इसका मूल्यांकन कुछ लेखों में अभिव्यक्त होता हुआ दिखता है। मसलन, नमिता सिंह "दैनिक जागरण" में प्रकाशित अपनी लेख "बीबी होने के जख्म" में लिखती हैं कि -

> "समान्य रूप से जीवन बिता ले जाना...औरत जात के लिए असंभव नहीं तो मुश्किल ज़रूर है। क़दम-क़दम पर बाधाएं..बाधा दौड़ में ही बीत जाती है ज़िंदगी। परिवार में असमानता ही घरेलू हिंसा का कारण है। दो-दो साल की बच्ची से लेकर प्रौढ़ा तक। पिता, भाई, पति और पुरुष संबंधियों द्वारा घरेलू हिंसा की शिकार वो बनती हैं। घर के इज्जत के सवाल पर वो कुछ कह नहीं पाती है और यही मानसिकता उसे घरलू हिंसा का शिकार बनाती है। एक मौजू सवाल यह है कि ऐसी मानसिकता दिनोंदिन क्यों बढ़ रही है? क्यों निरंतर, पाश्विक प्रवृत्ति के किस्से बढ़ते ही जा रहे है। बाहर के दुश्मन से तो आप सावधान हो सकते है पर घर के भीतर छुपे दुश्मन का सामना कैसे हो?"[285]

लेख में नमिता सिंह परिवार के दायरे में महिलाओं की साथ होने वाले हिंसा के प्रवृत्तियों पर विस्तार से चर्चा करती है। लेख घरेलू हिंसा के संवेदनशील होने और इससे प्रभावित होने वाली महिलाओं की स्थिति को अभिव्यक्त करता है। परंतु, निजता के दायरे में कैद घरेलू हिंसा का सवाल या परिवार का मसला, जो मौन रहने के कारण अनावृत नहीं हो पाता। उससे संघर्ष के सवाल पर लेख चुप्पी साध लेता है।

---

[283] 1989 में किरणजीत अहलूवालियां ने अपने पति दीपक के ऊपर कास्टिक सोडा और पेट्रोल का मिक्स्चर डालकर आग लगा दी। दीपक किरण को काफी टार्चर करता था, 10 साल तक किरण ने सब बर्दास्त किया। इस घटना के बाद लंदन में रहने वाली भारतीय मूल की किरण को उम्रकैद की सजा सुनाई गई। बाद में हालात पर ग़ौर करने के बाद किरण को रिहा कर दिया गया।

[284] नैना साहनी तंदूर हत्याकांद की शिकार हुई थी। उनकी हत्या पति सुशील शर्मा ने 2 जुलाई 1995 को की थी। सुशील शर्मा ने गुस्से में आकर नैना साहनी की हत्या गोली मारकर की और बाद में कई टुकड़ों में काटकर तंदूर में झोंक दिए। इसलिए इसे तंदूर कांड कहा जाता है।

[285] 2 सितंबर 2005, दैनिक जागरण

इसीप्रकार, मैत्रीय पुष्पा "दैनिक जागरण" में प्रकाशित लेख "सोना और होना अपनी दुश्मन के साथ" में लिखती हैं कि -

> "घरेलू हिंसा के कारण घर जो महिलाओं की लिए सुरक्षित निजी क्षेत्र था वह घेरे में बदल गया है। जहां घरेलू हिंसा पुरुषों द्वारा कुछ बिगड़ी महिलाओं को सुधारने का पुरुषों का उधम ही है। बिगड़ी हुई औरतों का मतलब स्वतंत्रता चाहती औरतें। घरेलू हिंसा पुरुष सत्ता द्वारा स्त्री अस्मिता पर लिखी जा रही हिंसा की इबारतें है जिसके ककहरे में घर के रिश्तों का वर्चस्व ही बोल रहा है। जो चुप रहने वाली औरत है वो अच्छी औरत है नहीं तो पिता, पति और भाई के साथ रहते हुए भी औरत अपनी घर में सुरक्षित नहीं है।"[286]

लेख में घर-परिवार में महिलाओं की घरेलू हिंसा के प्रवृत्तियों का मूल्यांकन मिलता है। तमाम तरह के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बदलाव के बाद भी पुरुष सत्ता द्वारा स्त्री अस्मिता को चुनौती में कोई बदलाव देखने को नहीं मिलता है। लेख महिलाओं की घरेलू हिंसा के सांस्कृतिक कारणों के मूल्यांकन में सांस्कृतिक अवरोधों पर कोई चिंतन नहीं करता। क्यों अंतरजातीय और अंत:जातीय विवाह तमाम बदलते मूल्यबोधों के बाद भी महिलाओं की घरेलू हिंसा का कारण बनता है। लेख इसपर कोई बहस नहीं करता है।

इसीप्रकार, मृणाल पांडे "हिंदुस्तान" में प्रकाशित अपनी लेख "घरेलू हिंसा, यानी जबरा मारे भी और रोने भी न दें।" में बताती हैं कि -

> "विवाह के बाद घर की चारदीवारी के भीतर का पारंपरिक संसार एक ऐसा संसार है, जिसमें विवाहिता को अपनी पूर्व अस्मिता खोकर रहना होता है। सार्वजनिक अपमान की ठोस घटनाओं और कटु-कर्कश सचाइयों से भरे ऐसे परिवारों के उत्पीड़न से, बिना अपनी अस्मिता छोड़े, निबटने की ताकत घरेलू हिंसा निषेधी कानून अब पहली बार औरतों को थमा रहा है। इसका महत्व यह है कि वह औरतों को घरेलू हिंसा के ख़िलाफ़ आत्महत्या या पलायन का रास्ता के बजाये अपनी मानवाधिकारों की पहचान और हिंसा को कानूनी चुनौती देना सिखाता है। स्त्री-अधिकारों का समर्थन आज हमारे सभी राजनीतिक दलों के मैनोफैस्टों की शान बढ़ा रहा है। इस महौल में मौजूदा विधेयक महिलाओं की मानवाधिकार केतरफ़ एक बड़ा क़दम है। परंतु, यह कितना कामयाब हो पायेगा इसके लिए हमें सामाजिक जिम्मेदारी लेनी होगी।"[287]

लेख में मृणाल पांडे, चर्चा करती है कि परिवार के भीतर औरतें शक्ति की असमानता से दो स्तरों पर साक्षात्कार करती हैं। एक स्तर वह है, जहां वे अबला स्त्रियां होती हैं। दूसरा स्तर वह है, जहां परिवार के कमासुत बेटों की मां होने के नाते कुछ औरतें बांझ या पुत्रहीन स्त्रियों से खुद को अधिक शक्तिशाली महसूस करती है।

---

[286] 25 सितंबर 2005, दैनिक जागरण

[287] 3 दिसंबर 2006, हिंदुस्तान

इसीतरह, "दैनिक जागरण" के इस परिशिष्ट में निर्मला पुतुल आदिवासी महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा के कारणों की पड़ताल करते हुए लिखती हैं कि -

> "नागरिक समाज जिसकी नई शक्ल बाज़ार ने तैयार की है उसका प्रभाव आदिवासी समाज पर पड़ा है। वह भी कथित समाज के तरह रोज़ शराब पीकर आता है और पत्नी के पीठ पर अपनी जीत के नीले और सूजन वाले निशान छोड़ जाता है। आदिवासी समाज में घरेलू हिंसा अंधविश्वासों और जड़ मान्यताओं की टोटके वाली टक्साल में ढ़ल जाते हैं। यदि किसी विधवा की जमीन हड़पनी हो या घर समाज में किसी महिला की कमजोरी का लाभ उठाना हो तो उसे डायन प्रचारित कर दिया जाता है। इसी तरह इस समाज में औरतों के लिए कई तरह की मनाहियां है जिन्हें रीति-रिवाज और आदिम विश्वास संहिताबद्ध करते है जिससे आदिवासी महिलाओं का घरेलू शोषण बढ़ जाता है।"[288]

हिंदी पत्रकारिता में घरेलू हिंसा के विषय पर अभिव्यक्ति में बहुपक्षीय नज़रिये का अभाव दिखता है। क्योंकि परिवार के निजी दायरे में घरेलू हिंसा का स्वरूप एक ही तरह का नहीं है। घर के दायरे में वैवाहिक संबंधों की दुनिया महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा का पेचीदा, परंतु एकमात्र पहलू नहीं है। पुरुष की सेक्शुसलिटी और स्त्री पर ढाई जाने वाली हिंसा का भी आपस में गहरा संबंध है। इसके साथ-साथ अंतरजातीय विवाहों के संदर्भ में ही नहीं, अंत:जाति विवाहों के संबंध में भी इज्जत और हिंसा का मिला-जुला खेल भी घरेलू हिंसा का आधार बनता है। वैवाहिक पाबंदिया और सगे-संबंधियों द्वारा भी घरेलू हिंसा अपना विस्तार पाती है। वर्ग, जाति और धर्म के आधार पर श्रेणिबद्धता भी घरेलू हिंसा को गतिशीलिता प्रदान करते है। हिंदी पत्रकारिता सामाजिक संरचना के इन सच्चाई के आधार परिवार के मध्य घरेलू हिंसा के मूल्यांकन में चूक जाता है। इस आधार पर हिंदी पत्रकारिता को कटघरे में रखा जा सकता है क्योंकि महिलाओं की विरुद्ध सार्वजनिक हिंसा के प्रश्न पर हिंदी के अख़बार कई बार स्वयं को महत्वपूर्ण भूमिका में रखते रहे है। परंतु, परिवार और विवाह संस्था में घरेलू हिंसा के प्रश्न पर संस्थाओं की पवित्रता को खतरे में नहीं डालने चाहते है। फिर यह सवाल महत्वपूर्ण हो जाता है कि विवाह और परिवार संस्था की पवित्रता की छवि को किसने खंडित किया? अगर इसके जिम्मेदार पिता, पुत्र और पति है जिसके कारण किसी भी छत के नीचे स्त्री सुरक्षित महसूस नहीं कर पा रही है, तो फिर हिंदी पत्रकारिता में चुप्पी क्यों है? पंडित जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में -

> "हम हर भारतीय महिलाओं से सीता होने की अपेक्षा करते है, मगर पुरुषों से मर्यादा पुरुषोतम राम नहीं।"[289]

---

[288] 25 सितंबर 2005,दैनिक जागरण

[289] राजकिशोर, हिंसा की सभ्यता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2002, पेज न०- 57

इस स्थिति में घरेलू हिंसा से उत्पन्न हुए शीलन को कैसे समाप्त किया जा सकेगा? यह एक मौजू सवाल है। हालांकि घरेलू हिंसा के विषय पर परिवार के अत्याचार और शोषण को नियंत्रित करने लिए घरेलू हिंसा अधिनियम के माध्यम से महिलाओं को संरक्षण प्रदान करने की कोशिश की गई है।

परंतु, घरेलू हिंसा का मुद्दा पीड़िता के "मौन" से भी जुड़ा हुआ। पीड़िता नजदीकी रिश्तेदारों द्वारा बलात्कार, दहेज उत्पीड़न, यौन शोषण सभी को चुपचाप सहती है, बिना इस मांग के कि दोषी को सजा मिले। कई सामाजिक परिस्थियां भी, जैसे परिवार के इज्जत खोना, बदनामी होना महिलाओं को "मौन" रहने को विवश करती है। इसके लिए महिलाओं को शिक्षित और आत्मनिर्भर होने की भी ज़रूरत है जिससे कि महिलाएं अपनी अधिकारों के लिए परिवार के लोगों और पति से संघर्ष कर सकें। घरेलू हिंसा विधेयक वर्ष 2005 विभिन्न शीर्षकों में बांटकर यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि महिलाएं कितने प्रकार से आहत हो सकती है? मौजूदा विधेयक काफ़ी विरोधाभासी है जिसकी अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलता है। मसलन, क्षमा शर्मा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख "कब रूकेगी घरेलू हिंसा" में लिखती हैं कि -

> "जिन दिनों हमारे यहां घरेलू हिंसा संबंधी विधेयक पर बहस चल रही हैं उन्हीं दिनों दुबई की सर्वोच्च अदालत ने फैसला दिया है कि पति अनुशासित करने के लिए अपनी पत्नी को पीट सकता है लेकिन यह पिटाई ऐसी न हो कि गहरी चोट लग जाये। चोट लगने की स्थिति में पत्नी पति से तलाक मांग सकती है। इससे यह तो सिद्ध होता है कि पूरी दुनिया में पत्नियों के पीटने की घटनाएं आम है। घरेलू हिंसा बिल 2001 में जिन प्रमुख बातों पर आपत्तियां है वो अधिक महत्वपूर्ण है। मुख्य आपत्तियों में यही बातें शामिल हैं कि आदतन (हैबीच्युअल) और नारकीय (मिजरेबल) को सब अपनी तरह से परिभाषित कर सकते हैं। हिंसा को हैबीच्युअल कहकर हिंसा करने वाले का बचाव करना और उसे वैधता प्रदान है। स्त्री को काबू करने का अचूक नुस्खा उसे शारीरिक रूप से दंडित करना ही है जिसे कुछ वर्ष पहले तक प्राय: हमारे संचार माध्यमों द्वारा वैधता मिलती रही है। जिसको समुदायिक नियम-क़ायदों ने पहले से वैधता दी हुई है।"[290]

लेख में घरेलू हिंसा में महिलाओं की "मौन" की चर्चा करते हुए मौजूदा विधेयक कि विसंगतियों पर चर्चा करता है और बताता है कि घरेलू हिंसा की घटनाएं घरेलू कहकर रफा-दफा कर दिया जाता है। यदि घरेलू हिंसा के मामलों में संवेदनशीलता लानी है तो महिलाओं की अंदर

[290] 18 अप्रैल 2002, हिंदुस्तान

आत्मविश्वास की भावना को मजबूत करनी होगी क्योंकि जिस दिन वह आत्मविश्वास पाएगी उसदिन हर बेड़ी को फेंक देगी और तभी इन विधेयकों का औचित्य सिद्द होगा।

इसीतरह, पूर्णिमा सिंह "हिंदुस्तान" में प्रकाशित लेख "घरेलू हिंसा और कानून" में लिखती हैं कि -

> "घरेलू हिंसा शब्द से किसी प्रकार के लिंग का बोध नहीं होता है पर व्यवहार में देखा यही गया है कि यह पूर्णत: एकपक्षीय और मुख्यत: पुरुषों द्वारा महिलाओं की प्रति की गई हिंसा या प्रताड़ना ही होती है। महिला संस्थाओं की यह मांग रही है कि घरेलू हिंसा संबंधी कानून दीवानी होना चाहिए क्योंकि अभी जो फौजदारी कानून हैं वे पूर्णत: अप्रभावित तो हैं ही, साथ ही वे महिलाओं की आवश्यकता के अनुरूप नहीं है। मौजूदा जिस बिल पर बहस हो रही है वह काफ़ी स्पष्ट नहीं है इसमें घरेलू हिंसा की परिभाषा ही नहीं वरन बिल किन लोगों पर लागू होता है, इसका लाभ किसे मिलेगा, हिंसक किसे माना जायेगा तथा घरेलू हिंसा से प्रताड़ित व्यक्ति को क्या राहत मिलेगी, कोई भी बार साफ-साफ नहीं बतलाई गई है। इस बिल में घरेलू हिंसा को ऐसा कार्य बतलाया गया है जो किसी व्यक्ति द्वारा प्रताड़ित व्यक्ति के प्रति आदतन किया जाता है और जिसमें प्रताड़ित व्यक्ति का जीना दूभर हो जाता है। मुख्य आपत्ति इस बिल में प्रयुक्त आदतन शब्द को लेकर है और बिल को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि कई चीजें स्पष्ट हो।"[291]

लेख में घरेलू हिंसा कानून की कई कमियों के तरफ़ इशारा करते हुए बताता है कि मौजूदा बिल महिलाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है? इसके साथ-साथ बिल में समझौते पर अधिक जोर है इसका अर्थ क्या है कि प्रताड़ित स्त्री को उसकी अपनी नियति यानी प्रताड़ित होते रहने की स्थिति को स्वीकार कर और अधिक प्रताड़ित होते रहने के लिए कहा जा रहा है? समझौते की बात अच्छी है, पर यह स्वैच्छिक होना चाहिए न कि कानून के बंदिश के तहत।

इसीप्रकार, दैनिक जागरण के कसौटी परिशिष्ट घरेलू हिंसा पर विधेयक पर परिचर्चा में मणिमाला अपनी लेख "खुद पर उठे हाथ मोड़ दे" में लिखती हैं कि -

> "संसद में परित विधेयक की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि घरेलू हिंसा की कोई ठोस व स्पष्ट परिभाषा नहीं की गई है। काफ़ी हद तक इसे न्यायधीशों पर छोड़ दिया गया है कि वे घरेलू हिंसा को कैसे परिभाषित करते हैं। यह पीड़ित के हाथों में बहुत ही कम ताकत देता है और न्यायाधीशों के अधिकार क्षेत्र को ज़्यादा फैलाव। दरअसल, अपनी आप में इस कानून में कोई नयापन या पैनापन नहीं है यह एक आधी-अधूरी कोशिश के तरह है। वैसे स्त्री हिंसा तभी रूकेगी जब खुद घर उठने वाले हाथ को पूरी ताकत से पकड़ कर कोई औरत दूसरी ओर कर दें।"[292]

---

[291] 6 अप्रैल 2003, हिंदुस्तान

[292] 25 सिंतबर 2005, दैनिक जागरण

लेख में मणिमाला, मौजूदा कानून के दुहराव के बारे में चर्चा करती है कि इन विधेयक को समग्रता लाने की कोशिश की गयी है। अब तक के कानून में पति के द्वारा की गयी हिंसा का तो जिक्र था, लेकिन सास, ननद, ससुर आदि द्वारा की गयी हिंसा का कोई जिक्र नहीं था, साथ ही घरेलू हिंसा झेलने वाली महिलाओं की लिए आवासीय समस्या का जिक्र नहीं था। परंतु, घरेलू हिंसा को परिभाषित नहीं किए जाने के कारण विधेयक अपना मूल मकसद से दूर छिटका हुआ दिखता है। दैनिक जागरण के इसी परिशिष्ट के परिचर्चा में नूतन अपनी लेख "उम्मीद की नई किरण" में लिखती हैं कि -

> "इस पुरुषवादी समाज में औरतों के साथ घर और बाहर हिंसात्मक आचरण कोई नयी बात नहीं है। पहले यह ढंका-छुपा था, अब इसपर बात चीत और विरोध होने लगा है। पारिवारिक हिंसा के मामलों में पुलिस हस्तक्षेप करने से झिझकती है। पुलिस हस्तक्षेप करती भी है तो उसका रवैया बहुत ठंडा और कठोर होता है। इसका एक कारण यह भी है पुलिस औरतों को पीड़ित-शोषित का दर्जा देने से इऩकार करती है। घरेलू उत्पीड़न की शिकार औरत को रिपोर्ट न लिखवाने की सलाह दी जाती है। इस स्थिति में हमें दुआ करना चाहिए कि महिलाओं को घरेलू हिंसा से बचाने वाला यह विधेयक महिलाओं को घरेलू हिंसा से बचाने में मददगार साबित होगा।"[293]

लेख में नूतन बताती है कि घरेलू हिंसा के ज़्यादातर मामलों में दोषी, पुरुष मुख्यत: पिता, पति या अन्य कोई नजदीकी रिश्तेदार या पुरुषवादी श्रेष्ठ मानसिकता होती है और हर मामलों में घर, परिवार और रिश्तों की दुहाई देकर पीड़ित को चुप रहने के लिए विवश कर दिया जाता है, खासकर यौन उत्पीड़न के मामलों में। इसमें पति द्वारा जबरन शारीरिक संबंध की तो कभी चर्चा ही नहीं होती है। इन परिस्थितियों में मौजूदा विधेयक उम्मीद के किरण के तरह है, परंतु यह कितना कारगर होगा, ये यक्ष प्रश्न के तरह है? सुषमा वर्मा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख "घरेलू हिंसा के दंश से मिल पाएगी मुक्ति" में लिखती हैं कि-

> "देर से सही, महिलाओं को घरेलू हिंसा से संरक्षण देने वाला कानून अंतत: अमल में आ गया। इस कानून को बनवाने के लिए महिला संगठनों ने बरसों संघर्ष किया, लेकिन वास्तविक सफलता तो कानून को ठीक से लागू करवाने के बाद ही मिलेगी। यह आशंका भी व्यक्त की जा रही है कि यह कानून भी कागजी शेर बनकर रह जायेगा। एक साकारात्मक पहलू पर नाकारात्मक नज़रिया अपनाया जा रहा है जो पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता का प्रमाण है। हां, यह सत्य है कि केवल कानून बनाने मात्र से महिलाओं को घरेलू हिंसा से मुक्ति नहीं मिल

[293] 25 सिंतबर 2005,दैनिक जागरण

> सकती। इन कानूनों के साथ-साथ स्त्री-पुरुष एंव स्त्री-स्त्री की मध्य भी संबंधो के प्रति जागरूक बनाना जरूरी है"[294]

लेख में सुषमा वर्मा चर्चा करती है कि इस कानून के अमल में आते ही विरोध के स्वर भी सुनाई पड़ने लगे है। कोई इसे पूरी तरह एकतरफा और पुरुष विरोधी बता रहा है तो कोई दहेज निषेध कानून से भी कर्कश करार देकर इसके दुरुपयोग की आशंका जता रहा है। इसे घर-परिवार तोड़ने का औजार भी बताया जा रहा है। जो घरेलू हिंसा कानून के प्रति समाज के एक पक्षीय नज़रिये को सतह पर ला रहा है। इससे यह आंशका उठती है कि कानून परित होने के बाद भी क्या घर-परिवार में महिलाओं पर रौब गांठने वाले पुरुषों की अक्ल पर पड़े जाले झड़ जाएंगे या नहीं?

इसीप्रकार, घरेलू हिंसा कानून और उसे लागू होने के विसंगतियों पर प्रीति सिन्हा, "दैनिक जागरण" के कसौटी परिशिष्ट में "कानून नहीं समाधान" में बताती हैं कि -

> "महिला अधिकारों के संघर्ष के दौरान पुलिस व्यवस्था और न्यायपालिका के महिलाओं की अनुभव काफ़ी सुखद नहीं रहे हैं। कई अनुभव तो यह भी बताते है कि न्याय-तंत्र महिलाओं की हिंसा को सही ठहराते है। तो फिर महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा के समस्या से निपटने के लिए पुलिस और अदालती नौकरशाही को ही न्याय करने का अधिकार कैसे दिया जा सकता है? कानून के साथ-साथ इस समस्या से निपटने के लिए घरेलू हिंसा रोकने के लिए घर समाज पर हावी सामंती वर्चस्व और बंधनों पर प्रहार करना होगा। घरेलू हिंसा तभी रूक सकती है जब घर सत्ता और विषमता नहीं, बल्कि प्रेम बराबरी और आजादी की बुनियाद पर बन सके। यह व्यापक सामाजिक सांस्कृतिक बदलाव से जुड़ा हुआ मसला है।"[295]

लेख चर्चा करते हुए लिखता है कि जिस समाज का चरित्र महिलाओं की विषय पर पूर्वाग्रही है उस समाज के संस्थाओं से घरेलू हिंसा के संबंध में न्याय की उम्मीद करना दूर की कौड़ी लाने के बराबर है। इसके पूर्व के कई कानूनों के असफलता के पीछे भी पूर्वाग्रही मानसिकता मुख्य रूप से जिम्मेदार रही है। इस यथास्थिति में कानून हर समस्या का समाधान कैसे हो सकती है?

हालांकि कुछ लेख घरेलू हिंसा के संदर्भ में कानून के मूल्यांकन पर भी जोर देते दिखते है। अंजलि सिंन्हा "हिंदुस्तान" में प्रकाशित अपनी "घरेलू हिंसा कानून के मूल्यांकन पर जोर क्यों"में लिखती हैं कि-

> "मौजूदा समय में घरेलू हिंसा कानून का देश के न्यायिक प्रणाली पर असर पडा है। इस कानून के तहत देशभर में दर्ज मुक़दमों का पता लगाया जा सकता है कि अब तक मौजूद कानून से महिलाओं की मानवाधिकार किस हद तक सुरक्षित है। पारिवारिक मामलों में न्यायालय के

[294] 30 अक्टूबर 2006, हिंदुस्तान

[295] 25 सितंबर 2005, हिंदुस्तान

> दखल की ज़रूरत इस बात का संकेत कर रहे हैं कि परिवार के मध्य सब कुछ ठीक नहीं है। इस बात के भी संकेत मिलते है कि निजी अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ रही है। इन बदलते हालात में न्यायायिक संस्थाओं को अपना मूल्यांकन करने की ज़रूरत है कि कैसे गतिशील,सक्षम और विस्तारित हों और वहां जवाबदेही भी निश्चित हो।""[296]

लेख में अंजलि सिन्हा बताती है कि देश में घरेलू हिंसा के संदर्भ में अभी बहुत कुछ करना शेष है। यह कई मामलों में देखा जा रहा है कि सारे पारिवारिक अन्तर्विरोध या हिंसा का मुद्दा लोग दहेज कानून के माध्यम से ही हल करना चाहते है, जो बाद में दहेज मामला नहीं होने पर खारिज हो जाते है। घरेलू हिंसा के संदर्भ में यह समझना भी जरूरी है कि यह केवल ससुराल में होने वाली हिंसा नहीं है लड़किया मां-बाप द्वारा जबर्दस्ती शादी करने में भी घरेलू हिंसा करते है। परिवार के दायरे में इस कानून को अधिक व्यापक बनाने की ज़रूरत है।

हिंदी पत्रकारिता में घरेलू हिंसा को रोकने के संबंध में कानूनों के लागू होने में और कार्य नहीं करने के विरोधाभास पर लेखों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। इस तरह की स्थितियों का मूल्यांकन भी होते हुए दिखती है जो घरेलू हिंसा के संदर्भ में महिलाओं की न्याय के अवधारणा को तार-तार करते हैं। परंतु, कहीं न कहीं ये महिलाओं की न्याय या अधिकार को पाने के चुनौती के वास्तविक स्थिति को भी अभिव्यक्त करती है क्योंकि किसी भी परिस्थितियों में महिलाओं की न्याय पाना वह रंगभूमि है जहां उसके हार को निश्चित करने के लिए तमाम सामाजिक संस्थाएं पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है। कमोबेश लेखों में कानून और न्यायव्यवस्था के लूप-पोल्स के तरफ़ इशारा करती है जिसके कारण महिलाएं न्याय पाने से दूर रहती है।

इस बात से इऩकार नहीं किया जा सकता है कि हिंदी पत्रकारिता ने महिलाओं की घरेलू हिंसा के खबरों को अभिव्यक्त नहीं किया। हिंदी पत्रकारिता ने ऐसा महौल अवश्य तैयार किया कि किसी भी परिवार विशेष तक सीमित घटनाएं सामाजिक सरोकार का विषय बनी सकी और घरेलू हिंसा परिवार के निजी दायरे से निकल कर सार्वजनिक बहस का हिस्सा बन गई। जिससे यह तथ्य स्थापित हो सका कि घर जिसे अब तक महिलाओं की सुरक्षा का सबसे बड़ा बचाव माना जाता रहा हैं महिलाओं की बड़े प्रताड़ना का क्षेत्र हैं, उनके पारंपरिक रक्षक ही उनके भक्षक के रूप में मौजूद है। हिंदी पत्रकारिता ने इस तथ्य के तरफ़ भी ध्यान नहीं दिया है कि धर्मांध आतंकवाद तथा सामाजिक हिंसा भी घरेलू हिंसा को प्रभावित करते है, सार्वजनिक हिंसा को दबाने के लिए भेजे गए सैनिक तथा अर्द्ध सैनिक बलों से लेकर आतंकियों तथा सांप्रदायिक ताकतों तक, सबकी

---

[296] 6 फरवरी 2008, हिंदुस्तान

हिंसा का शिकार महिलाएं होती रही हैं और उनको सुरक्षा देने के लिए बने घर और समाज दोनों के सुरक्षा कवच बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो चुके है। सरकार तथा समाज दोनों में इसपर चर्चा कम स्वीकार्य है, दोनों की कमोबेश यही राह है कि महिलाओं को यथासंभव घर के भीतर रहें, यही महिलाओं की लिए सुरक्षित स्थान है। परंतु, राज्य और सामाजिक संस्थाओं के पूर्वाग्रही चरित्र पर हिंदी पत्रकारिता ने जमकर प्रश्न चिन्ह लगाने में संकोच करती है, या इस सवाल को उठाने का प्रयास नहीं करती है। इसके साथ-साथ हिंदी पत्रकारिता ने परिवार के पवित्रता, नैतिकता, मर्यादा और आदर्श भारतीय नारी की छवि को बनाने का काम भी साथ-साथ ही किया। जिसके बदलते परिवेश में बदलती हुई महिलाओं की नई छवि को बनने ही नहीं दिया। परिवार के मध्य महिलाओं की छवि अच्छी बेटी, बहन, मां, पत्नी और आदर्श बहू के दायरे में ही कैद होकर रह गई, जो तमाम त्याग करके परिवार को सहेजती है। इस तरह की अभिव्यक्तियों ने परिवार के निजी दायरे में स्त्री-पुरुष और स्त्री-स्त्री की मध्य घरेलू हिंसा के प्रश्न को नोटिस ही नहीं होने दिया। परिवार में स्त्री-स्त्री और स्त्री-पुरुष के सामने सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक हायार्की किस प्रकार घरेलू हिंसा को संचालित करती है।

हिंदी पत्रकारिता ने अपनी अभिव्यक्ति में व्यक्त करने का प्रयास नहीं दिखता है। इन अभिव्यक्तियों में यह तथ्य भी कई बार स्पष्ट दिखता है कि हिंदी पत्रकारिता मध्यवर्गीय परिवार के घरेलू हिंसा को अधिक अभिव्यक्त करता है। इन अभिव्यक्तियों में घरेलू हिंसा का बहुपक्षीय पक्ष का मूल्यांकन बहुत कम देखने को मिलता है। इसके साथ-साथ घरेलू हिंसा की समस्या एक वर्गीय समाज की समस्या नहीं है, इससे हर वर्गीय समाज की महिलाएं प्रभावित हो रही है। फिर हिंदी पत्रकारिता इसे केवल एक वर्ग तक ही सीमित करने का प्रयास क्यों करता है? इन यथास्थिति के परिपेक्ष्य में घरेलू हिंसा के संदर्भ में हिंदी पत्रकारिता के धनात्मक कार्य या प्रयास छुप जाते है और वह यथास्थिति के समीप खड़ा हुआ दिखता है। हिंदी पत्रकारिता ने घर-परिवार के कोने-कोने में बसे लिंग-आधारित भेदभाव पर उंगली रखने का प्रयास ज़रूर किया। परंतु, महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा की स्थिति को समानता और संमग्रता के साथ देखने की कोशिश नहीं की। महिला आंदोलन ने पितृसत्तात्मक समाज में वर्ग और समुदाय के भेद भुलाकर घरेलू हिंसा के प्रश्न को महिलाओं की असमानता की स्थिति के साथ जोड़ा। हिंदी पत्रकारिता ने घरेलू हिंसा को असमानता के संदर्भ में देखने की कोशिश उसकी अभिव्यक्ति में नहीं देखने को मिलती है, जो मीडिया के लोकतांत्रिक होने के दावे को कटघरे खडा करता है।

3.4 दहेज और हिंसा

भारतीय समाज में महिलाओं को संपत्ति में कोई हिस्सेदारी ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में देखने को नहीं मिलती है। यह स्थिति हर जाति, धर्म और वर्ग आधारित समाज में अगल-अलग तरह की हो सकती है। किंतु, विवाह के समय मिले उपहारों पर स्त्रियों का स्वामित्व माना जाता रहा है, जिसे स्त्री धन कहा जाता है(यह वह अवधारणा है जिस धन पर स्वामित्व और नियंत्रण महिलाओं की पास होता है)। रेखा कस्तवार लिखती हैं कि -

> "संपत्ति के अधिकार स्त्री को पूर्वानुसार स्त्रीधन सिर्फ़ स्नेहपूर्ण दी गई भेंटों को माना गया।"[297]

परंतु, आदर्श स्थिति में इस धन पर महिलाओं का कोई स्वामित्व और नियंत्रण नहीं होता है, क्योंकि इस अधिकार से स्त्री और पुरुष के बीच सामाजिक हैसियत संपत्ति पर उसके अधिकार से अधिक प्रखर हो सकती है। भारती एस. कुमार लिखती हैं कि -

> "मध्यकालीन ऐतिहासिक साक्ष्य इसकी पुष्टि करते है कि दहेज विवाह की गैर कानूनी, नाजायेज, घृणित परंतु, अनिवार्य शर्त है जिसे न तो स्त्री-धन न ही स्त्री की संपत्ति में अधिकार की समझ में रखा जा सकता है। बल्कि यह तो वह धन है जिनपर लड़के वालों की कई चाहतों का दारोमदार टिका रहता है।"[298]

हालांकि "स्त्री धन" पर एक नज़रिया यह भी है कि विवाह के समय स्त्रियों की उपहार स्वरूप मिलने वाला धन जो आपात स्थिति में उस स्त्री की लिए जीवन सुरक्षा का साधन बन सकता था। कई परिस्थितियों में यह महिलाओं की लिए उपयोगी बन जाता है| परंतु, इस संपत्ति पर महिलाओं की पति का अंकुश होता है। संपत्ति प्राप्त करने की आसान एंव अदम्य लालसा के कारण "दहेज" के रूप में उभर कर सामने आई। जो विवाह को समानता के धरातल पर होने वाला संबंध बनने नहीं देता है। परिणामत: स्त्री उत्पीड़न दहेज हत्या के रूप में सामने आता है। भारत में स्त्री धन या दहेज का पारिवारिक झगड़ा लगभग सभी जातियों, वर्गों, धर्मो एंव समुदायों में देखने को मिलता है जिसकी पहचान नारीवादी आंदोलन पत्नी उत्पीड़न या महिला उत्पीडन के कारण के रूप करती है या यह महिला उत्पीड़न या शोषण पर्याय बना हुआ है।

औपनिवेशिक देशकाल में दहेज को महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के निर्मम स्वरूप के रूप में पहले भी पहचाना गया था। परंतु, इसका समाधन समाज सुधारकों ने मानवतावादी या सुधारवदी तरीकों से तलाश करने की कोशिश की और सामाजिक चेतना को इसके विरुद्ध स्थापित करने का प्रयास

---

[297] रेखा कस्तवार, स्त्री चितंन की चुनौतियां, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2013, पेज न०- 68

[298] वी.एन.सिह और जनमेजय सिंह, आधुनिकता एंव महिला सशक्तिकरण, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2010,पेज न०- 247

अधिक रहा। जिसके कारण दहेज समस्या से जुड़े अन्य कई सवाल राजनीतिक सवाल के रूप में स्थापित नहीं हो सके। न ही महिलाओं की पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी का प्रश्न को गंभीरता से सोचा गया।

आजाद भारत में एक तथाकथित लंबी चुप्पी के बाद गतिविधियों में एक नया जागरण आया और जिस मुद्दे पर खास ध्यान केंद्रित हुआ वह था 'हिंसा'। इसी अवधि में घरेलू हिंसा जो अब तक निजी मामला माना जाता था, सार्वजनिक रूप से विमर्श के रूप में सतह पर उभर कर सामने आया। राधा कुमार बताती हैं कि -

> "भारत में पारिवारिक झगड़ा लगभग सभी जातियों, वर्गो, धर्मो एंव समुदायों में सामान्य बात है। वास्तविकता यह है कि दहेज की शर्त पत्नी उत्पीड़न का पर्याय बन गया। यह इतनी जानी-पहचानी करतूत हो गई कि महिलाओं के विरुद्ध इस प्रकार की हिंसा महिला आंदोलनों का प्रमुख मुद्दा बन गया।"[299]

महिला आंदोलनों ने दहेज हिंसा की समस्या को निजी के दायरे से निकालकर सार्वजनिक बनाया और इसका विरोध समता मूलक विचारों के आधार पर किया। पितृसत्तामक समाज में वर्ग और समुदाय के भेद भुलाकर दहेज हत्या को महिलाओं ने अपनी असमानता के स्थिति के साथ जोड़ा। दहेज लेने और देने की प्रक्रिया महिलाओं की लिए विवाहजनित हिंसा का कारण बनती है इसको महिला संगठनों ने पीड़ित महिलाओं की अनुभव से समझा। परिणामत: दहेज मौतें व्यापक रूप से फैली विवाहजन्य हिंसा की सर्वाधिक क्रूर अभिव्यक्ति के रूप में उभर कर आई। परंतु, कई बार ऐसे मामलों को पारिवारिक और निजी कहकर नज़रअंदाज़ कर किया जाता रहा और इसे राज्य के चिंता का विषय नहीं माना गया। महिला आंदोलनों के संघर्षों ने इस स्थिति के विरुद्ध संघर्ष कर महिलाओं की बयान को साक्ष्य माना जाये और पुलिस के कार्य-पद्धति को चुस्त किया जाये; इसक लिए कड़ा प्रतिरोध रखा। जिसके कारण विवाहजनित हिंसा की प्रथम श्रेणी दहेज मौतों पर केंद्रित हुई। दहेज मौतें व्यापक रूप से फैली विवाहजन्य हिंसा की सर्वाधिक क्रूर अभिव्यक्ति के रूप में उभर कर आई।

ऐतिहासिक रूप से औपनिवेशिक दौर में दहेज समस्या को हिंदी पत्रकारिता ने सामाजिक समस्या के रूप में पहचाना। समाजिक समस्या के रूप में इस देशकाल में दहेज समस्या पर कई लेख हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलती है। जिसमें इस सामाजिक बुराई को दूर करने के लिए मानवतावादी तरीकों का विश्लेषण देखने को मिलता है। मसलन, 'चांद' पत्रिका लिखता हैं कि-

---

[299] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2009 पेज न०- 240

> "स्त्री पराधीनता का एक पहलू जहां संयुक्त परिवार से जुड़ा है तो दूसरा पहलू दहेज प्रथा से जुड़ा हुआ है। स्वाधीनता न होने के कारण ही लड़की अपनी-आप अपना वर चुन नहीं सकती, इसलिए पिता के ऊपर यह दायित्व पड़ता है कि उसके लिए वर तलाश करे और कन्या दान से साथ दहेजे के लिए धन का भी संग्रह करे। यह सामंती ढंग की पराधीनता के साथ-साथ पूंजीवादी दंग की पराधीनता भी है। इसके कारण स्त्री अपनी बोली लगाने के बाद भी स्वाधीन नहीं है।"[300]

इसतरह 'विश्वमित्र' में संतराम लिखते हैं कि-

> "इस बात से इऩकार नहीं किया जा सकता है कि विवाह में परस्पर आकर्षण और वासना के आवेग का बड़ा महत्व है। परंतु, इसके इस पहलू से अलग रखकर, विवाह दूकान या दफ्तर की तरह एक वाणिज्य है; इसे सफल बनाने के लिए इसे के ढंग पर ही चलना चाहिए।"[301]

इन लेखे के आधार पर आधार पर औपनिवेशिक दौर में दहेज समस्या की पहचान होती है। हिंदी लेखन की विधाओं में कई आत्म अनुभव भी इस समस्या के विमर्श के धरातल पर लाने का प्रयास कर रहे थे। ए.आर.देसाई लिखते हैं कि-

> "एक लंबे अर्से से भारतीय नारी सती और बाल हत्या जैसी प्रथाओं की शिकार रही है। अनेक स्थानों पर पति की मृत्यु के बाद विधवा को पति की लाश के साथ चिंता पर जल मरना होता था। गरीब मां बाप के लिए लड़की की शादी काफ़ी खर्चीला काम था, इसलिए मां-बाप प्राय: नवजात को पुर्नर्विवाह की सुविधा नहीं मिली थी। इतना ही नहीं मंदिरों में देवदासी प्रथा, जो वेश्यावृत्ति का ही दूसरा रूप था प्रचलित थी।"[302]

परंतु, सामाजिक अभ्यास में नज़रिये में बदलाव लाने की धीमी प्रक्रिया के कारण यह आजादी के बाद के देशकाल से आज तक मौजूद है, जिसके कारण हिंसा और वधू दहन की घटनाएं अक्सर आमने आती रहती है। आजादी के दो दशक बाद कई निंदनीय घटनाओं के बाद हिंदी पत्रकारिता ने दहेज को दुबारा एक सामाजिक समस्या के रूप में स्वीकार किया और सीमाओं से ऊपर उठकर राष्ट्रीय स्तर पर उसे एक मंच प्रदान करने में अपनी भूमिका निभाई। इस समस्या पर महिला संगठनों के दखल के बाद हिंदी पत्रकारिता ने इस महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का एक माध्यम माना और इसको इसको अचर्चित हिंसा के रूप में उजागर किया। मसलन, अत्यधिक

---

[300] चांद, जनवरी 1937, पृ. 259

[301] संतराम, विश्वमित्र, 1936

[302] ए.आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पापुलर प्रकाशन, मुंबई पेज न०- 220

प्रसार वाले दैनिक 'नवभारत टाइम्स' के रविवासरीय परिशिष्ट के 'महिला मंडल' स्तंभ में 'हम लड़कियां देखने जा रहे है' लेख में रामसरन शर्मा लिखते हैं कि -

> "शादी के पहले लड़कियों को देखने की प्रथा जिल्लत है, मोल तो पैसा देकर लिया जाता है किंतु यहां तो पैसे देकर बछिया साथ बांधी जाती है। समाज की यह मर्यादा और महानता मानवता पर व्यग्य है।"[303]

आजादी के बाद दहेज समस्या पर इसप्रकार के लेख समाज की कुरीतियों को दूर करने की दिशा में उठाए गए क़दम ज़रूर दिखतें हैं। किंतु, स्त्रियों की स्थितियों में सतही बेहतरी की बात करते है। ये किसी ऐसे आधारभूत परिवर्तन के पक्ष में नहीं थे जो समाज के ढांचे को प्रभावित करता हो।

दहेज समस्या पर प्रकाशित लेखों में एक ओर समाज की यथास्थिति का जिक्र होता है या दूसरी ओर यह बताने की कोशिश हुई कि दहेज के कारण महिलाओं को विवाह के बाद परिवार में किस तरह की यातना और शोषण का शिकार होना पड़ रहा है। कभी-कभी चर्चा का विषय यह होता है कि दहेज प्रथा के विरोध में प्रदर्शनों, मोर्चों, धरनों, विचार-गोष्ठीयों और प्रचार माध्यमों के विरोध किए जाने के जाने के बाद भी दहेज में दी गयी रकमों में कोई कमी आई है या न महत्व घटा है। मसलन, मधु किश्वर 'रविवार' में प्रकाशित लेख 'औरत की हैसियत बढ़ाना चाहता कौन है' में लिखती हैं कि -

> "दहेज प्रथा ही सामाजिक जीवन में औरत की गिरती हुई हैसियत का मुख्य लक्षण है। कुछ दशकों तक दहेज प्रथा देश की कुछ जातियों में थी। निम्न समझी जानी वाली जातियों में भी इसका महत्व नहीं के बराबर था। परंतु, दहेज का चलन न केवल अधिक क्षेत्रों में फैला है बल्कि इसने अपनी पंजों में आदिवासियों जैसे उन समूहों को भी दबोच लिया जिनके बीच दहेज देने के स्थान पर दूल्हे खरीदने की प्रथा थी। महिलाओं में शिक्षा की वृद्धि और रोज़गार में आने के बाद भी दहेज की जड़े और ज़्यादा मजबूत हुई हैं। दहेज प्रथा के विरोध में प्रदर्शनों, मोर्चो, धरनों, विचारो-गोष्ठियों, आम सभाओं, अख़बारों व संचार माध्यमों के कार्यक्रमों आदि के माध्यम से किए जा रहे हैं, दहेज विरोधी प्रचार के बावजूद न दहेज में दी जा रही रकमों में कोई कमी आई है और न दहेज का महत्व घटा है।"[304]

इसीप्रकार 'रविवार' के अंक में राजकिशोर अपनी लेख 'विवाह का मौजूदा ढांचा टूटना चाहिए' में लिखते हैं कि -

---

[303] नवभारत टाइम्स, 8 मई 1966

[304] रविवार, 12अगस्त 1984, पेज न०- 19

> "भारत के अधकचरे पूंजीवाद ने, जो एक सांमती राज-व्यवस्था के संरक्षण में पल रहा है न तो हमें पूरी तरह व्यक्ति में बदला है न हमें मध्यकालीनतावाद के सुरक्षित खोल में रहने दिया है। दहेज की समस्या तभी मिट सकती है, जब विवाह का मौजूदा ढांचा टूटे यानी पुरुष और स्त्री की साथ रहने की शर्तें बदलें। यह बड़े पैमाने पर तभी संभव होगा, जब जाति, विषमता, सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन इत्यादी मोरचों पर एक क्रांतिकारी माहौल बनें।"[305]

इन उदाहरणों से समझा जा सकता है कि अस्सी के दशक में हिंदी पत्रकारिता में दहेज पर आधारित लेखों में स्त्री-पुरुष भेदभाव स्पष्टत: रेखांकित करने से कहीं अधिक समस्या को ऐसे मानवीय धरातल पर रखकर देखा गया। जिसमें समाज की रूढ़ियों की वेदी पर एक मनुष्य का जीवन चढ़ा दिया जाता है। जिसके कारण महिलाओं की समस्या को एक पक्षीय नज़रिये से देखा गया। इसके कारण दहेज और दहेज हिंसा के प्रति अलहदा नज़रिया विकसित हुआ। यह नज़रिया दहेज के कारण महिलाओं की साथ होने वाले हिंसक व्यावहारों को अभिव्यक्त करता है।

दहेज विरोधी चेतना के निमार्ण में, दहेज कानूनों में बदलाव की ज़रूरत पर और सामाजिक संस्थाओं की भूमिकाओं पर महिला आंदोलन के संघर्ष में हिंदी पत्रकारिता ने अपनी महत्ती भूमिका का निर्वाह किया। दहेज और दहेज-दाह के विषय में जितने अधिक लेख व समाचार छपे वे अपनी आप में एक मिसाल हैं। इस प्रयास से यह तो हुआ कि अब तक परिवार विशेष तक सीमित ऐसी घटनाएं सामाजिक सरोकार का विषय बन सका और सामाजिक स्तर पर इसका प्रतिरोध भी सामने आने लगे। पर इन प्रयासों ने मानवीय संवेदनाओं को किस स्तर तक झकझोरा यह एक यक्ष प्रश्न है? दहेज एंव दहेज हिंदा के विरुद्ध चलाए गए आंदोलन में पितृसत्ता विरोधी, पूंजीवादी विरोधी स्त्रियों से लेकर रूढ़िवादी पितृसत्ता की पक्षधर सहित हर नज़रिये का समर्थन करने वाली महिलाओं ने भी भाग लिया। जिसमें दहेज हत्या को पूंजीवाद से उपजी समस्या के साथ-साथ पितृसत्ता के विरोध में भी देखा और समझा गया।

परंतु, वर्ष 1990 के बाद के दशकों में हिंदी पत्रकारिता में इस विषय पर अपनी पूर्व की भूमिका को भूल तटस्थ रहने की भूमिका को अधिक महत्व दिया। जबकि दहेज पर कई बदलाव देखने को मिलता है। रजनी पालडीवाला लिखती हैं कि -

> "नव-धनाढ्य अमीरों को अब अपनी नई वस्तुओं और धन-संपत्ति का प्रदर्शन करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। दूसरी ओर सारा समाज इस गति से अमीर नहीं हुआ, उल्टा अमीर-गरीब के बीच फासला बेशुमार बढ़ गया फिर भी जहां शादियों के तौर-तरीके और दान-दहेज का सवाल आया, इस नव धनाढ्य तबके से सामाजिक रिवाजों का पैमाना स्थापित किया

[305] रविवार, 3 जुलाई 1983, पेज न०- 26

> है। इसी के साथ, देश की अर्थव्यवस्था में बेहिसाबी, बेमानी पूंजी काले धन की वृद्धि इतनी हुई कि उसे अलमारियों में छिपाना मुश्किल होने लगा।"[306]

हमारे देश में सामाजिक संबंधो की रूपरेखा आज भी औपचारिक कानूनों से नहीं बल्कि सामाजिक नियम-क़ायदों के अनुसार तय होते है। विवाह के मौके पर दहेज के नाम पर धन-संपत्ति का लेन-देन कानूनन गलत माना गया है। फिर भी आम सामाजिक सहमति के आधार पर ज़्यादातर लोग दहेज लेते भी है और देते भी है। जब तक समाजिक नियम-क़ायदों की दहेज समस्या पर नहीं तय होते, तमाम संवैधानिक नियम-कानून कागजी शेर बने रहेगे। दहेज समस्या पर यदा-कदा ही लेख प्रकाशित दिखते है। जो लेख प्रकाशित भी होते है वो महिलाओं की पक्ष को नये तरीके से अभिव्यक्त नहीं करते है। इन अभिव्यक्तियों में दहेज एक सामाजिक समस्या के रूप में भी दिखती है और इसके कारण महिलाओं की पक्ष का मूल्यांकन भी दिखता है पर वह कभी-कभी एक ध्रुवीय बन कर रह जाता है। मसलन, दहेज समस्या पर मध्यवर्गीय परिवार के सोच और इस समस्या पर हो रहे बदलाव पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'लड़कियां कैसे विरोध कर पाएंगी दहेज का' में देशबंधु शर्मा बताते है कि -

> "मध्यवर्गीय परिवार की लड़कियां दहेज विरोध को व्यर्थ का झमेला समझती हैं। जी हां, लड़किया भी दहेज की पक्षधर होती हैं- यह अलग बात है कि इसकी सख्यां समाज में अधिक नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि लड़किया दहेज ले जाना क्यों करती हैं? जबकि यह तथ्य सर्वमान्य है कि यह लड़कियों के हित में नहीं है। कानून में भी यह एक अपराध मान जाता है। ऐसे में लड़कियों का दहेज के पक्ष में समर्थन आधारहीन नहीं हो सकता है।"[307]

लेख में जहां दहेज समस्या को हो रहे बदलाव और उसके कारणों की चर्चा कुछ लड़कियों के साक्षात्कार की चर्चा देखने को मिलती है। तो वहीं दहेज के कारण कानपुर में एक ही परिवार की तीन लड़कियों के आत्महत्या के बाद इस समस्या पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'लड़कियों के आत्महत्या से उपजे सवाल' में संगीता शर्मा लिखती हैं कि -

> "कानपुर में तीन बहनों की आत्महत्या कई बड़े सवालों को खड़ा करती है। इस घटना से तीन तरह की बातें सामने आती हैं एक समाज का रवैया, दूसरा परिवार का रवैया तीसरा उन लड़कियों का रवैया। एक विचारशील मुद्दा यह भी है कि क्या विवाह इतना आवश्यक है कि उसके न होने पर अपनी ज़िंदगी दांव पर लगा दी जाये। जहां तक दहेज की बात है तो यह

---

[306] वी.एन.सिह और जनमेजय सिंह, आधुनिकता एंव महिला सशक्तिकरण, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2010,पेज न०-247

[307] 14 जनवरी 19वर्ष 19वर्ष 1990, हिंदुस्तान

> साफ है कि इन घटनाओं से दहेज समस्या पर कोई असर नहीं पड़ने वाला है। लड़कियों के जान देने से इस समस्या का अंत नहीं हो सकता।"[308]

लेख दहेज को लेकर सामाज की भूमिका, उसका दोहरापन, कानूनी असफलता और लड़कियों के लिए विवाह की प्रासंगिकता पर चर्चा देखने को मिलती है। इस घटना के सामाजिक प्रभाव को अभिव्यक्त करने के लिए एक लघू फिल्म का निमार्ण भी हुआ जो कई हल्कों में चर्चा का विषय भी रही। परंतु, इन प्रयासों ने दहेज समस्या को लेकर उत्पन्न परिस्थितियों पर कड़ा प्रहार नहीं किया। दहेज के कारण विवाह पूर्व लड़कियों के साथ होने वाला मानसिक हिंसा भी बहस के केंद्र में स्थापित होते नहीं दिखती है। जबकि, दहेज को लेकर कड़े प्रतिरोध और बारात वापस करने की घटना पर 'नवभारत टाइम्स' विशेष आवरण कथा 'क्या निशां ने कोई रास्ता दिखाया है' में लिखता है कि -

> "दरवाजे पर आई बारात को उलटे पैरों लौटाकर नोएडा की निशा ने सचमुच बहादुरी दिखाई। इसके लिए उसे भरपूर शाबासी भी मिली। लेकिन जब इस प्रकरण से जुड़े दूसरे तथ्य उजागर हो रहे है तो कई सवाल उभर रहे हैं। क्या प्रतिरोध के ऐसे इक्का-दुक्का उदाहरण दहेज समस्या के जड़ पर प्रहार कर सकते हैं? क्या ऐसी मिसालों से सामाजिक नज़रियेमें सुधार संभव हैं? दहेज कानून कहां जाकर फेल हो जाता है? क्या निशा का मामला कुछ दिनों में भुला दिया जायेगा?"[309]

प्रस्तुत उद्दरण यह स्पष्ट करते है कि वर्ष 1990 के बाद के दशकों में हिंदी पत्रकारिता में दहेज समस्या को अपनी पूर्व के तरह महिला के विरुद्ध हिंसा के कारण के रूप में अभिव्यक्त करने में परहेज किया। इसके साथ-साथ बड़े पैमाने पर पुरुषों में यह भावना विकसित हुई कि हमारी पत्नियों की सुरक्षा एंव देखभाल का दायित्व हमारा है, जिसके वजह से दहेज तथा दहेज हिंसा के विरुद्ध मजबूत प्रतिरोध समाजिक मानसिकता में जगह नहीं बना सकी। इसके साथ-साथ कई समुदायों ने और सरकारी नीतियों ने सामुदायिक विवाह और सामूहिक कन्या-दान को प्रोत्साहित किया। जिसके कारण दहेज हत्या या आत्महत्या को जहां आर्थिक समस्या से उपजी समस्या के रूप में देखा गया। तो अधिंसंख्य लोगों ने इसे नारीवादी विषय मानने के बजाये पितृसत्ता विरोधी मुद्दें के रूप में देखा। इस प्रक्रिया में खेद का विषय यह था कि इस दौरान हिंदी पत्रकारिता इस समस्या को एक ही कोण से देख रही थीं जिससे दुराग्रही रूढ़िवाद की जड़ों को गहरे पैठने में मदद मिल रही थी और इसका विरोध मुखर तरीके नहीं हो रहा था। दहेज हत्या या इसके कारण आत्महत्या या दहेज विरोध की कोई बड़ी घटना ही हिंदी पत्रकारिता में अपनी जगह बनाती है,

---

[308] 13 अगस्त 1996, हिंदुस्तान

[309] 8 नवबंर 2003, नवभारत टाईम्स

नहीं तो इसके कारण महिलाओं की होने वाली हिंसा, दहेज मौत की घटनाएं कालम की ख़बर बन कर रह जाती है। जिसमें सामाचारों से गलत धारणाओं और अनावश्यक भय शंकाओं का प्रसार अधिक होता था।

इस बात से इऩकार नहीं किया जा सकता है कि हिंदी पत्रकारिता ने ऐसा महौल तैयार किया कि किसी भी परिवार विशेष तक सीमित घटनाएं सामाजिक सरोकार का विषय बनी सकी। दहेज और दहेज दाह और इसके कारण महिलाओं की साथ हिंसक व्यवहार के विषय को हिंदी पत्रकारिता ने अस्सी के दशक में महत्वपूर्ण आवाज़ दी। जिसने जनमानस की मानवीय संवेदना को झकझोरा। परंतु, बाद के दिनों में यह घटना आधारित समस्या बन कर रह गई, जो त्वरित तो संपादकीय और विशेष आलेख के रूप में ज़रूर अभिव्यक्त हो रही थी। परंतु, यह अगले किसी बड़ी ख़बर के आने के बाद फिर से बहस के दायरे से बाहर चली जाती है अर्थात हिंदी पत्रकारिता में दहेज समस्या एक 'बाइट' बनकर सिमट गई। इसके साथ-साथ नवधनाढ़य वर्गों के विवाह के आयोजनों के चमक-दमक को हिंदी के अख़बारों ने एक ख़बर के रूप में अभिव्यक्त किया। जिसके कारण दहेज जो एक समाज के लिए समस्या बनकर उभर रही थी वह समस्या के रूप में हिंदी पत्रकारिता से धीरे-धीरे गायब होने लगी है या सिकुड़ने लगी है। साथ ही साथ विवाह एक संस्कार के साथ-साथ आयोजन के रूप में विज्ञापन के तरह प्रकाशित हो रहे है। जिसमें दहेज का अनैतिक मूल्यबोध छूप कर रह जाते है।

3.5 बलात्कार और हिंसा

'हिंसा' के मुद्दे पर ही ध्यान केंद्रित करते हुए जिस तरह नारीवादी महिलाओं ने विवाहजनित हिंसा की क्रूर अभिव्यक्ति के रूप में दहेज मौतों को देखा। उसी प्रकार बलात्कार को पहचान यौनिक हिंसा के रूप में की गई। दहेज मौतों की हिंसा का जहां घरेलू संदर्भ है वही बलात्कार प्राय: बाहरी संदर्भ में हिंसा के आधार पर की गई (हालांकि विवाहजनित हिंसा के रूप में बलात्कार की पहचान काफ़ी समय अंतराल बहस के रूप में स्थापित हो पाई)। इस हिंसा की पृष्ठभूमि समाज में महिलाओं की दर्जे पर भी टिकी है। वस्तुत: स्त्री को व्यक्ति नहीं वस्तु माना जाता है और ऐसी वस्तु जो पिता, भाई, पति या पुत्र किसी भी पुरुष की संपत्ति है। जर्मेन ग्रीयर "बलात्कार" को परिभाषित करते हुए, लिखती हैं कि -

> "ऐतिहासिक तौर पर बलात्कार का अपराध स्त्री की विरुद्ध नहीं, बल्कि पुरुषों द्वारा पुरुषों के विरुद्ध किया गया अपराध है। ऐतिहासिक तौर पर स्त्री पर नियंत्रण रखने वाला पुरुष-पिता, संरक्षक अथवा पति के लिए यह मसला अनाधिकार प्रयोग करने वाले पुरुषों के ख़िलाफ़ होता

> है, जब राज्य भरपाई की बात करता है तो पीड़ित स्त्री की पक्ष में नहीं, बल्कि पितृसत्ता के पक्ष में कारवाई करता है।"[310]

यही कारण है कि किसी भी वर्ग संघर्ष, जातिगत लड़ाई या साम्प्रदायिक दंगे में कहर महिलाओं पर ही टूटता है। किसी पुरुष से बदला लेने की एक सरल विधि उसकी संपत्ति रूपी बहन, बेटी या पत्नी का शीलभंग करना ही होता है। शिक्षा व जागृति के बावजूद समाज में ये दोहरे मूल्य और नैतिकता गहरी पैठ रही है। इसी संबंध में राधा कुमार लिखती हैं कि -

> "भारतीय संदर्भ में बलात्कार एक ऐसा विषय रहा है जिसपर समकालीन महिला आंदोलनों ने हिंसा के दायरे में ध्यान क्रेंदित किया है। इसका पहला कारण यह है कि यह स्त्रियों के विरुद्ध पुरुषों द्वारा की जाने वाली अशोभनीय एंव क्रूर हिंसा एवं पुरुषों के षौरुष की अभिव्यक्ति का परिचायक है। दूसरा, क्योंकि बलात्कार एंव उस पर दिए जाने वाले ऐतिहासिक विमर्श स्त्री की प्रति उस दौर में समाज में संबंधों का रहस्योद्घाटन करते हैं तथा तीसरे स्त्री देह के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण का पता चलता है।"[311]

स्पष्ट है कि बलात्कार महिलाओं की विरुद्ध यौनिक हिंसा के साथ-साथ महिलाओं की साथ वर्चस्वशाली मानसिकता या व्यवहार को सतह पर लाने का काम करती हैं। यह शोषण की शारिरिक, मानसिक और सामाजिक परिघटना भी है। राधा कुमार ने बलात्कार को कई श्रेणी में बांट कर लिखती है -

> "बलात्कार पुरुष प्रभुत्व दिखाने का माध्यम है। एक श्रेणी है भूस्वामी अपनी बंधुआ स्त्री श्रामिकों या दैनिक मजदूरी करनेवाले बंधुआ पुरुष मजदूरों की पत्नियों के साथ बलात्कार करने को अपना अधिकार समझते हैं। इसके अतिरिक्त बलात्कारियों की एक अन्य श्रेणी है अधिकारी वर्ग की। इसके तहत अधिकारी अपनी कनिष्ठ स्त्री सहकर्मियों से और कारखाना मालिक अपनी कारखानों, गोदामों में काम करनेवाली स्त्रियों से बलात्कार करते है। एक और श्रेणी है जिसे जाति बलात्कार की संज्ञा दी जाती है। इस वर्ग के अंतर्गत ऊंची जातियों के समृद्ध लोग नीची जातियों, दलितो-आदिवासियों आदि की महिलाओं से बलात्कार करते हैं। इसके अतिरिक्त वर्ग बलात्कार, पुलिस बलात्कार एंव सेना बलात्कार की भी श्रेणियां हैं। बलात्कार के अन्य कई रूप और भी हैं जिन्हें अभी भी कानूनी परिधि में लाया जाना शेष है, जैसा वैवाहिक बलात्कार, परिवार के अंदर होनेवाला बलात्कार, अवयस्क बालिका बलात्कार तथा वेश्या बलात्कार इत्यादी।"[312]

---

[310] जर्मेन ग्रियर, बलात्कार, पेज न०-3. www.debatonline.in तारिख 2/12/2017, समय 3:17pm

[311] वी.एन.सिह और जनमेजय सिंह, आधुनिकता एंव महिला सशक्तिकरण, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2010,पेज न०-208

[312] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन,दिल्ली, 2011 पेज न०- 259-260

समकालीन नारीवादी आंदोलनों ने हिंसा के रूप में बलात्कार पर ध्यान केंद्रित किया। नारीवादी आंदोलनों ने बलात्कार की सभी श्रेणियों के विरुद्ध अपनी संघर्ष को मजबूत किया। जिसके कारण बलात्कार का मुद्दा देशव्यापी रोष और राजनीतिक महत्व का विषय बन सका।

भारत के स्वतंत्रता पूर्व भी ब्रिटिश शासकों द्वारा स्त्री की प्रति की गई ज्यादतियों के मुद्दे उठाए जाते रहे। उस दौर में बलात्कार के विरुद्ध कोई बड़ा आंदोलन खड़ा नहीं हो सका। औपनिवेशिक भारत में बलात्कार की किसी घटना को लेकर नहीं बल्कि बेमेल विवाह में बालिका वधुओं में यौन संबंधों के दौरान मारे जाने को लेकर शुरू हुई और वर्ष 1860 में कानून बना कर यौन सहमति की न्यूनतम उम्र 10 वर्ष निर्धारित करने में प्रतिफलित हुई थी पर वह रूकी नहीं थी। कुछ वर्षो बाद वर्ष 1889 में बालिका वधू फूलमनी की यौन संबंध के दौरान मृत्यु ने पहली बार बलात्कार पर बहस को स्थापित किया। कायदे से बहस महिलाओं की यौनिक स्वतंत्रता और नागरिकता से हासिल होने वाले अधिकारों से जुड़ने के बजाये इसके विपरीत नैतिक पुलिस बनकर महिलाओं को मर्यादित करने में सिमट गई। औपनिवेशिक काल के हिंदी पत्रकारिता में बलात्कार के विषय पर यदा-कदा लेख प्रकाशित होते हुए दिखते है। मसलन, राजपूताना मेल के अनुसार, जोधपुर स्टेट धर्मशाला के दरोगा ने 18 वर्षीय स्त्री से बलात्कार किया, जब वह उक्त धर्मशाला में अपनी पति के साथ ठहरी थी। कहा गया है कि -

> "एक व्यक्ति व उसकी स्त्री उस दिन रात्री में वहां पर आए और धर्मशाला में ठहरने के लिए दारोगा से इजाजत मांगी, दरोगा ने एक कमरे की व्यवस्था उनके लिए कर दी, जब ब्राह्मण बाज़ार गया तब दरोगा ने उसके कमरे में घुसकर बलात्कार किया।"[313]

इसीतरह, राजस्थान समाचार-पत्र से अनेक बलात्कार की घटनाओं को मुख पृष्ठ पर लिखता हैं कि -

> "मारवाड़ राज्य में इन दिनों ठाकुरों का आतंक फैला हुआ है। किसी स्थान पर अपहरण के, किसी स्थान से डाके के और किसी स्थान से बलात्कार के समाचार आ रहे है।"[314]

परंतु, इस देशकाल में बलात्कार को महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के प्रयोग में नहीं पहचाना गया, न ही बलात्कार का विषय कभी राजनीतिक प्रश्न बन कर उभर सका। हालांकि बलात्कार की

[313] दी राजपूताना मेल, 3 मार्च 1935, NMML नई दिल्ली

[314] यंग राजस्थान, 25 अप्रैल 1929, NMML नई दिल्ली

सूचनाओं की अभिव्यक्ति ने सांप्रदायिक सौहार्द को बिगाड़ने का काम ज़रूर किया। चारू गुप्ता बताती हैं कि -

> "हिदू एकरूपता और पितृसता के पक्ष में महिलाओं की अपहरण, व्याभिचार और बलात्कार को भावनात्मक आधार देने का काम किया गया। इस संदर्भ में हिंदू स्त्री और मुस्लमान पुरुष के बीच अंर्तसंबंध और यौन संबंध से जुड़ी काल्पनिक कथाओ के माध्यम से महिलाओं की ऊपर नियंत्रण का भी काम किया गया।"[315]

इसी तरह,

> "औपनिवेशिक उत्तर भारत में, विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवी शताब्दी के आरंभ में, मुसलमान पुरुषों का अवमूल्यन खासकर स्त्री संबंधी शब्दावली में किया गया। मुसलमान मर्द बहुत बार बलात्कारी या अपहरणकर्ता दिखाया जाने लगा।"[316]

जाहिर है औपनिवेशिक दौर में बलात्कार को महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का माध्यम के रूप में देखने के बजाये सामाजिक या राष्ट्रीय ग़ौरव को अपमानित किए जाने के रूप में देखा और बलात्कार को राजनीतिक प्रश्न बनाने के स्थान पर बलात्कार पर राजनीति को प्रोत्साहित किया। राधा कुमार बलात्कार की राजनीति पर नोट करते हुए लिखती हैं कि -

> "उन्नीसवीं सदी के अंत तक बलात्कार तथा नस्लवाद को आपस में जोड़ दिया गया। बालात्कार करने के मामलों में बड़े पैमाने पर अंग्रेज सिपाही शामिल थे। अपनी स्त्रियों की बचाने के लिए बड़े पैमाने पर हो-हल्ला हुआ। 'भारती' और 'संजीवनी' पत्रिका ने अपनी लेखों के माध्यम से अपनी स्त्रियों का अंग्रेज सिपाहियों द्वारा गालियों तथा थानों में बलात्कार किए जाने से रक्षा करने के लिए प्रेरित किया।"[317]

स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के पूर्व राजनीतिक, सामुदायिक एकरूपता और पितृसत्ता के पक्ष में बलात्कार ने भावनात्मक आधार देने का काम किया। इस संदर्भ में यौन संबंध से जुड़ी काल्पनिक कथाओं के माध्यम से महिलाओं पर नियंत्रण भी रखा जाता था। कुछ कोशिशे हुई, परंतु ये कोशिशों महिलाओं की संदर्भ में दूरगामी राजनीति तक नहीं जा सकी और बलात्कार की पहचान महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के रूप में नहीं हो सकी।

आजादी के बाद भी बलात्कार के कई मामले सामने आए और चर्चा के विषय भी बने। प्रारंभ में पुलिस बलात्कार के ख़िलाफ़ कई आवाज़ उठना शुरू हुई।

---

[315] चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2012, पेज न० 196

[316] चारु गुप्ता, लव जिहाद: एक सांप्रदायिक फैंटेसी का अतीत और वर्तमान http://hashiya.blogspot.in/2015/01/blog-post_18.html 7:57 PM DATE 27.8.2016

[317] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन,दिल्ली, 2011 पेज न०- 87

> "पुलिस द्वारा किए गए बलात्कारों की सख्यां पर विचार करें तो रिकार्ड अनुसार ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में प्रतिदिन एक दो बलात्कार होते थे।"[318]

परंतु, इस दिशा में सशक्त आंदोलन 70 के दशक में मथुरा रेप केस (तुकाराम और अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य 1979)[319] पर सवोच्च न्यायालय के फैसले के बाद हुआ। सर्वोच्च न्यायालय के फैसले ने चिंतित नागरिकों में जोश भर दिया। इस मामले से बलात्कार से संबंधित कानून में परिवर्तन की मांग से निर्णायक मोड़ आया(हालांकि बलात्कार के संबंध में जिस जड़ता को तोड़ने की ज़रूरत है जिससे न्याय व्यवस्था में पारदर्शिता आ सकें। यह आज भी एक कठिन चुनौती है)। इसी दौरान कई और बलात्कार के मामलों ने स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर बलात्कार के प्रश्न को आंदोलित किया। माया त्यागी बलात्कार कांड[320] ने बलात्कार के मुद्दे को सार्वजनिक बहस के केंद्र में ला दिया। बलात्कार के कई घटनाओं से एक और बात स्पष्ट हुई कि बलात्कार केवल पुलिस वाले नहीं करते। हर वर्ग के आम नागरिक, सभी महिलाओं को अधीन बनाने के लिए बलात्कार को सबसे शक्तिशाली हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं। इसके साथ महिलाओं की साक्ष्य की विश्वसनीयता के मुद्दे के विषय में, महिलाओं की चरित्र और पिछले यौन संबंध के इतिहास को साक्ष्य के रूप में प्रयोग करने की प्रथा और सामान्यत: राज्य की विशेषकर न्यायालय की भूमिका पर भी प्रश्न उठे। इन आंदोलनों ने लिंग आधारित शोषण को महिला के सम्मान में बदल दिया एंव स्त्री सुरक्षा की मांग उठी। इन आंदोलनों ने बलात्कार की विभिन्न श्रणियों को भी संहिताबद्ध किया।

परंतु, पारिवारिक बलात्कार को बलात्कार की श्रेणी में रखने से इऩकार कर दिया गया। नया बिल वर्ष 1983 में पास हुआ जिसमें स्वतंत्रता के पूर्व के कानून[321] विवाहित स्त्रियों के साथ पति द्वारा पन्द्रह वर्ष तक[322] एंव अविवाहितों के साथ सोलह साल तक की उम्र में किया गया।

---

[318] पुलिस अनुसंधान एंव विकास ब्यूरों, दिल्ली द्वारा 1983 में दर्ज बलात्कार के आंकड़े

[319] महाराष्ट्र के चंद्रपुर में पुलिस स्टेशन के भीतर मथुरा नाम की एक लड़की के साथ दो पुलिसकर्मियों द्वारा कथित बलात्कार पुलिस थाने परिसर में हुआ था। सत्र न्यायालय ने इस आधार पर सिपाही को मुक्त कर दिया था कि बलात्कार प्रमाणित नहीं हुआ और लड़की आदतन समागम प्रकृति की है। उच्च न्यायालय ने दोनों पुलिसकर्मी को दोषी ठहराया और दंडादेश दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च न्यायालय के फैसले को रद्द कर दिया और दोनों सिपाहियों को इस आधार पर विमुक्त कए दिया कि बलात्कार प्रमाणित नहीं हुआ।

[320] माया त्यागी अपने पति के साथ कार में किसी शादी में शरीक होने जा रही थी। रास्ते में बागपत के पास उनकी कार का टायर पंक्चर हो गया। दो बिना वर्दी के पुलिस जवान ने मौके का फायदा उठाकर माया के साथ छेड़छाड़ की। जब उसके पति और साथ के लोगों ने उन्हें रोका तो उस समय तो वे यहां से चले गए। थोड़ी देर के बाद और कई साथियों को लेकर आ गए और माया त्यागी के पति की हत्या कर दी। माया को गांव में ले जाकर नग्न घुमाया गया और उसके बाद पुलिस स्टेशन पर उसका सामूहिक बलात्कार किया गया।

[321] भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 375 के अपवाद के द्वारा

[322] भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 375(6) के द्वारा

सहावास बलात्कार यथावत रहा। मुकदमे के दौरान होनेवाले उत्पीड़न से स्त्री को बचाने के लिए कैमरे के सामने सुनवाई का प्रावधान एंव साक्ष्य प्रस्तुति का दायित्व अभियुक्त को सौंपा गया। बलात्कार की अधिकतम सजा दस साल की गई जिसे पर्याप्त और विशिष्ट कारणों से घटाया भी जा सकता है। महिला आंदोलनों के अथक प्रयास के बाद बनाए गए बलात्कार के विरुद्ध कानून को महत्वपूर्ण माना गया। परंतु, बलात्कार के समय स्त्री की उम्र प्रमाणित न हो पाना, देर से की गई रिपोर्ट, बलात्कार के समय उपयोग किए गए वस्त्रों को साक्ष्य के रूप में सुरक्षित न रखना, स्त्री की ख़िलाफ़ गया। विवाहिता और अविवाहिता के उम्र का विरोधाभास कायम रहा। इसके साथ ही बलात्कर की संभोगीय परिभाषा काफ़ी सीमित है। कई मामलों में वह उत्पीड़न और शोषण के शब्दावली में उलझ जाता है। स्त्री की चरित्र पर प्रश्न लगाकर बलात्कार के आरोप से बरी होने के अवसर बढ़े। इन तमाम कमियों के बाद भी इन आंदोलनों ने जहां बलात्कार संबंधी कानून की सीमाओं को उजागर किया वही बलात्कार विरोधी मानसिकता के ख़िलाफ़ जनमानस बनाने में मदद की।

महिला आंदोलनों के बलात्कार की समस्या को हिंदी पत्रकारिता ने नई तरीके से स्वर प्रदान किया। पुलिस बलात्कार और उसके विरुद्ध चलाए जानेवाले आंदोलनों को हिंदी के अख़बारों में प्रमुखता से छापा उससे बलात्कार का मुद्दा देशव्यापी तथा राजनीतिक महत्व का बन गया। राजनीतिक महत्व का विषय बनने के कारण बाद में राजनीतिक पार्टिया भी बलात्कार विरोधी आंदोलन में भाग लिया।

> "राजनीतिक दल बलात्कार जैसे विषयों से पारिवारिक मामला कहकर बचते रहे हैं, स्त्री कार्यकर्ताओं द्वारा ऐसे विषय उठाये जाने पर उन्हें पार्टी के सदस्यता से हाथ भी धोना पड़ा है।"[323]

अस्सी के दशक में जब बलात्कार को लेकर आंदोलनों का स्वर तेज़ हो रहे थे। हिंदी पत्रकारिता ने बलात्कार के मुद्दे पर बारीकी, वैज्ञानिक और सस्ती लोकप्रियता भुनाने के लिए हल्के और गंभीर दोनों ही तरह के लेख प्रकाशित किए। हिंदी पत्रकारिता के गंभीर लेखों में बलात्कार के विषय को महिलाओं की प्रति हिंसा की समस्या के रूप में देखा। लेख इस प्रकार के प्रश्न भी करते थे कि बलात्कार की घटनाएं क्या उस व्यापक हिंसा का एक पहलू हैं जो पूंजीवादी व्यवस्था के बढ़ते हुए वर्ग संघर्ष के कारण पैदा होती है? या ये नारी की आजादी के आंदोलन का ही एक प्रतिक्रियात्मक पहलू है कि नारी या तो ज़रूरत से ज़्यादा आजाद होकर अपनी को जोखिम में

[323] माकपा की कार्यकर्ता नीलम चतुर्वेदी का साक्षात्कार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पेज न०-300

डालती है जिसे उस समाज ने अब तक बचा कर रखा था। कल्पना कनबरन महिलाओं के बलात्कार के घटनाओं के संदर्भ में हिंदी पत्रकारिता की अभिव्यक्ति पर बताती हैं कि -

> "बलात्कार जैसी घटनाओं के रिपोर्टिग या समाचार-लेखन में पीड़िता के नाम का उल्लेख नहीं करने का निर्देश पत्रकारिता संहिता के अनुसार है। परंतु, अधिकांश घटनाओं में प्रेस इस नैतिक संहिता का पालन नहीं करती है। कभी-कभी तो नाम के साथ तस्वीरे भी छाप दी जाती है। जो पीड़िता के समक्ष कई समस्याएं पैदा कर देती है।"[324]

हिंदी पत्रकारिता के बलात्कार के संदर्भ में अधिकांश रिपोर्टिग में महिलाओं के अस्मिता को मुख्य प्रश्न बनाने का प्रयास दिखता है, जिसके अंदर महिलाओं के बलात्कार से जुड़े अन्य प्रश्न गौण हो जाते हैं। इस तरह के विचारों का लेखन कई लेखों में मिलता है। मसलन, 'धर्मयुग' में प्रकाशित लेख 'बलात्कार दोषी कौन?' में नीलिमा सिंह लिखती हैं कि -

> "यह सिर्फ़ यौन संबंधी अपराध ही नहीं बल्कि स्त्री को हीन अवस्था में धकेलने के प्रयोजन से किया जाता है। यह सामान्यत शारीरिक आनंद नहीं अपितु विकृत परपीड़न सुख का माध्यम है।"[325]

'मनोरमा' में भी नीलिमा सिंह अपनी लेख 'बलात्कार इतना शोर क्यों और क्यों नहीं?' में लिखती हैं कि -

> "बलात्कार की मनोवृति और प्रवृति को देखते हुए समाज को बलात्कार को हिंसा और मारपीट का दर्जा दें। हमारे समाज में अविवाहिता का कौमार्य और विवाहिता का सतीत्व चिरपोषित मानव मूल्य हैं। इसके आलोक में शीलभंग की हिंसा को देखें तो कहा जा सकता है कि यह केवल शारीरिक मूल्यों पर आघात है। इसकी प्रतिक्रिया प्राय: यह होती है कि इस घटना को छिपाने का प्रयास किए जाते हैं। इससे यह हिंसा बढ़ती रहती है किंतु इसे रोकने के प्रयासों को ठोस आधार नहीं मिल पाता। इसलिए बलात्कार को शारीरिक हिंसा के समकक्ष मानना चाहिए और इसे सार्वजनिक बहस का विषय बनाना चाहिए।"[326]

---

[324] Kalpana kannabiran and ritu Menon, Form Mathura to Manorama . Kali for Women, 2007, page no 122-23

[325] धर्मयुग, 26 मई 1985, पृ० 31

[326] मनोरमा, मार्च 1981, पेज न०- 58-61

बलात्कार समस्या पर 'रविवार' ने वर्ष 1980 में विशेष अंक प्रकाशित किया। इस अंक में मीरा सवारा अपनी लेख 'औरत की इच्छा के विरुद्ध' में समाज द्वारा औरत बने रहने और फलस्वरूप सभी असमान स्थितियां झेलने के लिए मजबूर किए जाने की चर्चा की। साथ ही समाज, न्याय व्यवस्था व जन मानस में गहरे पैठी इन धारणाओं व दलीलों की भर्त्सना की गई है कि औरत के साथ ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि यह क्रिया उसकी रजामंदी के बिना संभव नहीं है। वो लिखती हैं कि -

> "बलात्कार मूलत: शक्ति-प्रदर्शन की चरम सीमा है- औरत और मर्द के असमान संबंधों का नतीजा। इसके माध्यम से महिलाओं को बराबर भय में रखा जाता है। कई बालात्कार की घटनाओं के बाद बलात्कार के विरुद्ध संघर्ष मूलत: पुरुष आधिपत्य के विरूद्ध संघर्ष है।"[327]

हिंदी पत्रकारिता ने जहां बलात्कार के मुद्दे पर काफ़ी गंभीर लेख प्रकाशित कर इसे हिंसा के रूप में स्थापित कर सार्वजनिक बहस का विषय बनाने का प्रयास किया जिससे जनमानस में एक जनचेतना का विकास हो सके। वहीं हिंदी पत्रकारिता में बलात्कार संबंधी घटनाओं और सूचनाओं को अधिक स्थान मिलने पर काफ़ी विरोध भी किया जा रहा था। मसलन, 'रविवार' में 'कुतुबनामा' स्तंभ में 'संवाददाताओं को रोको' शीर्षक के अंतर्गत कुतुबशाह लिखते हैं -

> "सूचना और प्रसारण मंत्री वसंत साठे को अख़बारों में छपने वाली बलात्कार की ख़बरें अतिशयोक्तिपूर्ण और कभी-कभी काल्पनिक भी लगती है। इन सबको पीछे छोड़ गए हैं ज्ञानी जैल सिंह जो इस बात से नाराज है कि औरतों के साथ बलात्कार और दुर्व्यवहार की खबरों को इतना महत्व क्यों दिया जा रहा है?"[328]

हिंदी पत्रकारिता में बलात्कार के विषय पर गंभीर लेखों के साथ सनसनी फैलाने वाले लेखों का भी प्रकाशन अधिक हो रहा था जिसने महिलाओं की स्थिति और बलात्कार संबंधी घटनाओं को महत्वहीन बनाने का प्रयास किया। हिंदी पत्रकारिता के इस रूख पर ममता कालिया 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'आजादी के बाद मध्यवर्गीय नारी' में खुल कर विरोध प्रकट करते हुए लिखती हैं -

> "रीतिकालीन जुगुप्सा से भरे इन प्रचार माध्यमों ने स्त्री का जमकर दुरूपयोग किया है।पत्र-पत्रिकाएं कभी मथुरा कांड, कभी माया त्यागी कांड पर सचित्र लेख छापती हैं, मथुरा और माया त्यागी महज तमाशा बनकर रह जाती है। स्त्री स्वतंत्रता की समर्थक भी इसपर चुप्पी साधे

[327] रविवार, 30 मार्च 1980

[328] रविवार, 17 अगस्त 1980

रहती है क्योंकि स्त्री अधिकारों के लिए संघर्ष करना उनको आता है, उसके अस्तित्व की मांग जैसे मूलभूत और मामूली प्रश्नों पर उत्तेजित होना नहीं।"[329]

80 के दशक में हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं पर हिंसा के विषय पर बलात्कार, जिंदा जलाना और अपहरण को प्रमुखता से जगह मिली। एक अध्ययन के अनुसार इस अवधि में हिंसा की कमोवेश छह हजार के आसपास सूचनाएं और लेख एक वर्ष में प्रकाशित हो रहे थे। बलात्कार पर इन प्रकाशित लेखों में जहां समस्या के प्रति ध्यान आकर्षित करने, उसपर विचार करने के प्रयास, उसके संदर्भ में सही प्रश्न उठाने, समाज में व्याप्त भेदभाव पूर्व स्थितियों की विडम्बनाओं को उजागर करने, इस समस्याओं के विरोध में आवाज़ उठाने का प्रयास दिखता है। वही कई लेख, समाचार और उनसे बढ़कर उनके शीषर्क इस बात को पुष्ट करते हैं कि महिलाओं को असमान मानने वाली पुरानी दुराग्रही नज़रिया भी बकायदा मौजूदा था। चिंतकों की एक वर्ग प्रश्न उठाया कि इस शारीरिक व मनोवैज्ञानिक हिंसा के नैतिक पक्ष को ही क्यों उभारा जाता है? इस समयावधि में इस प्रगतिशील दृष्टि के तहत इस अत्याचार से संबंधित सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का अध्ययन सामने आया कि बलात्कार वस्तुत: महिलाओं की प्रति हिंसा के साथ ही महिलाओं से संबद्ध पुरुष से बदला लेने का माध्यम भी है। हिंदी पत्रकारिता ने ऐसे विषयों पर खुलकर चर्चा का महौल बनाया। इसे किसी स्त्री या परिवार का निजी मामला न मानकर समाज और राष्ट्र के स्तर पर भी देखा गया। इसके साथ-साथ हिंदी पत्रकारिता ने कई लेखों ने महिलाओं की बलात्कार के विषय को उछालकर सस्ती लोकप्रियता को भुनाने का प्रयत्न भी किए। इस प्रकार के लेखों का उद्देश्य अत्याचारों के ख़िलाफ़ किए जा रहे महिला आंदोलन को निरर्थक साबित करना रहा। इन लेखों ने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया कि महिलाएं अगर दबकर, अपना निचला दर्जा मानकर नहीं रहेगी तो उनके अंह को इसीप्रकार कुचला जायेगा। फिर इसमें इस अपराध का एकमात्र कारण युवतियों के भड़कीले वस्त्रों को ही बताया गया यानी महिलाएं समस्या की जड़ स्वयं है।

वर्ष 1990 के दशक और उसके बाद निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में महिलाओं के साथ बलात्कार के संदर्भ में कुछ नई प्रस्थान बिंदु उभर कर सामने आए। इसके पूर्व हिंसा और सांप्रदायिक टकरावों की हर स्थिति में महिलाएं शिकार बनती थी। दंगे-फंसाद में उनके घर, परिवार के पुरुष और टूटी ज़िंदगी को पटरी पर लाने का भार उनके ऊपर होता था, यह स्थिति अब भी है। परंतु,

[329] साप्ताहिक हिंदुस्तान, 30 अगस्त 1981, पेज न०-41

हिंसा में महिलाओं की सहभागिता ने एक नया नज़रिया पेश किया। उर्वशी बुटालिया विश्व हिंदू परिषद की महिला शाखा की कृष्णा शर्मा के संदर्भ से बताती हैं कि -

> "अगर कोई लड़की बलात्कार होने के कारण आत्महत्या कर लेती है तो क्या उसका भाई बदला नहीं लेगा। हिंदुओं को ऐसा करना अवश्य करना है जिससे दूसरे उनसे डरें। हमें अपनी दिलेरी का सबूत देना है। अगर वह हमारी 10-15 महिलाओं का बलात्कार करते हैं तो हमें यह सिद्ध करने के लिए कि हम किसी से कम नहीं कुछ बलात्कार तो करने होगे।"[330]

जाहिर है यह स्थिति सिर्फ़ हिंसा की व्याख्या नहीं करती है, बल्कि इस तरह के विभाजन से हिंसा के कई रूप सामने आते है जो अब तक सामने आए ही नहीं थे। हिंसा क्या-क्या रूप धारण करती है या किन-किन तरीकों से व्यक्त होती है और इसे किन तरीकों से वैध्यता भी मिलती है।

इसके साथ-साथ वर्ष 1990 के बाद के दशकों में नई आर्थिक नीति के कारण भी बलात्कार के मामले में नई तरह का नज़रिया विकसित किया। बलात्कार के मुद्दे पर एक नज़रिया इसे पूंजीवादी पितृसत्ता से जोड़कर देखता है। जिसमें यह धारणा विस्तार पाती है कि महिलाओं की सुरक्षा एंव दायित्व की पूरी जिम्मेदारी पुरुषों पर ही है। यह नज़रिया महिलाओं की आजादी और बराबरी का सम्मान करता है लेकिन महिलाओं की पूंजीवादी संस्कृति के वाहक बनने पर आपत्ति भी करता है। यह मान्यता पुरानी सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्था को और महिलाओं को पितृसत्तात्मक समाज द्वारा तय किए गए मूल्यों को बनाए रखने के पक्ष में है। यह नज़रिया पूंजीवादी संस्कृति में महिलाओं की सुरक्षा को उनके पहनावे, उनके चाल-चलन से जोड़ता है, महिलाओं की सुरक्षा की जिम्मेदारी महिलाओं पर खुद डालता है और कहीं न कहीं बलात्कार और यौन हिंसा को जायज ठहराता है। जो पूंजीवादी संस्कृति के उस दबाब को खारिज करता है महिलाओं को जीरो साइज का बनना, मेकअप करना और माडर्न कपड़े पहनने का दवाब बनाती है।

स्पष्ट है नई आर्थिक नीति, सामाजिक सांप्रदायिक तनाव और जातीय संघर्षो ने कि बलात्कार के संदर्भ में कई तरह का नज़रिया को विमर्श के धरातल पर ला खड़ा किया है। एक, संस्कृति बलात्कार को जायज ठहराने से भी नहीं हिचकती है। तो दूसरी, बलात्कार को हिंसा के लिए अपनाया गया एक माध्यम के रूप में देखती है। इसके साथ-साथ एक संस्कृति महिलाओं की आधुनिक पहनावे को इस तरह के घटनाओं का कारण मानती है। वहीं, बलात्कार के संदर्भ में

---

[330] उर्वशी बुटालिया, भारत में महिलाएं और हिंसा, सं.साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, नारीवादी राजनीति संघर्ष एंव मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविधालय, नई दिल्ली, 2001, पेज न०-380

न्याय, कानून के कार्यान्वयन एंव व्याख्या के कई प्रश्न अनुत्तरित हैं। जो बलात्कार के हर अदालती मामले को पेचीदा बना देते है और महिलाओं की उत्पीड़न को प्रभावित दोराहे पर ला खड़ा करती है। न्यायालय में बलात्कार के मामलों को किसी महिला के विरुद्ध हिंसा के तौर पर नहीं देखा जाता बल्कि इसे एक पुरुष को अनियंत्रित हवस के तौर पर देखा जाता है। इस विषय पर और भी मसले हैं, जैसे- कामुकता, महिलाओं की शालीनता या कौमार्य के खोने पर स्थापित विचार और विवाह की संभावना, अक्सर ही बलात्कार के शारीरिक पक्ष पर ध्यान केंद्रित किया जाता है जैसे पेनिस का प्रवेश, जबकि बलात्कार के सामाजिक और मनौविज्ञानिक पक्षों को नज़रअंदाज़ किया जाता है। इसके साथ-साथ न्याय का उद्देश्य न्यायिक प्रक्रिया में विलंब से मर जाता है साथ ही पीड़िता को परेशान करने वाले प्रश्न, तृच्छ और विकृत रिपोर्ट, गवाही को दोषपूर्ण तरीके से लिखना और मामले की संवेदनशीलत विशेषता न्यायिक प्रक्रिया को प्रभावित करते है।

वर्ष 1990 के दशक और उसके बाद में हिंदी पत्रकारिता में बलात्कार विषय को इन प्रश्नों के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। परंतु, कुछ प्रश्नों को अधिक महत्व नहीं दिया या अपनी अभिव्यक्ति का हिस्सा नहीं बनाया। मसलन, 'हिंदुस्तान' में ज्ञानेंद्र रावत अपनी लेख 'बलात्कार, समाज और सजा' में लिखते हैं कि -

> "बलात्कार के मामलों में बढ़ोतरी का कारण यह है कि अपराधी व्यक्ति को इस अपराध का उचित दंड नहीं मिल पाता है। कई मामले में अपराधी बरी होने के बाद पीड़ित पक्ष से बदला लेने के लिए उतारू हो जाता है। पीडित पक्ष को न ही न्याय मिल पा रहा है और न ही सामाजिक सुरक्षा। वह हमेशा सामाजिक सुरक्षा के अभाव में अपराधी भाव के साथ जीने को विवश है। बलात्कार के तमाम मामलों में यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या पीडित को जीवन भर मिलने वाले तनाव से मुक्ति मिल सकेगा? बलात्कार से हुई शारीरिक क्षति की भरपायी हो सकेगी? बलात्कार के कई मामलों में न्यायाधीश का फैसला भी व्यक्तिगत हो जाता है नतीजतन बलात्कार के अधिकतर मामलों में पीड़ित महिला को न्याय नहीं मिल पाता क्योंकि इसे साबित करना मुश्किल हो जाता है। कानून में बलात्कार की परिभाषा में बदलाव के साथ ही न्यायिक व्यवस्था में महिलाओं की अधिक हिस्सेदारी जरूरी है।"[331]

महिलाओं की ख़िलाफ़ हिंसा के मुद्दे पर लोकसभा में चले बहस पर गृहमंत्री लालकृष्ण आडवाणी ने बलात्कारियों को सजा-ए-मौत देने के लिए राज्यों की सलाह से फौजदारी कानून में इस आशय

[331] 17 अगस्त 1996, हिंदुस्तान

का प्रावधान जोड़ने का सुझाव रखा। जिसने बलात्कार के लिए दोषी व्यक्ति को कठोरतम सजा पर बहस शुरू हुई है। 'नवभारत टाईम्स' में जगजीत सिंह अपनी लेख 'बढ़ते बलात्कार, सिकुड़ता न्याय' में बताते हैं कि -

> "बलात्कार के लिए मृत्युदंड संबंधी सरकार की ताजा पेशकश के परिपेक्ष्य में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कानून की किताब में कत्ल जैसे संगीन जुर्म के लिए भी बहुत पहले से फांसी की सजा मुकर्रर है और अब तक कत्ल के सैकड़ों मुजरिमों को फांसी पर लटकाया जा चुका है। लेकिन उसके बाद भी कत्ल की वारदातें कम नहीं हुए है खत्म होना तो दूर की बात है। वही बलात्कार के गंभीर समस्या के प्रति पुलिस की उदासीनता, कानून की प्रतिक्रियात्मक सुस्ती तथा कछुआ चाल से खुला सबूत पेश करती है, जो पीड़ित महिलाओं को न्याय से वंचित रखती है। अगर बलात्कार के लिए कठोर सजा की बात है तो इसके लिए जरूरी है कि सोई और अपनी आप से खोई प्रशासनिक मशीनरी को संवेदनशील और चुस्त बनाया जाये, न्यायिक प्रक्रिया में तेज़ी लाए, बलात्कारी के बेदाग बचाव की गुजाइश रखने वाले छिद्रित कानून बदले जाएं और यौन विकारों को खुला आमंत्रण दे रहे मीडिया नंगेपन पर चादर डाली जाएं।"[332]

बलात्कार और मृत्युदंड के प्रावधान विषय पर 'हिंदुस्तान' अपनी संपादकीय कालम में लिखता हैं कि -

> "बलात्कार के मामलों में महत्व सजा के कठोर होने न होने का नहीं है। मुख्य बात यह है कि अपराधी को सजा मिले। फांसी की सजा न तो जायेज है और न ही अपराध रोकने के लिए काफ़ी है। बलात्कारी को फांसी की सजा दी जाये या नहीं, इस पर बहस हो सकती है, लेकिन बात तो निश्चित है कि उसे सजा मिले। अभी तो ज़्यादातर बलात्कारी सजा ही नहीं पाते, तो अपराध में कमी कैसे आएगी? फांसी की सजा मिले या नहीं, इस बहस पर समय लग सकता है तब तक सरकार अगर यही सुनिश्चित कर दे कि फिलहाल जो कानून है उसके अनुसार हर बलात्कारी को सजा मिलेगी तो यह बड़ी बात होगी। वरना फांसी की सजा से बचने के भी रास्ते निकल आयेंगे।"[333]

बलात्कार के मामले में दोषी व्यक्ति को मृत्युदंड देने की सोच ने बलात्कार के कानूनी परिभाषा में सुधार और पीड़ित पक्ष को कानून के कार्यवहन के लचीलेपन के विषय को हाशिये पर ला दिया। अरविंद जैन 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'बलात्कारीयों को मृत्युदंड कैसे दोगे?' में लिखते हैं कि -

> "भारतीय दंड संहिता में धारा 304(B) पहले जहां दहेज हत्याओं के मामलों में अधिकतम सजा मृत्युदंड हो सकती थी, वहां अब अधिकतम सजा उम्रकैद ही हो सकती है। दहेज हत्या के इस कानून में संसोधन इसलिए किए गए कि पितृसत्ता को अपनी बेटों की चिंता थी। उन्हें मृत्युदंड

[332] 13 अगस्त 1998, नवभारत टाइम्स

[333] 15 अगस्त 1998, हिंदुस्तान

> से बचाना था। तो अब बलात्कार के अपराध के लिए मृत्युदंड का प्रावधान कैसे और क्यों बनाया जा सकता है।"[334]

बलात्कारियों को मृत्युदंड के बहस को मूल विषय से भटकाने का बहस बताते हुए अनिल चमड़िया 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'बलात्कारियों को फांसी की बहस के बीच भंवरी' में लिखते है कि -

> "गृहमंत्री की मौत की सजा की वकालत इसीलिए अर्थहीन हो जाती है क्योंकि वह कड़ी से कड़ी सजा देने की ज़रूरत पर बल देते तो नज़र आते हैं, लेकिन न्यूनतम सजा दिलाने की व्यवस्थागत विफलता पर कोई बहस नहीं होने देना चाहते हैं। विडंबना यह है कि उत्पीड़ित समाज आधुनिक लोकतंत्र और उसकी व्यवस्था पर अपनी आस्था प्रदर्शित करते हुए उससे न्याय की उम्मीद करता है और उत्पीड़कों को सजा देने का काम अपनी हाथ में नहीं लेता है। जबकि आधुनिक लोकतंत्र का नेतृत्व इसकी आड़ में पुरानी व्यवस्था को बरकरार रखने की हर संभव कोशिश करता है। यह अनायास नहीं है कि भंवरी देवी का उत्पीड़न एक आंदोलन की पृष्ठभूमि बना पर भंवरी देवी को इंसान आज तक नहीं मिल सका हैं।"[335]

बलात्कार के विरुद्ध चलाये गए आंदोलनों ने यह महसूस किया था कि बलात्कार के विषय पर नवनिर्मित कानूनों एंव उसके कार्यान्वयन में किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं है, जो महिलाओं की मानसिक और सामाजिक उत्पीड़न का कारण बनता है। बलात्कार के बाद पीड़ित पक्ष को न्याय और दोषी को सजा पर प्रकाशित लेखों की टिप्पणियों से पता चलता है कि इस समयावधि में महिलाओं पर होनी वाली हिंसा के न्यायिक पक्ष की कमजोरियों पर खुल कर चर्चा की जा रही थी और इन कमजोरियों के समाधान पर बहसें भी हो रही थी। नियम, क़ायदे-कानून, परंपरा, नैतिकता-आदर्श और न्याय-सिद्धांत सब पुरुषों ने ही बनाए हैं और वे ही उन्हें समय-समय पर परिभाषित और परिवर्तित करते रहते है। वर्ग हितों की रक्षा में महिलाएं न्याय-व्यवस्था में भी उत्पीड़न का शिकार होती है। महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के अधिकतर मामलों में न्याय-प्रणाली की खामियां को हर कोण से समझने का प्रयास करने की जगह इसका समाधान के लिए बहस भी चल रही थी। परंतु, इसके समाधान मृत्युदंड के प्रावधान के सिफारिश में समझने का प्रयास हो रहा था। जिसका विरोध महिला आयोग, मानवाधिकार और आंदोलनों के द्वारा भी हो रहा था। इस विषय पर व्यापक बहस तब शुरू हुई जब जेसिका लाल हत्याकांड[336] में अभियुक्तों की रिहाई

---

[334] 2 दिसंबर 2002, हिंदुस्तान

[335] 9 जनवरी 2003, हिंदुस्तान

[336] जेसिका लाल नई दिल्ली में एक मांडल थी, 29 अप्रैल 1999 को, उसकी गोली मार कर हत्या कर दी गयी जब वो एक भीड़ भरी उच्चवर्गीय पार्टी में एक प्रतिष्ठित बारमेड की तरह काम कर रही थी। दर्जनों गवाह ने कातिल के रूप में

हो गई, जिसने वर्तमान न्याय प्रणाली की खामियां पर विचार करने के लिए विवश किया। इस मामले ने बलात्कार के मामलो में ट्रायल सुनवाई महिला जज कर सकें, इसकी सिफारिश भी की गई। परंतु, अन्य कई न्यायिक खामियां नज़रअंदाज़ कर दी गई। जबकि महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के मामलों में नियंत्रण के लिए न्याय प्रक्रिया के सरंचना में मूलभूत बदलाव की ज़रूरत हमेशा से रही है।

इसके साथ बलात्कार के विषय पर मीडिया, न्यायपालिका और समाज के प्रभावशाली मूल्यों की भूमिका पर कुछ लेख देखने को मिलते हैं। महिला संगठनों ने जहां बलात्कार संबधी कानूनों की सीमाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया वहीं बलात्कार की स्त्री विरोधी मानसिकता के ख़िलाफ़ जनमानस बनाने में मदद की। महिला संगठनों ने इस नज़रिये को स्थापित किया कि बलात्कार से आहत व्यक्ति इंसान पहले होता है, किसी व्यक्ति या समुदाय की संपत्ति या मर्यादा नहीं- असली सवाल अस्मत का नहीं अस्मिता का है।

सामाजिक संस्था के रूप में मीडिया भी अपनी अभिव्यक्ति और सूचनाओं के प्रस्तुतीकरण के माध्यम से महिलाओं की उत्पीड़न का कारण बनता है। कमला भसीन बताती हैं कि -

> "मीडिया का प्रत्यक्ष प्रभाव से ज़्यादा अप्रत्यक्ष प्रभाव भयभीत करता है। मीडिया जनमत व व्यक्तिगत विश्वास को धीरे-धीरे बनाने और यहां तक कि जनता के आत्मबोध को भी बनाने के द्वारा, विचारधारा व विचारों को गढ़ने एंव समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है।"[337]

मीडिया के इसीप्रकार की भूमिका पर कमलेश जैन 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'बलात्कार की परिभाषा बदलें' में लिखते हैं कि -

> "मीडिया क्यों बलात्कार जैसे अपराधों में पीड़िता की ही तस्वीर छापता है। बलात्कार सत्ता की अभिव्यक्ति है या पुरुष का 'सेक्स धन' काले धन की तरह विकराल एंव निरंकुश हो गया है, इसकी अभिव्यक्ति आदि। यह समस्या काफ़ी बड़ी है और इससे जुड़े सवाल इतने ज़्यादा कि इतने ढ़ेर सारे पहलू एंव आवाम अभी भी अनुत्तरित हैं। आज के बदले हुए परिवेश में बलात्कार की परिभाषा में महत्वपूर्ण बदलाव की ज़रूरत हैं। आज यह अपराध नारी के जननी बनने की विशेषता के कारण नहीं होता, बल्कि उसके नारी होने के कारण होता है। आज यह महिला के

हरियाणा में एक कांग्रेस नेता विनोद शर्मा के बेटे मनु शर्मा की निशानदेही की थी। सात चले मुकदमें के बाद मनु शर्मा और अन्य लोगों को बरी कर दिया गया।मीडिया और जनता के जबरदस्त दबाव के बाद उच्च न्यायालय ने निचली अदालत के फैसले को दोषपूर्ण पाया और मनु शर्मा को दोषी मानते हुए आजीवन कारावास की सजा सुनाई गयी।

[337] कमला भसीन और बीना अग्रवाल (1984)- सं वुमेन एंड मीडिया - एनेलेसिस, अल्टरनेटिव्स एंड एक्शन, काली फार वुमेन, नई दिल्ली।

> लिए अपनी विकृत मनोवृत्ति और जातीय, वर्गीय और धार्मिक पूर्वाग्रहों का भी परिणाम है। जिसकी अभिव्यक्ति मीडिया के संचार माध्यमों में नहीं के बराबर दिखती है। मीडिया को बलात्कार को बदली हुई परिस्थितियों में समझने की ज़रूरत है।"[338]

महिलाओं की विरुद्ध हिंसा की कई घटनाएं मीडिया में अभिव्यक्त नहीं हो पाती या उनका जिक्र मीडिया में बहुत कम हो पाता है। मीडिया में बलात्कार विषय पर प्रकाशित खबरों पर कल्पना शर्मा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'किसके हक में खड़ी है ख़बरें' में लिखती हैं -

> "महिलाओं से बलात्कार की ख़बरें आजकल चर्चा में हैं। चाहे काश्मीर के दो महिलाओं की साथ बलात्कार की घटना हो, जिसके कारण घाटी में हिंसा हुई या मुंबई में एक अभिनेता द्वारा घरेलू नौकरानी से किया गया बलात्कार। बलात्कार की अधिकतर मामलों में ख़बरें जब भी मीडिया में आती है तो वहां अक्सर बलात्कार का मुद्दा गौण हो जाता है। महिलाओं की पहनावा पुरुषों को उकसाता है या महिलाओं को अकेले नहीं निकलना चाहिए जैसी बहसों पर टिक जाती है। मीडिया जिस तरह से मध्यम या उच्च वर्ग के बलात्कार के मामलों को उछाल रहा है, उसे देखते हुए महिलाएं ऐसी घटनाओं की शिकायत करने से और भी झिझकेंगी।"[339]

इस प्रकार, बलात्कार की घटनाओं पर समाज की प्रतिक्रिया पर कल्पना शर्मा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'हिंसा झेलती महिलाएं और मूकदर्शक समाज' में लिखती हैं कि -

> "महिलाओं की विरुद्ध हिंसा की घटनाओं में सबसे ज़्यादा तकलीफ देने वाली बात यह है कि जो कुछ भी हुआ और उसे लोगों ने देखा, लेकिन किसी ने हस्तक्षेप नहीं किया। बाकी लोग मूकदर्शक बने अन्याय होते देखते रहे। हमारे समाज को यह क्या हो रहा है? खामोश रहकर हम तुच्छ और कायरतापूर्ण हिंसा को बढ़ावा क्यों दे रहे है? हम इसे कैसे रोक सकते हैं? हिंसा की शिकार हो रही महिला भी तब तक विद्रोह नहीं करतीं, जब तक कि पानी सिर से न गुजर जाये। गंभीर रूप से घायल होने या मरने पर ही उनकी ख़ामोशी टूटती हैं। असामाजिक तत्वों द्वारा महिलाओ के विरुद्ध हिंसा के मामले में मौन रहना स्वथ्य समाज के संकेत नहीं हो सकते।"[340]

इसप्रकार, सामाजिक संस्थाओं की बलात्कार के विषय पर समस्या के प्रति ध्यान आकर्षित करने, उसपर विचार करने, उसके संदर्भ में सही प्रश्न उठाने, समाज में व्याप्त भेदभाव पूर्व स्थितियों की विडम्बनाओं को उजागर करने के साथ इस समस्या के विरोध में आवाज़ उठाने का प्रयास हिंदी पत्रकारिता में दिखता हैं। इन प्रयासों के साथ कुछ लेख ऐसे भी देखने को मिलते है जो महिलाओं से संबंधित बलात्कार के विषय को दुराग्रह युक्त नज़रिये से देखती हैं। इस प्रकार की खबरों की सख्यां में बहुत अधिक छपती हुई दिखती है जिसका एक प्रधान कारण सनसनीखेज

---

[338] 2 जनवरी 2001, हिंदुस्तान

[339] 10 जुलाई 2009.हिंदुस्तान

[340] 20 मार्च 2009, हिंदुस्तान

सामग्री देकर पाठक सख्यां बढ़ना होता है। महिलाओं की उत्पीड़न की ख़बरें प्रकाशित करने के पीछे इस विषय के प्रति चिंता या गंभीर चितन का होना जरूरी नहीं होता है। इस तरह की प्रतिक्रियावादी लेखन बराबर देखने को मिलता है। इन लेखों में बलात्कार से महिलाओं की उत्पीड़न को अधिक महत्व दिया जाता है और महिलाओं की आजादी को निरंकुश मानकर पुरुष समाज महिलाओं को वश में रखने के लिए आक्रामक रूख को उचित मानते है।

मसलन, 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'जिस पर जुल्म वही दोषी' में रतना वर्मा लिखती हैं कि -

> "हमारी सामाजिक अवनति का इससे बेहतर क्या प्रमाण हो सकता है कि आज से सवा दो हजार वर्ष पहले जिस देश में चाणक्य ने अपनी अर्थशास्त्र के 27वें अध्याय में यह विधान बना रहा था कि वेश्या की नाबालिग पुत्री से बलात्कार करने वाले पुरुष को कड़े से कड़ा दंड दिया जाये, उसी देश में आज बलात्कार पीड़ित स्त्री ही सामाजिक अपराधिनी मानी जाती है।"[341]

लेख में आगे लेखिका मौजूदा बलात्कार कानून की विसंगतियों पर अपना विचार प्रकट करती हुई कहती है कि-

> "लंबे संघर्ष के बाद कानून में संसोधन के तहत बलात्कार को यौन अपराध माना गया। परंतु, बलात्कार संबंधी साक्ष्य अपराधी तथा पीड़िता का शारीरिक परीक्षण को माना जाता है। अक्सर बलात्कार के मामलों में प्राथमिकी कई दिनों के बाद दर्ज होती है कई बार कई तरह की मान्यताएं और स्थानीय वर्चस्व के कारण भी इसमें विलंव होता है। ऐसे में बलात्कार के साक्ष्य मिट जाते है जो अपराधी को छूटने में सहायक होते है। जिससे पीड़िता को न्याय नहीं मिल पाता और लोगों के ताने से उनका जीना मुश्किल हो जाता है।"[342]

इस प्रकार के दर्रे का लेखन जो महिलाओं की समस्या को भी प्रस्तुत करता है। परंतु, अपना वैचारिक स्त्रोत परपंरावादी विचारधारा से पाता है, कई लेखों में देखने को मिलता है। 'बलात्कार के लिए दोषी कौन'[343], 'बलात्कार और उत्पीड़न का अंतहीन सिलसिला'[344], 'यौन अपराधों का द्दय विदारक पहलू'[345], 'बलात्कार से दलित और आदिवादियों का दमन'[346] इसी तरह के लेख है। इस प्रकार के लेख, समाचार और उनसे भी बढ़कर शीर्षक इस बात की पुष्टि करते हैं कि महिलाओं को असमान मानने वाली पुरानी दुराग्रही दृष्टि बाकायदा मौजूद थी और इस क्षेत्र में सक्रिय भी थी। नारीवादी आंदोलनों ने बलात्कार के मुद्दे पर जो सवाल अनुउत्तरित छोड़ दिये थे

---

[341] 17 फरवरी 1991, हिंदुस्तान

[342] 17 फरवरी 1991, हिंदुस्तान

[343] 17 जून 1990, हिंदुस्तान

[344] 17 अगस्त 1996, हिंदुस्तान

[345] 6 अक्टूबर 1993, हिंदुस्तान

[346] 21 नबंवर 2000, नवभारत टाइम्स

उन सवालों को वर्ष 1990 के बाद में हिंदी पत्रकारिता ने बहस का विषय बनाने का प्रयास किया। हिदीं पत्रकारिता में बलात्कार पर चर्चा करते हुए कुछ बहुत बुनियादी और अब तक अनकहीं बातें अभिव्यक्त होते दिखती है। कई लेखों ने इस भ्रम को तोड़ा कि इस प्रकार के अपराध के लिए स्त्रियों के उत्तेजक हाव-भाव, परिधान इत्यादी ही जिम्मेदार होते हैं। कई लेखों ने यह प्रमाणित किया कि आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से दमित, शोषित, शोषित वर्ग की स्त्रियां इस तरह दंडित की जाती है। शोषक वर्ग का प्रकोप बलात्कार के रूप में अभिव्यक्त होता है। इससे भी एक क़दम आगे बढते हुए हिंदी पत्रकारिता ने एक अत्यन्त मानवीय प्रश्न यह उठाया कि किस प्रकार किसी स्त्री की नैतिक दृष्टि से बहुत दृढ़ न होने पर भी उनका दैहिक अपमान नहीं होना चाहिए। इसके साथ हिंदी पत्रकारिता ने यह मांग भी उठाई कि महिलाओं को अपमानित करना एक जघन्य मनोवृत्ति हैं।

बलात्कार के बाद पीड़िता के लिए कानूनी प्रावधान की सीमाओं पर स्वस्थ दृष्टिकोण पनपा। लेखों, संपादकीय के एक सारणी ने यह प्रश्न भी उठाया कि बलात्कार में शारीरिक व मनोवैज्ञानिक हिंसा के नैतिक पक्ष को क्यों उभारा जाता है? इस समयाविधि में यह विचार भी सामने आया कि यह हिंसा महिलाओं की प्रति पुरुषों के द्वारा बदला लेने का माध्यम है। इसके साथ-साथ बलात्कार हिंसा के सामाजिक-आर्थिक और समाजिक पहलूओं को भी कई लेखों ने सामने लाने का प्रयास किया। इस दशक में सांप्रदायिक दंगे और जातीय वर्चस्व के कई घटनाएं हुई। इस दशक के सांप्रदायिक और जातीय हिंसा का शिकार महिलाएं हुई क्योंकि बलात्कार हिंसा समान्यत: प्रतिवाद प्रकट करने वाला, आंदोलन कुचलने या जाति व धर्म के संघर्ष में विरोधी को अपमानित करने में, शासन नेतृत्व की अभिलाषों के विरुद्ध महिलाओं की विरुद्ध प्रयुक्त किया जाता हैं। परंतु, सांप्रदायिक, जातीय या शासन द्वारा बलात्कार हिंसा से प्रभावित महिलाओं की न्याय या इस संबंध में लेख, संपादकीय और सूचनाओं का अभाव हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलता हैं। इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि बलात्कार से संबंधित ख़बरें 'सोफ्ट न्यूज' या 'नर्म ख़बरें' ही मानी जाती हैं, जब तक कि इसमें सनसनी या हिंसा के तत्व विधमान न हों। ऐसी नर्म ख़बरें स्कूप बनाने में समर्थ नहीं होती हैं। ऐसे में ये गर्म खबरों से प्राय: पिछड़ जाती है। जो महिलाओं की हिंसा के संदर्भ में हिंदी पत्रकारिता के वर्गीय, सामाजिक और नैतिक सरोकार पर सवाल खड़ा करती हैं क्योंकि मीडिया के अंग के रूप में हिंदी पत्रकारिता भी लोकतंत्र के चौथे स्तंभ होने का दावा करती है।

3.6 कन्या शिशु-हत्या\कन्या भ्रूण-हत्या

औपनिवेशिक भारत में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का एक महत्वपूर्ण तरीका कन्या शिशु-हत्या भी रहा है, जो अपनी नयी शाब्दिक परिभाषा 'भ्रूण हत्या' के साथ भारतीय समाज में आज भी मौजूद है। कन्या शिशु-हत्या/कन्या भ्रूण हत्या का विमर्श भारतीय संदर्भ में समयानुसार बदलता रहा है। परंतु, यह कभी भी कन्याओं के पक्ष में नहीं गया हैं। इस विमर्श के मूल में यह स्थापित करने की आवश्यकता है कि लड़कियों का जन्म से सामाजिक-आर्थिक समस्याएं कम नहीं होगीं? क्यों कोई भी समस्या स्वतंत्र नहीं होती है? उसके साथ आर्थिक, सामाजिक एंव सास्कृतिक मूल्य, मान्यताएं और अन्य चीजें एक दूसरे से गुंथी हुई होती है।

कन्या शिशु हत्या जैसे हिंसक उदाहरण भारत के अतिरिक्त दुनिया के इतिहास में और कहीं नहीं देखने को मिलती है(इसमें कुछ अपवाद हो सकते है)। भारत में कन्या शिशु हत्या एक धार्मिक प्रथा के रूप में भी प्रचलित रही है। धार्मिक संकल्प के नाम पर, अशुभ घड़ी कहकर, उसमें जन्मे कन्या-शिशु को पूरे परिवार का कलंक मानकर उसे मार देने की घटनाएं अनेक जातियों में रही हैं। कन्या शिशु-हत्या का प्रधान कारण धार्मिक मान्यता ही नहीं रही है। कई शोधों ने इसके अन्य कारणों को उजागर किया। जे. एस. दुबाइस अपनी किताब 'हिंदू मैनर्स कस्टम्स एंड सेरेमनीज' में बताते हैं कि -

> "यह भी देखने की बात है कि शिशु-हत्याओं में सबसे अधिक हत्या कन्या-शिशु की जाती है। इसके पीछे केवल धार्मिक कारण नहीं था, सामाजिक और आर्थिक कारण मूलत: प्रबल थी। शिशु हत्या को धार्मिक संकल्प का स्वरूप देना इस अपराध को सामाजिक बहाना मात्र था।"[347]

इस संबंध में ललिता पाणिग्रही अपनी पुस्तक 'ब्रिटिश सोशल पांलिसी एंड फीमेल इन्फेंटीसाइट इन इंडिया' में बताती हैं कि -

> "लड़की का पैदा होना बड़ा अशुभ माना जाता है, उसे पैदा होते ही मार दिया जाता है। यह कार्य प्राय: नवजात को भूखा रखकर या नमक, अफीम चटाकर या अन्य कई तरीकों से किया जाता था। नीचे घरानों के अतिरिक्त ऊंचे घरानों में भी कन्या शिशु-हत्याओं के पीछे मूल कारण विवाह के समय होनेवाले खर्च आदि को लेकर ही थी।"[348]

---

[347] डा. क्षमा गोस्वामी, कहां चली जाती है कन्याएं?, सं. सुमन कृष्णकांत, इक्कीसवीं सदी की ओर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2001 पेज न.182

[348] वही पेज न. 183

औपनिवेशिक दौर में सामंती ढ़ांचे एंव मूल्य संरचना वाले समाज में कन्या-शिशु हत्या की लड़ाई बेहद जटिल एंव चुनौती भरी थी। इस देशकाल में स्त्री-पुरुष अनुपात के विश्लेषण के आंकड़ों का रिकार्ड नहीं होने के कारण कन्यावध के प्रचलित होने की बात प्रमाणिकता के साथ नहीं कही जा सकती है। परंतु, हिंदी पत्रकारिता के कुछ लेखों में इसके होने के प्रमाण मिलते हैं। जो पुत्रमोह के कारण, कन्यवध की समस्या को अभिव्यक्त करते है। मसलन, 'क्षात्रधर्म मासिक' में डा. कल्याण सिंह शेखावत कन्यावध के प्रचलन की चर्चा करते हुए, लिखते हैं -

> "राजपूत जाति में कन्यावध की प्रथा अधिकता से पाई जाती है और इसके संबंध में सामयिक पत्रों में प्रकाश भी डाला गया है.....हमारे राजपूत भाई तो आए दिन नवजात बालिकाओं की हत्या करते रहते हैं, वह बड़ा भयावह दृश्य होता है, जब लड़की पैदा होते ही गला दबोचकर उसे मार डाला जाता है और लोगों से कहा जाता है कि गर्भपात हो गया और मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ।.....कन्यावध का पाप समस्त राजपूत समाज पर है। समाज ने ही ऐसे कारण उपस्थित है जिसके कारण विवश होकर लड़की को पैदा होते ही मार डालना पड़ता है।"[349]

इसीप्रकार ठाकुर हरिसिंह शेखावत डाबड़ी के एक आलेख में भी कन्यावध की स्थिति और अधिक स्पष्ट होकर अभिव्यक्त होती है। वे लिखते हैं कि -

> "कतिपय राजपूतों में विशेषत: शेखावतों में जिनके घरों में पुत्री-वध सोत्साह चल रहा है। अनेक राजपूत कन्याओं के पैदा होते ही, भिन्न-भिन्न रूप में वध कर देते हैं।....यह कन्यावध राजसी और मध्य कोटि के सभी राजपूतों में है।"[350]

हिंदी पत्रकारिता में इन अभिव्यक्तियों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता हैं कि सामाजिक नज़रिये और परंपरा के आड़ में कन्यावध की प्रथा भारत के कई राज्यों में प्रचलित थी। हिंदी पत्रकारिता में इस समस्या के लिए संघर्ष किया और समाज सुधारकों ने भी इसका समर्थन भी किया। परंतु, यह संघर्ष कभी भी राजनीतिक प्रश्न या समस्या के रूप में स्थापित नहीं हो सकी। सदियों से चली आ रही कुरीतियों का प्रभाव इतना घातक था कि इनके कारण समाज जर्जर और अशक्त हो चुका था। समाज के विभिन्न तबकों में व्याप्त इस कुरीतियों की चर्चा उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी स्थान पाते थे।

---

[349] क्षात्रधर्म मासिक (समाचार पत्र), वर्ष1, अक 8, मई 1938, पेज न०- 37-38, NMML,माइक्रोफिल्म

[350] कन्यावध आलेख द्वारा ठाकुर धीरसिंह शेखावत, क्षात्रधर्म मासिक, वर्ष1, अंक 9, जून 1938, पेज न०- 44-46 NMML,माइक्रोफिल्म

ब्रिटिश सरकार में इसके लिए कठोर कानून की व्यवस्था करके, इस पर नियंत्रण पाने का प्रयास किया। ललिता पाणिग्रही इन प्रयासों के बारे में लिखती हैं कि -

> "19वीं शताब्दी के आखिर तक ब्रिटिश सरकार एंव देशीय शासकों ने इसे समाप्त करने हेतु उपाय किए। परंत, यह निरंतर जारी रहे। इसका कारण यह था कि विधिक प्रयास समाज में प्रभावी होने में समयग्राही होते हैं, क्योंकि सुधार को जनमानसिकता में समाविष्ट होने में समय लगता है।"[351]

इस समस्या के विरुद्ध संघर्ष में एक बिंदु यह भी था कि इस प्रथा के प्रमाण स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो रहे थे। क्योंकि यह गुप्त रूप से परिवार के सदस्यों तक सीमित, प्रचलित थी। किसी भी प्रकार के लिखित साक्ष्यों के अभाव इसके विरुद्ध राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना नहीं बना पा रही थी। परिणामत: शिक्षा के विकास या विस्तार से इस समस्या का समाधान खोजा गया। परंतु, इसका स्वरूप आजाद भारत में बदल गया और तकनीक विकास के साथ स्वास्थ्य के नज़रिये से लैंगिक परीक्षण अथवा लिंग निर्धारण के फलत: कन्यावध का स्थान भ्रूण हत्या ने ले लिया। इसके साथ-साथ कन्या भ्रूण हत्या न ही सिर्फ़ सामाजिक सम्मान बल्कि सरकार की जनसख्यां नीति से भी प्रभावित हो रही है, जिसमें "हम दो हमारे दो" का नारा अहम भूमिका निभाता है। अंतरराष्ट्रीय जनसख्यां अध्ययन संस्थान के रवि वर्मा लिखते है कि -

> "भारतीय परिवार जो सरकारी प्रचार-प्रसार के कारण छोटे होते जा रहे है, पुत्रों के तुलना में कन्याओं के बलिदान को बढ़ावा देता है।"[352]

एकाकी परिवारों से निकली कामकाजी महिलाएं एक ही बच्चे को प्रथामिकता दे रही है और इसमें पुत्र की चाह अधिक है। जिसके कारण अल्ट्रासाउंड का महत्व बढ़ गया है और बढ़ गई है कन्या-भ्रूण हत्याएं। इसतरह यह कम पढ़ेलिखे परिवारों के साथ-साथ मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग में भी घटित होने वाली समस्या या प्रवृत्ति है। जो कन्या भ्रूण हत्या के लिए जिम्मेदार बनता है।

आजादी के बाद भी संविधान में बालिकाओं में कोई भेद नहीं माना गया और लड़कियों को जन्म लेने का और जीवन जीने का पूरा अवसर का प्रावधान किया।हालाकि संविधान में दिए गए अधिकार और कानून के क्रियान्वयन में काफ़ी विरोधाभास की स्थिति है। पहली बार यह बात बलपूर्वक और खुलकर सामने कही जाने लगी कि कानून की राह के पत्थर पुरुष के हिसाब से रखे गए है यह भी कहा गया कि कानून अस्पष्ट, भ्रामक व एक दूसरे को काटने वाले है और

---

[351] ललिता पणिग्रही, ब्रिटिश सोशल पांलिसी एंड फीमेल इन्फैंटीसाइड इन इंडिया, मुंशीराय मनोहरलाल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1972 पेज न०-79

[352] वी.एन.सिह और जनमेजय सिंह, आधुनिकता एंव महिला सशक्तिकरण, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2010,पेज न०-233

अंतत: इसका लाभ स्त्रियों की नहीं मिल पाता है। यह भी कि कानूनी व्यवस्था पुरुष मानसिकता से प्रभावित है। परंतु, स्वतंत्र भारत में कन्या-शिशु हत्या के विरोध में सामाजिक और आर्थिक मान्यताओं का दमन नहीं किया जा सका। आजादी के बाद इस समस्या के ऊपर धार्मिक प्रथा का पर्दा पूरी तरह से उठ गया। कन्या-शिशु हत्या या कन्या भ्रूण हत्या करने वाले कई परिवार इसे सीधे सामाजिक और आर्थिक कारणों से जोड़ते हुए इसको न्याय-संगत सिद्ध करने की चेष्टा करते है। डा. क्षमा गोस्वामी बताती हैं कि -

> "मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय परिवार की माताएं अपनी चार-चार बच्चियों को मारकर भी किसी तरह की कुंठा से ग्रसित नहीं दिखतीं, उन्हें लगता है कि वो जो करतीं है वह पूर्णत: न्याय-संगत है। क्योंकि उन्होंने अपनी बच्चियों को गरीबी और किल्लत-भरी ज़िंदगी से जन्मते ही मुक्त कर दिया।"[353]

स्पष्ट है कि तमाम कानूनी और सामाजिक चेतना के प्रयास के बाद भी निम्मवर्गीय परिवार के साथ मध्यवर्गीय परिवारों में भी कन्या के लिए अपनी अधूरी मानसिकता में को नहीं बदल सकी। क्योंकि इन प्रयासों ने समाज में लड़कियों के संपूर्ण व्यक्तिक्त का विकास की संभावना की रूप-रेखा स्पष्ट नहीं थी। भारतीय समाज की पुत्री के प्रति द्रोह और पुत्र के प्रति अंधमोह को कई बाजारी जुमलों ने मसलन, 'आज खर्च कीजिए, कल बचाइए', 'दहेज का सस्ता विकल्प','पांच सौ दीजिए, पांच लाख बचाईए', 'लड़की न चाहनेवाली महिलाओं की लिए उदार सेवा उपलब्ध' ने बेटियों के प्रति सांस्कृतिक जहर को अधिक मजबूत किया। निश्चित तौर पर कन्या भ्रूण हत्या पर रोक एक गहरे परिवर्तनों की मांग करती हैं। संपत्ति के बंटवारे के भेदभाव भरे कानून, शिक्षा और रोज़गार के सीमित अवसर, परिवार, बिरादरी और जाति के ढ़ांचे को महिलाओं को दोयम दर्जे को बढ़ावा देते हैं, सबको बदलना पड़ेगा।

हिंदी पत्रकारिता ने स्वतंत्रता के दो दशक के बाद कन्या-शिशु हत्या के प्रश्न को हिंसा के रूप में पहचाना और इसे सार्वजनिक जीवन में बहस के दायरों में स्थापित करने का प्रयास किया। वर्ष 1986 और वर्ष 1988 में 'इंडिया टुडे' में 'बार्न टू डाई' स्टोरी, जिसे एलिजाबेथ मिलर ने किया, ने कन्या-शिशु हत्या की समस्या को सतह पर लाने का काम किया। साथ ही इस तथ्य को प्रकट किया कि कन्या-शिशु हत्या के पीछे सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ-साथ आर्थिक कारण भी जिम्मेदार है। इस रिपोर्ट ने पहले तमिलनाडु, फिर राजस्थान और उसके बाद महानगर मुबंई में कन्या-शिशु हत्या की समस्या का अध्ययन किया। रिपोर्ट के अनुसार -

---

[353] डा. क्षमा गोस्वामी, कहां चली जाती है कन्याएं?, सं. सुमन कृष्णकांत, इक्कीसवीं सदी की ओर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2001 पेज न.184

> "तमिलनाडु में मदुराई के आस-पास के इलाकों में पिछले दशक के अंदर छह हजार कन्या शिशु को जन्मते ही जहर देकर मारा जा चुका है। राजस्थान के पश्चिम क्षेत्र में बसे गांवों में की जाने वाली कन्या-शिशु हत्या प्रतिवर्ष 150 के आसपास है। इसीप्रकार आंध्रप्रदेश, बिहार और कई राज्यों में गरीब तबकों में अधिकांश महिलाओं की हाथ खून से रंगे हुए थे। मुबंई महानगर में कन्या की भ्रूण-हत्या अथवा जन्म के बाद कन्या की हत्या, दोनों बुराईयां मौजूद थे।"[354]

जहां हिंदी पत्रकारिता में इन रिपोर्टों के प्रकाशन ने इस समस्या के गंभीरता को बहस का विषय बनाने का प्रयास किया और इस तथ्य को उद्घाटित किया कि यह प्रथा धार्मिक और पारंपरिक कारणों के बजाये इस प्रथा के पीछे आर्थिक कारण जिम्मेदार है। इस समस्या के समाधान के लिए कानूनी सामाधान पर हिंदी पत्रकारिता में अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। मसलन, कन्या-भ्रूण को गर्भ में समाप्त कर देने के विषय पर आधारित 'वामा' में प्रकाशित लेख 'ओ अजन्मों के कानूनी पैरवीकारों, पहले जीते जी मुर्दा हुइयों की सोचो!' के अनुसार गर्माधान के समय से ही भ्रूण प्राणवान होता है। उसकी हत्या दण्डनीय अपराध है। उसे बचाना न्याय का उत्तरदायित्व है। लेख यह भी बताता है कि आज माताएं अपनी प्राण खतरे में डालकर अनचाही कन्याओं को जन्म से पूर्व ही नष्ट करवा देती हैं। लेख प्रश्न उठाता हैं कि -

> "वह कौन सी विवशता है जो मृत्यु से भी भयावह है। वह कौन सा मोड़ है, जहां प्राण लेने का अर्थ प्राण देना बन गया।"[355]

लेख में डा. कानन झींगन बताती हैं कि बदलते ज़माने की उपलब्धियों के बावजूद हम उन दिनों की पकड़ से अब तक नहीं निकल पाई हैं जब दाईया नवजात कन्या की नस दबा कर इनाम हासिल कर लेती थीं। आज के तकनीकी युग में भ्रूण हत्या ज़्यादा आसान हो गया है। क्या हम उन परिस्थितियों पर सवाल उठायेगे जो एक मां को अजन्में शिशु की हत्यारी बनाती हैं? इस लेख में जहां न्याय और उन सामाजिक परिस्थितियों का जिसके कारण भ्रूण हत्या होती है दोनों की चर्चा देखने को मिलती है। उसी प्रकार, 'सरिता' में प्रकाशित अशु का लेख 'क्न्या भ्रूण की हत्या आखिर बुराई क्या है?' में एक पक्षीय न होते हुए लिखती हैं कि -

> "सामाजिक चेतना जगाए बिना कन्या भ्रूण या कन्या शिशु हत्या को नष्ट करने का विरोध करना नक्कारखाने में तूती की आवाज़ है।"[356]

---

[354] डा. क्षमा गोस्वामी, कहां चली जाती है कन्याएं?, सं. सुमन कृष्णकांत, इक्कीसवीं सदी की ओर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2001 पेज न.184

[355] वामा जून 1985 पेज न०- 36

[356] सरिता, फरवरी प्रथम 1983 पेज न०- 76

इस तरह आजादी के दो दशक बाद हिंदी पत्रकारिता ने कन्या-शिशु हत्या या भ्रूण हत्या के विषय पर जागरूकता फैलाने में सहायक भूमिका निभाने की कोशिश दिखती है। सामाजिक-सांस्कृतिक परंपराओं, अशिक्षा के कारण उपजी मानसिकता के पीछे छिपे कारण को पहचान कर उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। यह भी बात हिंदी पत्रकारिता में अभिव्यक्त दिखती है कि यह महिलाओं पर हिंसा का एक माध्यम है जिसके पृष्ठभूमि में सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं की भूमिका है। उन सामाजिक स्थितियों को कटघरे में रखने का प्रयास हिंदी पत्रकारिता ने किया जो जन्म से ही लड़ली के साथ एक दूराग्रही मानसिकता का सिलसिला शुरू करने की कोशिश करते है।

वर्ष 1990 के दशक के पूर्व ही यह तथ्य सामने आ चुके थे कि पितृसत्तात्मक विचार ने नई प्रजनन तकनीकों के साथ गठजोड़ कर महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का नया माध्यम भ्रूण हत्या का विकास कर लिया है। पितृसत्ता का इससे घिनौना रूप क्या हो सकता है कि एम्निओसैंटेसिस, सोनोग्राफी, अल्ट्रासाउंड, ट्रांस वेजिनल अल्ट्रासाउंड, कोरियोनिक विल्लस सैम्पलिंग जैसी तकनीक; जो गर्भ में ही संतानों के रोगों को पकड़कर जन्म पूर्व ही इलाज का मानवीय उद्देश्य से विकसित हुई हैं, को दुनिया से स्त्रीलिंग को मिटाने में प्रयुक्त होने लगा। नई तकनीकों का फायदा जहां मुनाफे का व्यवसाय के रूप में विकसित हुआ तो समाज पुत्रमोह की मानसिकता ने इसका पूरा लाभ उठाया। लड़कियों के विरुद्ध हिंसा के साथ-साथ, मुनाफाई मनोवृत्ति और पुत्रमोह की मानसिकता ने जनसांख्यिकीय असंतुलन को बढ़ा दिया। जिसका असर राष्ट्रीय आबादी के लिंग अनुपात पर पड़ा। भ्रूण हत्या के पीछे सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक मानदंड है जो कन्या भ्रूण को दुनिया में आने से रोकते है, इसके साथ-साथ सास्कृतिक सामाजीकरण भी है। इस दशक में कन्या भ्रूण हत्या पर प्रकाशित लेखों में हिंदी पत्रकारिता में विभिन्न नज़रिये अभिव्यक्त होते दिखते है। मसलन, 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'मादा भ्रूण की ही हत्या क्यो?' में अलका आर्य लिखती हैं कि -

> "देश की जनसख्यां में महिलाओं का घटता प्रतिनिधित्व इस तथ्य को बताता है कि 21वीं सदी की चौखट पर दस्तक देने वाला भारतीय समाज पुत्र मोह से निजात नहीं पा सका है। भारत में अधिकतर भ्रूण परीक्षण अल्ट्रा साउंड मशीन द्वारा होता है। यह परीक्षण इतना सरल है कि आम मध्यम वर्गीय लोगों से गरीब तबके के लोगों ने इसका लाभ उठाया है। यहीं नहीं गांव में दाई भी गर्भपात करने में हिचकती नहीं। इन समस्या से निपटने के लिए कई सुझाव आए है।

> परंतु, क्या इससे मादा भ्रूण हत्या पर लगाम लग सकेगी? क्या लड़का-लड़की एक समान नार अपना असली जामा पहन सकेगा? यह एक बड़ा सवाल है।"[357]

इसीप्रकार 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'लड़किया अनचाही संतान क्यों?' में रेणु कुमारी लिखती हैं कि -

> "महिलाएं मानवीय मूल्य में मूल्यहीनता की शिकार होती रही है। क्योंकि हमारे सोचने का नज़रिया हमारे सांस्कृतिक समाजीकरण से काफ़ी हद तक प्रभावित होता है। इसके लिए एक सांस्कृतिक क्रांति की आवश्यकता है ताकि लड़कियों को सुरक्षित भविष्य के लिए, नारी के अस्तित्व के लिए बेहतर वातावरण का निर्माण हो सके।"[358]

कन्या-भ्रूण हत्या के कारणों में अंतर की चर्चा करते हुए अलका आर्य 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'कुलदीपक का मोह क्यों' में बताती हैं कि -

> "कन्या-भ्रूण हत्या के पीछे पारिवारिक और आर्थिक दबावों की एक बड़ी भूमिका मानी जाती है। लेकिन स्वयं मध्यवर्गीय परिवार की महिलाओं का एक बड़ा तबका पुत्र मोह में गर्भ में पनप रही कन्या की हत्या करने का फैसला खुद करती है। पुत्र मोह सिर्फ़ पुरुषों का है यह कहना गलत होगा, क्योंकि औसत औरत भी इस जकड़न के गिरफ्त में हैं।"[359]

लेख आगे बताता है कि मानसिकता में बदलाव लाने के लिए कानूनी प्रयासों से सफलता प्राप्त नहीं हो सकती है। कन्या-भ्रूण हत्या का मामला महिलाओं से भी संबंधित हैं, और महिलाएं इससे सबसे अधिक प्रभावित होती हैं। भ्रूण हत्या के प्रश्न पर समाज की अधिकांश संस्थाएं लोकतांत्रिक होने के तमाम दावों के बाद भी ज़्यादा जड़ और गतिशील हैं। कन्या-भ्रूण हत्या के मूल में कुछ धार्मिक मान्यताएं भी है जो धार्मिक समाजीकरण के रूप में आस्था का जकड़न मजबूत करते है। 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'क्यों गायब हो रही है बेटियां' में मृणाल पांडे लिखती हैं कि -

> "दुनिया के सभी प्राचीन पितृसत्तामक समाजों से उपजे धर्मो की तरह हिंदू धर्म ही नहीं ईसाई, यहूदी तथा इस्लाम भी बेटों को बड़ा महत्व देते है। सभी धर्म संतानोउत्पति का सकारात्मक संदर्भ हमेंशा मातृत्व और पुत्रोत्पति से ही जोड़ते हैं यौनेच्छा तथा पुत्रियों से नहीं। पुत्रमोह को लेकर भी रचे गए तर्क है कि बेटा चूंकि सभी पापों से त्राण दिलाता है उसे पुत्र की संज्ञा दी जाती है। जब तक इस प्रकार के धार्मिक समाजीकरण की प्रक्रिया पर प्रहार नहीं किया जायेगा

[357] 11 अप्रैल 1993, नवभारत टाईम्स

[358] 12 जुलाई 1993, हिंदुस्तान

[359] 25 जनवरी 1994, नवभारत टाईम्स

> इस समस्या से मुक्ति संभव नहीं है क्योंकि धार्मिक आस्था के सामने मानव समाज नतमस्तक है।"[360]

इस लेख में कन्या-भ्रूण हत्या के पीछे धार्मिक रूढ़िवादी सोच को प्रमुख मान गया है। वही सामाजिक परंपराओं ने भी इस समस्या को बढ़ावा दिया जो आर्थिक कारणों से भी जुड़ा हुआ है। यह समस्या समाज की भेदधर्मी मानसिकता की है। स्त्री की तुलना में पुरुष को महत्व देने की है। लड़कियों को बोझ समझने की है। दहेज और संपत्ति में भागीदारी की है। इस समाजिक जीवन शैली ने समाज को स्त्री की प्रति, स्त्री का स्वयं अपनी सजातियों के प्रति इतना निर्मम बनाया है कि जन्म लेते ही वह परिवार को अवांछित बोझ लगने लगती है। 'दैनिक जागरण' में प्रकाशित लेख 'क्रूरता खुद औरत की' में निर्मला जैन लिखती हैं कि -

> "भ्रूण हत्या का सवाल धार्मिक नज़रियेसे पाप-पुण्य के घेरे में भी आ जाता है। परंतु, भ्रूण हत्या के इस चलन में महिलाओं की हिस्सेदारी बराबर की रहती है। इसका कारण लड़की को जीवन का बोझ मानने की प्रवृत्ति है। सामाजिक मूल्यों ने लड़कियों के जिस तरह के तर्कों का निर्माण किया है उसके कारण महिलाएं भी लड़कियों को जन्म नहीं देना चाहती है।"[361]

इसीप्रकार, 'दैनिक जागरण' के दूसरे लेख 'जरूरी है बर्बर प्रवृत्तियों की पड़ताल' में डा.रश्मि रेखा लिखती हैं -

> "भ्रूण परीक्षण और भ्रूण हत्या के लिए जिम्मेदार हमारी सामाजिक संरचना पितृसत्ता के एकाधिकारवादी हिंसक अवधारणा से सीधे जुड़ी हुई है। भ्रूण हत्या का प्रश्न महिलाओं की अस्मिता से जुड़ा हुआ है इसलिए बर्बर प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक पड़ताल भी जरूरी हो जाती है। आज विकास के तमाम नारों के बावजूद समाज से लेकर विज्ञापन के आंतरिक सज्जा के तौर-तरीकों तक उसकी हैसियत बस माल की है। परिवार में भी उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य पति का प्रेम पाना और उसकी निगाह में करवा चौथ का व्रत रखने वाली एक सनातनी महिला बने रहना ही है। ।"[362]

आगे लेख में महिलाओं की इस स्थिति में बदलाव के लिए महिलाओं को संपत्ति में हिस्सेदारी और आर्थिक स्वतंत्रता जैसे सुझावों का जिक्र करता हैं। इस दशक में और उसके बाद के अवधि में कन्या-भ्रूण हत्या के कारण की पड़ताल में सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक कारणों की तुलात्नात्मक विश्लेषण देखने को मिलता है। जहां एक तरफ़ कई परंपरागत कारणों से कन्या-भ्रूण हत्या समाज में मौजूद है वहीं कई प्रकार के सांस्कृतिक दबावों के कारण महिलाएं स्वयं कन्या-भ्रूण हत्या में भागीदार बनती है। यह सांस्कृतिक दबाव महिलाओं की अस्तित्व के सवाल से भी

---

[360] 28 जुलाई 2004, हिंदुस्तान

[361] 8 जुलाई 2005, दैनिक जागरण

[362] 8 जुलाई 2005, दैनिक जागरण

जुड़ती है। अस्तित्व का यह प्रश्न किस प्रकार कन्या-भ्रूण हत्या से जुड़ी है? और यह किस प्रकार नये सवालों को खड़ा करती है? इस सवालों की पहचान और इससे उत्पन्न समस्या पर हिंदी के अख़बारों में एक समान लेखन देखने को मिलता है। मसलन, 'नवभारत टाईम्स' के रिपोर्ट 'कोख में बेटी अनचाही: देश में औरत कम हो रही है' में विनोद अग्निहोत्री बताते हैं कि -

> "देश में महिलाओं की गिरते अनुपात से यह साबित हो चुका है कि कन्याओं की भ्रूण हत्या आज भी हो रही है। कन्या हत्या का मामला कम हो परंतु, उसका स्थान अब गर्भ परीक्षण के भ्रूण हत्या ने ले लिया है। इसका प्रधान कारण गरीबी है। भूमिहीन किसान, खेतीहर मजदूर और सीमान्त किसान अपनी पहले बच्चे चाहे वह पुत्र या पुत्री को स्वीकार कर लेते है, लेकिन दूसरी या तीसरी संतान के रूप में कन्या को स्वीकार नहीं करना चाहते। उत्तर भारत में जहां मध्यम वर्ग और संपन्न वर्ग के लोग भी गर्भ परीक्षण और कन्या हत्या में लिप्त हैं, वहीं दक्षिण में अनचाहा मानकर कन्या शिशु को मारने की पद्धति सिर्फ़ गरीबों में है और वह भी आर्थिक विवशता के कारण है।"[363]

इन्ही समस्याओं के संदर्भ में अन्य लेख भी देखने को मिलते है मसलन, "एक कंस समाज में कन्या शिशु"[364], "औरत की सख्यां भी घट रही है"[365], "कम पड़ती औरतें और बढ़ती आबादी"[366], "बेटियों के ख़िलाफ़ खड़ा समाज"[367], "ढूढंते रह जाओगे लड़कियां"[368], "खतरा नारी के वजूद पर"[369]।

वर्ष 1990 के दशक और उसके बाद कन्या भ्रूण हत्या के विषय को हिंदी पत्रकारिता ने गंभीरता से महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। सामाजिक मानदंड, लोगों के नज़रिये तथा अन्य कई कारणों से महिलाएं के प्रजनन संबंधी अधिकार प्रभावित होते है जिसको इस दशक के हिंदी पत्रकारिता ने तथ्यपूर्ण तरीके से रखने का प्रयास दिखता है। महिला आंदोलनों ने जिस प्रकार प्रजनन संबंधी स्वास्थ्य, उसके सांस्कृतिक दर्जे और सामाजिक अधिकारों के बीच अंतसंबंधों को मुखर करता रहा। उसी पक्षधरता को रेखांकित करने का प्रयास हिंदी पत्रकारिता में भी देखने को मिलता है क्योंकि प्रजनन संबंधी और कन्या-भ्रूण हत्या की समस्या को महिलाओं की नज़रिये से समझने की ज़रूरत को जरूरी समझा गया, ताकि व्यापक संदर्भ को समझा जा सके। परंतु, कन्या-भ्रूण हत्या के लेखों में अक्सर एक खास समस्या का विस्तार और

---

[363] 1 अगस्त 1994, नवभारत टाईम्स

[364] 19 नवंबर 1995, हिंदुस्तान

[365] 9 मार्च 1997, नवभारत टाईम्स

[366] 3 फरवरी 1999, हिंदुस्तान

[367] 14 मई 2001, नवभारत टाईम्स

[368] 9 मार्च 2004, हिंदुस्तान

[369] 8 जुलाई 2005, दैनिक जागरण

निरूपण अधिक देखने को मिलता है। स्त्री स्वास्थ्य को लेकर बढ़ती सजगता की चरम परिणति रही है कन्या भ्रूण हत्या जैसे उन्नत व प्रौद्धोगिकी का इस्तेमाल का विरोध। लिंग-निर्धारण एंव मनचाही संतान की आड़ में पनपने वाले इस प्रौद्धोगिकी की आड़ में पनप रहें रूढ़िवाद का जमकर विरोध हुआ। बालिकाओं के पोषण की असमान स्थितियों को उजागर किया गया। हिंदी पत्रकारिता ने महिलाओं की स्वास्थ्य पर बहुत अधिक ध्यान देना प्रारंभ किया। स्वास्थ्य-स्तभों व स्त्री स्वांस्थ्य संबंधी परिशिष्टों की भरमार देखने को मिलती है।

क्या भारतीय संदर्भ में क्षेत्र, समुदाय, जाति, वर्ग के आधार में विभिन्नता मौजूद है या पितृसत्ता के पीड़ित के तौर पर सभी महिलाओं की समस्या एक समान है। जबकि भारत में महिलाओं की परिस्थिति पर समिति अपनी रिपोर्ट इस तथ्य का खुलासा करती है कि महिलाओं की स्वास्थ्य की समस्या, समाज के अति निर्धन वर्ग और संपूर्ण जनसख्यां की स्वास्थ्य समस्याओं से पृथक हो सकती है। सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक आर्थिक समस्या हर महिलाओं की लिए अलग होती है। इस दशक में इस समस्या के संबंध में धनात्मक पक्ष यह रहा कि सामाजिक-सांस्कृतिक परंपराओं, अशिक्षा व अज्ञान से उपजी मानसिकता के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद की गई जो महिलाओं को प्रजनज संबंधी मूलभूत अधिकारों से महरूम रखती है। यह बात महसूस कराई गई कि देश के आधी आबादी कि स्थिति यदि शोचनीय रहेगी तो राष्ट्रीय समृद्दि बेमानी होगी। इन प्रयासों को कमजोर करने के लिए इस महत्वपूर्ण समस्या को सौदर्य के सीमित दायरे में रखने की कोशिश दिखती है। इस प्रकार की कोशिश भी कन्या-भ्रूण हत्या की गंभीरता को कम नहीं कर सके। परंतु, स्त्री-पुरुष अनुपात में कमी और कई महत्वपूर्ण सवाल खड़ा करती है। खासकर तब जब वर्ष 2001 की जनगणना के आधार पर राष्ट्रीय स्तर पर प्रति 1000 पुरुषों पर 933 महिलाओं का अनुपात है। इस स्थिति में बदलाव के लिए माता-पिता को अपनी विचारधारा में परिवर्तन लाना होगा। यदि पति-पत्नी केवल एक या दो बच्चों को, चाहे वह किसी भी लिंग के हों, जन्म देने का निर्णय कर लें तो समाज में एक परिवर्तन संभव है और इन सभी परिवर्तनों के लिए हमें तैयार होना होगा। इसके पीछे धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बहानेबाजी को कम करने में हिंदी पत्रकारिता महत्वपूर्ण सहयोग कर सकता है।

3.7 गर्भनिरोधक\जनसख्यां नियंत्रण के साधन

महिलाओं की साथ हिंसा में राज्य, समाज और परिवार की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक हिस्सेदारी रही है। स्वतंत्रता के पहले परिवार नियोजन जैसी सरकारी नीति नहीं थी। जिसके कारण राज्य को किसी भी प्रकार से महिलाओं की जीवन में हस्तक्षेप का अवसर नहीं

था। औपनिवेशिक भारत में महिलाओं की यौनिकता और संतानोत्पति की आंकाक्षाओं के विषय पर उमा चक्रवति बताती हैं कि -

> "औपनिवेशिक भारत में वैधव्य को एक प्रबल वैचारिक उपादान के रूप में मान्यता दी गई थी। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए वैधव्य को महिला की सामाजिक मृत्यु के रूप में प्रस्तुत किया। जिसके आधात पर उन्हें यौनिकता और संतानोत्पत्ति की आकांक्षाओं से पूरी तरह जुदा किया जा रहा था।"[370]

हालांकि इस दौर के समाज में सास्कृतिक, धार्मिक और सामुदायिक कारण मौजूद थे जो महिलाओं की यौनिकता और मातृत्व को नियंत्रित करने का प्रयास कर रहे थे। 'स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक' किताब में चारू गुप्ता बताती हैं कि -

> "हिंदू स्त्री की कोख को हिंदू सांप्रदायवादियों ने अपनी जनसख्यां बढ़ाने के लिए कारगर हथियार के रूप में देखा। साथ ही विधवा को व्यर्थ कोख के रूप में या मुस्लिम जनसख्यां में इज़ाफ़ा कर सकने वाली खतरनाक कोख के रूप में देखा। विधवाओं की यौनिकता को नियंत्रित करने के लिए कई स्थानीय मानक भी समाज में स्थापित थे। उदाहरण के लिए, हरियाणा की अनेक जातियों में करेवा, यानि विधवाओं का देवर के साथ पुनर्विवाह, की परिपाटी थी (हालांकि इन स्थानीय मानकों को स्थापित करने के आर्थिक कारण भी मौजूद थे।)"[371]

यह सब एक ऐसा सशक्त माध्यम थे जिससे विधवाओं की सम्पति, श्रम, यौनिकता और संतानोत्पति पर सामाजिक मान्यताओं द्वारा नियंत्रण या इस्तेमाल होता था। स्पष्ट है कि न सिर्फ़ हिंदू-मुसलमानों ने पत्नियों को अपनी संप्रदाय की जनसख्यां वृद्धि का साधन भर माना हैं, बल्कि अलग-अलग देशकाल में कई देशों की शक्ति संरचानाओं ने स्त्री की कोख के साथ ऐसा ही व्यवहार किया है (कई देशों में अपनी यहां जनसख्यां बढ़ाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाती है, तो अधिकाधिक बच्चों की मां को इनाम तथा पालन-शिक्षा आदि में सहारा देकर, तो कई देखों ने कृत्रिम गर्भनिरोध उपायों से परिवार नियोजन संस्थाओं पर रोक लगा रखा है।)। भारतीय संदर्भ में, वर्तमान समय में और अतीत में भी हिंदू मुस्लिम राष्ट्रवादी विचारधारा महिलाओं को अधिकाधिक बच्चा पैदा करने लिए उकसाते रहे हैं, जो पुरुषवादी जातीयता और धार्मिक राष्ट्रवादी विमर्श से जुड़ता है। औपनिवेशिक शासन में जनगणना के प्रयासों ने जनसख्यां को सरकारी नीति निर्धारण के साथ-साथ जातीय और सांप्रदायिक विमर्शों को बहसों को केंद्र में ला दिया। इन बहसों

---

[370] उमा चक्रवती, रीराइटिग हिस्ट्री: द लाइफ एंड टाइम आंफ पंडितारामाबाई, आस्कफोर्ड प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पेज न० 23

[371] चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2012, पेज न०-230

ने महिलाओं की कोख को और विधवाओं के यौनिकता को नई तरीके से परिभाषित भी किया। जनगणना के हवाला देकर हिंदू-मुस्लिमों ने अपनी पत्नियों को अपनी संप्रदाय की जनसख्यां वृद्धि का साधन माना और विधवाओं के यौनिकता को नियंत्रित करने के लिए सांस्कृतिक मिथकों को गढ़ने का प्रयास किया। वर्ष 1920 के दशक में यह भय मुखर होकर सामने आया कि अगर हिंदुओं ने अपनी सख्यां जल्द नहीं बढ़ाई तो हिंदुस्तान, हिंदुस्तान की बजाये एक दिन मुस्लिमस्थान हो जायेगा और हिंदुओं के कुछ भी हक ना रह जायेगा अख़बारों, पत्रिकाओं तथा जाति, धर्म केंद्रित पत्रिकाओं ने इस विषय को प्रमुखता से छापा। मसलन, 'चांद' पत्रिका में 'हिंदुओं के भयंकर ह्रास' शीर्षक लेख लिखता हैं कि -

> "वास्तव में झगड़े का कारण सख्यां का प्रश्न है। इस्लाम की शिक्षा है अपनी मजहब को खूब फैलाओ.....हिंदू घटते और मुसलमान बढ़ते जाते हैं। और एक दिन आवेगा कि इस देश में इस्लाम का प्रभुत्व स्थापित होकर एशिया में एक प्रबल शक्ति स्थापित हो जायेगी....हिंदुओं के जीवन का प्रश्न उनकी सख्यां के साथ संबंद्ध है....इस प्रश्न में और सभी प्रश्नों का समावेश हो जाता है।"[372]

स्पष्ट है कि जनगणना ने लिंग विभाजन तथा यौनिकता के प्रश्नों पर कम काम किया और आबादी का भय ने महिलाओं की प्रजननकारी कोख को उत्पादन का साधन मान लिया। पारंपरिक सामंती नियम-क़ायदों की ऐतिहासिक-सास्कृतिक-सामाजिक प्रक्रियाओं ने महिलाओं से उनकी 'देह' को छीनकर, उसे प्रजनन की घरेलू-बीमारी मशीन बनने को अभिशप्त कर देती है। जाहिर है कि महिलाओं की प्रजनन क्षमता को नियंत्रित करने के लिए धर्म, जाति और सामुदायिक नियम-क़ायदे भी प्रभावित करते है, जिसका महिलाओं की स्वास्थ्य पर सीधा असर पड़ता है। क्या महिलाओं की प्रजनन क्षमता पर राज्य, समुदाय, जातिगत और धार्मिक आग्रहों का अधिकार हो सकता है? यह प्रश्न महिलाओं की प्रजनन संबंधी अधिकारों से भी जुड़ता है साथ ही साथ महिलाओं की स्वास्थ्य से भी जुड़ता है। इसको महिलाओं की शरीर पर पितृसत्तात्मक नियंत्रण के साथ सरकार द्वारा औरतों की नसंबदी के लिए मजबूर करने तक जुड़ता है। यह पितृ-वंश(पिता की हीतरफ़ से वंश को विरासत में पाना) के हावी सामाजिक नियम को चुनौती है। जिसके तहत सिर्फ़ वैध वारिस को ही मान्यता प्रदान की जाती है और विवाहेतर प्रजनन की यौन अभिव्यक्ति को कड़ी सजा भी देती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि महिलाओं का अपनी शरीर पर नियंत्रण नहीं होता है, जब उसके चलन के अवसर व्यक्तिगत पसंद के बजाये सामाजिक नियमों द्वारा तय होते हैं। यह स्थिति ही नहीं है कि स्त्री निर्णय प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभा सके। चाहे वह घरेलू स्तर के लघु निर्णय हों या सामाजिक स्तर के वृहद निर्णय हो।

---

[372] सम्पादकीय, 'हिंदुओं के भयंकर ह्रास', चांद,7, जनवरी 1929

आजादी के बाद जनसख्यां वृद्धि को भारत के विकास की राह में सबसे बड़ी बाधा के रूप में चिन्हित किया गया, जो स्वयं में एक विवादित विषय भी था। परंतु, वर्ष 1960 दशक के आरंभिक वर्षो से ही महिलाओं का स्वास्थ्य राज्य के हस्तक्षेप का महत्वपूर्ण क्षेत्र बना गया। परिवार नियोजन कार्यक्रम को राष्ट्र और समाज में प्रभावकारी बनाने के लिए सरकार हर स्तर पर दखल देना प्रारंभ किया। सरकारी नीति और संस्थाओं के माध्यम से राज्य और सरकार ने महिलाओं की यौनिकता के अधिकार पर हस्तक्षेप करना शुरू किया(जो कभी भी महिलाओं की अधिकार क्षेत्र में था ही नहीं)। यहां यह समझना आवश्यक है कि जनन नियंत्रण किसी भी महिला का अपनी प्रजनन क्षमता पर नियंत्रण का अधिकार है और ज़्यादा से ज़्यादा किसी दंपति का अपनी परिवार का आकर तय करने का प्रयास है, जबकि परिवार नियोजन या जनसख्यां नियंत्रण सरकार\राज्य का अपनी नागरिकों की सख्यां सीमित करने का प्रयास है। यह अंतर महिलाओं की अपनी स्वास्थ्य और जननी की भूमिका, व्यक्तिगत जीवन में चुनाव और राष्ट्रीय लक्ष्यों, व्यक्तिगत सबलीकरण और उन सरकारी कार्यक्रमों और नीतियों के बीच अंतर के रूप में सामने आते है जो जनसख्यां नियंत्रण के राष्ट्रीय फिराक में व्यक्ति के अपनी प्रजनन नियंत्रण संबंधी अधिकारों को भी कुचलते है। जनसख्यां नियंत्रण की प्राथमिकता सबकी सोच में सुविधाओं के संकट का डर है, न कि स्त्री की प्रति करुणा का या मातृत्व की भावना का। इसके कारण जनसख्यां समस्या के पीछे समाज की पितृसत्तात्मक कारण सामने नहीं आ पाता है। जनसख्यां नियंत्रण कि जिम्मेदारी से पुरुष पुरी तरह से मुक्त हो जाते है। जबकि जनसख्यां वृद्धि के जिम्मेदार पुरुष मानसिकता बेटे की चाह और इससे जुड़े अन्य मामलों पर पर्दा पड़ा रहता है। अमर्त्य सेन अपनी किताब 'आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य' में बताते हैं कि -

> "जन्मदर बढ़ाने के मूलभूत घटक पितृसत्तामक विचारधारा एंव सामाजिक संरचना को विमर्श में कहीं रखा ही नहीं गया है। विवाह की पितृस्थानीय व्यवस्था या सांस्कृतिक स्तर पर बेटे को अहमियत दिया जाना आदि तत्व, पुत्रमोह में स्त्री पर संतान पर संतान पैदा करते जाने या गर्भपात कराने का दबाव डाले रहते है।"[373]

स्पष्ट है कि जनसख्यां नियंत्रण का सरकारी नज़रिया महिलाओं की स्वास्थ्य की परिभाषा को प्रजनन तक ही सीमित कर देते है और जनसख्यां विमर्श के पितृसत्ता चरित्र को उजागर नहीं करती है जो वंचनाओं-गुलामियों व पीड़ाओं का मूल स्त्रोत हैं। यह विमर्श महिलाओं मे मातृत्व क्षमता और मां बनने की इच्छा में फर्क नहीं करती है। साथ ही यह कुछ गलतबयानों पर आधारित हैं कि जन्म दर घटाने का सबसे गतिशील और सबसे सस्ता तरीका है। आधुनिक

[373] रवीन्द्र कुमार पाठक, जनसंख्या समस्या के स्त्री-पाठ के रास्ते...., राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पेज न०-27

गर्भनिरोधकों का इस्तेमाल जो यह सुनिश्चित करता हैं कि परिवार नियोजन को मूलभूत स्वास्थ्य सेवा में ज़्यादा प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

वर्ष 1970 के दशकों में कांग्रेस सरकार के जबरन नसबंदी से पार्टी के विनाशकारी परिणामों ने जनसख्यां नियंत्रण का पूरा बोझ महिलाओं पर लाद दिया। परिणामत महिलाओं को गर्भनिरोधक सुईयों\गोलियों के इस्तेमाल के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा। हांर्मोन-युक्त गर्भनिरोधकों महिलाओं की स्वास्थ्य के लिहाज से खतरनाक है इसकी पहचान वर्ष 1980 के दशक में हुई। मासिक स्त्राव, गर्भनिरोधकों की समस्याओं के अनुभव, अपनी शरीर के बारे में चेतना जागरण और बाल्यकाल से ही भेदभाव के अनुभव पर बातें होनी लगी जो सांस्कृतिक और धार्मिक पाबंदियों के कारण बातचीत का विषय नहीं बन पाती थी। महिला आंदोलनों ने गर्भनिरोधकों के मामलों में पुरुषों की जिम्मेदारी बढ़ाने के हक में अभियान चलाया। कंडोम सस्ता और भरोसेमंद निरोधक है जिसका कोई दुष्प्रभाव नहीं होता और जो एचआईवी\एड्स समेत यौन संबंधों के जरिए होने वाले रोगों से हिफाजत करता है। इसीप्रकार पुरुषों की नसंबंदी भी महिलाओं की मुकाबले आसान हैं। परंतु, इन दोनों उपाय के विरोधों ने महिलाओं की ऊपर ही जनसख्यां नियंत्रण के बोझ को लाद दिया है। जिसके कारण महिला जनसख्यां नियंत्रण के उपाए महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के कारण के रूप में सामने प्रकट होते हैं। क्योंकि हार्मोन-आधारित गर्भनिरोधक के उपयोग से सर्वाइकल कैंसर, छाती में गांठों और एंडोमेट्रियल(गर्भाशय की अंदूरूनी पर्त) कैंसर जैसे रोग हो सकते हैं। फिर भी इसे आदर्श गर्भनिरोधक बताकर इन्हें ही बढ़ावा दिया जा रहा है।

वर्ष 1990 के दशक में और इसके बाद के दशकों में हिंदी पत्रकारिता जनसख्यां समस्या और इसके नियंत्रण के उपायों में महिलाओं की समस्या को प्राइमरी बनाने का प्रयास किया। गर्भनिरोधक\जनसख्यां नियंत्रण के साधन के विषय पर हिंदी पत्रकारिता काफ़ी आलोचनात्मक रहा। इन मुद्दों पर और महिलाओं की स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक मानदंडों को हिंदी पत्रकारिता ने गंभीरता से प्रकाशित किया। प्रकाशित लेखों ने महिलाओं की शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के बारे में जानकारी भी दी। साथ ही यह कि उनके शरीर से संबंधित किसी भी प्रकार के मामले में निर्णय लेना मात्र उन्हीं का अधिकार है। मसलन, 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'जनसख्यां नियंत्रण : कीमत चुकाती महिलाएं' में मुकेश मिश्र बताते हैं कि -

> "जनसख्यां नियंत्रण के चलते यदि महिलाओं की जान पर ही बन आई हैं, तो इससे आयोजकों और प्रशासकों को क्या। उन्हें बस जनसख्यां कम करने की चिंता है। परिवार नियोजन के कार्यक्रम का महिलाओं की स्वास्थ्य पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है, इसको लेकर हमारे देश में कोई चिंता नहीं की गई है। भारतीय चिकित्सा तंत्र ने भी यह तर्क विकसित कर लिया है कि

> भारत जैसे विकासशील देश में सही प्रसव नहीं होने के कारण महिलाएं मरती हैं, इसमें यदि गर्भनिरोधक गोलियों के कारण महिलाएं की मृत्यु हो जाएं, तो इसे बड़ी बात नहीं माननी चाहिए। सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों के विफलता के बेदी पर भी महिलाएं ही हैं।"[374]

जनसख्यां नियंत्रण के लिए महिलाओं की प्रजनन क्षमता पर हावी नवमाल्थसवादी नज़रिया जो नीति निर्माताओं पर हावी हैं, उसकी आलोचना करते हुए आनंद प्रधान 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'गिनी पिग नहीं है महिलाएं' में लिखते हैं कि -

> "एक और पूरे देश में महिलाओं को अधिकार संपन्न बनाने के लिए संसद और विधानसभाओं में आरक्षण पर जोरदार बहस छिड़ी हुई है लेकिन दूसरीतरफ़ जनसख्यां नियंत्रण के नाम पर महिलाओं को अवैध और अनैतिक गर्भनिरोधकों का शिकार बनाए जाने पर लगभग चुप्पी छाई हुई है। गर्भनिरोधक के रूप में क्विनाक्रीन प्रयोग पर विश्व स्वास्थ्य संगठन ने रोक लगाई हुई है। परंतु, विकासशील देशों में इसका उपयोग तेज़ी से हो रहा है। हमारे नीति निर्माताओं के साथ-साथ चिकित्सक भी कहीं न कही नवमाल्थसवादी सोच के जाने-अनजाने में शिकार बन गए है जो तीसरी दुनिया में बढ़ती जनसख्यां को किसी भी कीमत पर रोकने की वकालत करती है। जिनके लिए महिलाएं न तो प्रजनन यंत्र है और न ही गिनी पिग।"[375]

गर्भनिरोध के लिए महिलाओं में क्वेनासिन का गर्भनिरोधक के रूप में प्रयोग और उससे महिलाओं को होने वाली हानियों पर 'गर्भनिरोधक के खतरनाक प्रयोग','क्या हम आर.यू.486 के लिए बने है' जैसे लेख देखने को मिलते हैं। इन लेखों में प्रजनन भूमिका के संदर्भ में वे मां और उसकी संतान के शारीरिक व भावनात्मक संबंधों की चर्चा करते हुए बताती हैं कि अब इसे महसूस किया जाने लगा है कि गर्भनिरोधक गोलियों की जादुई दवा की अवधारणा खत्म हो रही हैं क्योंकि ये गोलियां हानिकारक होती हैं जिसके प्रयोग से महिलाओं का स्वास्थ्य लंबे समय तक प्रभावित होता हैं। इसीप्रकार, जनसख्यां पर नियंत्रण पाने के लिए अब तक महिलाओं की सेहत के गुणात्मक पहलू को नज़रअंदाज़ कर आंकड़ों का पीछा किया जाता रहा है। समस्या यह है कि यहां गर्भनिरोधक चयन के संदर्भ में महिलाओं को जनसख्यां विस्फोट का मुख्य कारण कहकर महिलाओं की स्वास्थ्य के प्रति जबावदेही के लिए कोई तैयार नहीं हैं। 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'प्रयोगशाला नहीं है औरतें' में अलका आर्य बताती हैं कि -

> "केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्री सी पी ठाकुर के मुताबिक बढ़ती हुई जनसख्यां की समस्या के समाधान के लिए गर्भनिरोधकों की टोकरी की ज़रूरत है। सरकार लोगों को(विशेषकर महिलाओं को) परिवार नियोजन के कई तरीके उपलब्ध कराना चाहती है ताकि वे अपनी पसंदीदा गर्भनिरोधक इस्तेमाल कर सके। महिला हितैषी दिखने वाली इस शब्दावली का एक दूसरा पहलू यह भी है

[374] 11 फरवरी 1990, हिंदुस्तान

[375] 13 जून 1997, नवभारत

> महिलाओं की लिए जितना ज़्यादा गर्भनिरोधक होगे उनपर इसके इस्तेमाल का दवाब भी उतना ही ज़्यादा बढ़ेगा और पुरुषों के लिए गर्भ निरोधक इस्तेमाल की गुजांइश उतनी ही सिकुड़ती चली जायेगी। जनसख्यां नियंत्रण स्थिरीकरण में स्त्री-पुरुष की सहभागिता के संतुलन का ग्राफ शुरूआत से ही महिलाओं कीतरफ़ झुका हुआ है। इस ग्राफ के ऊपर उठने की संभावना भी नहीं है क्योंकि सरकारी नीतियों के अनुसार महिलाओं का शरीर प्रयोगशाला ही है।"[376]

भारतीय समाज में महिलाओं की यौनिकता को जिस तरह से नियंत्रित किया जाता हैं, उसमें बच्चे कब और कितने चाहिए यह निर्णय आमतौर पर महिलाओं की पास नहीं होता है, यह फैसला आम तौर पर पुरुष करता है। बच्चा नहीं चाहिए तो इसका महिलाओं की जिम्मे होता है, जबकि महिलाओं का आपरेशन पुरुषों के अपेक्षा ज़्यादा जटिल होता है। परिवार नियोजन और जनसख्यां नियंत्रण के तरीकों पर पुरुषों की भूमिका पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'परिवार नियोजन पुरुषों की भी जिम्मेदारी' में अंजलि सिन्हा लिखती हैं कि -

> "महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि सरकार तथा निजी कंपनियों ने गर्भनिरोधक के अधिकतर साधन महिलाओं को केंन्द्र में रखकर बनाए हैं। इस तरह ये कार्यक्रम महिला उत्पीड़न के पितृसत्तामक तरीकों को मजबूती दिलाते है। कई बार ऐसे साधन जो मुनाफे को ध्यान में रखकर बिना पर्याप्त शोध के, बजार में उतारे जाते हैं, वे महिलाओं की स्वास्थ्य के लिए खतरनाक साबित होते है। अधिकतर महिलाएं इन गर्भनिरोधक के दुष्प्रभावों से परिचित होते हुए भी इनको अपनाने के लिए मजबूर होती है क्योंकि परिवार में बच्चों की पूरी जिम्मेदारी महिलाओं की ऊपर होती है। परिवार नियोजन और जनसख्यां नियंत्रण के उपायों में पुरुषों की जिम्मेदारी बढ़ाने के लिए पुराने गढ़े गए मिथकों को तोड़ने की आवश्यकता है।"[377]

हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित इन लेखों में जहां जनसख्यां नियंत्रण के साधनों के प्रयोगों का महिलाओं की स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा देखने को मिलती है। वहीं कुछ लेख जनसख्यां नियंत्रण के नारे 'हम दो हमारे दो' के नारे को समुदाय विशेष तक सीमित करने का विरोध करते हुए बताते हैं कि -

> "संघ प्रमुख के.सी सुदर्शन ने कहा है कि हिंदुओं को जनसख्यां नियंत्रण के 'हम दो हमारे दो' के नारे के चंगुल में नहीं फंसना चाहिए। मुसलमानों की बढ़ती जनसख्यां के कारण देश में बिगड़ते जनसख्यां असंतुलन को दूर करने के लिए हिंदू तीन या फिर ज़्यादा से ज़्यादा बच्चे पैदा कर सकते है।"[378]

लेख में उस समस्या की चर्चा अधिक दिखती है जो आजादी के पूर्व जनगणना के समय हिंदू-मुस्लिम समुदायों के समक्ष थी। परंतु, लेख किसी आंकड़ों की चर्चा नहीं करता है कि वास्तव में

---

[376] 28 जून 2001,नवभारत टाईम्स

[377] 7 अप्रैल 2008, हिंदुस्तान

[378] 20 मार्च 2005, हिंदुस्तान

देश की जनसख्यां में किन समुदायों का प्रतिशत कितना है और इसके सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक कारण क्या-क्या रहे है। इसके साथ-साथ अधिक प्रजनन से महिलाओं की स्वास्थ्य पर होने वाल प्रभाव की अनदेखी करता है।

किसी भी समाज में सामाजिक द्ष्टिकोण और सामाजिक राय बनाने में संचार माध्यमों की महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। जनसंचार के मजबूत माध्यम के रूप में हिंदी पत्रकारिता ने गर्भनिरोधकों के प्रयोग और जनसख्यां नियंत्रण के सरकारी नीतियों को आलोचनात्मक नज़रियेको सामने रखने का प्रयास किया। परंतु, संचार के अन्य प्रचार माध्यमों में जनसख्यां नियंत्रण के इन साधनों का जबरदस्त प्रचार भी किया। हिंदी पत्रकारिता ने भी इसका प्रचार करने में कोई कसर नहीं छोड़ा। जो एक भ्रमात्मक स्थिति का निर्माण करता है, खासकर उन पाठकों के लिए जो संचार माध्यमों के आधार पर अपनी विचार को पोषित करता हैं।

जनसख्यां की विकराल समस्या के पीछे भारतीय ऐतिहासिक-सास्कृतिक-सामाजिक प्रक्रिया रही है जिसके कारण हिंदू-मुस्लिमों ने अपनी पत्नियों को अपनी संप्रदाय की जनसख्यां वृद्धि का साधन माना। परंतु, जनसख्यां नियंत्रण की नीतियों ने महिलाओं को प्रजनन की घरेलू-बीमार मशीन बनने को अभिशप्त कर देती हैं। स्पष्ट है कि जनसख्यां को समस्या मानने और उसके समाधान के लिए किए जा रहे प्रयास के पीछे की मानसिकता आधी-अधूरी हैं। जो महिलाओं की शोषण का कारण बनता हैं। इसके लिए स्त्री-पुरुष के रिश्ते में आमूलचूल परिवर्तन की ज़रूरत को महिला आंदोलनों ने महसूस की। परंतु, इस विषय पर हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित लेखों की सख्यां इस समस्या के गंभीरता पर बहुत कुछ बयां कर देती है। इस समस्या पर हिंदी पत्रकारिता के अख़बार सामाजिक-सास्कृतिक परंपराओं, अशिक्षा व अज्ञानता से उपजी मानसिकता के ख़िलाफ़ संघर्ष नहीं करना चाहती।

गर्भनिरोधक के प्रयोग की समस्या को सिर्फ़ स्वास्थ्य संबंधी समस्या समझना महिलाओं की मानवाधिकार के अधिकार के आंदोलन को कुंद करता हैं। इससे यह समस्या स्वास्थ्य समस्या में सिमट कर रह जाती है और महिलाओं की अधिकार को सामाजिक समस्या नहीं बन पाती। दूसरी तरफ़ राज्य\सरकार महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक तथा स्वास्थ्य संबंधी स्थिति से कोई मतलब नहीं दिखाता। वह केवल जनसख्यां वृद्धि पर रोक लगाने तक सीमित रहता है। इस तरह हिंदी पत्रकारिता में इस दशक में इस समस्या पर गुणात्मक स्तर पर समस्या को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। जनसख्यां नियंत्रक साधनों का महिलाओं की शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की स्वास्थ्य के बारे में विस्तृत जानकारीयां भी देखने को मिलती है। हिंदी पत्रकारिता ने यह भी बताने का प्रयास किया कि स्त्री-शरीर हीन नहीं है तथा न ही यह पुरुष या समुदाय के

लिए उपयोग की वस्तु है। साथ ही यह भी कि उनके शरीर से जुड़े किसी भी प्रकार के मामले में निर्णय लेने मात्र उनके अधिकार में नहीं है। इस संदर्भ में उनका रूख सुधारवादी रहा, परंतु पुरानी लिंक और परंपरा को चुनौती देने के लिए राजनीतिक चेतना का विकास नहीं किया। इसके साथ-साथ जनसख्यां नियंत्रक साधनों का भी प्रचार देखने को मिलता है जो इस संदर्भ में महिलाओं की चुनौतीयों को कभी कभार कुंद भी करती है।

3.8 महिला उत्पीड़न

इस तथ्य से इऩकार नहीं किया जा सकता है कि पहले की अपेक्षा भारतीय महिलाओं की स्थिति में बहुत परिवर्तन आया हैं। हरेक क्षेत्र में महिलाओं की उपस्थिति कमोबेश दिखाई देती हैं। इसके साथ-साथ एक समस्या भी उभरी है, जो महिलाओं की उपस्थिति या भागीदार को अधिक चुनौतीपूर्ण बना देती हैं और वह है महिला-उत्पीड़न या यौन-उत्पीड़न। बढ़ते हुए यौन-उत्पीड़न इस तथ्य को उजागर करते है कि समाज में महिलाओं की प्रति संवेदनाएं लगभग न के बराबर रही हैं, क्योंकि इस प्रकार के प्रसंग बाहरी व्यक्तियों के द्वारा ही नहीं, वरन अपनी खास सगे-संबंधी, गुरूजनों, मित्रों और अधिकारियों द्वारा किए जाते हैं। महिलाओं की वास्तविक स्वतंत्रता के विलोप तथा महिलाओं की साथ निजी और सार्वजनिक जीवन में उत्पीड़न और हिंसा का इतिहास बहुत पुराना रहा है। महिला उत्पीड़न के कारण के रूप में जहां समाज के चेतना स्तर पर सामंती सोच का होना प्रमुख माना गया है तो दूसरी तरफ़ महिला उत्पीड़न के कारणों की तलाश में व्यक्तिगत संपत्ति के उत्पत्ति के साथ वर्ग विभाजन को महिलाओं की उत्पीड़न का कारण माना गया। आज पुरुष वर्ग का सबसे बड़ा भय स्त्री की स्वतंत्र सत्ता भी है। चूंकि, स्त्री उसकी बराबरी पर खड़ी हो सकती है और खड़ी है भी। इसलिए भी पुरुष उस पर आक्रामक हो उठता है। महिला उत्पीड़न की ऐतिहासिक व्याख्या करते फ्रेडरिक एंगेल्स ने 'परिवार, व्यक्तिगत संपत्ति की उत्पत्ति' में लिखते हैं कि -

> "इतिहास का पहला वर्ग विरोध एकनिष्ठ परिवार के अंदर पुरुष और स्त्री की विरोध के विकास के साथ-साथ सामने आता है और इतिहास का पहला वर्ग उत्पीड़न पुरुष द्वारा नारी के उत्पीड़न के साथ-साथ प्रकट होता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा निर्धारित स्त्री विरोधी मूल्य हमारे सामाजिक जीवन में इस प्रकार घुल मिल गए कि वह महिलाओं की उत्पीड़न का कारण बनती है।"[379]

[379] एंगेल्स, परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पति,पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा.) लिमिटेड, 2010 पेज न०-88

फ्रेडरिक एंगेल्स ने केवल लैगिंक आधार पर महिलाओं की श्रम विभाजन करने की नीति को महिलाओं की उत्पीड़न का जरिया माना। परंतु, गर्भ नियंत्रण की आवश्यकता, पितृसत्ता, पूंजीवाद के अंतर्गत स्त्री श्रम शक्ति को संपत्ति की आवधारणा ने निजी संपत्ति और विरासत को आपस में उलझा दिया। जहां महिलाओं की उत्पीड़न में विरासत के प्रश्न अंतनिहीत है, वही उनके उत्पीड़न के लिए केवल निजी संपत्ति पूरी तरह जिम्मेदार नहीं है। तो महिला उत्पीड़ित का मूल स्त्रोत क्या है? जहां एक जगह महिला उत्पीड़न का कारण(कम से कम एक सीमा तक) जैविक यौन भेद को माना जाता हैं, वही दूसरी तरह इसके कारण ऐतिहासिक और सामाजिक भी माने जाते है। एवलीन रीड के अनुसार-

> "महिलाएं सदा से उत्पीड़ित या उपक्षेति सेक्स नहीं थी। महिलाओं की अधीनता लिंग विशेष के रूप में, किसी जैविक कमी के कारण नहीं आयी। यह सामाजिक परिवर्तन का परिणाम था जिसने मातृसतात्मक जीन या कबीले के समतावादी समाज को नष्ट कर, उसे एक पितृसतात्मक वर्गीय समाज में रूपांतरित कर दिया। यह पितृसतात्मक वर्गीय समाज अपनी उत्पत्ति से ही लिंगों की असमानता सहित, अनेक प्रकार के अन्य भेदभावों, असमानताओं से अंकित था। इस दमनकारी सामाजिक, आर्थिक संगठन का विकास महिलाओं की ऐतिहासिक पतन के लिए उतरदायी बने।"[380]

जहां एक तरफ़, सामाजिक कारण के रूप में सामंतवाद और पूंजीवाद तक दोहरे दायित्व ने महिलाओं की दोहरे शोषण/उत्पीड़न का काम किया। वही दूसरे ओर, महिलाओं का अलगाव, निजी घर का घेराव और रसोईघर तथा पालन-पोषण का बंधीकरण महिलाओं की उत्पीड़न का कारण बनती है। स्थापित सत्ता के विरुद्ध एक मजबूत सामाजिक दवाब भी उनके शोषण\उत्पीड़न का कारण बनती है। इसप्रकार समाज की हर व्यवस्था चाहे वह सामंतवादी, औधोगिक और पूंजीवादी व्यवस्था हो महिलाओं की ह्रास और उत्पीड़न का मूल स्त्रोत है। भारतीय संदर्भ में, वर्तमान समय में महिलाओं पर होने वाली हिंसा या उत्पीड़न के मामले सामंती मध्यकालीन समाज के समकक्ष ले जाती है, तो आधुनिक पूंजीवादी समाज उसे बाज़ार के समकक्ष ला खड़ा करती है। महिलाओं की साथ यौन हिंसा, आंनर किलिंग, छेड़छाड़, अश्लील एंव अभद्र टिप्पणियों, बसों, ट्रेनों, सड़कों आदि में जान-बूझकर बुरे इरादों से उसके कुछ खास अंगों को स्पर्श करने और कई तरह की हरकतें महिलाओं की उत्पीड़न को उभारती है। महिलाओं की ख़िलाफ़ घरेलू उत्पीड़न अगर आर्थिक विपन्नता और सामाजिक असुरक्षा के कारण है। तो महिलाओं की विरुद्ध उत्पीड़न का दूसरा पहलू सार्वजनिक जीवन और सामाजिक टकरावों में इसकी उपस्थिति।

---

[380]इविलीन रीड,(अनु.प्रोमिला), महिलाएं-जाति या एक उत्पीड़ित लिंग, http://www.streekaal.com/2014/11/blog-post_5.html 5 नवंबर 2014

महिलाएं सामाजिक-आर्थिक कारणों के वजह से भी विभिन्न जातियों, समुदायों एंव वर्गों के बीच उत्पीड़न का निशाना बनती है। महिलाओं की उत्पीड़न का एक बड़ा दायरा प्रभु वर्ग के सहमति से भी बनता है। इसके अतिरिक्त महिलाओं की स्वतंत्र अस्तित्व पर प्रतिबंध लगाने वाली खाप पंचायत से लेकर लव- जिहाद कई तरह की कट्टरपंथी प्रतिक्रियावादी ताकतें धर्म और जातीय परंपरा के आधार पर महिलाओं की विरुद्ध उत्पीड़न को मजबूत आधार प्रदान करते है। स्पष्ट है कि भारतीय संदर्भ में सामाजिक व्यवस्था में मौजूद पूर्वाग्रह महिलाओं की उत्पीड़न को मजबूत आधार प्रदान करती है। महिलाओं की स्थिति को नियम-क़ायदों के आधार पर निर्धारित किया गया। जहां महिलाओं को न केवल पुरुषों की निजी संपत्ति माना गया। बल्कि उन्हें उनके शरीर तक ही सीमित कर दिया गया, इतना ही नहीं पुरुषों के इतर महिलाओं का कोई वजूद वर्चस्वशाली मूल्यबोधों ने स्वीकार ही नहीं किया। इसलिए हिंदू धर्म में तमाम व्रत-त्योहार महिलाएं पुरुषों के लिए या फिर एक बढ़िया गृहस्थ जीवन के लिए करती हैं, इसका मतलब यह है धर्म, संस्कृति को भी ऐसे बंधन के रूप में तब्दील कर दिया गया जो महिलाओं को घरेलू जीवन के दायरे में हीं बांध कर रखता हैं।

महिलाएं पुरुषों की यौन तुष्टि और उत्तराधिकारी जनने का जरिया भर बना दी गई, निजी संपत्ति को दूसरे के हवाले जाने से बचाने के लिए विधवा महिलाओं को सती, या फिर उन पर विभिन्न पाबंदियां थोपकर पुनर्विवाह की संभावनाओं को समाप्त कर दिया। अगर महिलाएं उत्तराधिकारी पैदा करने में विफल रही उन्हें तो इंसान भी नहीं समझा गया। इस तरह से उत्पादन प्रक्रिया से लेकर धर्म, संस्कृति के तमाम स्तर पर महिलाओं को गुलाम बनाकर रखा गया। यही सामाजिक उपसंरचना महिलाओं को उत्पादन और उसके साधनों के मालिकाने से महरूम करती हैं और उनकी दयनीय स्थिति को बरकरार रखती है। यह उत्पीड़न तमाम महिलाओं को झेलना पड़ता हैं। इसमें उंची जातियों की महिला जहां पितृसत्ता की शिकार है वही निचली जातियों की महिलाओं की एक बड़े हिस्से का उत्पीड़न वर्चस्वशाली मूल्यबोधों के उत्पीड़न की शिकार है।

गुलामी से सामंतवाद के रास्ते आगे बढ़ते हुए, वर्ग समाज की नई अवस्था पूंजीवाद ने भी जाति व्यवस्था और अन्य सामाजिक पूर्वाग्रहों को पूर्णतया से समाहित कर लिया। परिणामत: स्वतंत्रता के पहले और उसके बाद भी अर्थव्यवस्था के तमाम बदलावों ने भी न ही नर-नारी संबंधों में बदलाव किए, न ही भारतीय समाज में महिलाओं की विरुद्ध उत्पीड़न और हिंसा के मामले में मानवीय या मानवतावादी चेतना का विकास नहीं किया है। शैक्षिक और आर्थिक विकास के बाद भी नये मानस का भी विकास भी नहीं हुआ है। एक तरफ़ हम आधुनिकता के तरफ़ अग्रसर हुए,

परंतु, विचारों व मानसिकता में बदलाव अपेक्षित है जो बदलाव आज तक नहीं हुए है। जब-जब स्त्री अधिकारों की बात आती है तो परंपरा के नाम पर उसका हनन होता है। नई बदलती हुई तमाम अर्थव्यवस्था में भारतीय समाज में जाति व्यवस्था और स्त्री-पुरुष संबंधों के ऐतिहासिक और सामाजिक पहलूओं को अनदेखा कर, नई वैकासिक आग्रहों को आधार बनाकर महिलाओं की उत्पीड़ित को नई सिरे से परिभाषित करने का प्रयास किया। स्वतंत्रता पूर्व भारत समाज में लिंग विभाजन की श्रेणीबद्धता, जाति, वर्ग, नृजातीयता की श्रेणीबद्धता, क्षेत्रीय विभिन्नता के कारण सामाजिक जीवन के व्यावहारों में स्थानीय कुरतियां मौजूद थी, जो महिलाओं की उत्पीड़न का मूल स्त्रोत थे। मसलन, सती-प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, कन्या-शिशु हत्या, दहेज समस्या, बलात्कार इत्यादी। औपनिवेशिक काल में समाज सुधारकों ने इन सामाजिक कुरीतियों का विरोध मानवतावादी नज़रिये से किया और इनके रोकथाम के लिए कठोर कानून को समाधान के रूप में देखा। कठोर कानून के निर्माण में भारतीय समाज की क्षेत्रीय, जातीय, धार्मिक और वर्गीय विभिन्नता का अनदेखी के कारण यही कानून महिलाओं की उत्पीड़न का कारण भी बनने लगे। अंग्रेजी सरकार, न्यायालय और समाज सुधारकों के रवैयों की विवेचना करते हुए महिलाओं की उत्पीड़न, मानवीय हितों और अधिकारों के संबंध में उमा चक्रवती लिखती हैं -

> "साम्राज्यवादी राज्यों ने स्वयं या मध्यवर्गीय समाज सुधारक बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर स्त्रियों से संबंधित कानून तो बनाए। परंतु, औपनिवेशिक राज्य या समाज सुधारक बुद्धिजीवी विधवा पुनर्विवाह, पारिवारिक ढ़ांचा, पति-पत्नी के संबंधों के तानों-बानों को पूरी तरह परिवर्तित करना नहीं चाहते थे। इसलिए औपनिवेशिक राज्य का नज़रिया इन सवालों पर समय और स्थान के अनुसार बदलता रहा।"[381]

इस प्रकार अंग्रेजी सरकार, न्यायालय और समाज सुधारकों का दुराग्रह ने नई कानूनी व्यवस्था के दायरे में भारतीय महिलाओं को बांध दिया। कानून की सख्यां बढ़ने के साथ महिलाएं दोहरे दबाव में आ गई। सामाजिक व्यवहार के परंपरागत नियम और सरकारी कानून महिलाओं की उत्पीड़न के कारण बने।

स्वतंत्रता के बाद, संविधान में महिलाओं को समान अधिकार दिए जाने की घोषणा की गई। परंतु, आजादी के बाद के भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढांचे और सांस्कृतिक परिवेश पर पितृसत्तात्मक विचारधारा का प्रभुत्व बना रहा। स्त्री-पुरुष समानता के सवाल पर संविधान की स्थिति भी असंगत रही। संविधान में वर्णित समानता के स्त्री अधिकार के विभिन्न कानून व्यवहार में महिलाओं की विरोधी साबित हुए। राष्ट्र की महिलाओं की लिए कानून में

---

[381] गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविधालय, नई दिल्ली. पेज न०-86

एकरूपता अंग्रेजी सरकार के तरह ही जारी रही। इन एकरूपी कानून की वजह से महिलाओं की वास्तविक स्थिति का कानूनी प्रावधानों से तालमेल करना कठिन था। क्योंकि महिलाएं भी अपनी जाति, धर्म, स्थानीय तथा वर्गीय परिस्थितियों से प्रभावित होती थी। इसके साथ-साथ महिलाओं की साथ समाज के सामुदायिक मानसिकता में भी कोई बड़ा परिवर्तन भी सामने नहीं आया। जिसके कारण स्त्री अधिकारों के प्रश्न पर परंपराओं के नाम पर महिलाओं का उत्पीड़न जारी रहा। राधा कुमार बताती हैं कि आजादी के बाद -

> "सत्तर के दशक में महिला संगठनों ने महिलाओं की उत्पीड़न के कारणों पर पहली बार बहस शुरू हुई कि पुरुषों के महिलाओं पर नियंत्रण अथवा महिलाओं का परिवार से जुड़ा होना, पूंजीवादी व्यवस्था का सांमती सोच, अथवा वर्ग विभेद को महिलाओं की उत्पीड़न के कारणों के रूप में देखा गया।"[382]

इसके पहले महिलाओं की विरुद्ध होने वाले अत्याचारों के प्रकारों में महिलाओं की उत्पीड़न को कम महत्वपूर्ण तरीकों से कुछ समय के लिए नज़रअदांज करके समस्या का हल देखा जा रहा था। महिलाओं की उत्पीड़न पर हो रही बहसों ने समय-समय पर उठनेवाली स्त्री विषयक समस्याओं में स्त्री प्रश्नों के साथ उत्पीड़न का प्रश्न को भी जोड़कर देखना प्रारंभ किया। दहेज विरोधी आंदोलन में महिला संगठनों ने दहेज-उत्पीड़न को खास तौर केंद्र में रखा। अस्सी के दशक में बलात्कार के विरुद्ध संघर्ष में महिलाओं का उत्पीड़न उस समय उभर कर सामने आया जब कानून के कार्यान्वयन में महिलाओं का उत्पीड़न सतह पर सामने आया। महिलाओं की उत्पीड़न का प्रश्न सार्वजनिक रूप से बहस के रूप में तब उभर कर सामने आया जब सार्वजनिक स्थलों पर महिलाओं की साथ छेड़छाड़ की हिंसक घटनाएं सामने आई और कामकाजी महिलाओं की यौन-उत्पीड़न के तथ्य सामने आए। इन तथ्यों ने यह उजागर किया कि समाज में महिलाओं की प्रति संवेदनाएं लगभग न के बराबर रह गई हैं, क्योंकि बलात प्रसंग बाहरी व्यक्तियों द्वारा ही नहीं, वरन अपनी ही खास सगे-संबंधी, गुरूजनों और अधिकारियों द्वारा किए जा रहे हैं। काम के स्थान पर या सार्वजनिक स्थान पर यौन हिंसा या उत्पीड़न के विषय को महिला आंदोलनों ने अदालतों में उठाया।

वर्ष 1997 में सुप्रीम कोर्ट का फैसला आया जो विशाखा दिशा-निर्देश से जाना गया। यौन हिंसा और उत्पीड़न पर अंकुश लगाने की जिम्मेदारी संस्था चलाने वालों पर सौपीं गई। इन दिशा निर्देशों की सीमाएं भी सामने आए जब आनर किलिंग, छेड़छाड़, अश्लील और अभद्र टिप्पणी, तेजाब फैंकने या ब्लेड से घायल करने की घटनाएं सामने आने लगी। इसके साथ-साथ सामाजिक

[382] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 2000,पेज न०- 244

संस्थाओं के कुछ फैसले मललन - खाप पंचायतों के फैसले, ड्रेस कोड लागू करने के फैसले, कई कट्टरपंथी प्रतिक्रियावादी ताकतें सक्रिय हैं जो संस्कृतियों के फतवों से महिलाओं की स्वतंत्र अस्तित्व पर प्रतिबंध लगाने की वकालत करते है। इसके साथ-साथ परिवार के अंदर होने वाले उत्पीड़न के कई सवाल इस दिशा-निर्देशों में अनुउत्तरित है। दूसरी ओर महिलाओं की साथ हिंसा और उत्पीड़न के ऐसे अनेक मामले सामने आए जिसमें पुलिस और सुरक्षा बलों की भूमिका होती है इस प्रकार के घटनाओं पर शासक वर्ग तथा सरकार की चुप्पी महिलाओं की प्रति उनके सांमती नज़रिये को प्रकट करती हैं। हिंसा और उत्पीड़न की घटनाओं पर महिलाओं पर उठते सवाल कि वह घटना स्थल पर मौजूद क्यों थी ? या वो कैसे कपड़े पहनी थी? वह कब घर से बाहर निकले कब नहीं? हिंसा और उत्पीड़न के विषय पर महिला विरोधी मानसिकता को सतह पर ला देती है। निजी और सार्वजनिक स्थलों पर महिला उत्पीड़न की घटना के मूल में पितृसत्तात्मक सरंचना, जहां एक पुरुष सदैव अपनी आप को जीवन के हरेक पहलू में महिलाओं से अधिक श्रेष्ठ समझता है। यौन विकृति, कुछ निश्चित लोगों में विकृत यौन मानसिक प्रवृत्ति। अवमानना और अपमान की भावना, पुरुषों के बीच में महिलाओं की लिए एक सामान्य अवमानना और अपमान की भावना पुरुषों द्वारा महिलाओं की उत्पीड़न का कारण बनता है।

साथ ही पुरुष श्रेष्ठता, पुरुषों में पुरुषों के श्रेष्ठ होने की भावना का गहराई तक होना सामाजिक स्थितियों में अगली पीढ़ियों तक इस भावना को प्रेषित करती है जो कार्यस्थल पर महिलाओं की साथ यौन उत्पीड़न जैसे अपराधो को जन्म देती हैं। स्पष्ट है कि महिलाओं को अपनी अस्तित्व के स्वतंत्रता के लिए और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ लंबे संघर्ष की जरुरत है। कब, कैसे और किस रूप में कौन सा विषय महिलाओं को नये आंदोलन के लिए खड़ा करेंगा यह एक खुला प्रश्न है। क्योंकि महिलाओं की अधिकांश समस्याओं पर सामाजिक संस्थानों का ध्यान आंदोलनों के बाद ही विचार का प्रश्न बन पाता है। हाल के दिनों में निर्भया बलात्कार मामले ने भी कई नये प्रश्नों को सतह पर लाने का काम किया और कानूनों में सुधार को प्रोत्साहित भी किया है।

हिंदी पत्रकारिता और महिला उत्पीड़न की घटनाएं कभी भी एक-दूसरे से अजनबी बनकर नहीं रही हैं। हिंदी पत्रकारिता में महिला उत्पीड़न की घटना के वृतांत इस बात को अभिव्यक्त करते है कि महिला उत्पीड़न कोई घटना भर नहीं है। बहुधा महिला उत्पीड़न की घटनाएं एक दायरे का निमार्ण करते है जो दो जाति, वर्ग या धर्म के मध्य है। एक लड़का अपनी गर्लफ्रेंड पर दंडित करने के लिए उसके चेहरे पर तेजाब फेंकता है, क्योंकि उसने उससे विवाह करने से इन्कार कर दिया है। एक निम्न जाति की लड़की के साथ बलात्कार इसलिए हुआ क्योंकि उसने उच्च जाति के लड़के से विवाह करने का स्वपन देखा। हिंसा या उत्पीड़न के द्वारा शक्ति का प्रदर्शन समान्य

है। पत्नी का पति या सास-श्वसुर द्वारा पीटा जाना, या भूमिहीन श्रमिकों को भूमि मालिकों द्वारा पीटा जाना या कामकाजी महिलाओं का यौन उत्पीड़न सभी शक्ति के दावे की अभिव्यक्ति हैं। इसके साथ-साथ हिंदी के अख़बारों में कभी-कभी महिलाओं की उत्पीड़न की घटनाओं की अभिव्यक्ति में वर्गीय भेदभाव भी देखने को मिलते हैं। मसलन, वंचित समुदाय की महिलाओं की उत्पीड़न को सरलीकृत तरीकें से अभिव्यक्त किया जाता हैं। हाल के दिनों में वंचित समुदाय के महिलाओं की दैहिक उत्पीड़न को सचित्र नाम के साथ प्रस्तुत करना, काफ़ी परेशान करने वाली घटना हैं।

वर्ष 1990 के दशक में हिंदी पत्रकारिता ने महिला उत्पीड़न के विषय को दहेज, डायन बताकर कर उत्पीड़न, ड्रेस कोड, यौन उत्पीड़न, सती, बलात्कार, खाप पंचायत के फैसलों और सामाजिक संस्थाओं के पूर्वाग्रह रहित मानसिकता से जोड़कर पहचाना और प्रमुखता से अभिव्यक्ती दी। हालांकि समाज को नई दिशा देने का दावा करने वाला मीडिया भी महिला उत्पीड़न के मौके पैदा करता है। चाहे टी.वी. हो या सिनेमा, पत्र-पत्रिकाओं हो या समाचारपत्र, विज्ञापन में महिलाओं की शरीर का अश्लीलता से परोसा जाना भी महिला उत्पीड़न का कारण बनती हैं। हिंदी पत्रकारिता में मानवतावादी नज़रिये से महिला उत्पीड़न के कारणों को सार्वजनिक दायरे में बहस का विषय बनाने का प्रयास किया। वही वर्ष 1992 में सुप्रीम कोर्ट के विशाखा दिशा-निर्देश, जेसिका हत्या कांड, खाप पंचायत के अमानवीय निर्णयों और सामाजिक संस्थाओं की वर्चस्वशाली प्रवृत्तियों की अभिव्यक्तियों ने महिला उत्पीड़न को स्वयं राजनीतिक प्रश्न के रूप में स्थापित हो गया और कई महत्वपूर्ण सवालों को सतह पर ला दिया। महिला उत्पीड़न के विषय पर समय-समय पर नये-नये सिद्धांत और प्रवृत्तियां सामाजिक संस्थाओं द्वारा रचे जाते है। मसलन, मोबाईल फोन के इस्तेमाल, लड़कियों के पहनावे, ड्रेस-कोड को लेकर तुगलकी फरमान महिलाओं की उत्पीड़न के नई प्रवृत्तियां है जो कुल मिलाकर महिलाओं की स्वतंत्रता के विरुद्ध जाती है। महिलाओं परिधानों पर अक्सर नैतिकता के आधार पर ईव-टीजिंग जैसे घटनाओं के कारण ड्रेस-कोड का फरमान दिया जाता हैं। जो अक्सर समाजिक संस्थाओं और धार्मिक संस्थाओं के द्वारा पब्लिक स्फीयर\सार्वजनिक दायरे में आते है।

आज के आधुनिकतावादी एंव उपभोक्तावादी दौर में जहां मानवीय चेतना बाज़ार द्वारा भी नियंत्रित है, वहां इस तरह की बंदिशें सलाह कम फरमान अधिक लगते है। दूसरा सवाल यह भी है क्या आधुनिक परिधान ही ईव-टीजिंग के कारण है? क्या पारंपरिक परिधानों में महिलाएं अधिक सुरक्षित है? इस तरह की मानसिकता महिलाओं को सेक्स आब्जेक्ट के रूप में स्थापित

करती है और महिला उत्पीड़न को बढ़ावा ही देती है। महिलाओं की परिधान पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'पोशाक दंड का आधार' में सुनीता भारद्वाज बताती हैं कि -

> "आज के करीब 10 साल पहले भी एक ऐसी घटना घटी थी जिसमें भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री वाई.वी.चंद्रचूड ने आदेशलता जसपाल को सुप्रीम कोर्ट से निकल जाने का हुक्म दिया, क्योंकि वह जींस पहने हुए थी। मुख्य न्यायधीश के अनुसार जींस शालीन पोशाक नहीं है और साड़ी पहनकर ही कोर्ट में प्रवेश करना चाहिए। आदेशलता ने पूछा- क्या मुख्य न्यायाधीश सुझाव दे रहे है या आदेश? अगर आदेश दे रहे है तो मैं मुकदमा दर्ज करूंगी। इसपर न्यायाधीश साहब ने कहा कि यह सिर्फ़ सुझाव था, तो उसने बात मान ली। परंतु, यह घटना मात्र एक लक्षण है हमारे समाज के उन मानदंडों का जो न्याय के मंदिर अदालतों में अपना जमकर प्रभाव डालते हैं। असल में अशलीलता किसी विशेष पोशाक में नहीं बल्कि औरतों के प्रति पुरुषों के रवैये में है। जब औरतें किसी भी प्रकार के सुविधाजनक वस्त्र पहननें लगती है, जो उन्हें नाजुक गुड़ियों का रूप न देते हों, तो पुरुष लोग उससे भयभीत होकर धमकी देने लगते है।"[383]

इसीप्रकार महिलाओं की परिधानों पर धार्मिक पाबंदियों पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित साप्ताहिक स्तंभ 'बुरा मानो या भला' में खुशबंत सिंह लिखते हैं -

> "वक्त-वक्त पर कुछ मजहबी दिवानों को पागलपन सवार हो जाता है कि महिलाओं को क्या पहनना चाहिए। जब भिंडरावाले का सिक्का चल रहा था, तब उसके गुंडे कांलेज में लड़कियों को नसीहत दे रहे थे कि जींस और स्कर्ट सिखों की धार्मिक भावना के ख़िलाफ़ है। इसलिए उन्हें सलवार और कमीज ही पहनना चाहिए और अपनी सिर को दुपट्टे से ढंक लेना चाहिए। यहां तक की साड़ी और बिंदी पर भी उनकी नसीहतें थी। पर उसको मानने वाले सौ में एक थे, इसलिए यह नहीं चल सका। पोशाक को लेकर महिलाओं को अधिक नसीहतें अक्सर मिलते रहते है। किसी भी धार्मिक संहिता में महिलाओं को सादगी से पहनने-ओढ़ने का ही जिंक्र है। लेकिन मजहबी सिरफिरे कहां मानने वाले है। ये जिम्मेदारी अवाम और सरकार की है कि इन सिरफिरे मजहबियों का नज़रिया महिलाओं पर न थोपने दें।"[384]

महिलाओं की परिधानों पर आचार-संहिता के बाद भी, महिलाओं की साथ अश्लीलता का सवाल वहीं खड़ा किया जाता है जहां सामाजिक मर्यादाओं का समाज में उल्लंघन होता हैं। महिलाओं की पहनावे को अक्सर सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन या पूर्वाग्रहित सोच का परिणाम होता है।

---

[383] 31 मार्च 1991, हिंदुस्तान

[384] 15 सिंतंबर 2001, हिंदुस्तान

महिलाओं को कटघरे में रखते हुए अश्लीलता के प्रश्न और उत्पीड़न पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'इतना बेपर्दा न करो कि शर्म आ जाये' में डा. अमिता सिन्हा लिखती हैं कि -

> "आज के समाज में अश्लीलता शारीरिक, वैचारिक, पारिवारिक, वैयक्तिक, सामाजिक सभी स्तरों पर देखे जा सकती है। अश्लीलता बहुआयामी हो गई है। इसका दायित्व किसी एक वर्ग पर नहीं है। बस में चिकोट काटना अगर अश्लीलता है तो बाज़ार में अर्धनप्रावस्था में घूमना भी अश्लीलता के ही दायरे में आता है। वास्तव में अश्लीलता हमारी मानसिक कुठाओं की परिणति है, जो जब मौका मिलता है तो अपना रूप दिखा देती है। परंतु,लोगों का नज़रिया बदलने का दोष किसे दिया जाये? आज हमारी आवश्यकता ही सामाजिक मर्यादाओं की पोषण की है।"[385]

मजहबी सनकपन के अलावा आधुनिकता और नव-उदारवाद के संवाहक निजी कंपनियां भी महिला कर्मचारियों के लिए ड्रेस-कोड को लागू कर रही है जिनका फैसला पितृसत्ता के चौधराहट को तोड़ने के दावे को खोखला सिद्ध करता है। 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'उनके पहनावे के इर्द-गिर्द' में कल्पना आर्य लिखती हैं -

> "उन महिलाओं का पहनावा पारंपरिक था। अधिकांश सौम्य और शालिन रंग की सलवार कमीज में थी, कुछ साड़ी पहनती थी और चंद पतलून में थी। वातानुकूलित कमरे में नई उम्र के युवक-युवतियां एकचित होकर अपनी-अपनी कम्प्यूटर पर काम करने में मशगूल थी। बावजूद इसके कुछ आईटी कंपनियों ने अपनी महिलाओं की लिए ड्रेस कोड क्यों लागू कर दिया? दलील यह कि चटख रंगों वाले कपड़े टाईट जींस या टी-शर्ट से भटकाव या विचलन पैदा होता है, जाहिर तौर पर पुरुषों को। महत्वपूर्ण सवाल है कि पुरुषों का ध्यानभंग न हो इसके लिए बार-बार महिलाओं से ही दायरों में रहने के लिए क्यों कहा जाता है। असल में मूल प्रश्न यह है कि हमारे यहां अभी भी महिला और पुरुष एक दूसरे का सम्मान करते हुए बराबरी से काम करने की क्षमता विकसित नहीं कर सके है। इसलिए उल-जुलूल तर्क गढ़ने का प्रयास करते है।"[386]

विविध तरह के उत्पीड़न के तरीकों में ड्रेस कोड एक ऐसा विषय है जो महिलाओं को मर्यादित दायरें में नियंत्रित करने की कोशिश करती हैं। इसके लिए मजहबी फतवों के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं के दिशा निर्देशों का सहारा लिया जाता रहा है। वर्ष 1990 के दशक और उसके बाद के देशकाल में इस विषय पर प्रकाशित लेख इस तथ्य को सामने लाते है कि महिलाओं की पहनने-ओढ़ने का मामला धार्मिक उन्माद के अलावा सामाजिक संस्थाओं की पूर्वाग्रही मानसिकता का भी परिणाम हैं। महिलाओं की पहनावों को अश्लीलता के सांचे में ढालकर महिलाओं की ड्रेस-कोड पर बहसें भी होती रहती है। जबकि इन सबके मूल में यह प्रवृत्ति है कि हमने आज भी घर और सार्वजनिक जगहों पर महिलाओं को सम्मान करने की क्षमता विकसित नहीं हो सका हैं। हिंदी

---

[385] 4 जुलाई 1993, हिंदुस्तान

[386] 8 जनवरी 2008, हिंदुस्तान

पत्रकारिता ने ड्रेस कोड के विषय पर सभी प्रकार के लेखों को जगह दी और इसे स्वस्थ्य बहस बनाने का प्रयास किया। परंतु, इन प्रयासों में एक खास का झुकाव महिलाओं की चयन के विरुद्ध जाता हुआ ही दिखता हैं।

महिला उत्पीड़न के विविध विषयों में हिंदी पत्रकारिता मे सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में कामकाजी महिलाओं की उत्पीड़न को अभिव्यक्त करने का प्रयास दिखता हैं। दफ्तरों में कामकाजी महिलाओं की उत्पीड़न को रोकने के लिए संवैधानिक अधिकार के साथ-साथ सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी निर्देश स्वागत योग्य है, किंतु यह महज चर्चा का विषय है। हिंदी पत्रकारिता ने महिलाओं को संविधान से मिले अधिकार, कानून की सीमाओं के कारण महिलाओं की उत्पीड़न को भी अभिव्यक्त करने का प्रयास दिखता हैं। इन अभिव्यक्तियों में महिलाओं की लिए सामाजिक सोच और महिलाओं की उत्पीड़न को भी उभारने का प्रयास किया। मसलन, 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'और कितना कहर' में शुभ्रा वर्मा लिखती हैं कि -

> "महिलाओं की विरुद्ध अपराधों को गंभीरता से नहीं लिया जाता जिसके कारण महिलाओं की विरुद्ध अपराध के मामले तेज़ी से बढ़ रहे है। महिलाओं की साथ उत्पीड़न निजी और सार्वजनिक जगहों पर होता रहता है। उत्पीड़न के ये मामले आम महिला, उंचे पदों पर कार्यरत, पत्रकार एंव सामाजिक कार्यकर्ता जैसी महिलाओं की साथ भी होती है। महिलाओं को उत्पीड़न से मुक्ति और न्याय के लिए अनेक कानून है उन्हें व्यापक और प्रभावी बनाने के लिए समय-समय पर संसोधन भी किए गए हैं किंतु हमने अपराध के कारणों पर कठोर प्रहार नहीं किया है। इसलिए बार-बार अपनी फजीहत करवाने के भय से वह कानून का सहारा लेने के लिए आगे नहीं आना चाहती है।"[387]

उत्पीड़न के विषय पर इसी तरह की समस्याओं का जिक्र आशु सक्सेना 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित अपनी लेख 'उसके हिस्से का उत्पीड़न' में करते हुए लिखती हैं कि -

> "यौन उत्पीड़न आज विश्वव्यापी समस्या बन चुकी है। जैसे-जैसे स्त्री की कामकाज का दायरा बढ़ता जा रहा है यह संकट और भी गहराता जा रहा है। इस संकट के लिए भारतीय कानून, समाज और महिलाओं की सामाजिक संगठन तीनों ही दोषी है। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 509 में कहा गया है कि किसी महिला को जानबूझकर अपमानित किया जाना दण्डनीय अपराध है। पर यह पूरी प्रक्रिया इतनी खर्चीली और समय लेती है कि समस्या और सामाजिक अपमान बढ़ने लगता है। इसलिए महिलाएं ऐसी घटनाओं को नज़रअंदाज़ करना ही बेहतर समझती है।"[388]

---

[387] 10 जून 1990, हिंदुस्तान

[388] 9 मार्च 1992, नवभारत टाईम्स

क्या महिलाओं की उत्पीड़न की समस्या का समाधान कठोर कानून से संभंव है। इसकी पड़ताल करते हुए 'हिंदुस्तान' में आनंद भारती अपनी लेख 'कहां है समाज में स्त्री की जगह' में बताते है कि -

> "सच ही है, अगर केवल कानून बनाने से ही समस्या खत्म हो जाती तो महिलाओं की विरुद्ध अपराधों, उत्पीड़न और शोषण की रोकथाम के लिए रात-दिन कवायाद नहीं करनी पड़ती। इस वक्त लगभग डेढ़ दर्जन कानून हैं, इसके बावजूद अत्याचार की घटनाओं में कमी नहीं आई है। एक तो ऐसे मामले दर्ज कम होते हैं। अगर होते भी है तो पारिवारिक-सामाजिक दबाव के कारण केस को कमजोर करवा दिया जाता है। परिवार की इज्जत नीलाम न हो जाये, स्त्रियों की शर्म का लबादा ओढ़े रखने पर जोर डाल दिया जाता है। यह भी तथ्य सामने आया है कि उन्हीं महिलाओं का शोषण अधिक होता है जो आर्थिक रूप से कमजोर है। सत्ता की नज़र में उनकी उत्पीड़न की अब कोई जगह नहीं है। मौजूदा समाज में यह आश्चर्यजनक क्षमता है कि आचरणहीनता को एक ख़बर मात्र में तब्दील कर दिया है यह इसलिए कि उसकी नैतिकता की परिभाषा बदल गयी है। बाज़ारवाद ने भी इस सफलता में बदल दिया है उसने टी.वी. चैनलों में खुलेपन और अश्लीलता, विज्ञापनों के अघोड़ीपन तथा कम्पेयर्स प्रतियोगिता ने फैशन का रूप ले लिया है। इसके परिणामस्वरूप यौन-उत्पीड़न को जीवन का हिस्सा बना दिया है भय और शर्म लिहाज को एक किनारे खड़ा कर दिया है। इसका नुकसान महिलाओं को सबसे अधिक हुआ है।"[389]

महिला उत्पीड़न के मामलों में न्याय-प्रक्रिया और जांच प्रक्रिया की लीपा-पोती के वजह से जेसिका लाल हत्याकांड के शुरूआती फैसले शहरी वर्ग में मध्यवर्ग को बुरी तरह झकझोड़ दिया और न्यायिक प्रक्रिया में सुधार की मांगों ने जोर पकड़ लिया। इसी घटना के तरह निर्भया गैगरेप कि घटनाओं ने शहरी मध्यवर्ग को लड़कियों के सुरक्षा के प्रश्नों को लेकर सड़कों पर प्रतिरोध करने के लिए विवश किया। जेसिका लाल हत्याकांड पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'कातील बरी, तो लड़की कैसे मरी' में पुष्पेश पंत लिखते हैं कि -

> "जैसिंका लाल हत्याकांड के सभी अभियुक्तों के बरी होने के साथ देश सदमें और सकते में है। इस सनसनीखेज मामले में पर्दा इस तरह गिरेगा, इसकी उम्मीद किसी को नहीं थी। इस तरह के घटनाओं में उत्पीड़न कानून को उल-जलूल तरीके से बेकार नहीं किया जा सकता। हमारे सामने एक नहीं कई ऐसी घटनाओं के उदाहरण है जब पुलिस जांच की भूमिका संदिग्ध रही है। जेसिका लाल मारी गई या नीतिश कटारा को अपनी जान गंवानी पड़ी और तमाम अरोपी जिस तरह सबूतों के अभाव में बरी हो गए है तो एक सवाल बार-बार खड़ा होता है की जब सारे आरोपी बरी हो गए तो लड़की मरी कैसे?"[390]

---

[389] 24 जून 1999, हिंदुस्तान

[390] 1 मार्च 2006,हिंदुस्तान

महिलाओं की यौन-उत्पीड़न के मामलों में उत्पीड़न करने वाले व्यक्तियों को दोष सिद्ध सुनिश्चित करने में कानूनी सीमाओं पर हिंदी पत्रकारिता में विभिन्न नज़रिये से लेखन देखने को मिलता हैं। जीवन की बढ़ती हुई जटिलताएं, कुठाएं सामाजिक-सांस्कृतिक दवाबों के कारण उत्पीड़ित महिला शिकायत नहीं दर्ज कर पाती? इसके अतिरिक्त महिलाओं पर यह अपराध सामाजिक सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में होता है, बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद और लोभ इस समस्या को जटिल बना देता है। हिंदी पत्रकारिता में इन तमाम नज़रिये की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। यौन-उत्पीड़न की परिभाषा को बदलने की आवश्यकता को भी हिंदी के पत्रकारिता ने प्रमुखता से स्थान दिया। परंतु, जिस समाज कि गतिशीलता महिलाओं से संबंधित विषयों पर इतनी धीमी है उस समाज में सामाजिक संस्थाएं स्वयं कानूनी परिभाषा को बदलने के लिए संघर्ष नहीं करता। इसके लिए जनआंदोलनों की आवश्यकता होती है। यौन-उत्पीड़न की सीमित परिभाषा को बदलने की पहल किस प्रकार हो सकती है इस विषय पर हिंदी पत्रकारिता की चुप्पी पत्रकारिता के वर्ग-चरित्र के तरफ़ इशारा करता है। क्योंकि मध्य वर्ग के महिलाओं की उत्पीड़न के मामलों में हिंदी पत्रकारिता की सक्रियता स्पष्ट दिखती है, और कई उत्पीड़न के मामले चार-पांच पंक्तियों में सिमट कर रह जाना, मीडिया या हिंदी पत्रकारिता के वर्ग-चरित्र को कटघरे में खड़ा करता है।

इसके अतिरिक्त जाति, पंथ और परंपराओं की जटिल संरचना हमारे दैनिक जीवन का एक ऐसा घटक है, जो महिलाओं की उत्पीड़न का महत्वपूर्ण आधार है। जाति, पंथ और परंपराओं के नाम पर एक समुदाय\जाति के ऊपर दूसरे समुदाय\जाति पर हिंसा करना, सार्वजनिक क्षेत्रों में क्रियाशील होता है जबकि दहेज के कारण हत्या और घरेलू हिंसा निजी क्षेत्र में घटित होते है। इसी आधार पर सार्वजनिक क्षेत्र में आनर किंलिग जैसे हिंसक अपराध भी गतिशील है। साक्ष्य के अभाव, धमकी और भय इन सब में इसप्रकार प्रभावी होता है कि किसी को सजा भी नहीं हो पाती है। इस हिंसक अपराधों को रोकने में राज्य, सरकार और अन्य न्यायिक व्यवस्था भी पंगु सिद्ध होती है क्योंकि हिंसा का कर्ता एक अकेला व्यक्ति नहीं है बल्कि यह कर्ता व्यक्ति हो सकता है। जाति, समुदाय या यहां तक राज्य भी इस उत्पीड़न का उपकरण हो सकता है। आनर किंलिग, धर्मालंबियों के फैसले और खाप पंचायतों के निर्णय ऐसे ही जटिल संरचना है जो महिलाओं की उत्पीड़न का कारण बनते है। जातीय व वर्गीय समस्याओं के आधार पर पितृसत्ता का सामंती रूप अक्सर सामने आता है। इन घटनाओं में जातीय व वर्गीय पक्ष इतना प्रबल होता है कि इसमें अंतर्निहित लैंगिक समस्या की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है या गौण हो जाता है। इन मामलों में एक महत्वपूर्ण पक्ष यह हैं कि एक, बिरादरी की नाक जिसके आधार पर घर

परिवार और समुदाय की महिलाओं की जीवन से जुड़े फैसले लेने का हक समुदाय के पुरुषों का ही होता है। दूसरा, जातियों के बीच भेदभाव, ऊंच-नीच और वर्गीय स्थिति का अंतर। सरकार भी इन भेदभाव को बनाए रखना चाहती है जिससे न्याय व्यवस्था का औचित्य भी बना रहे और राजनीतिक दल को इन स्थितियों का लाभ मिलता रहे। पंचायत जैसी व्यवस्था भी इन स्थितियों को बनाए रखने की कोशिश करती है, वे संरचना के स्तर और संसाधनों के विकास के स्तर इन संकीर्णताओं को कायम रखने का प्रयास करती है। हिंदी पत्रकारिता इन प्रवृत्तियों को महिला उत्पीड़न की समस्या से जोड़ कर अभिव्यक्त करने का प्रयास दिखता है।

मसलन, खाप पंचायतों के अमानवीय फैसले के विषय पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'ये पंच तो परमेश्वर' में पुष्पेम पंत लिखते हैं कि -

> "हरियाणा में खाप पंचायतों का जातिवादी अमानवीय और कानून के राज को चुनौती देने वाला आचरण गंभीर चिंता का विषय है। जब देश में ऐसे कानून है कि जाति के आधार पर भेदभाव बरतने और उत्पीड़न को दडनीय करार देते है। इस कानून के आधार पर बहुत से शोषित और उत्पीड़ित अब तक यह आशा करते है कि उन्हें अमानवीय जीवन की यंत्रणा से मुक्ति मिलेगी। हरियाणा के खाप पंचायत के फैसले ने इस भ्रम को चकनाचूर कर दिया है। इस समस्या का दूसरा पहलू यह भी है कि लिंग-भेद के आधार पर सामाजिक विषमता को मान्यता देने वाला भी है। जनतंत्र में जिसकी लाठी उसकी भैंस वाला फर्मूला कभी मान्य नहीं हो सकता है।"[391]

इसीप्रकार, खाप पंचायतों के दंड विधान पर चर्चा करते हुए 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'प्रेम के दौर में पंचायत' में राजेंद्र घोड़पकर लिखते हैं कि -

> "उत्तर भारत में जाति की पंचायतें जो नवविवाहित जोड़ों को मार डालने या उनके परिवारों को जाति बिरादरी से बाहर करने के फरमान जारी कर रही हैं, वे अंतर्विरोधी में फंसी है। यह वही क्षेत्र है, जो हरित क्रांति के बाद आए उन्नत बीजों, सिचाई के साधनों और राजनीतिक खाद की वजह से समृद्ध हुआ है। सवाल यह भी है कि संगोत्र विवाह की सजा क्या मृत्युदंड होनी चाहिए? हमें यह ध्यान में रखना होगा कि जो फैसले जाति पंचायतें करती हैं, वे सिर्फ़ परंपरा आधारित नहीं होते, उनके पीछे आर्थिक स्वार्थ भी होते हैं, जिससे समाज के ताकतवर और समृद्ध लोग जुड़े होते है।"[392]

जाति, पंथ और परंपराओं के नाम पर ही आंनर-किलिंग एक नव-अमानवीय उत्पीड़न है। आंनर किलिंग की घटनाओं को समाचार माध्यम ने गंभीरता से लिया। हालांकि जाति, पंथ और परंपराओं के दुहाई में पहले भी घटनाएं हो रही थी पर वो बहस का विषय नहीं बन पा रही थी और राजनीतिक प्रश्न के रूप में स्थापित नहीं हो पा रही थी, क्योंकि इसे समुदाय विशेष की

---

[391] 12 अगस्त 2009, हिंदुस्तान

[392] 17सिंतबर 2009,हिंदुस्तान

घटना मानकर स्वयं सुलझा लेने की बात होती थी। आम तौर पर स्त्रियों से जुड़े जितने भी मामले हैं, उसमें घरवाले ही अपनों को मारते हैं। लड़कियों के प्रति पहला अपराध उस घर से शुरू होता है जहां वह पैदा हुई हैं। इसलिए आंनर किलिग के मामलों में भी ऐसे ही तर्क सामने आए। क्षमा शर्मा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'गोत्र के नाम पर नस्लवाद' में लिखती हैं कि -

> "कुल मिलाकर यही तर्क सामने आता है कि अगर अपनी मर्जी से शादी का फैसला किया तो खैर नहीं। लड़की हमारी और बच्चे किसी और के लिए पैदा करं यानी गोत्र में शादी करने का मतलब भाई-बहन की शादी है। एक सच्चाई यह भी है कि महिलाओं की उत्पीड़न के अधिकतर मामले निजी क्षेत्र से ही जुड़े मामले होते है। विकट स्थिति यह भी है कि सरकार अपनी वोटों की चिंता करें या कि समाज सुधार का काम करें। सबसे बड़ा तर्क यह दिया जा रहा है कि हम क्या करें अगर घर वाले लड़के-लड़कियों को मार रहे है। यह हत्या को जायेज करार देने वाला तर्क है। "[393]

आनर किंलिग का मामला लड़कियों के मार्यादा उल्लंघन का मामला ही है। 'हिंदुस्तान' के लेख 'अमानवीय माइंडसेट बदलने की ज़रूरत' में कमलेश जैन बताते हैं कि -

> "वह एक लड़की का स्वनिर्णय लेना। कैसे एक लड़की अपनी जीवन के सारे जीवन का फैसला खुद ले सकती है। बढ़ते हुए आंनर किंलिग की सच्चाई यह है कि समाज, पंचायत, पुलिस, पड़ोसी सब के सब ऐसी स्त्री की ख़िलाफ़ है जो स्वनिर्णय लेती है-प्रेम करती है। इस अमानवीय माइंड सेट को बदलने के लिए एकजुट होने की ज़रूरत है।"[394]

हिंदी पत्रकारिता में इन अभिव्यक्तियों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि महिला उत्पीड़न के पीछे जातीय, वर्गीय और सांस्कृतिक पितृसत्ता के बीज छिपे हुए है, हालांकि इन अभिव्यक्तियों में आर्थिक कारणों की अनदेखी मिलती है। आंनर किलिंग या महिला उत्पीड़न के ख़िलाफ़ सख्त कानून के साथ-साथ समाज की पूर्वग्राही मानसिकता में बदलाव के सास्कृतिक क्रांति और जोरदार सुधार आंदोलनों की भी ज़रूरत है। भारतीय समाज में महिलाओं की ख़िलाफ़ उत्पीड़न की जड़ समाज की ब्राह्मणवादी जातीय व्यवस्था और अर्धसामंती उत्पादन प्रक्रिया में निहित है। इसलिए इसका खात्मा भी इस आधार के खात्में के साथ ही होगा, इस आर्थिक आधार को बदले बग़ैर और जातीय उन्मूलन के लिए संघर्ष के बग़ैर इस उत्पीड़न का खात्मा भी संभव नहीं है। कई महिला संगठन महिला आरक्षण को लैंगिक उत्पीड़न के खात्मे के एक महत्वपूर्ण समाधान के रूप में देखते है। परंतु, बिहार में पंचायतों में 50 प्रतिशत महिला आरक्षण महिला उत्पीड़न को कम करने में कितनी और कैसी भूमिका अदा की है, इसका अध्ययन आवश्यक हो जाता है। महिला उत्पीड़न की समस्या से निपटने का रास्ता सांमतवाद विरोधी संघर्षों के निर्माण और फिर

---

[393] 12 मार्च 2010, हिंदुस्तान

[394] 22 जून 2010, हिंदुस्तान

परिवर्तन से ही संभव है न कि संसदीय दायरों तक सीमित होने वाले सुधारवादी कानूनी आंदोलनों से। आवश्यकता इसकी है कि जनता, प्रशासन और कानून तथा उसे लागू करनेवालों के नज़रिये में बदलाव आये। सदियों से जो घोषणाएं, पारंपरिक मान्यताएं, धार्मिक विचार, नैतिक मूल्य महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक या व्यक्तिगत स्थिति पर अत्याचार करती आ रही हैं, निसंदेह उसे एक दिन में समाप्त नहीं किया जा सकता। लेकिन अगर व्यापक पैमाने पर प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक माध्यम इस अभियान में पूरी शक्ति व निष्ठा से साथ दे तो निश्चित ही इस हिंसा या उत्पीड़न का अंत हो सकता है।

3.9 निष्कर्ष

निसंदेह, महिलाओं की विरूद्ध हिंसा के विषय पर हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित सामग्री एक सीमा तक पितृसत्ता, ब्राह्मणवादी जातीय व्यवस्था और अर्धसामंती उत्पादन प्रक्रिया को कटघरे में रखकर महिलाओं की पक्ष को धनात्मक रूप से प्रकाशित करने की जिम्मेदारी दिखाई हैं। हिंदी पत्रकारिता ने महिलाओं की निजी और सार्वजनिक जीवन में हिंसा के सवालों को वर्ग और समुदाय के भेदों को भुलाकर इसे महिलाओं की असमानता के स्थिति से जोड़ने का प्रयास भी किया। परंतु, इस मूल्यांकन में कई दफा वर्गीय समस्याओं के विश्लेषण का अभाव भी दिखता है। मसलन, बलात्कार का अनुभव हरेक महिलाओं की लिए एक ही तरह का नहीं हो सकता है। उसी प्रकार दहेज समस्या के कारण महिलाओं की साथ घरेलू हिंसा का विश्लेषण हर वर्गीय, जातीय और धार्मिक समुदाय में एक तरह का नहीं है। इसके साथ-साथ इन उत्पीड़नों से महिलाओं की न्याय पाने का अनुभव भी सभी महिलाओं की लिए एक ही तरह का नहीं हो सकता है। इसीतरह जातीय और धार्मिक उन्माद में महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का विभत्स रूप उभर कर सामने आता है। परंतु, इस विषय के अख़बारों में ख़ामोशी बनी हुई रहती है। सामाजिक सरंचना में महिलाएं स्वयं महिलाओं की विरुद्ध हिंसा का माध्यम किस प्रकार बनती है ? या सामुदायिक\पूर्वाग्रही मान्यताएं किस प्रकार उन्हें हिंसा के कारक के रूप में उभारती है? इन तथ्यों का अन्वेषण हिंदी पत्रकारिता के लेखों में कहीं भी उभर कर सामने नहीं आता दिखता है। हिंसा के मामलों में महिलाओं की रक्षा के नाम पर अनगिनत कानून बने लेकिन इसका परिणाम कुछ भी नहीं निकला। बल्कि महिलाओं की विरुद्ध हिंसा और उत्पीड़न बढ़ते गए। हिंदी पत्रकारिता ने बड़े पैमाने पर कानून की विफलता के कारण और कानून के कार्यान्वय की सीमाओं की आलोचना को भी महत्व दिया। महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के मामले में सती, बलात्कार के विषय, भ्रूण-हत्या, महिलाओं की प्रजनन के अधिकार पर सरकार की जनसख्यां नियंत्रण की नीतियां, गर्भनिरोधक

के प्रयोग, खाप-पंचायत के फैसलों और आनर किलिंग जैसे महिला उत्पीड़न के विषयों को निजी क्षेत्र के दायरे से निकाल कर सामाजिक सरोकार का विषय बनाने का प्रयास किया। जिसने जनमानस की मानवीय संवेदनाओं को झकझोरा। हालांकि महिलाओं की प्रजनज संबंधी अधिकार और गर्भनिरोधक के प्रयोगों को स्वास्थ्य जैसे मुद्दों तक ही सीमित करना और उसके बरक्स महिलाओं की सौन्दर्य, महिलाओं की छरहरी काया पर अधिक सामग्री प्रकाशित करना इस विषय की गंभीरता को कम करता है। आधी आबादी का महत्वपूर्ण प्रश्न जो उसके मूलभूत अधिकार से जुड़ा हुआ है वह संपादकीय लेखों या मुख्य पृष्ठ का हिस्सा क्यों नहीं बन पा रही है? यह महत्वपूर्ण प्रश्न साप्ताहिंक परिशिष्टों में ही क्यों प्रकाशित हो रही है? जबकि शेयर बाज़ार की ख़बरें और खेल जगत की ख़बरें अपनी तयशुदा पन्नों से निकल कर मुख्य पृष्ठ का हिस्सा अक्सर बन जाती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि महिलाओं की पक्ष में हिंदी पत्रकारिता में धनात्मक पक्ष यह रहा है कि इसने महिलाओं की चिरकाल से चली आ रही रूढ़िवादी छवि और उसकी स्थितिजन्य विसंगतियों पर प्रश्नचिन्ह लगाए। साथ ही महिलाओं की स्थिति और विकास को लेकर भी प्रश्नों को स्थापित करने का प्रयास किया। परंतु, महिलाओं की विरुद्ध हिंसा के कुछ मामलों को उछालकर सस्ती लोकप्रियता भुनाने का प्रयास भी हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलती है। इसके साथ ही साथ महिलाओं की विरुद्ध विभित्स हिंसा या उत्पीड़न की ख़बरें सिर्फ़ एक कालम या राज्य के पन्नों के खबरों तक ही सीमित होती जा रही है क्योंकि मौजूदा समय में अख़बार "खुशखबरी" देने वाली भूमिकाओं मे स्वयं को ढ़ालने की कोशिश कर रहे है। अगर कभी-कभी महिलओं के विरुद्ध हिंसा की ख़बरें अपनी जगह बना पा रही है तो उसका कारण मध्यवर्गीय पाठकों से जुड़ा होना या राजनीतिक रूप से संवेदनशील होना प्रमुख वजह है।(ध्यान रहे देश की आधी आबादी के लिए हिंदी पत्रकारिता ने अब तक अतिरिक्त पेज देने की जहमत नहीं उठाई है, परिशिष्ठ या साप्ताहिक पेजों पर ही महिलाओं की समस्या पर कवर स्टोरी या लेख देखने पारिवारिक सामजस्य को बनाए रखने, सुडौल और सुंदर दिखने, या सफल बनने के तरीकों की चर्चा करते है, अख़बार यह मानकर चलता है कि महिलाएं यही पढ़ना चाहती है, महिलाओं के जनसरोकार जैसे विषयों से महिलाओं का कोई नाता नहीं हैं।) यह हिंदी पत्रकारिता के वर्ग-चरित्र केतरफ़ इशारा करता है। खासकर तब जब यह मान्यता जोड़ पकड़ चुकी है कि हिंदी के अधिंकांश अख़बार मध्यवर्ग की मुखालफत करते है। महिलाओं की विरुद्ध हिंसा और उत्पीड़न की घटनाओं में निम्न मध्यवर्ग को मीडिया ट्रायल का हिस्सा नहीं बन पाना भी हिंदी पत्रकारिता के वर्ग चरित्र को कटघरे में खड़ा करती है। इस वर्ग के शोषित उत्पीड़ित महिलाओं को कानून का लाभ न मिल पाने, महिलाओं का शारीरिक, मानसिक और आर्थिक शोषण होने की सामग्री को विरक्त भाव से प्रकाशन भी देखने को मिलता हैं। कई लेखों में

महिलाओं की उत्पीड़न के विषय को इसप्रकार महत्व मिलता दिखता है मानो महिलाएं स्वयं दोषी है। इस प्रकार की प्रवृति हिंदी पत्रकारिता की ऐतिहासिक स्थापित मूल्यों की छवि को नकारता भी है और नई छवियों को अन्य माध्यमों से स्थापित भी करता है। हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं की सहभागिता और महिलाओं की धनात्मक पक्ष को सही परीपेक्ष्य में समझने वाले पत्रकारों की सहभागिता भी एक मौजू सवाल है। जिसके अभाव में महिलाओं की हिंसा या उत्पीड़न से जुड़ी कोई भी ख़बर महिलाओं की समस्याओं को उस रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाती हैं, जिसकी वो मांग करती है और वो कई रिपोर्टो, सर्वे, अकादमिक अनुसंधानों और आत्मकथ्य में उभर कर सामने आती है। महिलाओं की साथ हिंसा की ख़बरें अब हिदी अख़बारों में छपने की जगह(स्पेस) की नहीं उचित स्थान(प्लेस) की भी आवश्यकता है। एक ऐसी सकारात्मक दृष्टि की आवश्यकता है जो विषय के साथ-साथ प्रस्तुतीकरण को भी महत्व प्रदान करें।

अध्याय - 4

वर्ग, जाति और धर्म

भारतीय परिपेक्ष्य में वर्ग, जाति और धर्म वह परिस्थिति या कारक है जो हर युग और देशकाल में मौजूद रही है और इसका अंर्तगुथन पितृसत्तामक संरचना के साथ मौजूद रही है वो भी अत्यधिक जटिल ताने-बाने के साथ। जिसे 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' के नाम से उमा चक्रवति ने परिभाषित भी किया है। जिसके मायने यह नहीं है कि यह किसी एक जाति, वर्ग या धर्म में उपस्थित है। गोया, यह दिखाता है कि भारतीय समाज में स्त्रियों की आदिकाल से स्थिति और मौजूदा समय में पराधीनता के कारण अलग-अलग रूपों में मौजूद रहा हैं। वर्ग, जाति और धर्म भारतीय समाज के परिपेक्ष्य में महिलाओं की स्थिति और समस्याओं को समझने का महत्वपूर्ण आधार हैं जिसके धरातल पर महिलाओं की पराधीनता को विश्लेषित किया जा सकता है। क्योंकि भारतीय समाज में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का प्रत्येक क्षेत्र निजी और सार्वजनिक इससे प्रभावित और निर्धारित होता है। मसलन, जाति निर्धारण समाज की हैरार्की(श्रेणिबद्ध व्यवस्था) मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक स्थिति को तय करता है। केवल जाति व्यवस्था को ही यदि उदाहरण के रूप में देखे, तो पूरे भारत में अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग विविधता के साथ मौजूद है कहीं अधिक कठोर स्वरूप में है तो कहीं कम। इसी तरह वर्ग और धर्म को भी अलग-अलग लिंग-संबंधी सामाजिक गठन और सामाजिक व्यवहार में पितृसत्ता के साथ जुड़े हुए है जो महिलाओं की निजी और सार्वजनिक स्थिति को प्रभावित व नियंत्रित करती हैं। पराधीन और स्वतंत्र भारत में लोकतांत्रिक अवधारणा के आधार पर लैंगिंक समानता के प्रयास किए जाते रहे है। परंतु, वर्गीय, जातीय और धार्मिक पूर्वाग्रह या जटिलता लैंगिक न्याय या समानता के रास्ते को अवरुद्ध करती रही है। समय-समय पर वर्गीय, जातीय और धार्मिक पूर्वाग्रह या जटिलता लैंगिंक न्याय या समानता के रास्ते को अवरुद्ध करती रही है। समय-समय पर वर्गीय, जातीय और धार्मिक राजनीति ने महिलाओं की समानता के प्रश्न को हाशिये पर समेटने या ढंकलने का काम भी किया। आर्थिक गतिशीलता के प्रयास, मौलिक अधिकार प्रदान करना और प्रगतिशील कानूनों को पारित करना भी महिलाओं की लिए समतावादी समाज के निमार्ण में महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सकी। न ही वर्गीय, जातीय और धार्मिक चौधराहट या पुरुष वर्चस्वशाली मानसिकता को पूरी तरह से समाप्त किया। कुल मिलाकर वर्ग, जाति और धर्म के प्रश्न पर महिलाओं की स्थिति को समझने का सतही तौर पर किया जाता रहा हैं। आजादी के बाद इसके रूझान को इससे भी समझा जा सकता है कि वर्ष 1974 में स्त्रियों के हालात की जांच-पड़ताल करने के लिए बनाई गई कमेटी ने विधानी संस्थाओं में औरतों के लिए सीटे आरक्षित करने के प्रस्ताव को बहुमत से खारिज कर दिया। इस परिपेक्ष्य में वर्गीय, जातीय और धार्मिक यथास्थिति

का महिलाओं की संदर्भ में हिंदी पत्रकारिता में अभिव्यक्त लेखों, संपादकीय और परिशिष्टों का अध्ययन भारतीय समाज की जटिलताओं को उद्घाटय कर सकता है। क्योंकि हिंदीं पत्रकारिता वर्ग, जाति और धर्म से जुड़े विषयों के साथ तटस्थ भाव से सूचनाओं या विचारों का संप्रेषण नहीं करती है। हिंदी पत्रकारिता में वर्गीय समाज की यथास्थिति और राजनीतिक गतिशीलता के प्रश्नों को बहस का विषय बनाने का प्रयास दिखता हैं। परंतु, इसके साथ ही साथ महिलाओं के वर्गीय समस्याओं के संदर्भ में चुप्पी और कई तरह के व्यावहारिक दिक्कतें भी देखने को मिलती हैं। मौजूदा समय में भारतीय राजनीति मे जिस तरह से सांप्रदायिक राजनीति का रूप लिया है उसमें वर्ग, जाति और जेंडर के बीच काफी गहरे अंतसंबंध मौजूद दिखते हैं। जिस विचारधारा का अनुसरण राजनीतिक पार्टियां या संस्थाएं समाज में विचारधाराओं को फैलाती हैं और धर्म तथा राष्ट्र की रक्षा और शुद्धता बरकरार रखना चाहती हैं, उसी विचारधारा का अनुसरण कर जाति-व्यवस्था में अपनी जाति की शुद्धता और वर्ग की नैतिकता को बरकरार रखा जाता है। इन्हीं विचारधाराओं के आधार पर महिलाओं के सवाल उनको अनुशासित और नियंत्रित करने के रूप में अभिव्यक्त होती दिखती हैं। अक्सर जाति से जुड़ी हुई महिलाओं की स्थिति संस्कृति और राष्ट्र निमार्ण के सामने हाशिये पर रह जाती है। यही स्थिति धर्म के संदर्भ में महिंलाओं के स्थिति के मूल्यांकन में भी दिखती हैं। तमाम धार्मिक और जातीय उन्माद की घटनाओं में राज्य, अन्य सामाजिक और सामुदायिक संस्थाओं के मौजूदा चरित्र ने महिलाओं से जुड़े कई प्रश्नों को नये तरीके से पुन: परिभाषित किया हैं जिसकी अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता में नहीं के बराबर होती है। जिसके वजह से वर्चस्व आधारित श्रेणीबद्धता महिलाओं को किन तरीकों से अनुशासित और नियंत्रित करती हैं वह विमर्श के रूप में अपनी जगह नहीं बना पाती है।

मौजूदा समय में हिंदी पत्रकारिता भी सूचनाओं के अन्य संचार माध्यम के तरह सूचानाओं के साथ-साथ विचारों को स्थापित करने का भी माध्यम के रूप में हमारे मध्य मौजूद हैं। इसके साथ-साथ लैंगिकता की बहस को धर्म, वर्ग और जाति के संदर्भ में पौरूष पूर्ण सत्ता व वर्चस्व से मुक्त कर उसके स्वतंत्र व भिन्न अस्तित्व को विकसित करने में हम कितना रास्ता तय कर चुके है? इसकी पड़ताल हिंदी अख़बारों के अभिव्यक्ति के माध्यम से भी किया जा सकता है। क्योंकि हिंदी पत्रकारिता केवल पाठकों के मध्य सूचनाओं का संप्रेषण ही नहीं करता हैं, विचारों को स्थापित भी करता हैं। जिससे निजी और सार्वजनिक जीवन में लोग खासकर महिलाएं प्रभावित होती हैं, कभी-कभी अपना सामाजिक व्यवहार भी तय करती है।

4.1 वर्ग

प्रत्येक समाज की अपनी एक संरचना होती है। एक समुदाय अपनी सामाजिक संरचना को जिस तरीके से देखता है वह काफ़ी महत्वपूर्ण होता है क्योंकि वह उनके सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करता है। भारतीय समाज में वर्ग आधारित ढांचा अधिक जटिल है क्योंकि भारतीय समाज श्रम, संस्कार और संस्कृति में जातियां भी मौजूद है। यहां जाति और वर्ग आपस में गुंथे हुए मालूल पड़ते है। वर्गीय समाज खासतौर पर अतंर्विरोधों से भरा हुआ दिखता हैं। जाति और वर्ग के संबंध के विषय में गेल आम्वेट लिखती हैं कि -

> "जाति जमीनी हकीकत है, इसकी बुनियादी जमीन है। यह केवल एक स्वरूप (फार्म) भर नहीं, बल्कि ठोस वस्तु (कंटेट) है। इसने भारतीय समाज के आधार को रूप-आकार प्रदान किया है और आज भी आर्थिक स्तर पर यह महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है किसमें ब्राह्मण सबसे ऊपर है और अछूत सबसे नीचे; और दूसरा राजनीतिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार, जिसमें जमीनों के मालिक ऊपर है और जमीनों पर काम करने वाले कामगर मजदूर सबसे नीचे। पहला व्यवस्था का प्रतिरूप है तो दूसरा हकीकत।"[395]

यही प्रतिरूप जाति और वर्ग को एक दूसरे के साथ गढ़मढ़ करती रहती है। इसके अतिरिक्त उत्पादन संबंधो के बीच के संबंध को निर्धारित करने वाले एक महत्वपूर्ण तत्व है ज्ञान पर एकाधिकार और निम्न जातियों पर ज्ञान प्राप्त करने की पाबंदी। जिसके कारण समाज में वर्गीय गतिशीलता प्रभावित होती है। (यह सारे तत्व लिंग-संबंधों को भी प्रभावित करते है, इसे आगे समझने की कोशिश करूंगा।) उदाहरण के लिए, ट्राउटमैन[396] ने इसकी आलोचना की, जिन्होंने वर्ण को जाति या वर्ग मान लिया। उन्होंने कहा कि वर्ण एक धार्मिक संकल्पना है जिसे वर्ग के बदले मध्यकालीन यूरोपीय चिंतंन के विभाग के संदर्भ में बेहतर समझा जा सकता है, क्योंकि वर्ग इतना वस्तुपरक, वैज्ञानिक और आधुनिक है कि वह वर्ण की अवधारणा को पर्याप्त रूप से प्रतिबिंवित कर ही नहीं सकता। वर्ण को जाति या वर्ग नहीं, बल्कि धार्मिक व्यवस्था(आर्डर) और विभाग(इस्टेट) समझना चाहिए। मैक्स वेबर[397] भी इस बात पर जोर दिया है कि वर्ण, वर्ग नहीं, बल्कि प्रस्थिति समूह(स्टेटस ग्रुप) या विभाग(इस्टेट) है। उनके अनुसार वर्ग का अपना एक आर्थिक तात्पर्य होता है। इन स्थितियों में वर्ग को श्रम की सामाजिक भूमिका में लोगों के बहुत बड़े समूह द्वारा दूसरे समूह का, ऐतिहासिक रूप से निर्धारण सामाजिक उत्पादन व्यवस्था में

---

[395] सुवीरा जायसवाल, कास्ट:आरिजिन,फंक्शन एंड डाइमेंशनसन का हिंदी अनुवाद, वर्णजाति व्यवस्था, अनु. आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली, 2004,पेज न०- 35

[396] सुवीरा जायसवाल, कास्ट:आरिजिन,फंक्शन एंड डाइमेंशनसन का हिंदी अनुवाद, वर्णजाति व्यवस्था, अनु. आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली, 2004,पेज न०- 56

[397] वही पेज न० - 53

उनका स्थान हथियाने के रूप में की जाती है। पारिभाषिक रूप में वर्ग लोगों के एक समूह को ऐसे ही दूसरे समूह से किए गए स्थिति विभेदीकरण को कहा जा सकता है। वर्ग शब्द प्रयोग दो अर्थो में किया जाता रहा है। पहला, समूह के लिए एक समान्य शब्द के तौर पर और दूसरा, सामाजिक संरचना के विशिष्ट स्तरीकरण के लिए। लेनिन वर्ग को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि -

> "वर्ग लोगों का वह समूह है, जिसमें एक तो श्रम करते है और दूसरे सामाजिक अर्थव्यवस्था की पूर्वनिधारित शर्त द्वारा उत्पादन हथिया लेते है। इसकी उत्पत्ति सामाजिक श्रम-विभाजन और उत्पादन के साहनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के साथ हुई है।"[398]

लेनिन के अनुसार समाज में उत्पादन साधन पद्धति वर्गीय समाज का गठन करती है और विभिन्न वर्गों का अस्तित्व सामाजिक उत्पादन के विकास में ऐतिहासिक अवस्थाओं से जुड़कर सामाजिक-आर्थिक प्रणाली बनाते है जिससे वर्ग की उत्पति होती है। टी.बी.बांटमोर बताते हैं कि -

> "मार्क्स सामाजिक वर्गों के आर्थिक आधार को स्पष्ट करते है क्योंकि यही आर्थिक आधार और वर्गों के बीच शत्रुतापूर्ण संबंधों की पुष्टि प्रभावशाली ढंग से करती है।"[399]

मार्क्स के अनुसार, आर्थिक आधार के कारण श्रम विभाजन का विस्तार परिवार के बाहर हुआ, अधिशेष संपदा का संग्रह हुआ तथा निजी स्वामित्व का उदय हुआ। जिसने सामाजिक वर्गों के गठन आधार को मजबूत किया। मार्क्स, लेनिन के तरह आदिम साम्यवाद, प्राचीन समाज, सामंती समाज और आधुनिक पूंजीवाद समाज के ऐतिहासिक रूपों में वर्ग की आर्थिक आधार पर करते है। किंतु, मार्क्स आर्थिक नियतवाद(डिटर्मिनिज्म) का सरल सिद्धांत पर मौन हो जाते है। जबकि, उन्होंने हीगेल के इतिहास दर्शन की आलोचना करते हुए कहते हैं कि -

> "यह इतिहास नहीं है जो मनुष्य को अपनी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए साधन के रूप में इस्तेमाल करता है। इतिहास कुछ नहीं केवल अपनी लक्ष्यों की पूर्ति की तलाश में लगे मनुष्यों की गतिविधी है।"[400]

असल में मार्क्स के सिद्धांत ने वर्ग की व्याख्या में कुछ सामाजिक व्यवहारों की अनदेखी हुई जो आलोचना के मुख्य बिंदु के रूप में उभर कर सामने आते है। मसलन, मार्क्स मानव समाज में आए प्रमुख ऐतिहासिक परिवर्तनों की व्याख्या करने में सामाजिक वर्गों और वर्ग संघर्षो के महत्व पर सवाल खड़ा करते है। परंतु, 19वीं सदी के परवर्ती हिस्से के दौरान राष्ट्रवादी तथा सामाजवादी भावनाओं का विकास मार्क्स के सिद्दांत पर सवाल करते है। क्योंकि राष्ट्रवादी और समाजवादी

---

[398] के.वी.रमन्ना, जाति और वर्ग: एक ऐतिहासिक रूपरेखा, संवाद प्रकाशन, मेरठ 2008. पेज न०- 19

[399] टी.बी.बांटमोर, आधुनिक समाज में वर्ग, अनु. वंदना मिश्र, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज न०- 19

[400] फ्रेडरिक एंगेल्स, परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति, मास्को प्रगति प्रकाशन, 1968 पेज न०-62

विचार और भावनाएं आबादी के एक बड़े हिस्से को प्रभावित करते है। राष्ट्रो में राष्ट्रीय समुदाय की बढ़ती भावना के पक्ष की उपेक्षा वर्ग शत्रुताओं के विकास को संयमित और हल्का कर देती हैं। वही दूसरी तरफ़, मार्क्स की वर्ग संबंधी व्याख्या आधुनिक पूंजीवादी समाजों में वर्ग संबंधों के घटनाक्रमों के साथ काफ़ी सटीक बैठता है। परंतु, सामाजिक स्तरीकरण के अन्य अनेक प्रकारों के साथ सटीक नहीं बैठ पाता। इसके साथ-साथ, मार्क्स के सिद्धांत के लिए कठिनाईयां प्रस्तुत करने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन रहा 'नई मध्य वर्ग' का विकास। मार्क्स का यह कहना कि आधुनिक समाज में मध्यवर्ग धीरे-धीरे गायब हो जाएंगे, सीधे झुठलाता है। मार्क्स छोटे उत्पादकों, शिल्पियों, दस्तकारों, छोटे किसानों, स्वरोज़गार में लगे व्यावसायिक लोगों की बड़ी सख्यां में उल्लेख करते हैं जिनमें से अनेक वास्तव में बड़े पूंजीवादी उधोगों में वेतनभोगी कर्मचारियों के रूप में समाहित कर लिए गए। परंतु, आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप नई मध्यवर्गों में बढ़ोतरी हुई। नई मध्यवर्ग का विकास औधोगिक समाज में सामाजिक स्तरीकरण की एक जटिलता को अभिव्यक्त करती है और यह स्तरीकरण के एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में व्यवसाय, उपभोग तथा जीवन शैली पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा को प्रवेश दिलाती है। इसके अतिरिक्त मार्क्स अपनी वर्ग की अवधारणा और व्याख्या में लिंग की अवधारणा को पूरी तरह अनदेखी करते है। मसलन, मार्क्सवादी इतिहासकार जाति को आदिम स्तरीय उत्पादन व्यवस्था में वर्ग की भूमिका निभाने वाली संस्था मानते है। परंतु, जातिवादी विचारधारा और आंतरविवाह के नियमों की सरंचना में पितृसता और नारी के अधीनीकरण की प्रवृत्तियों की उपेक्षा कर दी गई।[401] जबकि, फ्रेडरिक एंगेल्स अपनी किताब 'परिवार,राज्य और व्यक्तिगत संपत्ति' में लिखते हैं -

> "संसार का सबसे पहला वर्ग-विभाजन स्त्री-पुरुष के बीच होता है। आधुनिक वैयक्तिक परिवार स्त्री की खुली या छिपी हुई घरेलू दास्ता पर आधारित है और आधुनिक समाज वह समवाय है जो वैयक्तिक परिवारों के अणुओं से मिलकर बना है। परिवार में पति बुर्जुआ होता है और पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है।"[402]

फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा परिवार के भीतर स्त्री की शोषण की पहचान के बावजूद भी बाद के मार्क्सवादी चिंतकों ने स्त्री की शोषण के इस रूप पर ज़्यादा विचार नहीं किया। वर्ग शोषण की अवधारणा ने अंदर ही स्त्री की शोषण के सवाल को समाहित कर दिया गया। जबकि सामजिक पिरामिड(शंकु) के सभी स्तर महिलाओं से संबंधित है। चोटी के तबके की कुछ महिलाएं धनकुबेरों के वर्ग से संबंधित हैं, उससे अधिका सख्यां में मध्यवर्ग से संबंधित है और अधिकतर औरतें

---

[401] सुवीरा जायसवाल, कास्ट:आरिजिन,फंक्शन एंड डाइमेंशनसन का हिंदी अनुवाद, वर्णजाति व्यवस्था, अनु. आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली, 2004,पेज न०- 17

[402] मार्क्स, एंगेल्स संकलित रचनाएं, खंड-3, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978 पेन न० 87

आबादी के सर्वहारा (ऐसे मजदूर, जिनके पास बेचने के लिए उसकी श्रम-शक्ति के अलावा और कुछ नहीं है।) तबके से संबंधित है। संक्षेप में, पुरुषों की तरह नारी भी अनेक वर्गों में बंटा हुआ लिंग-समुदाय हैं। स्पष्ट है कि मार्क्सवादी समाजशास्त्र के तहत वर्ग को दो तरीकों से परिभाषित किया गया। पहला, उत्पादन प्रक्रिया में वे कौन सी भूमिका निभाते है ? और दूसरा, जायदाद के मलिकाने से उनका क्या संबंध है? मैक्स वेबर मार्क्स के सिद्दांत का एक बोधगम्य विकल्प प्रस्तुत करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। उनके अनुसार -

> "हमारी शब्दावली में वर्ग का अर्थ समुदाय से नहीं है। वे महज सामुदायिक कार्यवाइयों के संभावित आधारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हम वर्ग की बात तब कर सकते है जब, (1) ढेर सारे लोगों के जीवन अवसरों का निर्धारक कारक समान हो। (2) इस कारक का प्रतिनिधित्व आय के अवसरों तथा बाज़ार स्थिति के अधिकारों से आर्थिक हितों द्वारा विशेष तौर पर किया जाता हो। (3) जब श्रम बाज़ार के शर्तों के अंतर्गत आता हो।"[403]

बेवर के अनुसार आधुनिक समाज में समान आर्थिक क्षमताओं वाले व्यक्तियों का जीवन की दशाओं में समानता होती है और नतीजातन उनके व्यक्तिगत व्यवहारों में भी समानता दिखाई पड़ती हैं, इसलिए इन्हें एक वर्ग में रखा जा सकता है। आर्थिक स्तर, प्रतिष्ठा और राजनीतिक शक्ति को अलग करते हुए वर्ग के तीन नज़रिया रखते हैं। इस नज़रिये के आधार पर वर्ग का असली पहचान आर्थिक पदानुक्रम के अनुसार होता है, वही हैसियत समूहों(स्टेटस ग्रुप) का स्थान सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते है और बदले में उसके द्वारा प्रभावित भी होते है। परंतु, मौजूदा समाज में श्रम विभाजन और पेशागत विविधता भी मौजूद है। बेवर की संकल्पना के अनुसार अनगिनत वर्ग बन जाएंगे। मार्क्स के वर्ग सिंद्धांतों की आलोचना और मैक्स वेबर द्वारा वर्ग का स्तरीकरण ने वर्ग के संबंध में अपनी विचार प्रस्तुत किए। परंतु, ध्यान देने वाली बात यह भी है कि वर्ग के बीच महत्वपूर्ण विविधता कोई एक नहीं होती। मानव समाज में विभिन्न व्यक्तियों के अलग-अलग हित चेतना होती है, जिनके आधार पर ही अस्मिताबोध निर्मित होती है। किसी भी समाज में, किसी भी वर्ग में अस्मिताओं के हितों का टकराव लगातार चलता रहता हैं, जिनका प्रभाव अंतत: किसी समाज का संपूर्ण स्वरूप और दिशा तय करता है।

भारतीय संदर्भ में, भारतीय महाद्वीप में विधमान भौगोलिक और परिस्थितिकी में विविधता की वजह से अतीत हो या वर्तमान, दोनों ही देशकाल में एक साथ सामाजिक-संरचनाएं और उत्पादन प्रणालियां मौजूद रही है। उदाहरण के लिए यदि वर्ग, जाति और धर्म की श्रेणीबद्धता, क्षेत्रीय

---

[403] द इम्पैक्ट आफ सोशल क्लास: ए बुक आफ रीडिंग्स,संपादन पाल व्लूमथर्ग, थांमस.वाई.क्रावेल. न्यूयार्क 1987 में संकलित बेवर का पुस्तक अंश क्लास, स्टेटस, पार्टी पेज न०-26

विभिन्नता के साथ और भी ज़्यादा उलझी हुई है। इसके साथ-साथ यहां जनजाति समाज व्यवस्थाएं भी हैं। भारतीय संदर्भ में वर्ग कब और कैसे बना? यह एक महत्वपूर्ण सवाल है। खासकर जहां जाति का ज़्यादा बोलबाला और धर्म केवल आस्था तक ही सीमित नहीं है। इस संदर्भ में मानव समाज का इतिहास बताता है कि उत्पादन की बहुलता, विविधता और वितरण के कारण समाज का स्तर(वर्ग) बना। भागवत शरण उपाध्याय बताते हैं कि-

> "द्वंद्वात्मक वर्ग संघर्ष अर्थ संपत्ति की विषमता और उत्पादन का सीधा नतीजा है। यह उत्पादन बहुलता जिस समाज में जितनी ही अधिक होगी समाज में वर्ग उतने ही स्पष्ट होंगे, उनका संघर्ष उतना ही व्यापक और गंभीर होगा। प्रगति उतनी ही सुगढ़ और वेगवती होगी।"[404]

परंतु, भागवत शरण उपाध्याय वर्ग को वर्णों की सामाजिक संज्ञा के रूप में देखते है और इसके उदय के कारण आर्थिक कारणों से जोड़ते हैं। उनकी पूरी व्याख्या में लिंग की स्थिति की भी अनदेखी देखने को मिलती है। हालांकि भागवत शरण उपाध्याय इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि -

> "भारत में आर्थिक बहुलता न होने के कारण प्राचीन न होने के कारण प्राचीन भारतीय समाज के वर्गों या वर्गों का हमें स्पष्ट दर्शन नहीं होता, लेकिन हमारे अध्ययन से आंकडे ज़रूर मिलते है जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि वर्ग थे और वर्ग-संघर्ष हुआ। चाहे उनका रूप स्पष्ट न हो, अव्यक्त हो और आवरण में लिपटा ही हो। प्रगति हुई यह तो असंदिग्ध ही है और यह प्रमाणित करती है कि वर्ग थे और वर्ग संघर्ष हुए क्योंकि प्रगति अर्थद्वंद्व को परिफलित करती है।"[405]

भारतीय समाज में वर्ग संरचना की समस्या ने प्राचीन भारत के इतिहासकार आर.एस.शर्मा का खासतौर से ध्यान आकर्षित किया है। उनके अनुसार -

> "उत्तर वैदिक समाज में पूरी तरह से वर्ग-समाज नहीं था। यद्दपि चातुर्वर्ण्य का उदय हो चुका था और प्रथम दो वर्ण किसान समुदाय तथा गुलाम श्रामिक के शोषण पर सुखोपभोग करते थे, हालांकि इस अर्थ में अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक वर्गों का जन्म नहीं हुआ था कि कुल लोग तो उत्पादन के साधनों के स्वामी हो और बाकी उनसे सर्वथा वंचित। लगभग पांचवी सदी से सामाजिक वर्गों के स्वरूप और संबंधों में महत्वपूर्ण होने लगते हैं और ये एक सामंतवादी संघठन का द्वार खोल देते हैं।"[406]

---

[404] भागवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण,पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस(प्रा.)लिमिटेड, पेज न०- 21

[405] वही पेज न० 21

[406] आर. एस. शर्मा, कान्फ्लिक्ट, डिस्ट्रब्यूशन एंड डिफरेंसिएशन इन वैदिक सोसायटी 38वां अधिवेशन(भुनेश्वर, 1977) पेज न०- 177-91

इतिहासकार सुमित सरकार अपनी किताब "आधुनिक भारत" में अपने शोधों के आधार पर, उन प्रचुर संभावनाओं का प्रकट करने की कोशिश करती है, जो इतिहास को समाज के निचले तबके के नज़रिये से देखने के लिए विघ्यमान हैं, विशिष्ट वर्ग के बजाय जनजातियों किसानों और कामगारों पर अपना ध्यान केंद्रित करती है। इसीप्रकार प्रभात पटनायक वर्गीय राजनीति के बहस को पहचान की राजनीति के रूप में मजबूती से स्थापित करने का प्रयास करते है। वर्ग पर आधारित इन बहसों ने वर्ग और महिलाओं के संबंध में भी महत्वपूर्ण तथ्यों को उजागर करते हैं। वर्ग और महिलाओं की संबंध में हुए, कई अध्ययन यह प्रकट करते है कि -

> "स्त्रियों का लैंगिक धर्म भी वैदिक पुरोहित वर्ग के लिए भौतिक तथा आध्यत्मिक दोनों प्रकार की समस्याएं खड़ी करता था और इसलिए इस वर्ग ने अपनी कर्मकांडो को व्यवस्थित रखने के लिए स्त्रियों की भूमिका को अधिक से अधिक कम और स्थानच्युत करने की युक्तियां निकाल ली। स्त्रियों के मासिकधर्म के अशुद्ध होने की कल्पना ने भी स्त्रियों की वर्ग के विमर्श में या जाति के विमर्श में शामिल नहीं किया।"[407]

उमा चक्रवति वर्ग के इस विभाजन में महिलाओं की स्थितियों की पड़ताल करते हुए, इतिहास का विभाजन करते हुए बताती हैं कि -

> "इतिहास के दो प्रमुख क्षणों को जोड़ने में मदद करता है। पहला, मनु-पूर्व सामाजिक गठन (पांचवी से तीसरी सदी ईसा पूर्व के बीच की अवधि), जिसका बौद्ध साहित्य में बड़ा ही अच्छा चित्रण दर्ज है, से मनु द्वारा चित्रित समाज(पहली या दूसरी सदी) में हुए परिवर्तन में और दूसरा मनु-काल से समकालीन समाज व्यवस्था में हुए परिवर्तन में देखा जा सकता है।"[408]

हालांकि इस अवधि का इतिहास सबसे ज़्यादा विवादास्पद रहा है। 19वीं सदी में राष्ट्रवादियों(अमूनन ऊंची जाति से रहे) ने इस अवधि के इतिहास का महिमामंडन किया। इस अवधि में स्त्री की स्थिति के संदर्भ में स्वर्ण युग के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। जबकि लिंग-जनित स्तरीकरण द्विआयामी तरह की थी, एक तो वर्ग के आधार पर और दूसरा उस वंश या कुल गोत्र के भीतर जिसका हिस्सा स्त्री होती थी। कुमकुम राय ने कमोबेश इस अवधि के बीच ब्राह्मणवादी ग्रंथों का नारीवादी नज़रिये से अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण किया है और उन्होंने

---

[407] यह बात वासंती रामन ने कही, देखिए भास्कर नंदी और वासंती रामण 'दि लौंग ट्रांजिशन: दि केस आफ कोच-राजबंशीज आफ नार्थ-ईस्टन इंडिया, इंडियन इंस्टीच्यूट आफ एडवांस्ट स्टडी, शिमला में 12 नवंबर 1992 को फ्राम ट्राइव टु कास्ट विषय पर आयोजित सेमिनार में प्रस्तुत आलेख'

[408] उमा चक्रवती, जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली 2011, पेज न०- 44

जाति, वर्ग के साथ-साथ लिंगजनित स्तरीकरणों के बीच के संबंध को समान सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से प्रदर्शित किया है। वो बताती हैं कि -

> "कैसे वर्णधारित स्तरीकरण और उत्पादन और प्रजनन पर नियंत्रण को वैधता प्रदान करने के लिए ब्राह्मणवादी ग्रंथों में वर्णित कर्मकांडो का इस्तेमाल किया जाता था जो राजा और राजसूर्य कैसे कर्मकांडो का आयोजन राजा के अधिकार क्षेत्र के दायरे के उत्पादन-प्रजनन साधनों पर उसके नियंत्रण को वैधता दिलाते थे। वहीं घर के भीतर के कर्मकांड घरेलू दायरे के उत्पादक-प्रजनन साधनों पर यजमान के नियंत्रण को। इस तरह दो समांतर प्रक्रियाओं के माध्यम से राजा और ऊंची जातियों -दोनों ने उत्पादन और प्रजनन पर नियंत्रण और कुछ पुरुषों और सभी स्त्रियों की पराधीनता स्थापित और व्यवस्थित की।"[409]

इस अवधि में समाज की आर्थिक गतिशीलता के साक्ष्य बौद्ध और जैन ग्रंथो में मिलते हैं ये बदलाव कृषि में, व्यापार हों, शहरीकरण में हो रहे थे जिसके वजह से वर्ग, जाति और लिंग आधारित स्तरीकरणों पर देखने को मिलते हैं। जिसकी चर्चा करते हुए उमा चक्रवति लिखती हैं कि -

> "इस अवधि में आर्थिक गतिशीलता के कारण हो रहे बदलाव में ध्यान देने लायक तथ्य यह भी है कि इस समाज में केवल दो वर्ग थे, उच्च और निम्न।"[410]

उमा चक्रवति के अनुसार जहां तक वर्ग और जाति का प्रश्न है, बौद्ध धर्म समाज में हो रहे द्रुत परिवर्तन में ब्राह्मणवादी वर्ग विभाजन को स्थितिशील(स्टैटिक) और जगत में हो रहे निरंतर परिवर्तन के साथ अपरिवर्तनीय मानने से इऩकार किया। क्योंकि परिवर्तन की धारणा बौद्ध दर्शन की बुनियादी धारणा है। उस अवधि में समाज परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था।

समाज में परिवर्तन की इस आवश्यकता को बुद्ध के धम्म और महावीर के दर्शन ने संप्रदाय को परिवर्तन की यह भूमि प्रदान की। समाज ने बुद्ध के धम्म और महावीर के दर्शन को स्वीकार करना प्रारंभ किया। इन दोनों विचारों के उदय से और पुरातनवादी विचारों के कारण अलगाव का शिकार एक वर्ग उपासक के रूप में विकसित हुआ। नवीन दर्शन और उपासक वर्ग के उदय के कारण उन परंपराओं और उन प्रणालीयों को ठेस पहुंची जिनका पालन अब तक समाज करता आ रहा था। धार्मिक क्षितिज पर नवीन विचारों के उदय से समाज को ऐसा लगने लगा अब समाज में वर्ण और वर्ग बंधन की दासता से मुक्त हो रहा है। इन नवीन मतों को कितने लोगों ने स्वीकार किया यह स्पष्ट नहीं है परंतु, इन नवीन मतों से समाज में वैभव और संपन्न वर्ग को

---

[409] कुमकुम राय, दि इमरजेंस आंफ मोनार्की इन नार्थ इंडिया 800-40 ई.पू. इज रिफ्लेक्टेड इन दि ब्राह्मणिकल ट्रेडिशन(दिल्ली oup, 1994) पेज न० 48

[410] उमा चक्रवर्ती, जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पेज न०-51

पुरातनवादियों द्वारा प्रद्दत उत्पीड़न और शोषण से मुक्ति एंव सामाजिक समता का मार्ग प्रशस्त किया। इसी वर्ग ने प्राचीन परंपराओं कि अवहेलना करना प्रारंभ किया। परिणामस्वरूप सांप्रदायिक मतों में संघर्ष प्रारंभ हुआ सांप्रदायिक आस्था के नाम पर समाज में विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। इस समय के शासक वर्ग जो कमोबेश वर्ण-व्यवस्था के निचले पायदान से ही आते थे परंपरावादियों से अपनी रक्षा के लिए नवीन विचारों को संरक्षण दिया। क्योंकि उनको पता था कि समाज की परंपरावादियों की परंपरा और सामाजिक व्यवहारों में उनकी श्रेष्ठता उनको कभी स्वीकार नहीं करेगी। इससे परंपरावादियों का वर्ग स्वयं को पराजित महसूस करने लगा। इसके अतिरिक्त नवीन और पुरातनवादियों का संघर्ष मंतांतरण तक ही सीमित नहीं रहा। इस अवधि में परिवर्तन की प्रक्रिया सामाजिक जीवन में भी बड़ा परिवर्तन ला रही थी। बुद्ध ने स्वयं यह कहा हैं कि -

> "जन्म से नहीं बल्कि कर्म से ही आदमी शुद्र या ब्राह्मण होता है। आत्मा महज विचारों का प्रवाह है सतत परिवर्तनशील अस्तित्व का सिलसिला है।"[411]

सामाजिक जीवन में परिवर्तन का प्रभाव समाज के आर्थिक व्यवस्था पर भी पड़ने लगा। आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तनों ने उसके वर्ग की अवस्था को भी परिवर्तित करना प्रारंभ किया। बुद्ध के धम्म और महावीर के दर्शन के वैचारिक प्रवाहों ने व्यापक जनता को सामाजिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि प्रदान की, जिसके कारण वैदिक धर्म(ब्राह्मणवाद) की जड़ तक हिल गई। वह सदियों तक पृष्ठभूमि में पड़ा रहा। वैदिक धर्म के साथ नये वैचारिक प्रवाहों के बीच काफ़ी संघर्ष के उतार-चढ़ाव के दौर से गुजरते हुए, नये वैचारिक विचारों पर हमलों के कारण ये नव विचार एक हद तक भारत में अवसान हो गया। इस दौरान वैदिक विचारों के समर्थकों ने लाखों बौद्धों और महावीर धर्म के उपासकों का कत्लेआम किया गया। विहार और मठों को जलाया गया और वैदिक धर्म को पुन: कायम किया गया। इन नव-विचारों के पतन के बाद मध्यकाल में वर्ग-व्यवस्था और जातिवाद को चुनौती मिली। भक्ति आंदोलन के कवियों और समाजसुधारकों द्वारा इनमें कबीर, गुरूनानक, रैदास, दादू दयाल, तुकाराम और चैतन्य प्रमुख थे। इन लोगों ने ब्राह्मणवादियों पर चोट कर जातिवाद और छूआछूत का भी विरोध किया। इन आंदोलनों ने सामाजिक समानता और समंवय पर जोर दिया। परंतु, इन प्रयासों ने निचले वर्ग के संप्रदायों में न ही आर्थिक गतिशीलता आ सकी और न वर्ग चरित्र में कोई परिवर्तन हुआ। इन आंदोलनों ने निम्न वर्गों के समुदायों के प्रति अत्याचार और उत्पीड़न को कुछ हद तक समसरता में बदलने का प्रयास किया।

---

[411] जवाहर लाल नेहरू, हिंदुस्तान की कहानी, सस्ता साहित्य मंडल, इलाहाबाद 2013, पेज न०-146-48

पश्चिमी समाजों के विकास के अध्ययन और विश्लेषण के आधार पर मार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि -

> "किसी भी समाज में संपत्ति और उत्पादन संबंध मौटे तौर पर व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों को निर्धारित करते हैं और अंतत: इन संबंधों के कुल योग से सामाजिक-आर्थिक ढ़ांचे का निर्माण होता है।"[412]

मार्क्स के इस कथन के आधार पर भारत के इतिहास को देखते है तो पाते है कि अग्रेंजों का भारतीय अर्थव्यवस्था में दखल के बाद बड़े परिदृश्य में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन होने लगते है। बी.बी.मिश्र बताते हैं कि -

> "अंग्रेजों का भारतीय अर्थव्यवस्था में दखल देने के पूर्व भारतीय समाज आर्थिक आधार पर चार हिस्सें में दिखता है। राजा और उसके दरबारी, प्रशासन तंत्र को चलाने के लिए नौकरशाही, पुरोहित तथा बुद्धिजीवी इसमें कलाकार और विचारक भी शामिल थे, सौदागर जिन्हें वैश्य भी कहा जाता था और अंत में कृषक तथा कारीगर"[413]

भारत में अंग्रेजों के आने के बाद कुछ दशक बाद आर्थिक गतिशीलता के कारण कई तरह के बदलाव देखने को मिलते है। अंग्रेजों के आगमन के कुछ दशकों के पश्चात भारतीय सामंती व्यवस्था के अंदर पूंजीवादी संबंधों के विकास होने के साथ विभिन्न जातियों के अंदर वर्ग विभाजन की प्रक्रिया की शुरूआत हुई। यह विभाजन धीरे-धीरे बढ़ता चला गया। भारत की पुरानी सामंती जाति संरचना में भी कुछ बदलाव हुए। सभी जातियों के मध्य विभिन्न वर्ग स्तरीकृत हुए, एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि पिछड़े और दलित वर्ग के उत्पीड़न में कोई कमी नहीं आई। इस जड़ स्थिति के कारणों के पड़ताल करते हुए सुवीरा जायेसवाल लिखती हैं कि -

> "मार्क्स ने यह माना था कि रेलप्रणाली तथा आधुनिक उधोग का विकास श्रम के वंशानुगत विभाजन पर आधारित जातिप्रथा को खत्म कर देगा। परंतु, जिस चीज के बारे में यह समझा जाता था कि वह जाति-आधारित समाज को छिन्न-भिन्न कर देगी उसे भारतीय समाज ने पचा लिया। क्योंकि आधुनिक भारत में जो भी परिवर्तन हो रहे थे वह राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्रों में ही हो रहे थे। इन दोनों पर एक ओर तो समाज की मूल्यप्रणाली का कोई असर नहीं पड़ता और दूसरी ओर ये स्वयं उस मूल्यप्रणाली को अपनाये हुए है जो सामाजिक जीवन के सामाजिक व्यवहारों पर चोट नहीं करते"[414]

---

[412] मार्क्स, एंगेल्स, लेलिन, आन हिस्टोरिकल मैटोरियलिज्म, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, पेज न०-137

[413] बी.बी.मिश्रा, द इंडियन मिडिल क्लाससं, आक्फोर्ड प्रेस, लंदन, 1961, पेज न०-29

[414]सुवीरा जायसवाल, कास्ट:आरिजिन,फंक्शन एंड डाइमेंशनसन का हिंदी अनुवाद आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली 2004,पेज न०- 48

वही दूसरी तरफ़-

> "पूंजीवादी उत्पादनपद्धति ने जाति को स्पर्धाहीन श्रेणीविन्यास प्रणाली के बजाये सामाजिक स्तरीकरण की ऐसी प्रणाली बना देती है जिसको हर जाति का अभिजन(एलीट) वर्ग दूसरे अभिजन वर्ग के मुकाबले अधिक से अधिक आर्थिक तथा राजनीतिक लाभ उठाने के लिए उपयोग में लाता है और बढ़ावा देता है। लेकिन जाति विभाजन को जारी रखने का मुख्य रूप से जिम्मेदार सजातीय विवाह के कायम रहने के कारणों की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देता है। जिससे समाज में जातियों का वर्ग में रूपांतरण तो होता है परंतु, जाति संबंध को कायम रखने में मदद मिलती है।"[415]

स्पष्ट है कि भारतीय परिपेक्ष्य में वर्ग और वर्ण के संदर्भ में यह अंतर करना आवश्यक है कि वर्ण सामंतवादी समाज का एक घटक है और वर्ग पूंजीवादी समाज का। चूंकि भारतीय समाज सामंतवादी भी रहा है और आर्थिक गतिशीलता के दौर में पूंजीवादी भी, और पूंजीवादी दौर में भी उसमें सामंतवादी गुण मौजूद रहा है इसलिए यहां वर्ण भी और वर्ग भी, उसमें आपसी गुथंन भी और अलगाव के लिए संघर्ष भी। एक तरह जहां सामंतवादी व्यवस्था वर्ण व्यवस्था को बनाए रखना चाहती है तो पूंजीवादी व्यवस्था की आर्थिक गतिशीलता वर्ग की गतिशीलता और रूपांतरण प्रक्रिया को तेज़ करने की कोशिश करती है।

औपनिवेशिक भारत और स्वतंत्र भारत में अर्थव्यवस्था में गतिशीलता और भारतीय लोकतांत्रिक संस्थाओं के लोकतांत्रिकीकरण ने समाज में नयी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता को जन्म दिया। जिसके कारण कई जातियों में संसाधनों पर कब्जे और सत्ता के लिए आपस में स्पर्धा प्रारंभ हुई। जिससे कई जातियों में वर्गीय गतिशीलता आर्थिक आधार पर देखने को मिलती है तो कई जाति समुदायों में सामाजिक सरंचना के प्रति स्थिरता भी देखने को मिलती है। मसलन, कायस्थ जाति के सदस्यों ने अपनी लिखने-पढ़ने की योग्यता के आधार पर लिपिकों की एक अलग जाति पूर्वकाल में बनाई, जो कायस्थ कहलाई। औपनिवेशिक देशकाल में भी इस जाति समूह ने अपनी लिपकीय योग्यता के आधार पर अपनी स्थिति को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थियों के आधार पर मजबूत बनाया। औपनिवेशिक देशकाल में जातियों की जनगणना भी प्रारंभ हुई, जिसने वर्ग के रूपांतरण की प्रक्रिया को प्रभावित किया। क्योंकि 19वीं सदी के मध्य तक भारतीय समाज का पुराना ढांचा बदलने लगा। इसके साथ-साथ अंग्रेजी शासन और आर्थिक मंदी के कारण लोगों में आर्थिक असुरक्षा की भावना भी बढ़ रही थी जिसने औपनिवेशिक भारत में परंपरागत पेशों को गंभीर चुनौती मिल रही थी।

---

[415] वही पेज न० 49

औपनिवेशिक भारत में न केवल जाति पर एक नया विमर्श प्रारंभ हो रहा था बल्कि जाति-व्यवस्था ने कुछ परिवर्तनों का भी श्रीगणेश कर दिया था। इसके साथ-साथ औपनिवेशिक भारत में आर्थिक गतिशीलता के कारण नई काम और पेशों का भी विकास हो रहा था और विभिन्न जातीय और धार्मिक समुदायों में काम और पेशा के आस-पास केंद्रित बिंदुओं पर समुदायों के बीच कई टकराव और मतभेद थे। उच्च, मध्यवर्ती और निम्न जातियों को औपनिवेशिक शासन के बदलते, पर विरोधाभासी रूप में और अलग-अलग स्तरों पर, नफा और नुकसान दोनों हो रहे थे। कई समुदायों में आर्थिक असुरक्षा भी बढ़ रही थी क्योंकि परंपरागत पेशों को गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ रहा था जिसके कारण मौजूदा सामाजिक और आर्थिक संबंध भी अस्त-व्यस्त हो रहे थे। रोज़गार के अवसरों में कमी\उसके लिए संघर्ष और आर्थिक संसाधनों का त्रास ने सांप्रदायों के बीच भी संघर्ष को पैदा किया। जहां एक तरफ़ उच्च और मध्यवर्गीय जातीय समेत अन्य जाति समूह और एसोसिएशन उभर रहे थे। उनके अपनी पत्रिकाएं और पर्चे थे जिनमें उनके महत्वकांक्षा और असुरक्षा दोनों उभरते थे। इन पत्रिकाओं और पर्चे में सामाजिक विमर्श में दो तरह के उभर रहे थे। एक तरफ़, जातियों के विभाजनकारी और आपसी होड़ में संलग्न गुटों के रूप में देखकर उनकी समीक्षा करने की अवधारणा। दूसरी तरफ़, पुरुष-सूक्त की वैदिक सृष्टि-कथा के अनुसार वर्ण-व्यवस्था को रूपक बताकर व्यावहारिक लाभ के आधार पर उसकी हिमायत और तीसरी तरफ़, एक अखण्ड जाति के निमार्ण की आकांक्षा। इसके साथ-साथ हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तनाव भी बढ़ने लगे थे जिसके कई कारण थे। मध्यम वर्गो के बीच शैक्षणिक अवसरों, सरकारी नौकरियों और नगरपालिका के ओहदों की चाहत ने हिंदू और मुसलमान दोनों संप्रदायों में सांप्रदायिक शक्तियों को बढ़ावा दे रही थी। नंदनी गुप्त लिखती हैं कि-

> "जनसख्यां में वृद्धि, आर्थिक विस्थापन, गांवों में अवसरों में कमी और शहरों में नई अवसरों के सृजन के कारण हजारों की सख्यां में भूमिहीन ग्रामीण, जिनमें अधिकतर निन्म जातियों के शहरों में आकर बसने लगे। अवसरों के लिए संघर्ष में शहरी मुसलमानों से झगड़ने लगे और धीरे-धीरे मुसलमानों के ख़िलाफ़ हिंदुत्व के रक्षक के रूप में समूहबद्ध होने लगे।"[416]

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के शुरू होने से राजनीति में कई तरह की प्रवृत्तियां उभरी। औपनिवेशिक भारत में हिंदू और मुसलमानों के बीच स्थानीय संघर्षों के कुछ उदाहरण मिलते है। इन संघर्षों से महिलाएं विशेष रूप से प्रभावित हो रही थी। कमोबेश हर समुदाय के लोगों ने समुदाय की प्रतिष्ठा के नाम पर महिलाओं की निजी और सार्वजनिक कार्यक्षेत्र को नियंत्रित करने का प्रयास किया। यहां महिलाओं की यौनिकता और लैंगिकता भी केंद्रीय सवाल के रूप में मौजूद था।

---

[416] सलिल मिश्र, सांप्रदायिक राजनीति का आख्यान, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पेज न०- 273

स्पष्ट है कि औपनिवेशिक दौर में अंग्रेजों का अर्थव्यवस्था में भागीदारी ने भारतीय समाज में आर्थिक गतिशीलता को तेज़ किया। उसने पहले भारत में बड़े पैमाने पर राजनीतिक-आर्थिक आधार मौजूद नहीं था। नई उत्पादन पद्धति, नई पेशों, कानूनी अदालतों, वकीलों, अंग्रेजी शिक्षा, स्कूल तथा कालेजों, सार्वजनिक निकायों तथा पुस्तकालयों, प्रकाशकों, प्रिंट, प्रेस और देशी भाषा के अख़बार, पत्र-पत्रिकाओं ने नई मध्यम वर्ग का विकास किया। वर्ग का नव मध्य वर्ग के रूपांतरण की प्रक्रिया ने जातियों के संघर्ष का विमर्श, हिंदू-मुसलमान संप्रदायों के बीच संघर्ष और जातियों के जणगणना के विमर्श को हाशिये से केंद्र में ला दिया। इन सारे विमर्शों ने जातियों के बीच आर्थिक-सामाजिक और राजनीतिक आधार पर वर्ग के रूपांतरण की प्रक्रिया को तेज़ कर दिया। धीरूभाई सेठ के अनुसार-

> "जाति का वर्ग में रूपांतरण की प्रक्रिया न तो रैखिय होती है न ही प्रयोजनमूलक। यहां आर्थिक आधार पर ध्रुवीकृत संरचना में बदलाव करती है।"[417]

परंतु, वर्ग रूपांतरण की इस प्रक्रिया में वर्ग-विश्लेषण में गैर-वर्गीय तत्वों की उपेक्षा होती है और लिंग-भेद, जातियों आदि पहलुओं पर विचार नहीं के बराबर होता है। इस दौर के हिंदी पत्रकारिता में भारतीय समाज का विमर्श जाति और जातीय सामंजस्य की बजाये वर्ग और वर्ग संघर्ष के शब्दों में व्यक्त होने लगे थे। परंतु, सामाजिक बराबरी, सामाजिक और आर्थिक न्याय और व्यक्तिगत गरिमा की धारणाओं को उचित बनाने के तस्वीर में अस्पृश्यता के कारण महिलाओं पर प्रभाव या स्त्री अधिकार जैसे संभावित विस्फोटक विषय या तो टाल दिये जा रहे थे या उसको कुछ सीमित दायरों में सीमित कर दिया जा रहा था।

वर्ष 1920-40 के अवधि में शिक्षित महिलाओं ने अपनी दावों को व्यक्तिगत और भावानात्मक पहलूओं से जोड़कर, लिंग-भेद-सापेक्ष अधिकार को समाज के आवश्यक बताया। इस दौर में महिलाओं की द्वारा उठाये गए कुछ विषय सभी महिलाओं की लिए प्रासंगिक रहे। परंतु, हिंदी के सार्वजनिक क्षेत्र में जो महिलाएं उभर कर सामने आ रही थी, वे शहरी मध्यवर्ग की थी। जाति और वर्ग के आधर पर जो भेदभाव या बहिष्कार पुरुषों के हिंदी क्षेत्र में था, महिलाओं में भी उसका प्रतिबिंब मिलता है। फ्रांचेस्का आंर्सीनी बताती हैं कि -

---

[417] धीरू भाई सेठ, 'नये मध्य वर्ग का उदय' संपादक: अभय कुमार दुबे, लोकतंत्र के सात अध्याय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2002, पेज न०-111। धीरू भाई सेठ के रूपांतरण के प्रक्रिया को दो तरह से देखते है पहला, यह प्रक्रिया सभी जातियों के सदस्यों को व्यक्ति के रूप में धार्मिक मान्यता प्राप्त व्यवसायगत और कर्मकांड-आधारित दर्जे, आर्थिक और सामाजिक जकड़न से मुक्त करती हैं। यह मुक्तिकारी प्रक्रिया अलग-अलग जातियों में भिन्न-भिन्न सीमाओं तक पड़ता है।दूसरा, यह प्रक्रिया जातियों के सदस्यों के निजी हितों और पहचान को आधुनिक राजनीति तथा शहरी-उधोगकृत व्यवस्था से निकली श्रेणियों से जोड़ देती है। यह न केवल शहरी क्षेत्रों में होता है वरन यह ग्रामीण क्षेत्रों में भी होता है। वर्ग रूपांतरण के ये दो पहलू न तो क्रमवार घटित होता है न ही इसमें स्थानिक रूप से अलगाव है।

> "चांद पत्रिका ने अपनी दायरे को केवल शिक्षित महिलाओं तक सीमित नहीं रखा (जो उसकी वास्वतिक ग्राहक या पाठक थी) बल्कि उसने देश भर की और तमाम सामाजिक वर्गो की सभी महिलाओं की वाणी बनने का प्रयास किया। उसने समाज सुधार का अभिप्राय ही बदल दिया। स्त्रियों पर केंद्रित पहले की पत्रिकाओं के विपरीत समाज-सुधार का मतलब अब स्त्रियों की सिखना या सुधारणा नहीं, बल्कि उनकी ओर से समाज को सुधारना था।"[418]

परंतु, इस तरह के प्रयास काफ़ी सीमित थे। अधिकांश पत्र-पत्रिकाएं महज मध्यवर्गीय सुसंस्कृत स्त्री की निर्माण तक सीमित थी, ऐसी सुसंस्कृत स्त्री जो वर्गों और जांत-पात के ऊंच-नीच का भेदभाव और लिंग भेद पर आधारित सीमाएं स्वीकार करती थी। इस अवधि में हो रहे आर्थिक गतिशीलता के कारण समाज में हो रहे आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवर्तनों के कारण जाति, वर्ग और लिंग का एक-दूसरे के साथ अंत संबद्ध पर लेखन का अभाव हिंदी पत्रकारिता में स्पष्ट रूप में दिखता है। इसके साथ हिंदी पत्रकारिता में वर्ग आधारित बहसें स्त्री और पुरुष वर्ग के रूप में स्पष्ट रूप से विभाजित होती हुई दिखती हैं। स्त्री वर्ग के अंदर भी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक श्रेणीबद्धता हो सकती है। इस मत को औपनिवेशिक काल के हिंदी पत्रकारिता में भी नहीं स्वीकार किया गया था और आज भी इसकी प्रासंगिकता नहीं के ही बराबर है। स्त्री वर्ग एक ऐसा वर्ग है जिसके बिना मानवीय दुनिया की कल्पना संभव नहीं है और वर्ग होने का अर्थ है कि वर्ग-चरित्र से जुड़ी तमाम जरूरी शर्ते वहां लागू होती है, जिससे वर्ग-चेतना का निमार्ण होता है। हिंदी पत्रकारिता में स्त्री वर्ग की उत्पीड़न की समस्या की अभिव्यक्ति अधिक देखने को मिलती है। इसका एक कारण यह भी रहा है कि स्त्री वर्ग की समस्या को सामाजिक और सास्कृतिक रूप में वह जगह नहीं मिल पाई है। जिसके कारण स्त्री समाज की समस्या वर्गीय समस्या के रूप में अपनी स्थान नहीं बना पाता है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि हर समुदाय में जातीय, धार्मिक और वर्गीय अधिरचना मौजूद थी जिसमें महिलाओं से जुड़े रीति-रीवाज और लिंग-प्रेरित भाषा महिलाओं की वर्ग से रूपांतरण की प्रक्रिया को बाधित करते थे। इसके साथ-साथ समुदाय की एकमुखी पहचान बनाने के लिए पितृसत्ता के नवीनीकरण की प्रक्रिया महिलाओं को नियंत्रित कर रही थी। जिसकी व्याख्या उमा चक्रवती "ब्राह्मणवादी पितृसत्ता"[419] के रूप में करती है। वर्ग के रूपांतरण में जहां

---

[418] फ्रांचेस्का आंर्सीनी, हिंदी का लोकवृत्त - 1920-40, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पेज न०-323

[419] ब्राह्मणवादी पितृसत्ता आचार संहिता में प्रस्तावित कायदों का स्थूल रूप है। यह वस्तुत: नियमों और संस्थानों का एक ऐसा पुंज है जिसमें जाति और लिंग एक दूसरे से गुंथे हैं, वे एक दूसरे का स्वरूप तय करते है और जिसमें स्त्री जातियों के बीच का विभाजन बनाए रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है। इन कायदों ने विशेषकर ऊंची जातियों के धारणा जगत को रूपाकार प्रदान किया जो आज भी उनके आचार और व्यवहार का आधार है। निम्न जातियां पदानुक्रम के ऊपर की ओर रुख करने के लेइ अक्सर इन कायदों का अनुसरन करना शुरू कर देती है। इस तरह ऊपर उठने को तत्पर निम्न जातियों की नजरें यह नहीं देख पाती कि ब्राहणवादी पितृसत्ता के जाति व्यवस्था से

यह अवधारणा मजबूत थी कि आर्थिक आधार पर वर्ग रूपांतरण की प्रक्रिया सभी जातियों के सदस्यों को व्यक्ति के रूप में धार्मिक मान्यता आधारित कर्मकांडो\रीति-रिवाजों से मुक्त करती थी। महिलाओं की वर्ग के रूपांतरण में यह अवधारणा पूरी तरह से गलत सिद्ध हुई। यह सत्य है कि औपनिवेशिक काल में बदलती हुई सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने कुछ दशकों के बाद महिलाओं की लिए शिक्षा और सीमित अवसरों में रोज़गार के साधन उपलब्ध कराये। परंतु, इन गतिविधियों का दायरा काफ़ी सीमित था। आर्थिक गतिशीलता के बाद भी महिलाओं की सामाजिक सुधार की गति एक पेंडुलम की तरह थी जिसमें महिलाओं की लिए सीमित अवसर ही खुलते थे इसके साथ इनमें लैंगिक और यौनिक आचार स्थापित करने या सामुदायिक सत्ता (विभिन्न जातियों और धार्मिक समाजों मे) कायम करने की गति भी काम कर रही थी। औपनिवेशिक शासन के समय मौजूद परिस्थितियां महिलाओं की वर्ग रूपांतरण को बाधित करती थी, क्योंकि वर्ग की पहचान समाज पर इस तरह हावी होती है कि वह जातीय और धार्मिक रीतिरिवाज कर्मकांड को त्याग नहीं पाता, न ही अंतरजातीय विवाह और खान-पान जैसे सामाजिक व्यवहारों को स्वीकार कर पाता है।

औपनिवेशिक सत्ता से मुक्ति के बाद संविधान के मौलिक अधिकारों ने महिलाओं से समानता का वादा किया। परंतु, ये मौलिक अधिकार हर जातीय, वर्गीय और धार्मिक समुदाय के उस अधिरचना को नहीं तोड़ सके जो महिलाओं की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वर्गों में रूपांतरण को गतिशील बना सके। अगर आर्थिक आधार पर महानगरीय महिलाओं में गतिशीलता आई भी तो वह भी काफ़ी सीमित थी। बदलती सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और शिक्षा ने महिलाओं की लिए समानता और प्रतिष्ठा का अवसर सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में उपलब्ध कराये। नई मान्यता, नई कौशल, नई उम्मीद और नई जीवनशैली सामने आई। परंतु, भारतीय समाज आधुनिकता के उत्साही समर्थक रहे और उनमें परंपरा के प्रति ही नहीं, परंपरागत निष्ठा के प्रति भी निरंतर आकर्षण बना रहा। आधुनिकता के स्वागत और परंपरागस्तता में विश्वास में सामंजस्य के अभाव के कारण समाज को महिलाओं की प्रति खंडित मानसिकता से मुक्ति नहीं दिला सकी। जिसके कारण सार्वजनिक जीवन में आधुनिकता को स्वीकार किया। परंतु, निजी जीवन कर्मकांडों और रूढियों से महिलाओं को मुक्ति नहीं मिल सकी। खंडित मानसिकता की यही प्रवृत्ति महिलाओं की वर्ग के रूपांतरण को बाधित किया।

आबद्ध होने के कारण, ऊंची औ निचली जातियों की स्त्रियों के लिए विवाह और यौनिकता से संबंधित अलग-अलग कायदों का उंची जातियों द्वारा निम्न जातियों के श्रम के दोहन से गहरा संबंध है।

वर्ष 1990 के दशक में समाज की यह खंडित मानसिकता तब उभरकर सामने आई, जब आजादी मिलने के तीस साल बाद पिछड़े और निचले समुदायों ने अपनी सख्यांत्मक शक्ति का एहसास किया और उनका असंतोष मंडल आंदोलन के रूप में सामने आया। मंडलवाद ने वर्चस्वशाली मूल्यबोधों पितृसत्ता की धारणा को एक बार फिर सतह पर ला दिया। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के स्थानीय और जातिगत आयामों के विविध रूप और वर्चस्वता उभर कर सामने आई। सामाजिक और राजनीतिक समानता के सांवधानिक प्रबंधों के बाद भी समाज (चाहे वह किसी भी जाति, धार्मिक या वर्गीय समाज का हिस्सा हो) शास्त्रों से बंधा हुआ है, जो असमानता को जायेज ठहराता है। इसके अतिरिक्त वर्गीय समुदाय भी श्रेष्ठता का अपना अंर्तविरोध रहता है जो सामाजिक और राजनीतिक समानता को स्वीकार नहीं करना चाहता। मसलन, मौजूदा समय में महिलाओं की संदर्भ में समाज में सदियों से जड़ जमाए बैठे लैंगिक पूर्वाग्रह महिलाओं को तकनीकि श्रम या सार्वजनिक क्षेत्र में कई कार्यो के लिए उपयुक्त नहीं मानती। यह पूर्वाग्रह जातीगत मानसिकता के कारण समाज में अधिक मजबूती से काम करती है और जातियों के वर्ग के रूपांतरण के गतिशीलता को रोकती है। स्पष्ट है कि आधुनिक होने के बावजूद, यह जातिगत, वर्गीय और धार्मिक मानसिकता वर्ग-व्यवस्था की भांति वर्ग की चेतना नहीं है। नई संरचना के सदस्यों की चेतना समान राजनीतिक हितों की पूर्ति और आधुनिक जीवन में ऊंची हैसियत प्राप्त करने की महत्वकांक्षा की ललक है। यह जाति के ढ़ांचे के अंदर ज़रूर सामने आ रहा है परंतु, यह वर्ग परिवर्तन की संभावना की ललक है जो -

> "आरक्षण की नीति के गर्भ से जन्में सामाजिक समुदाय और पहले से जमें बैठे सवर्णो और मध्यवर्ग के बीच तनाव को पैदा करता है।"[420]

वर्ष 1990 के दशक में पहले, मंडलीकृत राजनीति, उदारीकरण की नीतियां और विवादित ढ़ाचा की सांप्रदायिक घटनाओं ने भारतीय समाज में वर्ग-विमर्श ने महिलाओं की हर वर्ग को बहुत हद तक प्रभावित किया। मंडलीकृत राजनीति ने पिछड़े समुदायों के राजनीतिकरण को जबर्दस्त आवेग प्रदान किया। जिसके कारण जातीय और धार्मिक जकड़न से मुक्ति का रास्ता बंद हो गया। अंतरजातीय और अतंरसामुदायिक संबंधों का महत्व गौण हुआ और कर्मकांडों और नियम-क़ायदों का महत्व बढ़ गया। हर समुदायों को मध्यवर्गीय स्तर और जीवन शैली के प्रति लगाव पैदा कर दिया, जिससे वर्ग के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया कमोबेश ठहर गई। मंडलीकृत राजनीति के इन परिणामों ने महिलाओं की वर्ग के रूपांतरण के प्रक्रिया को बाधित किया। नई सामाजिक

[420] डी.एल. सेठ, रिजर्वेशन पांलिसी रिविजिटिड, इकानांमिक एंड पालिटिक्ल वीकली, नवंबर, 10, 1997,पेज न० 87

संरचनाओं ने नियम-क़ायदे व रीति-रिवाजों ने महिलाओं की समानता,स्वतंत्रता के मूल्यों को ठेस पहुंचाई। कुछ हद तक अगर मंडलीकृत राजनीति का फायदा महिलाओं को मिला भी तो वह काफ़ी सीमित रहा। इन सीमित अवसरों में भी केवल आधुनिक जीवन शैली के प्रति लालसा अधिक थी, कर्मकांड और नियम-क़ायदों को लेकर किसी भी प्रकार का विरोध नहीं था। मंडलीकृत राजनीति से मध्यवर्ग से सख्यांगत रूप से बढोतरी हुई जिसने नई सामाजिक और राजनीतिक खूबियों का जबरदस्त दोहन किया।

वर्ष 1990 के दशक के शुरुआती समय में भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक गतिशीलता के दौर में भारतीय समाज में वर्ग केंद्रिय भूमिका में दिखता है। आर्थिक सुधार के दौर में पहली बार वर्ग को एक निर्णायक रूप में पहचाना गया। अपनी बढ़ी हुई क्रय शक्ति और उपभोग क्षमता के कारण वर्ग बाज़ार की दिलचस्पी का केंद्र रहा। जहां एक तरफ़ अपनी क्रय शक्ति और उपभोग क्षमता के कारण एक बड़ा समुदाय उपभोक्ता वर्ग के रूप में उभरा। वही दूसरी तरफ़ एक वर्ग ऐसा भी उभरा जो दकियानूसी और जड़ होने बजाये पर्याप्त शिक्षित, गतिशील और महत्वकांक्षी था। इसके अतिरिक्त हाशिये पर भी एक वर्ग उभरा जो उपभोक्ता तो था| परंतु, उपभोग क्षमता के लिए क्रय-शक्ति उसके पास नहीं थी। वही दूसरी तरफ़ पूंजी के भूमंडलीकरण तथा उससे जुड़ी हुई निजीकरण और उदारीकरण की प्रक्रियाओं के चलते देश में इन वर्गों के बीच असमानता को तेज़ किया। उदारीकरण के नीतियों ने राज्य के कल्याणकारी भूमिका को भी गौण कर दिया। इन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों ने भारतीय समाज में जाति, वर्ग, धर्म और लिंग की तमाम अवधारणाओं को प्रभावित किया। अगर हम इन आर्थिक गतिशीलता का लिंग के साथ अंर्तसंबंध की चर्चा करे तो स्त्री शब्द में जाति, वर्ग, धर्म की व्यापकता विविधता, पहचान का सवाल, ग्रामीण और शहरी अंतर निहीत है, अलग-अलग तरह से प्रभावित होती है। भूमंडलीकरण अधिकतर महिलाओं की हित में बोलता हुआ नज़र आता हैं और उसके आर्थिक अधिकारों के लिए सक्रियता पर जोर डालता है। उसने नारीवाद से किसी भी तरह का व्यवहार रखते हुए महिलाओं की सशक्तिकरण के क्षेत्र में कई उपलब्धियां हासिल की हैं।

परंतु, समस्या यह है कि भूमंडलीकृत बाज़ार ने सस्ते और लचीले श्रम के लिए महिलाओं का इस्तेमाल किया और आर्थिक रूप से महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाया। लेकिन महिलाओं की इस्तेमाल करते हुए, नर-नारी विषमता के पहलूओं पर ध्यान नहीं दिया। अभय कुमार दुबे बताते हैं कि -

> "भूमंडलीकृत बाज़ार का फायदा महिलाओं की अधीनता और परिवार के साथ बंधी हुई स्थिति कायम रखने में ही था। उसे महिलाओं से कम वेतन के बदले अधिक श्रम लेना था। इसलिए नर-नारी विशमता को दूर करने में उसने कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई।"[421]

स्पष्ट है कि भूमंडलीकृत व्यस्था ने अतीत के किसी भी काल के मुकाबले सर्वाधिक दोहन किया। इसने पितृसत्ता के नई रूपों को रचा, उसने परंपरा और धर्म के साथ-साथ आर्थिक आधुनिकरण और वैकासिक आग्रहों को भी पितृसत्ता का जनक बना दिया जबकि इन दोनों को महिलाओं की वर्ग के रूपांतरण के प्रक्रिया में महत्वपूर्ण माना जा रहा था। उदारीकरण और वर्ग विमर्श जिसकी व्याख्या नारीवादियों ने पितृसत्ता के नवीनीकरण के रूप में किया। इसी देशकाल में विवादित ढ़ाचें के ध्वंस ने भी समाज के कई वर्गों को सदमें में ला दिया। दिसंबर 1992 के विवादित ढ़ाचे की घटना ने सामुदायिक वर्ग धार्मिक पुनरुथानवाद के बीच फंस गई। एक बड़े वर्गीय समुदाय की समझ में विपरीत धर्मनिरपेक्ष भारत में प्रगति और आधुनिकीकरण में रूकावट की तरह है। इस वर्गीय समुदाय का विशेष धर्म के प्रति आस्था समाज को धार्मिक पुनरुथानवाद के तरफ़ खींचकर ले जाता है। विवादित ढ़ाचे की घटनाओं को संपन्न वर्ग का हर समय खुला अथवा सार्वजनिक समर्थन नहीं मिला। परंतु, इस घटना से सांप्रदायिक भावनाओं की जो लहर चली, उसे कई वर्ग आत्मसात करके बैठा था। 'गर्व से कहो हम हिंदू है' जैसे नारों ने हिंदू वर्गीय समुदाय के कई सदस्यों को प्रभावित किया। धीरे-धीरे वह वर्ग जो बाबरी विध्वंस से पहले सदमें था, बाद में अपराधबोध में बदल गया। इस अपराधबोध की परिणति अलग ही तरह की थी। पहले तो इस वर्ग ने ध्वंस की निंदा की और फिर सांप्रदायिकता के उभार को उचित ठहराने वाली दलीलें भी दी।

सांप्रदायिक राजनीति या सांप्रदयिक घटनाओं का सबसे अधिक प्रभाव महिलाओं पर कई तरह से पड़ता है। सांप्रदायिक घटनाओं में मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग की महिलाओं का कट्टरपंथ के प्रति आकर्षण की परिघटना भारतीय परिपेक्ष्य में कई नई परतों को खोलती है। परंतु, यह केवल एक आकस्मिक घटना नहीं हो सकती है इसके पीछे कई प्रश्न अनुउत्तरित है मसलन, क्या सांप्रदायिक घटनाओं में महिलाओं की मौजूदगी अपनी परंपरा को तोड़ना है या अपनी रीति-नीति को पूरी तरह बदल लेना है या एक दीर्घकालीन रणनीति की परिणति है? अथवा यह परवर्तन सांप्रदायिक संगठनों की पुरानी सीमाओं का ही सोच-समझकर किया गया नियोजित विस्तार है? (सांप्रदायिक हिंसा में महिलाओं की उपस्थिति या समाजीकरण की भूमिका को सांप्रदायिकता के

[421] अभय कुमार दुबे, पितृसत्ता के नए रूप, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2010, पेज न०-63

अध्याय में चर्चा किया जायेगा।) परंतु, सांप्रदायिक दंगों का इतिहास बताता है कि मानव समूह के रूप में दंगों का सार्वजनिक प्रभाव महिला-वर्ग पर अधिक पड़ता है। स्पष्ट है कि वर्ष 1990 के दशक कि घटनाओं ने वर्ग रूपातंरण की प्रक्रिया में गतिशीलता के साथ-साथ उसके गति को बाधित भी किया। जो वर्ग-विमर्श के लिंग के साथ अर्तसंबंध के अध्ययन की मांग करता है।

इस संदर्भ में हिंदी पत्रकारिता में वर्ग विमर्श का अध्ययन सहायक हो सकता हैं क्योंकि हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं को लेकर छपने वाली ख़बरें भी वर्गो की संवाहक होने का इशारा करती है। आखिर क्यों मध्य वर्ग या उच्च वर्ग की महिलाओं की उत्पीड़न और हिंसा की घटनाएं सिर्फ़ सनसनी या बस एक कालम की ख़बर ही बनकर रह जाती है। लोकतंत्र के चौथे खंभे के रूप में हिंदी पत्रकारिता किस वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे है या वर्ग विमर्श के बहस को किस प्रकार स्थापित करने का प्रयास कर रहे है? यह जानना महत्वपूर्ण है क्योंकि हिंदी पत्रकारिता हिंदी क्षेत्र के पाठकों का जनमानस निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। मसलन, भारतीय मध्यम वर्ग की संवेदनशीलता, रूढिवादिता और राजनीति तौर पर पिछड़ेपन पर 'विशिष्ट वर्ग का रवैया अशुभ का संकेत' लेख में प्रफुल्ल किदवई लिखते हैं कि -

> "हमारे समाज में एक विशिष्ट वर्ग है। जिसके पास भौतिक साधनों की कमी नहीं है। लेकिन, अफसोस की बात यह है कि यह वर्ग भयानक रूप में पिछड़ा हुआ है। यह वर्ग हर तरह से दुविधा में पड़ा हुआ है। कभी तो वह अति प्रगतिशील बन जाता है तो कभी इस वर्ग का बहुमत लोकतंत्र की बजाये तानाशाही बन जाता है, यही वर्ग दकियानूसी विचारों से ग्रस्त दिखाई देता है। इस वर्ग के बर्ताव से अक्सर समाज में अफरा-तफरी मच जाती है। जो एक सभ्य समाज के लिए अशुभ संकेत के जैसा है।"[422]

मध्यम वर्ग का सामाजिक व्यवहार इसलिए चिंताजनक है क्योंकि यह वह उन बुनियादी चीज़ों की अवहेलना करता है जिसके अभाव में समाज फासीवादी एंव नाजीवाद का समर्थक हो जाता है। भारतीय समाज में खाप पंचायतों के फैसले, सांप्रदायिक दंगों में अन्य पिछड़े वर्ग का उत्पीड़न वही चिंन्ह है जो हिटलर के उदय से पूर्व जर्मनी में दीखे थे। इस लेख में मध्यम वर्ग चरित्र की समस्या का विश्लेषण मिलता है। वही सामाजिक परिवर्तन और विकास के नीतियों के कारण विभिन्न वर्गों के मध्य वर्ग-संघर्ष पर हरिशंकर प्रसाद अपनी लेख 'सामाजिक परिवर्तन और विकास की विफलताओं' पर लिखते हैं कि -

> "सामाजिक परिवर्तनों का अगर ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में वस्तु स्थिति का जायेजा लिया जाये तो दासता और विकास के इस माहौल से निकलने के लिए साम्राज्यवाद, उनके समर्थक वर्गों और इसकी नीतियों के विरोध में वर्ग-संघर्ष के अलावा कोई चारा नहीं दिखता है। क्योंकि अर्ध-संघर्ष

[422] 12 मार्च 1994, हिंदुस्तान

> व्यवस्था के तहत वैसा लोगों की तादाद सर्वहारा वर्ग में बहुत कम है जो सर्वथा संपत्ति विहीन हो, जिन्हें वर्ग-संघर्ष के लिए आह्वान करते हुए मार्क्स ने कहा था कि तुम्हारे पास खोने के लिए बेड़ियों के सिवा और कुछ भी नहीं है। भारत में बड़े बहुमत में तो वे हैं जो छोटी संपत्ति के अधिकारी हैं। वे इस व्यवस्था का पीड़ा झेल रहे है। इसमें से अधिकांश व्यवस्था परिवर्तन तथा सामाजिक व आर्थिक न्याय के पक्षधर है। परंतु, यह वर्ग परावलंबन की भावना से ग्रस्त है, अपनी वर्ग चरित्र के कारण यह वर्ग-संघर्ष में सक्रिय भाग नहीं लेना चाहते है।"[423]

जहां एक तरफ़ इन लेखों में मध्यम-वर्ग के वर्ग चरित्र और सामाजिक व्यवहार को केंद्र में रखकर लेखन देखने को मिलता है। वही सामाजिक संस्थाएं किस प्रकार वर्गो का निमार्ण करती है ? और संविधान कैसे इन सामाजिक संस्थाओं को नियंत्रित करता है ? इस विषय पर विजय नारायण मणि अपनी लेख "राज्य की संप्रभुता और धार्मिक संस्थाएं" में बताते हैं कि -

> "आधुनिक काल में प्रत्येक देश में समाज बहुत्ववादी है अर्थात व्यक्ति अनेकानेक वर्गो, समुदायों एंव संगठनों का सदस्य होता है जैसे आर्थिक वर्ग, धार्मिक वर्ग, राजनीतिक वर्ग और अनेकों ऐच्छिक समितियों एंव संस्थायें। राज्य भी एक संगठन है जिसका सदस्य प्रत्येक नागरिक अनिवार्य रूप से होता है। परंतु, राज्य का सदस्य होते हुए भी हाल की घटनाओं में धार्मिक वर्ग और सामाजिक वर्ग के लोगों ने स्वतंत्र सामाजिक व्यवहार के लिर लोगों को दंडित किया है। किसी भी व्यक्ति को किसी खास वर्ग के नियम-क़ायदों को मानने की विवशता ने भारतीय संविधान के स्वतंत्रता की अवधारणा के ख़िलाफ़ जाता है। राज्य भी अपनी नागरिक से सुरक्षा में असर्मथ सिद्ध हुआ है, जबकि यह राज्य का संवैधानिक जिम्मेदारी है।"[424]

जहां एक तरह सामुदायिक विशेष के विचारधारा और सांस्कृतिक वर्चस्व संविधान के समानता, स्वतंत्रता और राज्य की संप्रभुता की अवधारणा को तार-तार करती है। वही, सामाजिक संस्थाओं में मसलन, न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति में अनुसूचित जाति और जनजातियों आदि के प्रतिनिधित्व दिये जाने का सवाल उठाया। राष्ट्रपति के इस सवाल पर तमाम अख़बारों में राजनीतिक दलों और मुख्य न्यायधीशों ने अपनी असहमति प्रकट की। जिसका मुख्य तर्क यह था कि न्यायालय में नियुक्ति के मामलों में केवल योग्यता को ही कसौटी माना जा सकता है। स्पष्ट है न्यायालय में आरक्षण के पक्ष में नहीं है। मस्तराम कपूर अपनी लेख 'न्यायाधीश के नियुक्ति में उपेक्षित एक वर्ग' में लिखते हैं कि -

---

[423] 22 मार्च 1994, नवभारत टाईम्स

[424] 8 मार्च 1994, नवभारत टाईम्स

> "लोकतंत्र सिर्फ़ योग्यता की व्यवस्था नहीं है। यह समाज के सब वर्गों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था पहले है। यह कुलीनतंत्र का विरोध शब्द है। वितंडावाद करने वाले इसका यह अर्थ लगा सकते है कि यह अयोग्यता-तंत्र है, लेकिन ऐसा नहीं है। योग्यता का सम्मान लोकतंत्र में ही होता है लेकिन लोकतंत्र की पहली शर्त है सब वर्गो को उचित प्रतिनिधित्व। किंतु यदि योग्यता के नाम पर प्रतिनिधित्व को ही खारिज कर दिया जाये तब तो उसे लोकतंत्र नहीं कहा जा सकता। हमारे संविधान में सब नागरिक वर्गो को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की बात कही गयी है। परंतु, हमारी न्याय-व्यवस्था की यह भयानक असंगति रही है कि दलि-उपेक्षित वर्गों(जिसमें महिलाएं भी शामिल है) को इसमें प्रतिनिधित्व नहीं मिल सका है।"[425]

स्पष्ट रूप से सामाजिक संस्थाओं में पिछड़े और उत्पीड़ित वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं होने के कारण उनके सवाल हाशिये पर सिमटा हुआ है। वर्ग क्रांति के लिए वर्ग संघर्ष की आवश्यकता है परंतु, जातियों का संघर्ष वर्ग क्रांति कि अवधारणा को कुंठित करती हैं। सच्चिदानंद सिन्हा अपनी लेख 'वर्ग संघर्ष बनाम जाति संघर्ष' में लिखते हैं कि -

> "हमें यह समझना होगा कि आर्थिक न्याय के बिना सामाजिक न्याय असंभब है। जातीय चेतना को उभार कर सदियों से दबाई गई जातियों का समर्थन तो हासिल हो सकता है, लेकिन सही अर्थो में सामाजिक न्याय और सामाजिक समता के लक्ष्य को हासिल नहीं हो सकता है। मौजूदा समय में सामाजिक न्याय के लिए आंदोलन के जरिए जाति और वर्ग को राजनीतिक सत्ता हासिल करने के उद्देश्य से जातीय उन्माद पैदा किया जा रहा है। जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन के लिए जातीय क्रांति ने संघर्ष का रूप ले लिया है।"[426]

इसीप्रकार वर्ग क्रांति के लिए वर्ग-संघर्ष नहीं होने के कारण वर्गों व समुदाय का उपयोग राजनीतिक सत्ता हासिल करने का साधन बन गए। जिसने सामाजिक न्याय को प्राप्त करने के लिए कोई सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं किया। परिणामस्वरूप राजनीतिक परिवर्तनों ने कुछ राजनैतिक नेतृत्व तो प्राप्त कर लिया। परंतु, आर्थिक आधार पर सामाजिक न्याय की अवधारणा इन वर्गों के लिए अधूरी रह गयी। अनिल चमड़िया अपनी लेख 'समाजिक न्याय बनाम स्वर्ण समानता' में लिखते हैं कि -

> "पिछड़ी जातियां आर्थिक आधार और सामाजिक दोनों ही आधार पर पीड़ित रही है। इनकी आबदी कुल आबादी में बहुमत से ज़्यादा है। लेकिन इन जातियों को संगठित होकर सामाजिक न्याय की मांग करनी पड़ रही है, धीरे-धीरे यह मुश्किल होते जा रह है। क्योंकि समाजिक

[425] 10 फरवरी 1999, हिंदुस्तान

[426] 29 मार्च 1999, हिदुस्तान

> न्याय चुनावी वादे व राजनीतिक जुमलों का शक्त अख्तियार कर रहा है। वास्तव में सामाजिक न्याय का आंदोलन जब सत्ता में तब्दील हो जाता है तो विकृतियों का केंद्र हो जाता है। परिणामत: सामाजिक न्याय की अवधारणा शासित समुदाय तक ही सीमित हो जाता है और अन्य वर्गीय समुदाय का सामाजिक न्याय हाशिये पर चला जाता है।"[427]

यहां यह सवाल किया जा सकता है कि आखिर यह संगठित और आंदोलित जातीय चेतना समाज में बड़े परिवर्तन की दिशा में सक्रिय क्यों नहीं हुई? क्यों नहीं ये चेतनाएं व्यापक धर्म, संस्कृति या राष्ट्रवाद के निमार्ण में अपनी भूमिका निभा पाई? इनके पीछे फूले, बुद्ध, बाबा साहब, राममनोहर लोहिया और कर्पूरी ठाकुर जैसे चिंतक नेता और सामाजिक कार्यकता रहने के बावजूद वे क्यों फिसल गई? डा. योगेन्द्र अपनी लेख 'चुनावी बयार और वर्ग चेतना' में लिखते हैं कि -

> "बिहार की राजनीति में पिछड़ों के चेतना के तीन प्रतीक मंडल आंदोलन से उभर कर सामने आए- लालू यादव, नीतिश कुमार और रामविलास पासवान। परंतु, इन तीनों की वर्ग चेतनाएं राजनैतिक सत्ता के लिए कभी गठजोड़ करती है और कभी बिखर जाती है। मूल रूप से ये जाति प्रथा और वर्ग चेतना को तोड़ने में नहीं, बल्कि उसके राजनीतिक इस्तेमाल में रूचि रखते है। ये जातियां की वर्ग चेतना का राजनीतिकरण कर रहे हैं लेकिन सांस्कृतिकरण से उन्हें सख्त परहेज है क्योंकि सांस्कृतिकरण समानता के मूल्य पर आधारित होगा जिससे उन्हें नफ़रत है। इनकी राजनीति से जातियों में वर्ग के प्रति सजगता आई है, साथ ही उनके अंतविरोध भी गहरे हुए हैं। हर वर्ग अपनी स्वार्थ के लिए राजनैतिक गठजोड़ कर रही है और वर्ग-चेतना कुंद और समाप्त करने के लिए उदासीन रहते है।"[428]

इस उदासीनता के कारण अति पिछड़े वर्ग समुदाय सामाजिक वर्ण-व्यवस्था के दंश को झेलने के लिए विवश रहते है, जिनका राजनीतिक प्रतिनिधित्व भारतीय राजनीति में सीमित है। भारतीय संस्कृति यदि एक ओर विश्व की एक अनूठी और महान संस्कृति है तो दूसरी ओर विरोधाभासों, विड़बनाओं एंव जातिगत कर्मो के द्वंद्व से युक्त संस्कृति भी है। जाति आधारित परंपरागत भारतीय समाज के नीचले पायदान पर खड़ी जातियां भी यहां की सांस्कृतिक परंपराओं, कर्मकांडो आदि से उतनी ही गहरे रूप से जुड़ी हैं जितनी अन्य ब्राह्मणीय या उच्च जातियां।

स्पष्ट है कि वर्ग के प्रति हिंदी पत्रकारिता की अवधारणा पूर्वाग्रह ग्रसित रही है और हम भी इससे स्वयं को मुक्त नहीं करना चाहते है। इसके पीछे जहां एक तरफ़ हमारे सामाजिक व्यवहार के पूर्वाग्रह है वही दूसरी तरफ़ वर्ग से संबंधित श्रम की गतिशीलता को हम मुक्त नहीं करना चाहते

---

[427] 12 अगस्त, 2003, हिंदुस्तान

[428] 3 मार्च 2005, दैनिक जागरण

है। जातियों के श्रम की गतिशीलता इन जातियों का आर्थिक आधार पर वर्ग में रूपातंरण कर सकते है और मध्यवर्ग की सीमाओं का अतिक्रमण कर सकते है। परंतु, मौजूदा समय में जातियों का राजनीतिक गतिशीलता भी एक नियामक तत्व है जो खुद को अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक के रूप में चिन्हित करके राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना चाहता है। इसलिए वर्ग के रूप में विभक्त करने के बजाये खुद को जातियों के सांचे में मजबूत करना चाहता है। अरूण कुमार त्रिपाठी अपनी लेख 'जाति और वर्ग की सांप सीढ़ी' में बताते हैं कि -

> "आज के राजनीतिक परिदृश्य जिस दिशा में जा रहा है उससे लगता है कि समान अवसर का सिद्धांत एक साध्य है। जबकि सोचा यह गया था कि दस साल तक विशेष अवसर के सिद्धांत को साधन बनाकर समान अवसर के साध्य को हासिल कर लेंगे। इसी असफलता के कारण वर्ग बनता भारतीय समाज फिर से जाति की श्रेणी में लौट रहा है। वर्ग से जाति बनने का सांप सीढ़ी का यह प्रतिगामी खेल तभी रोक तभी रोका जा सकता है जब बाज़ार सभी को विश्वास और आर्थिक गतिशीलता दे और सरकार सामाजिक सुरक्षा।"[429]

हिंदी पत्रकारिता में वर्ग के विषय पर प्रकाशित आलेख या संपादकीय उत्पीड़ित व दमित वर्गो की सामाजिक स्थिति, सामाजिक संस्थाओं में पिछड़े या अतिपिछड़े वर्गो की यथागत स्थिति और वर्गीय समाज की राजनीतिक गतिशीलता को केंद्रीय विषय बनाने का प्रयास दिखता है। परंतु, इन प्रयासों में महिलाओं की वर्गीय समस्या के संदर्भ में मूल्यांकन करें तो कई व्यावहारिक दिक्कत दिखती है। इन तमाम बहसों में महिलाओं को या महिलाओं की समस्याओं को एक वर्गीय समस्या के रूप में परिभाषित करने का अभाव दिखता है। महिलाएं भी वर्ग का हिस्सा हैं और उसके भी अंदर वर्ग-भेद मौजूद है इसे हिंदी पत्रकारिता पूरी तरह अनदेखा करती है। जैसे मजदूर महिलाओं की स्थितियां मध्यवर्ग की महिलाओं से अलग है। महिलाओं की समस्याओं की विवेचना भी वर्ग-आधार पर किए जाने की आवश्यकता है। महिलाओं पर सहानभूति और स्वानुभूति से किया गया लेखन कई बार पुरुष\महिला के वर्गीय समस्याओं से ग्रस्त होता है। स्पष्ट है कि हिंदी पत्रकारिता ने महिलाओं को वर्ग के रूप में देखने और समझने का प्रयास नहीं किया है। परंतु, कई बार महिलाओं की समस्याओं या महिलाओं की समाचार को वर्गीय सांचे में प्रस्तुत नज़र आते है। यह वर्गीय विभाजन कई दफा महिलाओं की आर्थिक या सामाजिक प्रतिष्ठा व हैसियत के अनुसार तय कर दिये जाते है। मसलन, आरूषि हत्या कांड या जेसिका लाल मर्डर में समाचार या संपादकीय की प्रस्तुतीकरण में वर्गीय प्रभाव स्पष्ट रूप से नज़र आता है। महिलाओं की उत्पीड़न या हिंसा की खबरों में भी वर्गीय नज़रिया कई बार सामने आता है।

---

[429] 22 अगस्त 2010, हिंदुस्तान

उत्पीड़न या हिंसा की खबरों या घटनाओं में कई बार जातीय आधार पर भी वर्गीय विभाजन स्पष्ट होता है। मसलन, पटना से लगभग पैंतीस किलोमीटर दूर एक गांव में 45 वर्षीय दलित महिला का पीटा जाना, उसे अपमानित करते हुए पेड़ में बांधा जाना, उसके मुंह पर चूना पोता जाना, उसे पूरे गांव में बांधकर घुमाना और उसके बाल काट लिया जाना इस समाचार की प्रस्तुति में इस बात पर सभी ने बल दिया है कि उस महिला को डायन बता कर पीटा गया लेकिन इस महिला के दलित होने को टाइम्स आंफ इंडिया ने उल्लेख करने योग्य नहीं समझा(29 मार्च, 2008, नई दिल्ली) जबकि जनसत्ता ने(29 मार्च, 2008, महानगर, नई दिल्ली) इस तथ्य को ख़बर का हिस्सा बनाया कि पीटी जाने वाली महिला दलित थी, लेकिन पीटने वाले लोगों की जाति बजाये उन्हें गांव का दबंग कहना ही पर्याप्त समझा गया। गांव में सवर्णों द्वारा दलितों के उत्पीड़ित करने संबंधी समाचार को झाड़फूंक करने वाली कथित डायन महिला की पिटाई के समाचार को डायन महिला की पिटाई के समाचार में बदल दिया गया। इसके विपरीत अंग्रेजी दैनिक हिंदू ने शीर्षक दिया: टार्चर आंफ दलित वुमेन राक्स एसेंबली(29 मार्च, 2008, महानगर, नई दिल्ली)। यहां स्त्री की साथ किए गए दुर्व्यवहार के लिए पिटाई जैसे नरम शब्द के बजाये ज़्यादा कठोर शब्द टार्चर का इस्तेमाल किया। स्पष्ट है कि हर समाचार पत्र अपनी वर्गीय समझ के अनुसार घटनाओं का समाचार के रूप प्रस्तुतीकरण और संपादकीय लेखन में ध्यान देती है। इसमें जातीय, धार्मिक, सामुदायिक और पुरुषवादी पूर्वग्राही मानसिकता भी काम करती है। एक लंबे आंदोलनों के संघर्ष के बाद स्त्री वर्ग की अस्मिता की लड़ाई कई ध्रुवों पर जारी है, जिसका एक सिरा कामगार महिलाओं का हैं दूसरा सिरा अंधेरे में बंद महिलाओं का है और तीसरा सिरा विवश महिलाओं की पंचनामों का भी हैं। जिसके अनुभवों की अभिव्यक्ति कथा-साहित्य में तो उभर कर आते है परंतु, मीडिया संस्थान महिलाओं की वर्गीय समाज के यर्थाथ को व्यक्त करने वाला कोई निष्पक्ष आईना नहीं बन पाता है। दूसरी तरफ़ संचार माध्यम के अंग के रूप में समाचारपत्रों में सहभागिता भी इसको प्रभावित करती है। राबिन जेफ्री ने लिखा है कि -

> "भारतीय भाषाओं के अख़बारों में दस साल के अध्ययन के दौरान, बीस सप्ताह के दौरों में बीस शहरों में रूककर उन्होंने 250 लोगों से मुलाकात की, दर्जनों अख़बारों के दफ्तरों में गए पर मुख्यधारा में दलित संपादक और मालिक की बात तो दूर, एक भी दलित पत्रकार नहीं मिला। आदिवासी, मुसलमान और महिलाओं की सहभागिता थी ही नहीं।"[430]

हिंदी पत्रकारिता में वर्गीय समस्याओं पर अभिव्यक्ति संस्थानों की भीतर इन विषयों पर संवेदनशीलता और लोकतांत्रिक मूल्यों की मांग करता हैं।

---

[430] राब्रिन जेफ्री, भारतीय समाचार पत्रों की क्रांति 1977-99, आक्र्सफोर्ड प्रेस, नई दिल्ली, पेज न०-4

4.2 जाति

पूरे विश्व में सामाजिक-व्यवस्था के रूप में 'जाति' भारतीय समाज की अपनी निजी और अनोखी संरचना है, जो एक प्रभावकारी सामाजिक पद्धति के रूप में जीवन में समानता और विकास के प्रत्येक क्षेत्र में अवरोधक के रूप में मौजूद है, इसके साथ-साथ जाति और धर्म (धर्म के आधार पर व्यक्तित्व के मूल्यांकन आगे के अध्याय में किया जायेगा।) का संबंध कभी-कभी अस्मिता के निमार्ण में सहायक की भूमिका में भी है जिसके साथ व्यक्ति के साथ सामाजिक व्यवहार की नियति तय होती है। असमानता की सामाजिक संरचनाओं में जातियां अथवा जाति-व्यवस्था की भूमिका भारतीय समाज में केंद्रीय और नियामक की है, जिसमें हिंदु, मुस्लिम और अन्य समुदाय भी शामिल है (भारत में केवल हिंदू धर्म में ही जाति प्रथा या जाति व्यवस्था नहीं है बल्कि बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई, सिख और आदि धर्मों के अनुयायियों में भी जातिगत विभाजन है। हालांकि कुछ समुदायों ने सामुदायिक स्तर पर जाति के अंदर श्रेष्ठता की भावना को दमन करने का प्रयास भी किया है और इस जाति की श्रेष्ठता भाव की प्रवृत्ति से संघर्ष भी कर रहे है)। सामाजिक और राजनीतिक समानता के प्रावधानों के बावजूद धार्मिक समाजशास्त्रों में बंधा समाज जातीय असमानता को सही ठहराते है और 'शुद्धता' और 'अशुद्धता' के धार्मिक-सांस्कृतिक सांचे की वकालत करते है। सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं के अतिरिक्त जाति और जाति व्यवस्था को श्रम-विभाजन के आधार पर भी देखा जाता रहा है। कार्ल मार्क्स ने जाति संरचना को श्रम-विभाजन के वर्गीकरण के आधार पर देखा। उनकी मान्यता थी कि औधोगीकरण तथा यातायात की व्यवस्था के विकसित होते ही भारत में जाति प्रथा समाप्त हो जायेगी। मार्क्स ने जाति और जाति व्यवस्था के अवधारणा को श्रम-विभाजन के ऐतिहासिक संदर्भों में देखने का प्रयास किया। समय-समय पर जातियों की समीक्षा होती रही हैं और उसे अलग-अलग प्रकार के भाव से प्रस्तुत किया जाता रहा है।

'जाति' शब्द को कामचलाऊ तरीके से परिभाषित करने के लिए कह सकते है कि जाति एक भली-भांती चिहिन्त पृथक समुदाय है, जिसके सदस्य सगोत्रीय विवाह[431] के जरिए तथा प्राय: किसी आनुवंशिक व्यवसाय अथवा वास्तविक या कल्पित कर्वव्य के जरिए एक-दूसरे से बंधे होते है। इस व्यवस्था में विभिन्न नियमों, प्रथाओं और इकाईयों की भी अभिव्यक्ति मिलती हैं। भारत के सामाजिक ढ़ाचे में जाति और जाति व्यवस्था को समझने का प्रयास औपनिवेशिक प्रशासकों

[431] सजातीय विवाह यानी अपनी ही जाति के दायरे में विवाह संबंध कायम करने के नियम की बुनियाद पर जाति व्यवस्था का ढांचा खड़ा किया जाता है।

और अध्येताओं ने की। जे.सी.नेस्फील्ड ने वर्ष 1885 में 'ए ब्रीफ व्यू आंफ कास्ट सिस्टम आंफ नांर्थ-वेस्टर्ट प्राविसेस एंड अवध' में यह स्थापना दी कि -

> "जाति व्यवस्था का बुनियादी अधिकार आनुवंशिक तौर पर पेशे का निर्धारण होता है। प्राचीन भारत में दस्तकारों और कारीगरों के संघ थे वे ही जातियों में तब्दील हो गए थे। उनके बीच का पदानुक्रम उनके पुराने या नये होने से तय होता था।"[432]

दूसरी ओर चार्ल्स एमिली मैरी सेनार्त ने जाति और वर्ण में फर्क किया। उनका मानना था कि -

> "वर्ण की अवधारणा वर्ग के ज़्यादा करीब है, जबकि जाति उससे एक हद तक स्वायत्त थी। बाद में, जातियां वर्ण में शामिल हो गयी। विभिन्न इण्डो-यूरोपीय वंश समूहों को ब्राह्मणों ने वर्ण व्यवस्था में शामिल किया था और उन्हें अधीनस्थ स्थिति प्रदान की थी ताकि वे अपना वर्चस्व बनाए रख सकें।"[433]

जाति के विषय पर सेनार्त के अवधारणा की इतिहासकारों ने काफ़ी आलोचना की। परंतु, जाति और वर्ण में फर्क को इतिहास-लेखन में काफ़ी हद तक अपनाया गया। फिर हरबर्ट एच.रिसले जो कि भारत में जनगणना की शुरूआत करने वाले औपनिवेशिक प्रशासक थे, ने जाति\वर्ण व्यवस्था की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। जिसमें -

> "जाति को मुख्यत: नस्ल से संबंद्ध माना गया और दावा किया गया कि जातिगत दर्जे का सीधा संबंध जाति विशेष के सदस्यों की नाक की बनावट से हैं।"[434]

रिसले द्वारा जातियों के आधार पर भारत की जनगणना की शुरूआत करने के कारण भारत में जाति व्यवस्था काफ़ी हद तक मजबूत हुई। हालांकि स्वतंत्र भारत में इतिहास लेखन में पुरातात्विक और साहित्यक प्रमाणों के आधार पर होने वाले व्याख्या को खारिज कर दिया। जाति-व्यवस्था पर रिसले के बाद बूगले ने तीन चारत्रिक लक्षणों के आधार पर इसकी व्याख्या की। पहला, आनुवांशिक रूप से निर्धारत पेशा; दूसरा पदानुक्रम; और तीसरा, एक जाति का दूसरे जाति से अलगाव। बूगले का मत था कि जाति-व्यवस्था सामजिक-आर्थिक परिवर्तनों के

---

[432] सुवीरा जायसवाल, कास्ट:आरिजिन,फंक्शन एंड डाइमेंशनसन का हिंदी अनुवाद आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली 2004,पेज न०- 4

[433] अभिनव सिन्हा, जाति व्यवस्था संबंधी इतिहास लेखन, अरविंद स्मृति न्यास, नई दिल्ली, पेज न०-105

[434] वही पेज न० -105

फलस्वरूप पैदा हुआ और उच्च जातियों ने इसे वैध्यता प्रदान किया। इसी क्रम में वर्ष 1947 के पहले जे.एच.हटन ने अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इंडिया' में बताया -

> "जाति व्यवस्था की व्याख्या करने वाले सिद्धांत अनुपयुक्त थे, जो कि जाति के यथार्थ को सही तरीके से नहीं पकड़ते थे। जातियों की परिवेशीय अलगाव, जादुई आस्थाएं, टोटकावाद, शुद्धता-अशुद्धता, कर्म का सिद्धांत, नस्लों का टकराव, त्वचा के रंग को लेकर मौजूद पूर्वाग्रह के आधार पर जातियों की व्याख्या की जा सकती है।"[435]

हटन अपनी व्याख्या में जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास के बारे में कोई कारणात्मक व्याख्या नहीं रखते और इस तथ्य को भी नज़रअंदाज़ कर देते है कि जातियां अंतसंबद्ध समूहों की प्रणाली हैं जिसमें आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता के वितरण संबंधी विभेदों की अभिव्यक्ति सांस्कृतिक भाषा में होती हैं। औपनिवेशिक भारत में जाति के संदर्भ में जाति के उत्पत्ति तथा विभिन्न जातियों का नृजातीय विवरण प्रस्तुत करते हैं। मानवशास्त्रीयों, ने जाति और जाति संरचना को समझने की भी चेष्ठा की। परंतु, इन औपनिवेशिक विमर्शों में यह निर्धारित करने का प्रयास था कि जाति-व्यवस्था भारतवासियों के लिए फायदेमंद हैं या उनके ख़िलाफ़ जाती है। दूसरी, जाति के विरोधी या हमदर्द होने की ही योजनाबद्ध मानते हुए एकांकी नज़रिये से देखा गया। तीसरा, जाति व्यवस्था उनके लिए ऐसी प्रिज्म हो गई जिसके जरिए उन्होंने पूरे भारत को देखने का प्रयास किया। इसी आधार पर अंग्रेजों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कई तरह के भूमि और ग्राम-सर्वेक्षणों की शुरूआत की। इन्हीं अवधारणाओं के आधार पर औपनिवेशिक दौर में जाति और राज्य का रिश्ता भी परिभाषित करने का प्रयास दिखता है। जब जनगणना से औपनिवेशिक राज्य ने संपूर्ण भारतीय आबादी की जातिवार गणना शुरू की। स्पष्ट है कि औपनिवेशिक दौर में जाति विमर्श भी शुरू किया गया और जाति-व्यवस्था में परिवर्तनों की भी शुरूआत हुई। हालांकि इन परिवर्तनों का एक बड़ा हिस्सा सायास न होकर अप्रत्यक्ष और औपनिवेशिक नीतियों के कारण था। जी.एस.घुरिए लिखते हैं कि-

> "जैसे-जैसे औपनिवेशिक शासन अपनी अंतिम दौर की तरफ़ बढ़ा, वैसे-वैसे इस तरह की नीतियों ने व्यापक ऐतिहासिक शक्तियों के साथ मिलकर जाति-व्यवस्था में गहरे और दूरगामी परिवर्तनों को अंजाम दिया।"[436]

---

[435] सुवीरा जायसवाल, कास्ट:आरिजिन,फंक्शन एंड डाइमेंशनसन का हिंदी अनुवाद आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली 2004,पेज न०- 46

[436] जी.एस.घुरिए, कास्ट डूयूरिंग द ब्रिटिश रूल, संकलित कास्ट एंड रेस इन इंडिया, पापुलर प्रकाशन, बंबई 1962, पेज न० 270-305

हालांकि इन परिवर्तनों ने निचली जातियों के बीच में नये क़िस्म के चेतना का विकास किया जो सामूहिक रूप से सामने आई(निचली या वंचित जातियों में सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति की चर्चा आगे किया जायेगा)। इन सामूहिक चेतना ने सामाजिक न्याय की विचारधारात्मक आग्रह के कर्मकाड आधारित शुद्धता और अशुद्धता के सामने भी सवाल किए। जैसा कि कई समाजशास्त्री और इतिहासकारों ने किया था। मसलन, मानव समुदायों का जातियों में विभाजन संपत्ति के आधार पर नहीं, बल्कि 'शुद्धता' और 'अशुद्धता' के आधार पर होता है। 'कास्ट इन इंडियन हिस्टरी' में इरफान हबीब बताते हैं कि-

> "जाति की उत्पत्ति शुद्धता की विचारधारा से हुई है और सबसे शुद्ध जाति सबसे उंची तथा सबसे अशुद्ध जाति नीची है, और जाति-व्यवस्था का समाज की अर्थव्यवस्था से कोई संबंध नहीं है।"[437]

इस स्थापना में इरफान हबीब लुई घुमों की बातों को स्वीकार करते है। लुई घुर्मो अपनी पुस्तक 'होमो हायरार्किकस' में ऊंच-नीच को जाति व्यवस्था का केंद्रीय तत्व के रूप में पहचाना है। उनके अनुसार जाति-व्यवस्था को धार्मिक विचारधारा के संदर्भ में समझना चाहिए, जिसमें ब्राह्मण सबसे शुद्ध होने के कारण सबसे उंची जाति है और उसके बाद निम्न श्रेणियों की जातियां हैं जो अशुद्ध होने के कारण निम्न है। शुद्धता और अशुद्धता का विचार कहां से आया है? इस सवाल का जवाब घुर्मो के पास नहीं है। उनका कहना है कि वह मूलभूत मूल्यों की संरचना है जो यथार्थ का निर्माण करती है और यह पूर्वप्रदत्त है यह मूल्य हर समाज में होता है। परंतु, घुर्मो जाति और जाति व्यवस्था को परिभाषित करने में इस तथ्य पर ध्यान नहीं दे पाते है कि भारत में उत्पादन के कई संगठन मौजूद थे जहां स्वतंत्र उस्ताद दस्तकारों की कार्यशालाओं में श्रम का बंटवारा मौजूद था। लोहे के इस्तेमाल के साथ कृषि के विकास या सामंतवाद के अवधि में श्रम का बंटवारा अस्तित्व में था और चार वर्णों की व्यवस्था सतह पर काम कर रही थी। अगर यह मान लिया जाति-व्यवस्था का समाज की अर्थव्यवस्था से कोई संबंध नहीं था, तो यह भी मानना पड़ेगा कि भारतीय समाज की अर्थव्यवस्था से कोई संबंध नहीं था और भारतीय समाज की आर्थिक अभिप्रेरणा बहुत कमजोर रही होगी।

इसके बरक्स डी.डी.कोसांबी सामाजिक संरचना में जाति की भूमिका को देखते है। जो श्रम की प्रक्रिया के आधार पर बनती है और यह तब यह काम करती है जब समाज के उत्पादक लोग

---

[437] इरफान हबीब, भारतीय इतिहास में जाति, अनु. रमेश उपाध्याय, आज के सवाल-1, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पेज न०-46

कुछ अतिरिक्त पैदा करने लायक हो जाते है। इस अवस्था से पहले जाति जैसी संरचना का बनाना असंभव है। कोसांबी 'एन इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी आंफ इंडियन हिस्टरी' में बताते हैं कि -

> "जातियां मूल समाज में वर्णों में हुए किसी आंतरिक विभाजन से नहीं बनी, उनके बनने की प्रक्रिया सर्वथा बाहरी थी। भारत के पूरे इतिहास में जनजातियां व्यापक समाज में आकर मिलते रहे हैं। जातियों के निर्माण मूलत: इसी आधार पर हुआ है।"[438]

जाति संरचना और इसकी गतिशीलता भारतीय समाज में अलग-अलग तरीके से काम करती है। दक्षिण भारत में जाति संगठन का विकास भौतिक तथा प्रौद्योगिकीय नज़रिये से विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों पर जीने वाले और अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के आपसी टकराव के फलस्वरूप, बाहरी प्रेरणाओं से हुआ। सामंतवाद के उदय के साथ यह संघर्ष और मजबूत हुई और जाति-वर्ण प्रणाली मजबूत हुई।

जाति और जाति-व्यवस्था को परिभाषित करने में अशुद्ध जातियों या अस्पृश्यों के इतिहास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। क्योंकि इतिहास लेखन की रूचि भारत के अतीत का गुणगान करने में थी और उसके कमजोर पक्षों को छोड़कर चलने की प्रवृति थी। इसके साथ-साथ जाति के संबंध में अध्ययन करने वाले समाजशास्त्री हों या भारत को जाति-विहीन समाज बनाने का आग्रह रखनेवाले समाज-सुधारक और चिंतक, सभी ने औपनिवेशिक विमर्श से प्राप्त शब्दावली और विचार-श्रेणियों में किया। इन अध्ययनों में जाति और जाति-व्यवस्था के साथ महिलाओं की साथ अंर्तसंबंध को भी अनदेखा किया। आर.एन.शर्मा बताते हैं कि -

> "निचले तबकों के समुदायों की स्थिति में दिलचस्पी के अभाव के कारण यह था कि अपनी प्रभावशाली वर्गोन्मुख रुझान के कारण इतिहासकारों का नज़रिया संकुचित हो गई थी।"[439]

जिसके कारण आज का वर्तमान समाज अर्द्ध-सामंती अवशेषों वाला नौकरशाही-पूंजीवादी चरित्र का है, जो अपनी जनजातीय अतीत के उन्माद में है। जाति और जाति व्यवस्था को परिभाषित करने में अंबेडकर ने जो व्याख्या प्रस्तुत की उसे समाजशास्त्रीयों के बीच लोकप्रियता नहीं मिली जबकि

---

[438] वही पेज न०- 47

[439] सुवीरा जायसवाल, कास्ट:आरिजिन,फंक्शन एंड डाइमेंशनसन का हिंदी अनुवाद आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली 2004,पेज न०- 86

उन्होंने शुद्धता और अशुद्धता के धार्मिक-सांस्कृतिक सांचे के तहत ही किया है वंचितों और दमितों के धरातल से। उन्होंने जाति व्यवस्था को -

> "श्रेणीकृत बताया जिसमें जातियां बढ़ते सम्मान और घटते अपमान के आधार पर स्थित हैं यानी यह सीढ़ीनुमा है जिसमें ऊपर की ओर सत्ता और रूतबा बढ़ते जाते है जबकि नीचे की ओर घटते जाते है, कारण नीचे स्थित जातियां सत्ताविहीन होने के साथ-साथ गंदी और प्रदूषक मानी जाती है।"[440]

इसी के कारण निम्न जातियां और स्त्रियां, खासकर निम्न जातियों की स्त्रियां सांस्कृतिक शोषण को झेलती हैं, वह आर्थिक शोषण से कहीं ज़्यादा अमानवीय और पीड़ाजनक है। अशुद्ध जातियों या अस्पृश्यों के इतिहास के कारण जातियों को व्याख्यायित करने के संदर्भ भी बदले और दलितों, महिलाओं तथा उनसे संबंधी अध्ययनों ने जाति संबंधी नये आधार सामने आए। जिसने जाति के संबंध में पुराने सिद्धांतों को चुनौती दी और जाति संबंधी पदामुक्रम विविधता का प्रश्न भी उठाया है। प्रो.एम.एन. श्रीनिवास ने जातियों के ऐतिहासिक आधारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतीय समाज के इतिहास में प्रारंभिक चरणों में जाति-व्यवस्था का कोई उल्लेख नहीं मिलता, पर बाद में धीरे-धीरे जातियों के आधारों की रचना हुई। उनके अनुसार -

> "पिछले कुछ शताब्दियों से प्रचलित जातियों को लाक्षणिक दृष्टि से नौ शीर्षकों में देखा जा सकता है - संस्तरण; अंतर्विवाह और अनुलोम विवाह, व्यवसायात्मक संगठन, भोजन, पेय तथा धूमपान पर प्रतिबंध, प्रथाओं का अंतर, भाषा, बोली और वेषभूषा का अंतर, अशुद्धता, कर्मकांड तथा अन्य विशेषाधिकार और सीमाएं तथा जाति की गतिशीलता।"[441]

श्रीनिवास ने इन आधारों पर जाति के संबंधी अध्ययन प्रस्तुत किए और स्पष्ट किया असमानता का नज़रिया जातियों का अपना प्रतिफल हैं। जातियों के अंदर श्रेणिबद्ध संसार भी रहता है और इस आधार पर न केवल व्यक्ति उंचे और नीचे समूहों में विभाजित है बल्कि पहचान के लिए उनकी सांस्कृतिक विविधता भी अलग-अलग है।

कुल मिलाकर यह समझा जा सकता है कि परातंत्र और स्वतंत्र भारत में जाति-संबंधी बहसें शुद्धता बनाम अशुद्धता, परंपरा बनाम आधुनिकता और जाति बनाम वर्ग के विभाजन में फंसी रही है। 19वीं सदी के शुरूआत में जब रोज़गार के नई साधनों का विकास हुआ तो जाति, काम, पेशा आदि विषयों के आस-पास टकराव और मतभेद के मुद्दे उभरने लगे। उच्च, मध्य और निम्न

---

[440] उमा चक्रवति, जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली 2004,पेज न०- 18

[441] एम. एन. श्रीनिवास, भारतीय समाजिक संरचना, चैमन आफसेट प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पेज न०-5

जातियों के मध्य अलग-अलग स्तरों पर नफा-नुकसान के आधार पर जातियों का संघर्ष भी अपनी चरम पर था। परंतु, जाति या जाति-व्यवस्था के इन तमाम अवधारणाओं में या जातियों की इन असमानताओं की इन संरचना में महिलाओं का स्थान क्या है? जिस प्रकार ऊंची और नीची जातियों के संदर्भ सारी संरचनाओं से उभर जाते हैं और जिस प्रकार से आर्थिक संरचनाओं के आधार पर जातियों और वर्गो के बीच बहुत अधिक असमानता दिखाई नहीं देती, महिलाओं की वर्तमान स्थिति को जाति आधारों पर असमानता की संरचना में कैसी देखी जा सकती हैं? यह विचार इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि निम्न जातियों के साथ महिलाओं को भी समाज में कमजोर वर्ग की तरह स्वीकारा जाता हैं। क्या जाति संरचना महिलाओं की प्रस्थिति के संदर्भ में, महिलाओं की लिए किसी विशिष्टता का निर्माण करती है? इसके साथ जातियां अपनी संरचना के निर्माण के लिए और एक जाति से दूसरी जाति के बीच अंतर स्थापित करने के लिए विशिष्ट जीवनशैलीयों का निर्माण करती हैं। महिलाओं की जीवनशैलीयां भी इस व्यापक परिवेश का एक भाग हैं। इन दोनों परिस्थिति में महिलाओं का जाति के साथ अंर्तसंबंध को समझना जरूरी हैं। पहली स्थिति में, नूर यलमान का मत है कि -

> "हिंदू समाज व्यवस्था का मूल मंत्र एक सीमाबद्ध संरचना को खड़ा करना है, ताकि जमीन, स्त्री और जाति की शुद्धता एक दायरें में संरक्षित रहें। ये तीनों आपस में गुंथे हुए हैं और इनका इस रूप में बने रहना स्त्री योनिकता पर कठोर नियंत्रण के बिना संभव नहीं है। स्त्री इस समूचे ढांचे का धुरी है। इसलिए जमीन हो या जाति की शुद्धता, स्त्री की कड़ी निगरानी के बिना इसका संरक्षण कठिन है।"[442]

इस स्थिति से जाति, वर्ग और लिंग का सत्ता के गहरे गठजोड़ का पता चलता है। इस गठजोड़ के कारण स्त्रियों का वस्तुकरण होता हैं और वे जाति के पुनरुत्पादन में संरचनाओं और प्रक्रियाओं का उपकरण बन जाती हैं। स्त्री समाज में इस गठन को तहस-नहस कर सकती है, इसे सामाजिक मान्यताओं को तय करने वाले ग्रंथ मानते है और समाज के वर्चस्वशाली समूह भी। इसलिए स्त्रियों की यौनिकता को इन समूहों और शास्त्रों ने संस्थानीकृत करने के लिए समाजित विवाह के कायदों के तहत बांध दिया। जैसा कि गर्डा लर्नर बताती है कि -

> "मैसोपोटामिया के संदर्भ में, वहां की व्यवस्था में स्त्रियों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए विचारधारा, परिवार के पुरुष मुखिया पर उनकी निर्भरता, वर्गजन्य विशेषाधिकार और

[442] उमा चक्रवति, जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली 2004,पेज न०- 67

> अनुशासन में रहने वाली स्त्रियों का महिमामंडन और अंतर बलप्रयोग जैसे हथकंडे अपनाए गए।"[443]

भारतीय संदर्भ में वर्तमान समय में खाप पंचायतों के फरमान और कई धार्मिक संस्थाओं के फतवे इस यथास्थिति की सही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। स्पष्ट है कि स्त्रियां जाति व्यवस्था का प्रवेश द्वार के रूप में देखी जाती हैं। वही दूसरी स्थिति, जहां जातियां अपनी संरचना के निर्माण के लिए और एक जाति से दूसरी जाति के बीच अंतर स्थापित करने के लिए विशिष्ट जीवनशैलियों का निर्माण करती हैं। महिलाओं की जीवनशैलियां भी इस व्यापक परिवेश का हिस्सा किस प्रकार बनती हैं? जाति व्यवस्था को समाजिक व्यवहार में प्रतिस्थापित करने के लिए जहां सजातीय विवाह के कायदे पृथक्करण को मजबूत करता है, वही परस्पर निर्भरता और श्रेणीकरण को व्यवहार में लागू करने में महिलाओं की सहभागिता दिखती हैं। किसी जाती समूह की व्यवसायगत निरंतरता बनाए रखने में स्त्री का ठोस योगदान रहता है। यह योगदान या सहभागिता सहमति और दमन दोनों के ही युग्म पर आधारित रहती है। वास्तव में जाति व्यवस्था के मूल्य ऊंची जाति के स्त्री-पुरुष दोनों द्वारा स्वीकार किए गए है। ऊंची जाति का यह युग्म जाति प्रद्दत सुविधाओं और विशेषाधिकारों के प्रलोभन में ऐसी अंधी होती हैं कि स्त्री को अपनी स्वायत्ता पर कसी जा रही नकेल नहीं देख पाती है।

> "भारतीय संदर्भ में इस मनोवृत्ति का प्रदर्शन मंडल विरोधी आंदोलन में शरीक स्त्रियां\लड़कियों की हस्त-पट्टिकाओं पर लिखी इबारतें चीख-चीख कर इसका उदाहरण देती है। जिसपर लिखा था कि 'हम बेरोज़गार पति नहीं चाहते।'"[444]

इसके साथ-साथ जातियां अपनी संरचना के निर्माण के लिए और एक जाति से दूसरी जाति के बीच अंतर स्थापित करने के लिए अपनी सामाजिक दैनिक जीवन व्यवहार में भी एक हैरारर्की का निमार्ण करती है। हैरारर्की के इस नज़रिये को निरंतरता बनाए रखने में महिलाओं की काम का विशेष योगदान रहता हैं। लीला दुबे के शब्दों में -

> "शुद्ध और अशुद्ध के कर्मकांडीय मुहावरे में आहार एक महत्वपूर्ण अवयव है.....समाजीकरण की प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका निभाने वाली स्त्री यहां भी मुख्य किरदार है। भोजन से जुड़े तमाम कायदों अथवा रीतियों का पालन करने और करवाने की जिम्मेदारी उसी पर है। भोजन से जुड़ी शुद्धता और अशुद्धता की धारणाएं घर से शुरू होती हैं। जातियों की पद्रामुक्रमित भूमिका

---

[443] वही पेज न०- 68

[444] उमा चक्रवति, जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली 2004,पेज न०- 1

> है....ऐसे में निसंदेह उस स्त्री को खासा सम्मान मिलता है जो इन कायदों का पूरा ख़्याल रखती हैं...."[445]

जाति व्यवस्था की संरचना के भीतर विभिन्न जातियों के आचार व्यवहार पदानुक्रम में रखे जाते हैं। इसके साथ-साथ, पारंपरिक नज़रिये से महिलाओं की प्रस्थिति का संबंध जातिगत होने के साथ उन मान्यताओं के साथ भी जुड़ता है जो धार्मिक व्याख्याओं में देखी जाती हैं। परंतु, विभिन्न जाति समूहों में महिलाओं की मानसिकता के संदर्भ भी अलग-अलग हैं और इन मान्यताओं के आधार पर महिलाओं की स्थिति में व्यापक अंतर हो जाता हैं। परंतु, यह स्पष्ट है कि जातियां मरी नहीं है और लिंगभेद भी एक जीवंत मुद्दा है। जाति के सिद्धांत हिंदू समाज में मौजूद लिंगगत विषमता की विशिष्ट प्रकृति तथा चरित्र उजागर करते है: जाति की सीमाएं और श्रेणीबद्धता लिंगभेद द्वारा अभिव्यक्त की जाती है।

औपनिवेशिक काल में जाति, जाति-सरंचना और जाति का मौजूद लिंगगत विषमता पर सामाजिक नज़रिये को बनाने में संचार माध्यमों की भूमिका महत्वपूर्ण थी। संचार माध्यम के विशिष्ट अंग के रूप में हिंदी पत्रकारिता में इन मुद्दों पर काफ़ी विरोधाभासी विचारों की अभिव्यक्ति हो रही थी। इस अभिव्यक्ति के पीछे जहां जाति, जाति-संरचना और जाति का लिंग के साथ पूर्वाग्रही नज़रिये की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। तो दूसरी तरफ़ मानवतावादी नज़रिये से इन विषयों को देखा जा रहा था। महिलाओं का एक वर्ग भी इन विषयों को स्वपरिभाषित कर रहा था (हालांकि यह एक दायरा काफ़ी सीमित था) एम.एन.श्रीनिवास बताते है कि -

> "हिंदी पत्रकारिता में जातिवाद विरोधी चेतना का प्रभाव नगण्य रहा है। माध्यमों के विकास ने जाति चेतना को नई ऊर्जा प्रदान की, नई क़िस्म की सांगठिक संरचना का उदय हुआ, पश्चिम शिक्षा के प्रभाव आदि ने संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को तेज़ किया। विभिन्न जातियों की प्रशाखाओं में पदमूलक परिवर्तन हुए, पर मूल ढांचा ज्यों का त्यों बना रहा।"[446]

परंपरा और यथास्थिति का द्वंद्व इस देशकाल के हिंदी पत्रकारिता में स्पष्ट रूप से दिखता है। मसलन, हिंदी समाचार पत्र 'प्रभा' में प्रकाशित लेख जातिपांति,[447] वर्ण व्यवस्था,[448] जाति व्यवस्था[449] जैसे लेख में मुख्य रूप से यह बताया जा रहा था कि अपनी आरंभिक रूप में अनेक ऐतिहासिक कारणों से जातिप्रथा अत्यंत आवश्यक थी। किंतु अब इसके कारण देश की उन्नति में

---

[445] लीला दुबे, लिंगभाव का मानववैज्ञानिक अन्वेषण:प्रतिच्छेदी क्षेत्र, वाणी प्रकाशन 2004,पेज न० 160-61

[446] एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पेज न०-39

[447] प्रभा, मार्च 1915

[448] प्रभा, अगस्त 1915

[449] प्रभा, जुलाई 1920

बाधा पड़ रही है अत: जातिप्रथा के बंधन धीरे-धीरे शिथिल होने चाहिए। हिंदी पत्रकारिता जाति व्यवस्था में सुधार की ज़रूरत को तो स्वीकार करता है लेकिन उसके सर्वथा त्याग का वह विरोध करता है। इस दौर के समाज-सुधारक जाति व्यवस्था के कारण विसंगतियां(विचलन) का विरोध कर रहे थे। उनका विरोध सामाजिक संरचना में मौजूद जाति व्यवस्था से नहीं था। वह इस समस्या का समाधान भी मानवतावादी तरीके से करना चाहते थे। मसलन, प्रभा में प्रकाशित लेख में दुर्गाप्रसाद शुक्ल जाति व्यवस्था में सुधार की ज़रूरत को स्वीकार करते है लेकिन उसके सर्वथा त्याग का विरोध करते हुए लिखते है कि -

> "जाति या वर्णव्यस्था एक प्रकार से स्वाभाविक सी है और हर देश में किसी न किसी रूप में पाई जाती है। भारत में इसका आधार श्रम है तथा पश्चिम में इसका आधार व्यक्तिगत है। पूर्व तथा पश्चिम दोनों और की जाति व्यवस्था निर्दोष नहीं है अत: दोनों के आदर्शो को परिणाम में मिलाकर काम लिया जाये तो संभव है तो संभव है संसार के कितने सामाजिक प्रश्न हल हो जाएं। इसलिए हिंदु वर्णव्यवस्था को बिल्कुल तोड़ने को आवश्यक नहीं।"[450]

इसप्रकार के कई लेख हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलते है जिसमें जातिप्रथा को बुरा मानते हुए भी वर्ण-व्यवस्था को समर्थन करता था। स्पष्ट है कि जातिप्रथा पर दो तरह की धाराएं थी जिसके मूल में अलग-अलग स्तरों पर नफा और नुकसान दोनों हो रहा था। महिलाओं की संदर्भ में कुलीन स्त्री की सामाजिक दमन-शोषण तले आम वंचित, दलित, किसान और मजदूर स्त्री का दमन शोषण अदृश्य हो रहे थे। हालांकि ज्योतिबा और सावत्रीबाई फुले, ताराबाई शिंदे और रमाबाई के मुखर अभिव्यक्तियों से कई स्वर उभर कर सतह पर उभर कर आ रहे थे। निम्न जातियों की महिलाओं की स्वर भी उभर रहे थे जिनको अनुशासनहींन अनियंत्रित महिलाओं की आपदा के रूप में देखा जा रहा था। समाज सुधारकों ने इन आवाजों को जाति प्रथा का समर्थन करते हुए संस्कृति और राष्ट्र निर्माण के सवालों से जोड़ने की कोशिशे की। जाति समस्या और तमाम सामाजिक वर्गो की सभी स्त्रियों के वाणी बनने का प्रयास 'चांद' पत्रिका के 'अछूत अंक' में दिखता हैं। इस अंक में 'अछूत और व्यभिवार'[451], 'अछूत नारी की दुर्दशा'[452], 'अछूत नारी का समुद्धार'[453] लेखों में समस्या के समाधान के लिए सामाजिक आंदोलन की आवश्यकता पर जोर देखने को मिलता है। इन लेखों ने यह सिद्ध किया कि महिलाओं की उत्पीड़न के कारण आर्थिक और यौन शोषण के साथ-साथ और भी कई हैं। परंतु, निम्न जातियों के महिलाओं की शोषण की यह आवाज़ इस देशकाल में मूल अधिकार के रूप में राजनीतिक प्रश्न का हिस्सा नहीं बन सकी।

---

[450] प्रभा, जून 1915

[451] चांद, पं.नंदकिशोर तिवारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 2014, पेज न०- 173

[452] वही, पेज न०-175

[453] वही, पेज न०-177

औपनिवेशिक सत्ता के दौरान आर्थिक गतिशीलता और रोज़गार के नई साधनों के विकास ने निम्न जातियों को रोज़गार के सीमित साधन उपलब्ध ज़रूर हुए, पर छुआछूत की दीवार मजबूत भी हुई। हिंदी पत्रकारिता के विकास से दलितों को पृथक सार्वजनिक क्षेत्र उपलब्ध हुआ, जिसके जरिए दलित समाज सुधारकों ने नयी दलित पहचान बनाने का काम किया। इन दलित समाज-सुधारकों ने जाति उत्पति और उसके इतिहास का नया मूल्यांकन किया और ब्राह्मणवादी वर्चस्व और जातिवादी ऊंच-नीच की व्यापक आलोचना की। परंतु, इन परिवर्तनों का निम्न जातियों के महिलाओं से जोड़कर देखने का प्रयास करें तो निम्न जातियों ने बनी-बनायी लैंगिक शब्दावली और गतिविधियों को ही पुष्ट किया। इस अवधि में राष्ट्रवादी सोच की प्रमुखता ने भी निम्न जातियों की महिलाओं की सवालों को सार्वजनिक धरातल पर हल करने बजाये परिवार के दायरे में सीमित करने का प्रयास किया इसके साथ-साथ इस देशकाल के राजनीतिक आंदोलन की सीमा भी यह रही कि उसके विमर्श के निशाने पर केवल मध्यवर्गीय महिलाएं ही थी। परंतु, आधी आबादी की दुनिया केवल घर-परिवार के दायरे तक सीमित नहीं थी। आजादी के आंदोलन में सभी एकमत थे परंतु, जाति के प्रश्न के चुनौती पर अलग-अलग राय थी। जहां एक तरफ़ गांधीजी की जाति आधारित असमानता का समाधान मंदिर में निम्न जातियों के प्रवेश करने के अधिकार में दिखता है, वही अंबेडकर के लिए जीवन से जुड़ी अनिवार्य ज़रूरतों, मसलन पानी तक पहुंच पर निम्न जातियों पर लगे प्रतिबंधों को हटाना प्रमुख सरोकार था। यहां एक महत्वपूर्ण सवाल यह भी हो सकता है कि गांधीजी ने खादी और नमक को केंद्रीय मसला बनाया, उन्होंने अस्पृश्यता को अपना केंद्रीय मुद्दा क्यों नहीं बनाया? क्या वो भी भारतीय समाज के वर्चस्वशाली जाति संरचना के दवाब में थे। जाति व्यवस्था पर या जाति व्यवस्था के कारण महिलाओं की स्थिति पर तमाम समाज-सुधारकों का दोहरापन उनके व्यक्तित्व के दोहरापन या वर्चस्वशाली मूल्यों के प्रति आस्था को अभिव्यक्त करता है।

स्वतंत्र भारत में जाति के प्रश्न को संविधानिक प्रावधानों के माध्यम से सुलझाने का प्रयास किया गया। अस्पृश्यता खत्म कर दी गई। आम स्थलों पर किसी भी तरह का भेदभाव बरतना गैरकानूनी करार दिया गया। जबकि जन्म, वर्ग, परिवार, धर्म, व्यक्ति और रीति के आधार पर किसी भी तरह के विशेषधिकार अथवा अधिकारहीनता को खत्म करने का सुझाव नहीं माना गया। इस संदर्भ में आंबेडकर लिखते हैं कि -

> “जनवरी की 26 तारीख को हम अंतर्विरोधों के युग में प्रवेश करेगें। राजनीति में समता और सामाजिक-आर्थिक जीवन में विषमता होगी। राजनीति में हम एक व्यक्ति की कीमत एक वोट के आधार पर आंकेगे। लेकिन सामाजिक और आर्थिक जगत में विषमतामूलक संरचनाओं के कारण हम एक व्यक्ति-एक मूल्य के उसूल को नकारना जारी रखेंगे। अंतर्विरोधों की इस

> गिरफ्त में हम कब तक फंसे रहेगें? सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में हम समता को कब तक ठुकराते रहेंगे? अगर हम लंबे अरसे तक समता को अस्वीकार करना जारी रखा तो इसका नतीजा हमारे लोकतंत्र के संकटग्रस्त होने में ही निकलेगा।"[454]

परिणामत: निजी दायरे में जातिगत व्यवहार उसी रूप में बनी रही, जिसने सार्वजनिक दायरें में जातिगत स्वतंत्रता का अतिक्रमण बराबर किया। नतीजा यह निकला की निजी और सार्वजनिक व्यवहारों में जातिगत वर्चस्व को बरकरार रखा। आजादी के बाद राजनीतिक और सामाजिक संरचनाओं में हो रहे बदलावों ने नई वर्ग संरचना का विकास किया। इस वर्ग संरचना ने पिछड़ी और दमित जातियों की राजनीति को भी जन्म दिया। जो आर्थिक और सांस्कृतिक पूंजी के स्तर पर ज़्यादा समृद्ध रहने के कारण मध्य वर्ग के रूप में स्थापित हुआ। परंतु, यह अवसर निम्न और वंचित जातियों के लिए उस रूप में अवसर उपलब्ध नहीं थे। ये निम्न और वंचित जातियां बहुसंख्यक मजदूर थे या भूमिहीन थे। वे समान्य मूलभूत सुविधाएं शिक्षा, स्वास्थ्य और सुरक्षित जीविका से वंचित रहे। साथ ही साथ निजी और सार्वजनिक जीवन में भी जातिगत सामाजिक व्यवहारों ने उनके शोषण और दमन को मजबूत किया। हांलांकि वर्षों से उपेक्षित और वंचित जातियों और जनजातियों के लिए संविधान में एक और प्रावधान आरक्षण को स्वीकार किया गया। जिसका ऊंची जातियों ने प्रतिभा के लिए घातक मानकर उग्र विरोध दर्ज कराती रही। इन सामाजिक व्यवहारों के कारण निम्न और वंचित जातियों की महिलाओं को भी विशिष्ट रूपों में जूझना पड़ता है। उमा चक्रवती ने इन शोषणों को सूत्रबद्ध करते हुए लिखती हैं कि -

> "दलित नारीवादियों ने दलित महिलाओं पर होने पर त्रिस्तरीय शोषण को सूत्रबद्ध किया जो निम्नलिखित है:1) ऊंची जाति के पुरुषों का जाति आधारित शोषण, 2) श्रामिक के रूप में भूस्वामियों का वर्ग आधारित शोषण, और 3) स्त्री की रूप में दलित और अन्य सभी जातियों के पुरुषों का पितृसत्तात्मक शोषण।"[455]

वर्ष 1990 के दशक में भारतीय राजनीतिक इतिहास में पहली बार वंचित महिलाओं ने अपनी शोषण को सशक्त आवाज़ बनाने का प्रयास दिखता है। लेकिन अभी तक उसे गंभीरता से नहीं लिया गया जिसकी वो हकदार है। वही भूमंडलीकरण की वजह से स्थिति और जटिल होने के कारण या सस्ते श्रम की आवश्यकता और उत्पादित माल को खपाने की बाध्यता के कारण पुन: कुछ जातियों को रोज़गार के अवसर उपलब्ध हुए और कुछ जातियों के बीच खाई को बढ़ाया। इसके साथ सामाजिक व्यवहार में श्रेणीबद्धता का वर्चस्व कायम रहने के कारण कोई बड़ा

---

[454] अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014 पेज न०- 31-32

[455] उमा चक्रवति, जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन नई दिल्ली 2004,पेज न०- 132

सामाजिक परिवर्तन सामने नहीं दिखता है। स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि शहरीकरण, उधोगीकरण और आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने धीरे-धीरे जातियों को उनके कर्मकांड आधारित ऊंच-नीच के जकड़न से मुक्त करने का प्रयास किया, पर यह प्रहार चेतना पर नहीं था। आरक्षण ने भारतीय मध्य वर्ग की होड़ में निचली जातियों के लिए बड़े पैमाने पर प्रवेश का रास्ता भी खोल दिया। परंतु, इसके साथ-साथ नव-उदारतावादी पूंजीवाद ने भूमंडलीकरण के जरिए लोकतंत्र के जिस रूप की रचना की है उसके तहत हाशिये पर निम्न और वंचित तबकों को आर्थिक प्रणाली से बाहर फेंक दिये जाने का खतरा भी बना रहा। क्योंकि भूमंडलीकरण वर्ग संरचनाएं में हाशिये पर पड़े हुए समुदायों, वर्गो और जातियों के हितों को रौंद कर ही अपना स्वार्थ-सिद्ध करती है। भूमंडलीकरण निम्न और वंचित जातियों के ख़िलाफ़ न केवल वर्णाश्रम के दायरें में ब्राह्मणवादी ताकतों का समर्थन करता है वरन दरिद्रकरण, अलगाव और अन्याय के संदर्भों में भी उन्हें कोने में धकेलता है। इस परिपेक्ष्य में यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक राजनीतिक और सामाजिक व्यवहार के क्षैतिज धरातल पर जाति आधारित विषमता जीवित है। जिसका सीधा असर निम्न और वंचित तबकों के साथ-साथ महिलाओं पर सबसे अधिक पड़ रहा है। गेल आंम्वेट का यह दावा था कि -

> "नई आर्थिक नीति से दलितों को लाभ होगा क्योंकि निजीकरण और बाजारीकरण की प्रक्रिया उस पब्लिक सेक्टर को तोड़ रही है जो अपनी स्वभाव में ब्राह्मणवादी है।"[456]

जबकि इस विचार के विपरीत डी.आर.नागराज, कांचा ऐल्य्या और गोपाल गुरू जैसे दलित आंदोलन के व्याख्यता इस नतीजे पर पहुंचे कि भूमंडलीकरण हाशिये पर पड़े तबकों की मृत्यु-घोषणा के अलावा कुछ नहीं हैं। स्पष्ट है कि नई आर्थिक नीतियों ने भी समाज के भीतर होने वाले शोषण-दमन की संरचना को तोड़ने में कामयाब नहीं रही है। भंवरी देवी की घटना या खाप पंचायतो के फैसले मर्दवाद और वर्णवाद का ज्वलंत उदाहरण है, जिसे जाति अहंकार और पितृसत्ता के इतिहास में दर्ज किया जा सकता है।

हिंदी पत्रकारिता अपनी समय के दस्तावेज होते हैं, जो परिवर्तन या यथास्थिति तत्कालीन समाज में आ रहे होते है वे जनसंचार के इस माध्यम में भी प्रतिबिम्बित होते है। हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में भी आदर्शवादिता फीकी पड़ने लगती है, तब पत्रकारिता विशेष विमर्श को स्थापित करने का प्रयास करती है। जाति, जाति संरचना और जाति\महिलाओं का अर्तसंबंध हिंदी पत्रकारिता में ऐतिहासिक रूप से राजनीतिक और सामाजिक वर्चस्व प्रतिबिम्बित होते रहे है। आजादी के बाद

[456] अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014 पेज न०- 43

सामाजिक न्याय के प्रति प्रतिबद्धता हिंदी पत्रकारिता का उद्देश्य रहा। परंतु, राजनीतिक और आर्थिक पक्ष को अधिक महत्व दिये जाने के कारण जनसरोकारी समाजिक न्याय का पक्ष गौण होता चला गया। हिंदी पत्रकारिता में अगर हमें जाति से संबंधित खबरों का अध्ययन करना हैं तो उन्हें श्रेणियों में बांटना होगा। मसलन, सामाजिक न्याय, आरक्षण के लिए मंडल आयोग की सिफारिश, महिला आरक्षण, जाति व्यवस्था, दलित उत्पीड़न\दलित राजनीति। क्योंकि हिंदी पत्रकारिता में जाति या जाति संबंधी बहसें इन विषयों के आस-पास केंद्रित होती है या अभिव्यक्त होती हुई दिखती है।

4.2 (1) सामाजिक न्याय और आरक्षण

सामाजिक न्याय की अवधारणा में आरक्षण भारत में धार्मिक और जातिगत निरपेक्षता से सम्पन्न एक ऐसी नीति है जिसके प्रभाव से वंचित समुदाय के सदस्यों मुख्यधारा के विकास में शामिल किया जा सकता हैं इसे एफर्मेटिव एक्शन(विशेष अवसरों के सिद्धांत पर आधारित नीतियां) का नाम भी दिया जाता है। इस संवैधानिक प्रावधान ने भारतीय मध्यवर्ग की प्रकृति और संरचना में महत्वपूर्ण बदलाव किया। मध्यवर्ग में वंचित समुदाय के लोगों की भागीदारी उनकी आर्थिक स्थिति में वृद्धि के कारण तेज़ी से बढ़ी। आजादी के बाद भारतीय मध्यवर्ग एक जाति सरीखी छोटी सी संरचना थी, जिसमें अंग्रेजी शिक्षित, शहरी और भद्र लोग ही शामिल होते थे। सामाजिक न्याय के आरक्षण की अवधारणा ने अब निचली जातियों के काफ़ी सदस्यों मध्यवर्ग में प्रवेश पा लिया। इस साथ-साथ आरक्षण ने एक श्रेणी के रूप में व्यक्तियों को उस प्रक्रिया में उनके परिवारों को विशेष रूप से लाभान्वित किया। इन श्रेणियों के लिए शिक्षा एक सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य के रूप में पहचाना गया। उनकी निगाह में शिक्षा एक ऐसा जरिया के रूप में उभरा जिससे वो आधुनिक बनकर सामाजिक रूप से प्रगति कर सकते थे। इन बदलावों ने मध्यवर्गीय पारंपरिक जीवन शैली और संस्कृति को पुन: परिभाषित किया। वंचित समुदाय के जीवन शैली और संस्कृति में बदलाव की ही अवधारणा मंडल आयोग के आरक्षण की सिफारिश में की गई थी, जिसे वंचित और दमित समुदाय के सामाजिक न्याय के रूप में पहचाना गया था। हालांकि सामाजिक न्याय के लिर आरक्षण कि अवधारणा का विरोध भी बड़े पैमाने पर मुखर होकर अभिव्यक्त हो रहे थे। जिसके विरोधाभास व्यावहारिक राजनीति में यह था कि वह शुरुआत तो आरक्षण नीतियों को बेहतर बनाने की मांग से करता हैं, पर जल्द ही उसपर आरक्षण को सैद्धांतिक रूप से खारिज करने की मांग हावी हो जाती है। चुनावी फायदों के आग्रह के कारण राजनीतिक दल आरक्षण का समर्थन तो कर रहे थे, पर उनकी हमदर्दी आरक्षण विरोधियों के साथ भी बनी हुई थी। आरक्षण पर कई तरह के विरोध देखने को मिलते है जिसे

समाज के प्रगति के लिए बाधक माना जा रहा था। मसलन, पहला किसी तरह का आरक्षण अवांछित है यानी आरक्षण न तो जाति के आधार पर होना चाहिए न वर्ग के आधार पर न ही लिंग के आधार पर। दूसरा, आरक्षण अपनी आप में खारिज करने योग्य नहीं है, पर उसका आधार जाति न होकर वर्ग होना चाहिए। तीसरा, दलितों और आदिवासियों को आरक्षण देना ठीक है, पर पिछड़े को किसी कीमत पर आरक्षण के लाभ नहीं मिलने चाहिए। चौथा भारत के विशिष्ट सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ को देखते हुए आरक्षण आवश्यक है, उसे सामाजिक आधार यानी जाति के आधार पर तय करना चाहिए और यह सुविधा पिछड़े वर्गों को भी मिलनी चाहिए। इन तमाम पहलूओं के आधार पर हिंदी पत्रकारिता में विचारों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं।

जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक न्याय के मंडल आयोग के आरक्षण की सिफारिशों का हिंदी पत्रकारिता पर प्रभाव देखने को मिलता है। वास्तव में आजादी के बाद हिंदी पत्रकारिता में कोई प्रगतिशील धारा नहीं थी। हिंदी पत्रकारिता में काम करने वाले पत्रकार शहरी मध्यवर्ग से आते थे, जो पीढ़ी दो पीढ़ी पहले तक गांवों में रहते थे और उनका जुड़ाव गांवो से अभी भी था। सामंतवादी पुरोहिती मूल्यबोध और जाति बिरदरी के सोच संस्कार से उनका जेहन संचित था। आर्थिक विषमता दूर करने में उनकी दिलचस्पी थी और मार्क्सवाद अथवा नेहरूवदी समाजवादी सरोकार से अलग नहीं थे। वर्ष 1990 के दशक में सामाजिक न्याय की अवधारणा का विकास हुआ जिसके मूल में यह सोच थी कि नागरिक, नागरिकों के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर भेद न माना जाये और प्रत्येक व्यक्ति को अन्य विकास के पूर्ण अवसर सुलभ हो। सामाजिक न्याय की धारणा में एक निष्कर्ष यह निहित रहा है कि व्यक्ति का किसी भी रूप में शोषण न हो और उसके व्यक्तित्व को एक पवित्र सामाजिक न्याय की सिद्धि के लिए माना जाये मात्र साधन के लिए नहीं। सामाजिक न्याय यह मांग करता है कि समाज के सुविधाहीन वर्गो को अपनी सामाजिक-आर्थिक असमर्थताओं पर काबू पाने और अपनी जीवन स्तर में सुधार करने के योग्य बनाया जाये, समाज के गरीबी के स्तर से नीचे वंचित वर्गो के बच्चों, महिलाओं की सहायता की जाये और इस प्रकार शोषण विहीन समाज की स्थापना की जाये।

सामाजिक न्याय के इस नये विमर्श ने और सामाजिक लोकतंत्र की बात ने हिंदी पत्रकारिता के साथ-साथ अन्य सामाजिक संस्थाओं के वर्चस्वशाली समूहों को हैरान कर दिया। आर्थिक लोकतंत्र और राजनीतिक लोकतंत्र तक ठीक था लेकिन सामाजिक लोकतंत्र का विमर्श क्या है? क्या गांधी, नेहरू के तरह अंबेडकर और कांशीराम की भी कोई विचारधारा हो सकती है? सामाजिक लोकतंत्र या सामाजिक न्याय का ज्वालामुखी विस्फोट उस समय हुआ जब वी.पी.सिंह की सरकार ने मंडल आयोग की सिफारिशों को मंजूरी दे दी। आरक्षण के विषय को सामाजिक न्याय और सामाजिक

लोकतंत्र की अवधारणा को सशक्त करने का विचार के रूप में स्वीकार किया गया था। जिसकी कानूनी सहायता से सामाजिक संस्थाओं में दमित और शोषित समुदाय अपनी सामाजिक और आर्थिक रूप से सशक्त किया जा सके, ताकि यह समुदाय सम्मानपूर्ण जीवन जी सके। मंडल आयोग की सिफारिशों की मंजूरी ने भारतीय राजनीति में जातियों के राजनीतिकरण को जबर्दस्त आवेग प्रदान किया।

हिंदी पत्रकारिता में अपनी वर्गीय संस्कार और वर्गीय वर्चस्वशीलता के कारण हिंदी पत्रकारिता के पत्रकारों ने मंडल आयोग के आरक्षण की सिफारिश, दलित राजनीति या उत्पीड़न जाति व्यव्यस्था जैसे विषयों पर एक जिहाद सा छेड़ दिया। समाचारों, खबरों और संपादकीय लेखों में पूर्वाग्रही मानसिकता प्रत्यक्ष होती दिखती हैं अगर कभी इन विषयों पर धनात्मक ख़बरें प्रकाशित भी होती हैं तो वह प्रतिरोध के स्वर को प्रतिकात्मक रूप में स्वर देने भर के लिए थी। अगर हम मंडल आयोग के सिफारिशों के बहसों को देखें तो कई तरह की वर्चस्वशाली विचारों का प्रभुत्व दिखता हैं और इसके साथ-साथ मंडल आयोग के पक्ष में तर्कपूर्ण लेख भी दिखते है। परंतु, इन लेखों में महिलाओं का प्रश्न एक सिरे से गायब दिखता हैं या उसपर कोई विचार ही नहीं दिखता है। गोया, जातियों का राजनीतिकरण और सामाजिक न्याय महिलाओं की लिए कोई मायने नहीं रखता हो और महिलाओं की मामलों में सब ठीक-ठाक हैं। वही दूसरी तरफ़, महिलाओं की साथ जाति की अंतसंबंध को जाति पंचायतों के फैसले, आनंर किलिंग और निम्न जातियों के बलात्कार जैसी हिंसक घटनाओं के कारण हिंदी पत्रकारिता ने प्रमुखता से बहस का विषय बनाने का प्रयास भी दिखता है, जो हिंदी पत्रकारिता का महिलाओं की सामाजिक न्याय के प्रश्नों के संबंध में वर्गीय चरित्र के विरोधाभास को उजागर करता है। इसके साथ-साथ निम्न समुदायों में परिवार की संरचना और सार्वजनिक दायरें में निम्न वर्गीय महिलाओं की स्थिति पर लेखन नहीं के बराबर मिलता है।

मसलन, सामाजिक न्याय के विमर्श पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशीत अपनी लेख 'समाजिक न्याय के सांस्कृतिक आयाम' में सुरेंद्र मोहन लिखते हैं कि -

> "सभी जातियों में जातिगत आधारों पर अपनी श्रेणी से ऊपर उठने की आकांक्षा बलबती होती जा रही है। पिछड़ी जातियां दलितों से दूरी और अगड़ी जातियों के साथ समीपता और प्रतिद्वंद्विता के रिश्ते बना रही हैं। इसके चलते उनमें शिक्षा के प्रसार, समाज-सुधारों और सांस्कृतिक परिवर्तनों के प्रयत्न भी हो रहे हैं। सभी जातियों में जाति एकता, सामूहिक

> अभिव्यक्त और जाति ग़ौरव की कामना भी तेज़ हो रही है और व्यापक एकता की ज़रूरत महसूस हो रही है, उसके स्थान पर दूरी, तनाव और वैमनस्य बढ़ते जा रहे है।" [457]

'हिंदुस्तान' में प्रकाशित संपादकीय 'सामाजिक न्याय और जातिवादी अभियान' में चतुरानन मिश्र लिखते हैं कि -

> "डा० अंबेडकर ने कहा था कि मनुवाद का विरोध करने वाले सवर्ण हमारे दोस्त है। परंतु, जांत-पांत का समर्थन करने वाला दलित हमारा दुश्मन है। उनकी यह बात सही निकल रही है। उन्होंने यह भी कहा था कि जातिवाद फैलाने से सबसे बड़ा नुकसान सामाजिक न्याय का ही होता हैं क्योंकि जातिवाद उन्माद के बीच विभिन्न जातियां आपस में टकरा रही हैं। जातिवादी उन्माद सामाजिक न्याय को पीछे धकेल देती है। इसलिए सामाजिक न्याय के लिए जातिवादी रथ से नीचे उतरना होगा। अन्यथा सामाजिक न्याय की अवधारणा का गर्भपात हो जायेगा।"[458]

सामाजिक न्याय की अवधारणा और मौजूदा राजनीतिक प्रयासों की चर्चा करते हुए 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'सामाजिक न्याय की अवधारणा: अर्थ और तथ्य' में डा० बज्र कुमार लिखते हैं कि -

> "वी.पी.सिंह ने अपनी शासन के अवसान को समीप आते देख मंडल आयोग की अनुशंसाओं को समग्रता में लागू करने की जैसी ही घोषणा की उससे भारतीय जीवन में एक हलचल, एक तूफान, पक्ष-विपक्ष में आंदोलन उठ खड़े हुए। इस आंदोलन को सामाजिक न्याय बहाल करने का आंदोलन कहा गया। सामाजिक न्याय का यह आंदोलन पिछड़ी जातियों को नौकरियों में आरक्षण का पर्याय मान लिया गया। आरक्षण सामाजिक न्याय का एक पक्ष है, एक पहलू है किंतु वह अपनी आप में समग्र रूप में सामाजिक न्याय नहीं है। क्या सामाजिक न्याय के नाम पर जातिवादी उन्माद पैदा करना सही है। सामाजिक न्याय की मौजूदा अवधारणा अपनी अर्थ और तथ्य से कोसों दूर है।"[459]

सामाजिक न्याय के विषय पर नई नज़रिये की व्याख्या करते हुए 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित अपनी लेख 'सामाजिक न्याय का अर्थ ब्राह्मण का विरोध नहीं है' में गुंजेश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि -

> "सामाजिक न्याय कोई सिद्धांत नहीं है और न तो इस में कोई नयी दृष्टि है। यह एक खोखला नारा है क्योंकि इसमें कोई आर्थिक चिंतन नहीं है। सामाजिक न्याय या सामाजिक समता

[457] 12 जनवरी 1992, हिंदुस्तान
[458] 30 जुलाई 1994, हिंदुस्तान
[459] 10 अगस्त 1994, हिंदुस्तान

> अगड़ी जातियों को गाली देकर अपना लक्ष्य नहीं छू सकता है। जिस तरह रूढिवादी विचारों ने हिंदू धर्म को कमजोर किया है, उसी तरह कांशीराम और मुलायम सिंह यादव का नया विचार भारतीय समाज की रचना को तोड़ कर हिंसा की पृष्ठभूमि तैयार करने में अग्रसर है। यह कौन सा सामाजिक न्याय है जो जातीय उन्माद पैदा करके सवर्ण को पिछड़ी और अनुसूचित जाति के गरीबों के साथ खूनी संघर्ष करने और कराने की साजिश करा रहा है।"[460]

सामाजिक न्याय के इन लेखों में जहां पिछड़े और दलित वर्ग के समान्य जन के लिए राजनीतिक सत्ता के साथ यह प्राथमिकता रही है कि उसे इज्जत और सम्मान के साथ जीने का अधिकार मिल जाये। परंतु, हिंदी पत्रकारिता में सामाजिक न्याय कि चर्चा में फिसलन भरा रास्ता यह भी है वह इस राजनीति में कई बहुआयामी विषमता को स्वीकार नहीं करना चाहता है। सामाजिक न्याय अपनी औजार के रूप में आरक्षण का इस्तेमाल करता है परंतु, महिला आरक्षण के सवाल पर मौन हो जाता है। सामजिक न्याय के अवधारणा में पिछड़े और दलित वर्ग की महिलाओं की लिए क्या है? क्योंकि सामाजिक व्यवहार में इज्जत और सम्मान की अवधारणा सीधे तौर से महिलाओं की अस्तित्व से जुड़ी रहती है। जिसके तहत महिलाएं शारीरिक और मानसिक शोषण का शिकार होती है। इस तरह स्पष्ट है कि अनेक विरोधाभास से भरा हिंदी पत्रकारिता का चिंतन अंतोगत्वा संपूर्ण यथार्थ का प्रतिबिंबन नहीं करता है। हिंदी पत्रकारिता ने सामाजिक न्याय में स्त्री-पुरुष समता के विचार को आवरण की तरह ओढ़ा अधिक है उसे आचरण से जोड़ा कम है।

आरक्षण की अवधारणा है कि जो सदियों के सामाजिक शोषण और वर्जना के कारण वंचित और पिछड़े हुए है उनके पिछड़ेपन की उचित क्षतिपूर्ति की जाये। इस कारण आरक्षण का उद्देश्य उचित स्पर्धा के लिए, वंचना के कारण उपजी, अक्षमता को निरस्त करने की कोशिश करना है। वर्तमान में सरकारी नौकरियों में और उच्च तथा तकनीकी शिक्षा संस्थानों में वंचित समुदाय के लिए आरक्षण की मांग इस धारणा पर आधारित हैं कि सदियों से दबी-कुचली जाति के लोगों से सीमित अवसरों को हासिल करने के लिए ऊंची जाति के लोगों के साथ बराबरी से प्रतियोगिता की मांग करना न्यायोचित नहीं है और उसको मुख्यधारा में लाने के लिए और उनकी क्षमता बढ़ाने के लिए कुछ स्थान सुरक्षित कर दिया जाये। ताकि उनको गैर-बराबर प्रतियोगिता का सामना न करना पड़े। अवसर मिल जाने पर समय के साथ वे क्षमताएं हासिल कर सकेगे और इसप्रकार यह सामाजिक न्याय की दिशा में एक कारगर क़दम होगा। हालांकि इस स्थिति की मूल समस्या यह भी रही है कि वंचित तबकों के कुछ समुदाय को पूरे वर्ग का पर्याय मान लिया जाता हैं, उन्हें प्राप्त अवसरों का सारे वर्ग को प्राप्त अवसरों से घालमेल कर दिया जाता हैं।

---

[460] 20 अक्टूबर 1994,नवभारत टाईम्स

उनके आर्थिक स्थिति में सुधार को सारे दलितों और पिछड़े वर्ग की क्षमता और सामाजिक स्थिति में सुधार का पर्याय मान लिया जाता है। इसी प्रवृति के कारण आरक्षण की बहसों को लैंगिक समाजिक न्याय के नज़रिये से नहीं समझा जाता है और आरक्षण के सहारे सामाजिक न्याय की अवधारणा में महिलाएं अपना स्पेस समग्रता से नहीं बना पाती है। हिंदी पत्रकारिता में अगर आरक्षण के बहसों को देखे तो एकपक्षीय तर्क अधिक स्पष्ट होते है जो आरक्षण के पक्ष-विपक्ष के बिंदुओं पर सिमट कर रह जाते है।

मसलन, राजेंद्र सिंह 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'मंडल आयोग तथ्य के आईने में' में मंडल आयोग की दलीलों को गलत बताते हुए लिखते हैं कि -

> "मंडल आयोग की सिफारिश को लागू करना विश्वनाथ प्रताप सिंह की राजनीतिक धूर्तता की सबसे बड़ी सफलता है। प्राय: यह तर्क दिया जा रहा है कि सामाजिक न्याय के लिए उठाया गया है, क्योंकि देश के पिछड़े वर्ग पूरी आबादी का बावन प्रतिशत है। इन आंकड़ो का कोई प्रमाणिक आधार नहीं है। यह भी बात ग़ौर करने के लायक है कि संविधान के किसी अनुच्छेद में जातीय आधार पर आरक्षण की वकालत नहीं है। इसके साथ मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के दौर में सरकार ने मीडिया का भी अपनी पक्ष में नंगा दुरूपयोग किया है। इस प्रकार की बेहूदगी स्वस्थ लोकतंत्र के भविष्य के सही संकेत नहीं है।"[461]

इसीतरह, प्रीति सिन्हा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'मंडल आयोग की भूली-बिसरी सिफारिश' में बताती हैं कि -

> "मंडल आयोग ने आरक्षण की सिफारिश को पिछड़ेपन को दूर करने के लिए जरूरी माना है। परंतु, पिछड़ेपन की जड पर प्रहार किए बग़ैर आरक्षण से ज़्यादा हासिल होने की कतई गुंजाइश नहीं है और इसलिए पिछडे वर्गो के वास्तविक उत्थान और कल्याण के लिए मौजूदा उत्पादन संबंधों में आमूल परिवर्तन की ज़रूरत है और इसकी शुरूआत भूमि पर उसके अधिकार दिलाने से करनी होगी।"[462]

जहां इन संपादकीय लेखों में पिछड़े वर्गों के सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए मंडल आयोगों की सिफारिशों को नाकाफ़ी माना जा रहा था। वही आर्थिक आधार पर आरक्षण का विमर्श हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलता है। कपिलदेव सिंह अपनी लेख 'आरक्षण अपरिहार्य, परंतु, ...' में लिखते हैं कि -

---

[461] 20 जून,1990, हिंदुस्तान

[462] 7 अक्टूबर,1997, हिंदुस्तान

> "आरक्षण तो सामाजिक संतुलन और प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। परंतु, स्वतंत्रता के लंबी अवधि के बाद पिछड़ी जातियां धनार्जन कर संपन्न हो चुके हैं वे शैक्षिणिक या सामाजिक रूप से भी पिछड़े नहीं है। इसलिए केंद्रीय सरकारी सेवाओं में आरक्षण अवश्य हो, परंतु, कुछ आर्थिक मापदंड भी अनिवार्य है। साथ ही कुछ सरकारी सेवा में उंची जाति के गरीबों को भी विशेष अवसर दिया जाये, लेंकिन यह पिछड़ों के आरक्षण कोटा में कटौती करके नहीं किया जाना चाहिए। प्रोन्नति में इसे लागू करने का प्रश्न अति गंभीर है।"[463]

इस लेख में जहां एक तरफ़ आरक्षण को महत्व दिया गया है वही इससे उत्पन्न असंतुलन के लिए भी संकेत किया गया है और आर्थिक आधार पर आरक्षण की पैरवी भी शामिल है जिसमें एक बड़ी सख्यां वर्चस्वशाली समाज के लोगों की भी हैं। आर्थिक आधार पर आरक्षण की मांग को राजनीतिक प्रश्न बनाने का प्रयास भी इस दौर में हिंदी पत्रकारिता में दिखता है।

आर्थिक आधार पर आरक्षण की बहस अपनी शब्दावली को बदलते हुए हर अवधि में देखने को मिलती है। यह बहस बाद के दिनों में हिंदी पत्रकारिता में चिकनी परत या क्रीमिलेयर के रूप में जारी रहा। इस शब्द का इस्तेमाल पहली बार उच्चतम न्यायालय के आरक्षण के मामले में 16 नवंबर 1992 को अपनी फैसले में किया। आरक्षण नीति को लागू करने के मामले में जब सुप्रीम कोर्ट ने चिकनी परत(क्रीमी लेयर) की बात की थी तो सरकार ने एक समिति बनाई और समिति की रिपोर्ट को पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया। परंतु, समिति ने क्रीमी लेयर उन लोगों को माना जो अगड़े वर्ग के साथ प्रतियोगिता करने में सक्षम है। इसके साथ-साथ समिति के सुझावों में कई तरह के विरोधाभास भी थे। न्यायालय ने क्रीमी लेयर के तहत परिवारों की पहचान के मानदंड निर्धारित किए थे। लेकिन समिति ने कुछ खास जातियों को क्रीमी लेयर मानने के वैधानिक तर्क नहीं दिए। अफलातून 'हिंदुस्तान' में अपनी संपादकीय लेख 'समाजिक न्याय के नये अवतार' में लिखते हैं कि -

> "समाज परिवर्तन के औजार के रूप में आरक्षण का अंतिम लक्ष्य जातिविहीन समाज बनाना है। श्रम तथा बौद्धिक काम के बीच जो खाई है उसे पाटना आरक्षण का एक उद्देश्य है। लोक सेवा आयोग के आकड़ों के अनुसार अनुसूचित जाति के अभ्यर्थियों का गैर-आरक्षित स्थलों पर चयन बढ़ा है। इस स्थिति में आरक्षण के तहत क्रीमी लेयर पर रोक लगाना बेमतलब हो जाता है। सवर्ण तबकों के कई परिवारों में डाक्टर के बेटे डाक्टर, नाती पोते डाक्टर, अफसर के बेटे अफसर बनते है। क्या यह क्रीमी लेयर नहीं है?"[464]

---

[463] 15 अप्रैल,1990, हिंदुस्तान

[464] 24 सितबंर, 2001, हिंदुस्तान

इसीप्रकार, क्रीमी लेयर के बहस पर गेल आम्वेट 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित अपनी संपादकीय लेख में लिखती हैं कि -

> "सुप्रीम कोर्ट ने ही क्रीमी लेयर को कानूनी हथियार बनाया है। इसका इस्तेमाल आरक्षण के विस्तार को रोकने तथा दलितों में उभरते मध्यम या उच्च वर्ग के खतरे को रेखांकित करना या दलितों में कुछ जातियों को अन्य से अलग करना है। हालांकि इस मसले का हल आसानी से ढूंढा जा सकता है। इसे श्रेंणियों में विभाजित किया जा सकता है। इस विभाजन से अन्य जातियों में लाभ से वंचित वर्ग को उसका हिस्सा मिल सकेगा। हालांकि बहस का मुद्दा यह भी है कि वर्गीकरण के भीतर वर्गीकरण का यह सिलसिला आखिर कब खत्म होगा।"[465]

इस तरह लगभग सभी लेखों में आरक्षण को सामाजिक न्याय के लिए जरूरी भी माना गया और आर्थिक आधार पर आरक्षण की पैरवी भी दिखती है। क्रीमीलेयर के तयशुदा परिभाषा में भी विसंगतियों को सामाजिक लोकतंत्र के लिए अवरोधक के रूप में देखा गया। इसके साथ-साथ आरक्षण और योग्यता का तर्क भी मंडल आयोग की सिफारिशों पर प्रश्न चिन्ह लगाने योग्यता और आरक्षण के संदर्भ में भी कुछ लेख देखने को मिलते है। मस्तराम कपूर 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित अपनी लेख 'मंडल आयोग और जाति मुक्त समाज के ओर' में लिखतें है कि -

> "आरक्षण का विरोध करने वालों के मुख्य तर्क रहे है कि आरक्षण से योग्यता की हत्या होती है, समाज में जातिवाद को बढ़ावा मिलता है और असली ज़रूरतमंदों को कोई लाभ नहीं होता है। यह वैसा ही तर्क है जैसा कभी अंग्रेज हिंदुस्तानियों के बारे में दिया करते थे कि हिंदुस्तानियों को शासन की बागडोर सौपी गयी तो सब कुछ चौपट हो जायेगा। आरक्षण योग्यता का विरोधी नहीं है और पदोन्नतियों में आरक्षण न रहने से योग्यता तथा प्रतियोगिता के लिए पर्याप्त अवसर होगें। जहां तक आरक्षण से जातिवाद के मजबूत होने के तर्क है। आरक्षण का उद्देश्य जातिवाद को बढ़ावा देना नहीं है, उनका उन्मूलन करना है। लेकिन जाति हमारे समाज की कटू सच्चाई है।"[466]

इसीप्रकार, एस.के.सहाय 'हिंदुस्तान' में अपनी प्रकाशित लेख 'आरक्षण पात्रता का विवाद' में लिखते हैं कि -

> "मंडल आयोग की सिफारिश के अनुसार पिछड़े वर्ग को 27 प्रतिशत आरक्षण दिया जाना इन दिनों विवाद का विषय बना हुआ है। इन सबके बावजूद अब तक सरकार जातिगत आरक्षण को सही सिद्ध करने में असफल रही है। यथार्थ में जिन्हें आरक्षण की ज़रूरत है, उसे आरक्षण का लाभ नहीं मिलता है। साथ ही तकनीकी पदों में आरक्षण की क्रियान्वयन प्रतिभाओं से विमुख होने के समान है। जैसे आरक्षण के माध्यम से चिकित्सक व अभियांत्रिकी के क्षेत्रों में आरक्षण से आया व्यक्ति अपनी योग्यता का कैसे उपयोग कर सकता है। इस स्थिति में तब कैसे संभंव

[465] 14 मई 2007, नवभारत टाईम्स

[466] 8 दिसंबर,1992, नवभारत टाईम्स

> है कि स्वास्थ्य और अभियांत्रिकी का स्तर देश में ऊंचा हो। आरक्षण यदि देना है तो निचली श्रेणी के पदों के लिए उचित हो सकता है। आरक्षण के माध्यम से आए लोगों से विकास की उम्मीद करना प्राकृतिक सिद्धांतों के विपरीत है।"[467]

हिंदी पत्रकारिता में जहां एक तरफ़ आरक्षण के विरोध में आर्थिक आधार पर आरक्षण, योग्यता का तर्क और जातिवाद को मजबूत बनाने के मसवदे के रूप में देखा जा रहा था। वहीं दूसरे तरफ़ ऐसे संपादकीय लेख भी प्रकाशित हो रहे थे जो इस नाकाफ़ीपन के मूल कारणों को पहचानने का प्रयास करते है और मंडल आयोग की सिफारिशों को सामाजिक समता के लिए जरूरी मानते है। मतलब आरक्षण के पक्ष और विपक्ष दोनों प्रकार के बहसों को हिंदी पत्रकारिता ने प्रमुखता से छापा। आरक्षण के विरोध में प्रकाशित लेख या संपादकीय वर्ण-व्यवस्था के श्रेष्ठता को आधार बनाकर, तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था में उसके महत्व को गौण करने की कोशिश को मजबूत करते दिखते है। सामाजिक न्याय और मंडल आयोग की आरक्षण की सिफारिशों के पक्ष-विपक्ष में हिंदी पत्रकारिता में यह तथ्य भी उभरकर सतह पर आते हैं कि कई गलत कारणों से संरक्षणात्मक भेदभाव की नीतियों का जमकर समर्थन किया जा रहा था। मंडल विरोधी और पक्ष के प्रदर्शन के ड्रामें में असली चिंता को छिपाने की कोशिश भी की जा रही थी। इन दोनों पक्षों के द्वारा जाहिर की जा रही चिंताओं में राष्ट्रीय\स्थानीय हिंदीं पत्रकारिता में महिलाएं और महिलाओं का जातिगत शोषणों को एक सिरे से खारिज किया जा रहा था। जबकि मंडल आरक्षण विरोधी आंदोलन में ऊंची जातियों के महिलाओ का स्वर था कि हम बेरोज़गार पति नहीं चाहते। इसके साथ-साथ मंडल-विवाद में लिंग और जाति के अक्षों का संबंध के बीच संभावना पर या तो सोचा नहीं गया या यह मान्यता मजबूत थी कि लिंग और जाति के अक्षों का पितृसत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। मंडल आंदोलन और सामाजिक न्याय के पक्ष-विपक्ष के लेखन के आयामों में इन शोषणों के चरित्र को हाशिये पर रखा गया था या आधी आबादी का नज़रिया पूरी तरह से गायब दिखता है।

4.2 (2) सामाजिक न्याय और महिला आरक्षण

मंडल के आरक्षण संबंधी सिफारिशों ने ब्राह्मणवादी-पितृसत्ता को सतह पर उभार कर ला दिया। मंडलवादी आंदोलन ने स्थानीय और जातिगत आयामों की वजह से इसके विविध रूपों के साथ-साथ इसके वर्चस्वता को प्रकाश में लाने का काम किया। इन शोषणों से निपटने के लिए और महिलाओं को अधिकार संपन्न बनाने के उद्देश्य से वर्ष 1993 के दशक में संविधान में अनुच्छेद 243 के प्रावधान ने ग्रामीण तथा शहरी, दोनों क्षेत्रों में महिलाओं को निकायों के निचले स्तर पर

[467] 15 सिंतबर 1990, हिंदुस्तान

प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का अधिकार दिया। हालांकि महिलाओं का प्रतिनिधित्व शुरूआती दौर में नाम मात्र का प्रांक्सी बना रहा और इसके अपेक्षित परिणाम नहीं मिला। परंतु, धीरे-धीरे सहयोजन और मनोनयन की व्यर्थता ने महिलाओं की पर्याप्त प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के लिए आरक्षण की नीति उभरकर सामने आई। महिलाओं की सामाजिक न्याय के लिए आरक्षण की मांग का सवाल पर यह स्वीकार अक्सर किया जाता रहा है कि पुरुषों के मुकाबले लैंगिक भेदभाव के कारण सामाजिक ही नहीं शैक्षिक रूप में महिलाएं पिछड़ी हुई हैं। मंडल आयोग के सिफारिशों में स्त्रियों के लिए अलग आरक्षण पर कोई विचार नहीं किया गया। इसके रास्ते में कई अड़चने भी थी। मसलन, विधि आयोग पिछड़ों की भी दो श्रेणियां बनाने के ख़िलाफ़ था। दूसरा, महिलाओं में साक्षरता की कम दर के कारण इन प्रावधानों का लाभ उठाना मुश्किल था। चूंकि वे इस कोटे को भर नहीं पाएंगी, इसलिए उनके तयशुदा जगहों पर उन्हीं समुदायों के पुरुषों का कब्जा हो जायेगा। लेकिन, इससे महिलाओं की सामाजिक न्याय के लिए आरक्षण की दावेदारी विशेष रूप से दलित, आदिवादी और पिछड़ी स्त्रियों के लिए कोटे का विचार कमजोर नहीं हो जाता है।

विधायिकाओं और सरकारी नौकरियों में महिला आरक्षण को लेकर चर्चाओं से ऐसा लगता हैं कि सामाजिक न्याय की राजनीति ने अपनी एजेण्डे का विस्तार किया है। महिला आरक्षण विधेयक के समर्थन में यह तर्क है कि स्त्रियों की एक अलग सामाजिक श्रेणी के रूप में देखने की प्राथमिकता दी जानी चाहिए ताकि संसद में स्त्रियों की सख्यां बढ़ने से विचार-विमर्श और नीति संबंधी दिशा जेंडर के प्रति संवेदनशील हो सके। इस बात के संकेत आरक्षण से चुनी गई महिला पंचों के कार्य शैली से भी मिला है कि महिला पंचों के नेतृत्व में स्त्री हितों का ख़्याल रखने वाले मुद्दों और कार्यक्रमों को पहले के मुकाबले प्राथमिकता प्राप्त हुई है। दूसरी ओर महिलाओं की आरक्षण के मुद्दे पर आम सहमति बनाने का प्रयास जारी है। इस विधेयक के पीछे जाति, जातीयता, वर्ग और धर्म संबंधी उत्पीड़न के ऊपर जेंडर संबंधी उत्पीड़न को प्रबल प्राथमिकता देने का पक्ष दिखता है। सामाजिक, राजनीतिक प्रक्रिया में हिस्सेदारी, प्रशासनतंत्र में हैसियत और आर्थिक सबलीकरण के विचार ने महिला आरक्षण के संघर्ष की जमीन को तैयार किया। हालांकि मंडलीकृत राजनीति आरक्षण को सामाजिक विकास और परिवर्तन के बहस को मजबूत आधार दिया था। परंतु, महिला आरक्षण के विरोधियों की कई तर्क है, पहला तर्क है कि जेंडर के आधार पर आरक्षण का प्रावधान संविधान प्रदत्त समानता के सिद्धांत के विरुद्ध है। दूसरा तर्क है कि स्त्रियों की सामाजिक रूप से समरूप श्रेणी की संज्ञा नहीं दी जा सकती है और न ही उनके हितों को अन्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तबकों से अलग करके देखा जा सकता है। अगर स्त्रियों की आरक्षण दे दिया गया तो इसी तरह की मांगे अन्य समूहों और समुदायों की तरफ़ से

आयेगी जिससे राष्ट्रीय एकता को नुकसान पहुंचेगा। इसमें पहले तर्क का सुझाव यह है कि जिनका मुख्य मकसद स्त्री आरक्षण के बावजूद पुरुष-सांसद को सख्यां कम नहीं होने देने का है। दूसरा सुझाव दोहरी सदस्यता वाले निर्वाचन-क्षेत्रों के प्रावधान का है। इसके मुताबिक कुल सीटों में से एक-तिहाई पर एक पुरुष और स्त्री सांसद चुनने का प्रावधान होना चाहिए। दूसरे तर्क के संबंध पेचीदे आलोचना से जुड़ा हुआ है यह तर्क महिला आरक्षण का समर्थन करते हुए इस विधेयक को उच्च जातियों और नारीवाद के बीच अघोषित गठजोड़ के रूप में देखता हैं। इनकी मान्यता है कि पिछड़ी जातियों के राजनीति में बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए स्त्री-आरक्षण के उपाय का इस्तेमाल किया जा रहा हैं। इस तर्क का एक मतलब यह भी निकाला जा सकता है कि ऊंची जातियां अपनी हाथ से फिसलती सत्ता की बागडोर थामने के लिए नारीवाद का इस्तेमाल कर रही है। जाहिर है कि भारत में स्त्री आरक्षण का प्रश्न दुविधाओं और विरोधाभास के बीच फंसा हुआ है। भारतीय समाज और राजनीति एक छलांग लगाने को तैयार खड़ा है, एक ऐसी छलांग जो राजनीति खेल के नियमों को पूरी तरह से बदलना चाहता है। शायद इसलिए राजनीतिक यथास्थिति के पक्षधर इसके रस्सी को पीछे से खींच रहे है ताकि छलांग अगर लगे भी तो शर्ते उनकी तय हो। परंतु, इतना अवश्य ही हुआ है कि महिला आरक्षण के बहस के शुरूआत ने कई नये प्रश्नों को खड़ा किया। मसलन, क्या इस तरह का आरक्षण आवश्यक है? क्या बिना आरक्षण के प्रतिनिधि संस्थाओं राजकीय सेवाओं में महिलाओं का समुचित प्रतिनिधित्व मिलना असंभव हैं? इन फौरी बहसों में जहां एक तरफ़ सरकारी नौकरियों में महिलाओं की लिए आरक्षण का ठोस आर्थिक लाभ अंतत: परिवार को ही होने वाला है की बहस सतह पर उठ कर आया तो दूसरी तरफ़ पिछड़ी जातियों कि महिलाओं को (कोटा के अंदर कोटा) देने के सवाल पर भी बवाल सामने आया। जिसको दलित और बहुजन महिलाओं की विस्तार भी कहा जाता रहा हैं। लेकिन कई सवाल व्योम में खो गए। जैसे, यह सवाल कि क्या लैंगिक न्याय या लैंगिक समानता सिर्फ़ नौकरियों या आर्थिक व्यवस्था में भागीदारी तक ही सीमित है? क्या सबलीकरण/सशक्तीकरण का एकमात्र आयाम आर्थिक है? वस्तुत: महिलाओं की आरक्षण का मामला इस समय सामाजिक कम राजनीतिक अधिक हो गया है। जहां यह कहना अनुचित न होगा कि राजनीतिक दल इस विधेयक के प्रति ईमानदार नहीं हैं। इस विधेयक के गुण-दोष के आधार पर सभी दल न तो एक मत है और न तो एक मत होने की संभावना है। स्पष्ट रूप से महिला आरक्षण विधेयक का मामला इस समय सामाजिक कम राजनीतिक अधिक है। अगर यह मामला सामाजिक होता तो इसके साथ-साथ व्यक्ति-परिवार, स्त्री-पुरुष संबंध और समाज का व्यापक और वास्तविक फलक से जुड़ सकता है। महिला आरक्षण की बहसों का विस्तार सामाजिक न्याय की अवधारणा के साथ नहीं बल्कि अवसर के दुहाई के बतौर किया जा रहा है। परंतु, सामाजिक न्याय का सिद्धांत वहीं

काम कर पाता है, जहां लोगों की नीयत साफ है। विशिष्ट सामाजिक बुनावट के कारण सामाजिक न्याय की थ्योरी असफल सिद्ध हुई है। महिला आरक्षण की बहस शहरी-ग्रामीण, अगड़ी-पिछड़ी, शिक्षित-अशिक्षित में बांटकर सामाजिक न्याय की थ्योरी को चुनौती देती हैं। टुकड़ों में बंटी महिलाओं की अस्मिता महिला आरक्षण को बड़े बहस का हिस्सा नहीं बनने देती हैं और इस बहस का राजनीतिकरण अधिक करती है। यही राजनीतिकरण ग्राम पंचायतों में महिला सरपंच की उपलब्धि पूर्ण भूमिका को मुखियापति और पंचपति के शब्दावलियों से खारिज करने का प्रयास करती हैं।

हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं की आरक्षण के बहस को कई दूसरे आयामों को स्थापित करने का प्रयास करता हैं तो इसके साथ-साथ महिलाओं से जुड़े कई प्रश्नों को अनुत्तरित भी छोड़ देता हैं। मसलन, आरक्षण का उद्देश्य महिलाओं की भागीदारी बढ़ाना भर नहीं है, इसके साथ-साथ राजनीतिक अधिकारिता, आर्थिक स्वावलंबन और सामाजिक उत्थान भी है। यह काफ़ी बहुआयामी है, जिसमें महिलाएं जीवन के हर क्षेत्र में अपनी पूरी क्षमता और शक्ति को महसूस कर सकें। परंतु, हिंदी पत्रकारिता में महिला आरक्षण के इस बहुआयामी उद्देश्य और उसकी आवश्यकता पर चर्चा बहुत कम देखने को मिलती है। मसलन, 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'आरक्षण जरूरी क्यो?' में सुहास कुमार लिखते हैं कि -

> "महिला आरक्षण प्रस्तावित विधेयक वस्तुत: वर्ष 1992 में परित हुए 73वें और 74वें संशोधन का विस्तार मात्र है जिसमें पंचायतों में महिलाओं की लिए एक तिहाई सींटे आरक्षित की गई थी। पंचायती राज बिल से भी ज़्यादा विरोध इस बिल पर हो रहा है। इस समय आरक्षण के सिवा महिलाओं को मुख्य धारा में लाने का कोई दूसरा उपाय ही नहीं। अभी तक महिलाओं का संसद में पहुंचना पिता क्षेत्र, पति क्षेत्र के कारण ही होता रहा है। अपनी आत्म संघर्ष से संसद में महिलाओं का अनुपात काफ़ी कम है। इसका प्रमुख कारण महिलाओं को पार्टी द्वारा टिकट न दिया जाना है। केवल भारत ही नहीं दुनिया के कई इने-गिने देशों में महिलाओं को राजनीति की मुख्यधारा में आने का अवसर आरक्षित सीटों के कारण मिला है।"[468]

इसीतरह, 'नवभारत टाईम्स' में मस्तराम कपूर अपनी लेख 'स्त्रियों की आरक्षण बहस के मुद्दे' में लिखते हैं कि -

> "स्त्रियों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण की सिफारिश काका कालेलकर की अध्यक्षता में बने पहले पिछड़ा वर्ग आयोग ने की थी। परंतु, सरकार ने स्त्रियों की आरक्षण की परिधि में लाने की आवश्यकता नहीं समझी। केवल मधुलिमये ने अपनी याचिका में स्त्रियों की भी

[468] 2 दिसंबर, 1996, हिंदुस्तान

> आरक्षण दिए जाने की बात कहीं थी।परंतु, न्यायालय ने इस मुद्दे पर विचार नहीं किया क्योंकि उसे अपना निर्णय सरकारी आदेशों पर ही देना था। जबकि जस्टिस सावंत ने अपनी पृथक किंतु सहमत निर्णय में स्त्रियों की आरक्षण देने की आवश्यकता पर जोड़ दिया था। इस व्यवस्था से कोई भी राजनैतिक पार्टी सहमत नहीं हुए और मामला विधानमंडलो और संसदीय प्रणाली में महिला आरक्षण के मांग के रूप में उभरी।"[469]

जहां इन लेखों में महिला आरक्षण के बहुआयामी उद्देश्यों की चर्चा का व्यापक अभाव झलकता है। वहीं कई लेखों में महिला आरक्षण पर दलगत राजनीति स्थिति का मूल्यांकन नज़र कम आता है। जिसमें महिला आरक्षण का गेंद एक पाले से दूसरे पाले में आता-जाता दिखता है और बहस की जगह यथास्थिति बनी हुई दिखती है। मसलन, 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'महिला आरक्षण पर भारतीय दृष्टिकोण' में भरत झुनझुनवाला लिखते हैं -

> "महिला आरक्षण के रास्ते में नेताओं के स्वार्थ आड़े आ रहे है। कुछ नेता महिला आरक्षण का विरोध सिर्फ़ इसलिए कर रहे है कि उनके राजनीतिक वर्चस्व को चोट न पहुंचे। परंतु, दूसरी ओर बाकि समर्थकों का अपना स्वार्थ भी निहित है। वे महिलाओं को के लिए आवश्यक मुद्दे दफना कर निरर्थक आरक्षण में महिलाओं को भटका देना चाहते है। एक पक्ष आरक्षण देकर भटकाना चाहता है तो दूसरा पक्षों का देश की महिलाओं से कुछ लेना-देना नहीं है।"[470]

महिला आरक्षण पर दिए जा रहे तर्क पर चर्चा करते हुए मृणाल पांड़े 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'महिला आरक्षण-उर्फ पांचली नाटक' में बताती हैं कि -

> "महिला आरक्षण बिल के विरोध में दिए जा रहे तर्को में पहला यह है कि अगर बिल परित हो गया तो इससे सबसे ज़्यादा फायदा पढ़ी-लिखी शहरी मध्यवर्गीय स्त्रियों की मिलेगा, बहुसंख्यक अनपढ़ या अर्द्धसाक्षर ग्रामीणाओं को नहीं। दूसरा तर्क यह दिया जा रहा है कि भारत में इंदिरा गांधी से सोनिया गांधी तक शीर्ष महिलाएं लीडरान के लंबे कार्यकाल रहे हैं लेकिन फिर भी महिलाओं की स्थिति में बदलाव हैं क्या? तीसरा तर्क यह पेश किया जा रहा है कि सच्चा सशक्तिकरण तो अंतत: आर्थिक तरक्की से ही होगा। फिर खामख्वाह चुनावी राजनीति में क्यों घुंसे?"[471]

---

[469] 20 अक्टूबर, 1996, नवभारत टाईम्स

[470] 23 अगस्त, 2000, नवभारत टाईम्स

[471] 18 मई 2008, हिंदुस्तान

महिला आरक्षण पर कई लेख हिंदी पत्रकारिता पर अभिव्यक्त होती है। मसलन, "महिला आरक्षण की मंजिल और भटकाव"[472],"महिला आरक्षण: कब थमेगा बवाल"[473], "महिला आरक्षण विधेयक के विरोधियों को नजरअंदाज़ करें"[474], "महिला आरक्षण का फ्यूचर क्या होगा"[475],"अंकुर फुटेगे संभावना के महिला आरक्षण विधेयक"[476], "बचाना होगा महिला आरक्षण विधेयक"[477] और अन्य कई। परंतु, महिला आरक्षण के बहस हिंदी पत्रकारिता में एकपक्षीय व्याख्या की शिकार हुई दिखती है जिसमें वैचारिक पक्षों को तवज्जों देने के बजाए राजनीतिक स्थितियों का मूल्यांकन अधिक देखने को मिलता है। जिसमें जाति व्यवस्था की संरचना का लिंग के साथ अंतसंबंध को दलगत राजनीतिक विवाद के लबादे में लपेटकर पर्दापोशी करने की प्रवृति दिखती है। इसमें जाति की वैचारिक पक्ष, महिलाओं की सत्ता और राजनीति में उचित भागीदारी सुनिश्चित करने जैसे लक्ष्य नज़रअंदाज़ हो जाते है। जिसके कारण पूरी बहस में जाति की कोई निश्चित नारीवादी समझ महिला आरक्षण के विषय पर विकसित नहीं होती दिखती है। हालांकि महिला आरक्षण के पक्ष व विषय में दिए गए तर्क जाति से जुड़े हुए भी है। जहां एक तरफ़, इस बिल के समर्थक अपनी दावों का आधार लैंगिक न्याय को मानते है वही इसके विरोध के तर्क को सीधे-सीधे पितृसत्ता के हिमायती मान लेना इस मुद्दे का अति सरलीकरण हो जायेगा, क्योंकि यह विरोध एक स्पष्ट जाति-आधारित तर्क से उभरा है, जिसका समर्थन कई महिला समूहों ने किया है। वही दूसरी तरफ़, समर्थन की दलील भी उन तबकों के तरफ़ से उठ रही है जो मंडल कमीशन द्वारा प्रस्तावित आरक्षण के लिए मुखर विरोधी थे, लेकिन महिला आरक्षण के समर्थन में बढ़-चढ़ कर बोलते है। इन दलगत राजनीतिक स्वार्थ में कई प्रश्न अनुत्तरित रह जाते है। गोया, अगर महिलाओं का राजनीतिक प्रतिनिधित्व का मुद्दा सबसे ज़्यादा महत्व रखता है तो दो प्रश्न उबर के आते है पहला प्रश्न, क्या हमने उन तरीकों के बारे में पर्याप्त चिंतन किया है जिनमें बुर्जुआ प्रजातंत्र के सार्वभौम मताधिकार को अब आरक्षण द्वारा प्रतिनिधि सभाएं बनाने के लिए पुननिर्मित किया जा सके, क्योंकि प्रतिनिधित्व का आधार अब तक व्यक्ति नहीं दल है। दूसरा प्रश्न, संसद में प्रतिनिधित्व और न्याय के लिए संघर्ष में क्या संबंध है? क्या संसद में महिलाओं का पर्याप्त प्रतिनिधित्व स्त्री को मुख्यधारा से दूर रखने की सामाजिक प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ काम नहीं करेगा? संसद में दलीय राजनीति की कार्य शैली ऐसी है कि अन्य सांसदों की तरह

---

[472] 5 फरवरी 2008, हिंदुस्तान

[473] 12 जून 2009, नवभारत टाईम्स

[474] 26 जून 2009, हिंदुस्तान

[475] 9 मार्च 2010, हिंदुस्तान

[476] 30 जून 2010, नवभारत टाईम्स

[477] 14मार्च 2010, हिंदुस्तान

महिलाओं को भी अपनी पार्टियों के सीमित विचार दायरे में ही कार्य करना होगा? फिर दलीय राजनीति से ऊपर उठकर परिवर्तन लाने के लिए महिलाएं कैसे सफल हो सकेगी? क्या यह सारी प्रक्रिया या कानूनी सुधार या महिला आरक्षण पर बहुस्तरीय बहस की मांग करते है। क्योंकि मंडल आयोग के आरक्षण के सिफारिश को स्वीकार करने के बाद जातियों के प्रति सामाजिक मूल्यों की दीवार अगर गिरी नहीं है तो कमजोर भी नहीं हुई है।

4.2 (3) दलित उत्पीड़न और दलित राजनीति

दलित समुदायों का मुखर होना समकालीन भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण पहलू है। विभिन्न दलित आंदोलनों ने सांस्कृतिक स्तर पर मौजूद भेदभाव के अनुभवों को बुनियादी पर जाति के प्रश्नों को मजबूती से उठाया है और समय-समय पर दलित उत्पीड़न की राजनीति को मजबूत आधार भी दिया है, जैसे मैला उठाने की प्रथा का विरोध और अन्य कई। उदार बुद्धिजीवियों और अकादमिक हलकों ने दलित पुरुष और स्त्रियों दोनों के जाति आधारित शोषण को बुनियादी जमीन देने की कोशिश दलित समुदाय के अनुभव और जातीय उत्पीड़न के अनुभवों से की हैं। ऊंची जाति के मध्य वर्ग ने सार्वजनिक बहस-मुबाहिसों में जाति प्रश्न को आरक्षण प्राप्त करने के रूप में विघटित करने की कोशिश की। जनआंदोलनों और महिला आंदोलनों में एक हद तक, जाति आधारित शोषण की मौजूदगी को स्वीकार कर, शोषण के सैद्धांतिकरण में जाति को एक अहम तत्व के रूप में स्वीकार करने की कोशिश होती रही है। स्वतंत्रता आंदोलनों के दौरान,

> "गांधीजी ने हरिजन आंदोलन को सामाजिक सुधार (हरिजनों के लिए सार्वजनिक कुओं, सड़को और विशेष रूप से मंदिरों को खुलवाना, साथ में मानवतावादी कार्य) तक सीमित रखा था (जबकि अनेक हरिजन खेतिहर मजदूर थे), साथ ही उन्होंने समग्र रूप से जाति व्यवस्था की भर्त्सना करने से इऩकार कर दिया। उन्होंने मूल वर्णाश्रम धर्म की हिमायत की।"[478]

हालांकि गांधीजी और बाबा साहब के नज़रिये दलित राजनीति पर भिन्न थे, दलित समस्या पर उनके मतभेद और विचारों में अंतर उस समय के हिंदी पत्रकारिता के प्रकाशित पत्रों एंव लेखों में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत भी हो रहे थे। फिर भी कांग्रेसी सुधारकों का उद्देश्य जाति व्यवस्था को समूल नष्ट करने में नहीं थी, न ही इस सामाजिक बुराई के आर्थिक आधार को समाप्त करना था। ये समाज सुधारक तो दलितों के लिए महज मानवीय व्यवहार की वकालत कर रहे थे। इसके विपरीत दलित संगठन देश के विभिन्न भागों में सक्रिय रूप से दलितों के आर्थिक शोषण के

[478] प्रफुल्ल कोलख्यान : दलित राजनीति की समस्याएं पेज न० -10 https://ia802702.us.archive.org

प्रश्न को उठा रहे थे तथा पारंपरिक दलित और सर्वण रिश्तों की मीमांसा की मांग कर रहे थे। इसलिए वे कांग्रेस के नेतृत्च में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन से अलग थे और वे अपनी समस्याओं के साथ औपनिवेशिक शासन और सामंती भारतीय समाज से अलग तरह का संघर्ष कर रहे थे।

आजादी के बाद दलित राजनीति के महत्व को सत्ताधारी वर्गों द्वारा यथायोग्य स्वीकार किया गया। इस रणनीति में आंबेडकर दलित प्रतिबद्धता के प्रवक्ता के रूप में उभरे और उन्होंने दलितों के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक उत्थान के लिए संवैधानिक उपबंधों को स्थापित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया। परंतु, यह अधिकारों दलितों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक शोषण एंव उत्पीड़न को मूल रूप से समाप्त नहीं कर सके। क्योंकि सामाजिक दलगत हालात दलित समाज के परिवर्तन के विरोधी और यथास्थिति के समर्थक थे।

अंबेडकर के बाद दलित राजनीति की अभिव्यक्ति पैंथर आंदोलन और कई आंदोलनों में होती रही। परंतु, दलित राजनीति में कांशीराम का आंदोलन एक अलग राजनीति को सुस्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित करता है, जिन्होंने दलित की बनिस्बत सभी अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़ी जातियों और अन्य पिछड़ी जातियों और अन्य पिछड़ी जातियों और अन्य पिछड़ी जातियों और धार्मिक अल्पसंख्यकों को सम्मिलित करके 'बहुजन' पहचान को गढ़ा। कांशीराम ने जातियों को उसके आर्थिक प्रभाव से ज़्यादा समाजिक प्रभाव धरातल पर देखने की कोशिश की। उनके अनुसार देश के राजनीतिक ढ़ांचे में अर्थपूर्ण परिवर्तन से ही दलित मौजूदा सत्ता में सहभागिता करके उंची जातियों के वर्चस्व या प्रभुता को धवस्त कर सकते है। उन्होंने पहचाना कि सांप्रदायिकता का इस्तेमाल इस तरह से किया जाता है जिसका दंश बहुजन समुदाय को झेलना पड़ता है। उन्होंने महात्मा गांधी के संबोधन "हरिजन" का विरोध आंबेडकर के तरह ही किया। परंतु, कांशीराम का "बहुजन" महात्मा बुद्ध और महात्मा फूले के "बहुसंख्यक" से भिन्न था। उन्होंने इसका प्रयोग राजनीतिक सत्ता के दावेदारी के लिए एक विचारधारा के रूप में किया। जो व्यावहारिक रूप से अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधित्व करती थी। कांशीराम के विचार के अनुसार-

> "पूना में हुए गांधी-आंबेडकर समझौता ने दलित नेताओं के नाम पर सिर्फ़ चमचों को जन्म दिया। कांशीराम ने अपनी एकमात्र पुस्तक चमचा युग शीर्षक से इसी विषय पर लिखी।"[479]

[479] कांशीराम ,'चमचा युग :दि एरा आंव स्टूजिस ,अनुवाद :रामगोपाल आजाद ,समता प्रकाशन ,नागपुर 1998

कांशीराम की रणनीति ने मृतपाय या स्थिर हो चुकी दलित राजनीति को एक गुणात्मक प्रेरक शक्ति दी। इस राजनीति प्रेरणा शक्ति ने दलित उत्पीड़न और शोषण को नये तरीके से पुन: परिभाषित किया और दलित राजनीति के साथ सांस्कृतिक विविधता, आर्थिक समस्या और सामाजिक समस्या को राष्ट्रीय बहस पर स्थापित करने का प्रयास किया या स्थापित कर दिया। आनंद तेलतुंबड़े बताते हैं कि -

> "कांशीराम को इस बात का पूरा श्रेय जाता है कि उन्होंने बाबा साहब के प्रतीक को जनमानस से जोड़ा ही नहीं, बल्कि चतुराई से राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल किया जिससे समाज के सबसे शोषित और दलित को वर्ग सत्ता से जोड़ा जा सका।"[480]

कांशीराम, बाबा साहेब आंबेडकर से प्रेरणा ज़रूर लेते है। परंतु, उनका मतभेद आंबेडकर के कई मूल विचारों से देखने को मिलता है। पहला, कांशीराम जाति उन्मूलन के लिए, वर्चस्वशाली मूल्यबोधों के उन्मूलन के लिए दलितों को प्रतिनिधित्व देना चाहते थे। दूसरा, कांशीराम ने देखा कि आर्थिक रूप से अच्छी स्थिति होने के बाद भी जाति दलितों का पीछा नहीं छोड़ती। इसलिए उन्होंने सामाजिक परिपेक्ष्य में जनआंदोलन की बात की। इसीतरह कांशीराम का विरोधाभास दलित अधिकार जीतने के लिए दलित पैंथर आंदोलनों से भी थी। उनका विश्वास था कि शांतिपूर्ण अधिकारों से भी दलितों के अधिकार को पाया जा सकता है। इसलिए उनकी रूचि दलित पैंथर द्वारा चलाई जा रही अस्मिता के बहस में नहीं थी और न ही इस अस्मिता के लिए वह बौद्ध और मार्क्सवादी व्याख्या का सहारा ले रहे थे। दरअसल, अस्मिताओं की राजनीति का खेल ऐसा है कि उसमें किसी की जीत नहीं होती है। इसके परे जाकर ऐसी राजनीति की ज़रूरत है जो दलित समुदाय के लिए व्यक्तिगत और सामाजिक मुक्ति का रास्ता बना सके। कांशीराम इस तथ्य को गंभीरता को समझ रहे थे। वो यह समझ रहे थे कि परंपरागर कर्मकांडीयता और आधुनिकता के मध्य दलित समुदाय की भागीदारी राजनीतिक रूप से जरूरी है। जिसे "सत्ता की दलित भूख" के रूप में आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ रहा था। आलोचकों का कहना था कि कांशीराम, बसपा और उनके रवैये से दलित आंदोलन के कारण दलित राजनीति के दीर्घकालीन लक्ष्यों को पूरा करने का प्रयास को चोट पहुंची हैं। मौजूदा दलित राजनीति के ऊपर पूरे दलित विमर्श के ऊपर हनन के आरोप की आलोचना भी है क्योंकि दलित विमर्श पूर्व छूआछूतों की गरिमा, सामाजिक प्रासंगिकता और मान्यता पर अधिक जोड़ देता है। परंतु, शायद यही दलित राजनीति कि खूबियां भी है जो विमर्श के धरातल पर ही अपनी लोकतांत्रिक राजनीति

---

[480] आनंद तेलतुंबड़े, मैस्ट्रो आंफ आइडेंटिटी पांलिटिक्स, इकांनामिक एंड पांलिटिकल वीकली, खंड XLIX, अंक 40, पेज न० 102-103

की नींव खड़ी करती है और मूल विमर्श को कभी हाशिये पर ला देती है तो कभी केंद्र में स्थापित करती है।

जिसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय मीडिया या हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलती है जो काफ़ी विरोधाभासी भी प्रतीत होती है क्योंकि समुचित भागीदारी के अभाव में हिंदी पत्रकारिता में दलित विषयों पर अभिव्यक्ति पूर्वाग्रही लेखन का शिकार प्रतीत होती है और हिंदी पत्रकारिता दलित राजनीति के ज़रूरतों को दलित विमर्श और दलित अस्मिता के राजनीति के प्रश्नों में घोल-मोल कर देता है। हिंदी पत्रकारिता में दलितों विषयों के संदर्भ में "शुद्धता" और "छूआछूत" के दो पुराने छोर आज भी पुराने द्वंद्व के साथ-साथ नई सेकुलर राजनीति के साथ मौजूद है। दलित समुदाय के भागीदारी के बाद भी गैर-दलित बुद्धिजीवियों और सामाजिक कार्यकतओं में दलित विषयों पर एक विरोधाभास मौजूद हैं जो दलित विषयों की पत्रकारिता पर काफ़ी विरोधाभासी समझ पाठकों के मध्य विकसित करते है।

हिंदी पत्रकारिता में जहां मंडल आयोग की सिफारिश, आरक्षण, महिला आरक्षण, सामाजिक न्याय और वर्ण व्यवस्था जैसे विषयों ने जाति समस्या और जाति विभेद पर बहस और समझ बनाने का प्रयास किया।हालांकि यह बहस संपूर्ण यथार्थ को प्रकट नहीं करता। क्योंकि हिंदी पत्रकारिता में इन समस्याओं से पीड़ित समुदायों की भागीदारी काफ़ी सीमित सख्यां में है। इसके साथ-साथ समय अतंराल के बाद हिंदी पत्रकारिता में अभिव्यक्ति का यर्थाथ भी बदल गया है हिंदी पत्रकारिता उत्पीड़न, भेदभाव या शोषण की समस्या को राजनीतिक रूप से संवेदनशील होने पर ही अभिव्यक्त करता है। वही हिंदी पत्रकारिता में शीर्ष पर स्थापित लोग जो जिस भी जाति, वर्ग से आते थे या आते है, उन्होंने दलित जतियों का समान अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। स्थापित पत्रों ने दलित समाज के उत्पीड़न, शोषण और उनके विरुद्ध हिंसा को संपादकीय बहसों का हिस्सा ज़रूर बनाया। परंतु, उनका विश्लेषण एक पक्षीय रहता है।

> हालांकि भारतीय आजादी के दौरान और वर्तमान समाज में भी दलितों का एक वैकल्पिक स्वर मौजूद रहा है।[481]

[481]अछूत अख़बार(1917 दिल्ली आदि हिंदू अख़बार(1929 कानपुर ,समता)साप्ताहिक पत्रिका(1934 अल्मोड़ा ,शोषित पुकार)साप्ताहिक अख़बार(1966 बुलन्दशहर ,जमीन के तारे)पत्रिका(1962 अलीगढ़ ,समता शक्ति)साप्ताहिक पत्रिका(1972 मेरठ ,निर्णायक भीम)मासिक पत्रिका (1977 कानपुर ,लोक चिंता)साप्ताहिक अख़बार (1978 बुलंदशहर, बहुजन अधिकार)पाक्षिक पत्रिका(1981 मेरठ ,भीम भूमि)साप्ताहिक अख़बार(1982 बुलंदशहर ,प्रजा साहित्य)पत्रिका (1995 फर्रूखाबाद।

दलित राजनीति, दलित विमर्श और आंदोलन में दलित महिलाओं की स्थिति और उसकी अभिव्यक्ति में भी गहरा अर्तविरोध मौजूद रहा है, जो संमग्र महिला समुदाय के चेतना के साथ-साथ दलित समाज के पितृसता पर भी सवाल खड़ा करती है। दलित महिलाओं की स्थिति यह है कि वह जातिवादी संरचना, ब्राह्मणवादी पितृसत्ता और दलित पितृसत्ता तीनों का उत्पीड़न झेलना पड़ता है। भंवरी देवी[482] और बसमतिया[483] वर्तमान परिपेक्ष्य में ऐसे दो उदाहरण है जो यह सिद्ध करते है कि दलित महिलाएं वर्णवाद और मर्दवाद दोनों की ही शिकार रही है। दलित महिलाओ के परिवार से जुड़े हुए भी कई सवाल, दलित महिलाओं के विकास से जुडे कई सवाल सतह पर उभर कर नहीं आ पाते। दलित पितृसत्ता के साथ-साथ नैतिक दवाब के कारण भी वो विमर्श का हिस्सा नहीं बन पाते है। दलित महिलाओं का स्वावलंबी न होने की समस्या भी हैं। नई आर्थिक नीति के गतिशीलता के कारण निजी और सार्वजनिक क्षेत्र में उनकी भागीदारी है पर वो काफ़ी सीमित है जहां दलित अस्मिता उनके शोषण और उत्पीड़न का कारण है, जिसकी मुखर अभिव्यक्ति दबी रह जाती है। इसके साथ-साथ दलित नारीवादी आंदोलन की यह आलोचना भी है कि अब तक नारीवादी आंदोलन ने और नारीवादी साहित्य ने उच्च जातियों की महिलाओं की समस्याओं का ही प्रतिनिधित्व किया हैं। चल्लापल्ली स्वरूपा रानी इस असंतोष को प्रकट करते हुए लिखती हैं कि -

> "उच्च जाति की स्त्रियों द्वारा चलाये जानेवाले आंदोलन को मिलनेवाली पब्लिसिटी में और दलित स्त्रियों द्वारा चलाये जानेवाले आंदोलन को मिलनेवाली पब्लिसिटी में अंतर है। जो पब्लिसिटी मेघा पाटेकर द्वारा चलाये गए पर्यावरण आंदोलन को मिली पब्लिसिटी आंघ्र में साधारण स्त्रियों द्वारा चलाये गए शराब-विरोधी आंदोलनों को नहीं मिलती है।"[484]

इसके साथ-साथ संपूर्ण दलित महिलाएं भी नारी-मुक्ति आंदोलनों का हिस्सा नहीं बन पाती हैं। आज भी वो अपनी घरों में पुरुषों के अनुमति के बिना विकास संबंधी कार्यक्रमों का हिस्सा नहीं बन पाती हैं। जाहिर है कि दलित महिलाओं की प्रति दलित समाज और शेष समाज को अपनी मानसिकता बदलने की ज़रूरत हैं। क्योंकि इन्हीं मानसिकताओं के कारण दलित महिलाओं की

---

[482] **भंवरी देवी(बवरी देवी) के नाम से** भी जानी जाती हैं। भंवरी देवी भारत के राजस्थान राज्य के भटेरी गांव की निवासी और एक दलित सामाजिक कार्यकर्ता थीं। देवी ने 1992 में बाल विवाह पर रोक लगाने की कोशिश की थी लेकिन कुछ उच्च वर्ग के लोगों ने सामूहिक दुष्कर्म किया था।

[483] बसमतिया एक विधवा बंधुआ मजदूर थी, जिसके साथ उसके मालिक ने बलात्कार किया और उसका गर्भ ठहर गया। वह चाहती थी कि मालिक उसे अपना नाम दे। मालिक ने इन्कार कर दिया। उसने पंचायत में गुहार लगाई। पंचायत बैठी और फैसला हुआ कि बसमतियां पतित महिला है।

[484] मोहनदास नैमिशराय, दोनों गालों पर थप्पड़,अभय कुमार दुबे(सं.), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2002, पेज न०-242

समस्याओं की अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता में नहीं के बराबर देखने को मिलती हैं। हालांकि इनकी अभिव्यक्ति दलित साहित्य में मुखर रूप से होते हुए दिखती है। इन्हीं विरोधाभासों के कारण हिंदी पत्रकारिता और दलित पत्रकारिता में भी स्त्री-विषयक वैचारिकता व व्यावहारिकता में गहरा विरोधाभास मिलता हैं।

हिंदी पत्रकारिता में दलित पत्रकारिता पर शुरुआत दौर में अंबेडकर की विचारधारा का प्रभाव रहा। इस विचारधारा के प्रभाव में जातिभेद, अमानता, वर्ण-विभाजन, अस्पृश्यता और दलित समाज की सामाजिक समस्याओं के कारण और निवारणों की तलाश की अभिव्यक्ति होती दिखती हैं। परंतु, दलित पत्रकारिता में दलित स्त्री की तमाम दुर्दशा में मनु की तमाम बंदिशें ब्राह्मण स्त्रियों पर कम दलित स्त्रियों पर अधिक लदी हुई है और वे दलितों के द्वारा भी। यहां तक अपनी सामाजिक व्यवहार में भी मनु का विरोध करते हुए भी मनु को मानते है। इन तमाम विरोधभास की अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता के दलित पत्रकारिता में कभी-कभी या नहीं के बराबर देखने को मिलती है। जिसे दलित उत्पीड़न और दलित राजनीति के विषय में प्रकाशित लेख, समाचार संयोजन का अध्ययन, विवेचन और विश्लेषण के माध्यम से समझा जा सकता है।

दलित समाज में सामाजिक स्थितियों पर प्रकाशित लेखों, संपादकीय में उनके उत्पीड़न और सामाजिक स्थितियों का मूल्यांकन अधिक देखने को मिलता है। इन मूल्यांकन में तथ्यगत कारणों की चर्चा संकेत भर होती है। मसलन, दलितों के सामाजिक स्थितियों की चर्चा करते हुए, या दलितों के उत्पीड़न की चर्चा करते हुए संपादकीय लेख भी समस्या की सतही व्याख्या करते है। दलितों का यह शोषण केवल सामाजिक ही नहीं सांस्कृतिक स्तर पर भी है। मसलन, 'नवभारत टाईम्स' में मोतीलाल वोरा ससैया कांड के जांच रिपोर्ट की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि -

> "ससैया जैसी घटना कुछ महत्वपूर्ण सवाल खड़ा करती है पहला, होली के अवसर पर महिलाओं की साथ छेड़खानी क्यों की जाती है। दूसरा, कि क्या सवर्ण हिंदू इतने नासमझ है कि वह किसी व्यक्ति की रंग-गुलाल के आपत्ति पर तलवार उठा ले? तीसरा क्या इस तरह के उत्पीड़न को नोटो की सहानभूति कहां तक उचित है? क्या यह सहानभूति सच्ची मानवता प्रेरित है या राजनीति से? उत्पीड़न के इतिहास इन सवालों का जवाब चाहता हैं।"[485]

इस तरह के उत्पीड़न का एक अंतहीन सिलसिला है जो देश में अक्सर होते रहते है। प्रकाश लुईस 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'दलित उत्पीड़न चकवाड़ा से झज्जर तक' में लिखते हैं कि -

[485] 3 अप्रैल 1991, नवभारत टाईम्स

> "गांव की भैंस तालाब में पानी पी सकती है और उन्हें तालाब में नहलाया भी जा सकता है, मगर हरिजन-अछूत इन तलाबों का इस्तेमाल नहीं कर सकते। यह अध्यादेश देश में कमोबेश हर गांव-कस्बों में सख्ती से लागू किया जाता रहा है। हरियाणा के झज्जर जिले के दुलीना पुलिस पोस्ट के पास दशहरा के दिन मरे हुए पशुओं की खाल के जा रहे पांच दलितों को निर्ममता से मार-मारकर हत्या कर डालना भी सामाजिक जातिवादी मानसिकता की देन है जो दलितों को जानवरों से भी घृणित जीव के रूप में देखता है। परंतु, इस घटना की जांच करे तो कई सत्य उभरकर सामने आते है जैसे जाति उत्पीड़न के तहत दलित समाज को अपनी परंपरागत पेशा एंव जान से भी हाथ धोना पड़ रहा है। इसके साथ-साथ मौजूदा जाति व्यवस्था, सामंती व्यवस्था और सांप्रदायिक तनाव के बीच दलितों और आदिवादियों को न्याय मिल पाना असंभव है।"[486]

इसीप्रकार दलित उत्पीड़न की समस्या विशेषकर मुस्लिम दलितों के उत्पीड़न और शोषण पर चर्चा करते हुए, कंवल भारती 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित अपनी लेख 'भारतीय लोकतंत्र में दलित मुस्लिम' में बताते हैं कि -

> "भारतीय समाज में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिन दलित जातियों ने इस्लाम स्वीकार किया, उनकी हालत उन दलितों की तुलना में, जो हिंदू समाज के अंग हैं,ज़्यादा ख़राब और दयनीय है। दलित जातियों का इस्लाम में जाने के बाद भी स्थिति सेवक ही बनी रही। स्वतंत्रता और सम्मान के अधिकार से वे यहां भी वंचित ही रहे। यहां भी राजनीतिक अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं हुए।"[487]

जहां इसतरह के लेखों में दलित समाज के उत्पीड़न और शोषण को अभिव्यक्त करने की कोशिश प्रत्यक्ष होती हैं। वही इन लेखों में इस तथ्य की अभिव्यक्ति नहीं दिखती है कि दलित या आदिवासी समुदाय किन कारणों से शोषण के शिकार होते है। इसके सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या राजनीतिक कारण क्या है? क्यों वंचित समुदायों पर वर्चस्व बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। हालांकि कुछ लेख इस प्रकार के दिखते है जिसमें दलित समुदायों के महिलाओं की साथ हो रहे उत्पीड़न की समस्या को चिन्हित करने का प्रयास दिखता हैं। मसलन, मोहनदास नैमिशराय 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'दलितों की आधी दुनिया का सच' में लिखते हैं कि -

> "मौजूदा समय में दलित समाज की महिलाओं की त्रासदी का महत्वपूर्ण कारण स्वयं दलित पुरुषों की उदासीनता और फिर उनके भीतर समय-समय पर उभरता सामंती व्यवहार भी रहा है। केवल मनु स्मृति को दोष देने और स्वर्ण या वर्चस्वशाली मूल्यबोधों को कोसने से कुछ नहीं होगा। मध्य वर्गीय दलितों का निम्नवर्गीय दलितों से कितना कुछ संवाद रह पाया है इसपर भी

[486] 29 अक्टूबर 2002, हिंदुस्तान

[487] 24 अगस्त 1994, हिंदुस्तान

> हमें विचार करना होगा। दलित महिलाओं की बीच से वैसे आक्रोश की भाषा उभरने लगी हैं। वे यौन-उत्पीड़न से लेकर विस्थापन के सवालों पर बहस करने लगी हैं। ये सबूत है कि वे अपनी अधिकारों के प्रति सजग है। उन पर जूल्म और अत्याचार करने वाला चाहे सवर्ण है या स्वयं दलित समाज, उत्पीड़को की जाति, धर्म तथा वर्ग में वे बिल्कुल भी भेद रखने को तैयार नहीं है।"[488]

अनिल प्रकाश 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'बलात्कार: दलित और आदिवासी' में लिखते हैं कि -

> "राज्यवार दिए गए आंकड़ों में दलितों और आदिवासियों के प्रति अपराध की जिन घटनाओं का उल्लेख किया जा रहा है उनमें हत्या, घायल करने, बलात्कार, अपहरण, डकैती, छीना-झपटी के अलावा दलित-आदिवासी दमन विरोधी कानून और दूसरी तरह के अपराध शामिल किए गए है। अपराध के इन तमाम मामलों में बलात्कार के मामले अन्य मामलों से अधिक है क्योंकि इन समुदायों के साथ बलात्कार उनके संघर्ष की चेतना को कुंद करने और उसके दमन का सबसे घिनौना हथियार रहा है। राजनीतिक सत्ता या राजनीतिक शक्ति के रूप में भी खुद को स्थापित करने के बाद भी दलितों के सामंती उत्पीड़न में कोई कमी नहीं आई है। दलितों और आदिवासियों को अपनी दमन से मुक्ति के लिए तब तक सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष को बनाए रखना होगा जब तक कि सामंती शक्तियां नेस्तानाबूत हो जाये।"[489]

इन लेखों में दलित या आदिवासी महिलाओं की जातिगत समस्या और उसके दमन पर विस्तृत चर्चा देखने को मिलती हैं। परंतु, इस प्रकार के लेखों को बहुत कम स्थान मिलता हैं उल्टा बलात्कार की या हिंसा की घटनाओं में ये सैंडिस्ट प्रवृत्ति अधिक होती हैं। मसलन, जब हिंदू जातियों द्वारा दलित महिलाओं की ऊपर बलात्कार का विश्लेषण करते हैं तो यह सही है कि भारतीय कानून में स्त्री की साथ बलात्कार को एक जघन्य अपराध और दण्डनीय माना गया है। किंतु, दलित महिलाओं की साथ बलात्कार पूर्णत: अलग हैं। यह केवल दलित महिला का जबरन शील भंग नहीं है, बल्कि पूरी जाति या समुदाय के साथ पाश्विक अत्याचार माना गया है। तथाकथित उच्च जातियों के द्वारा दलित महिला के साथ किया गया दुष्कर्म तीन कारणों से जातीय उत्पीड़न की प्रक्रिया के रूप में समझा जाता हैं। पहला, बहुत सारे मामलों में दलित महिला से बलात्कार की घटना किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं की जाती। यह प्राय: सामूहिक बलात्कार के रूप में होता है। दूसरा, बलात्कार केवल एक लैंगिक क्रिया होती है। परंतु, यह और कुछ भी है क्योंकि कई मामलों में दलित महिलाओं की गुप्तांगों को विक्षत किया जाता हैं। तीसरा कारण, जो दलित महिला पर बलात्कार को जातीय उत्पीड़न बनता है, वह यह कि पुराने समय से दलितों पर जातीय उत्पीड़न का माध्यम भर हैं। दलितों को सबक सिखाने के लिए

---

[488] 19 मार्च 1996, हिंदुस्तान

[489] 21 नवबंर 2000, हिंदुस्तान

उनकी स्त्रियों का यौन उत्पीड़न किया जाता हैं। इसके द्वारा वे पूरे समुदाय को भयभीत और दलितों के बीच बनने वाली चेतना और विद्रोह की भावना को दबाने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार दलित महिला के शारीरिक शोषण की प्रक्रिया जातीय प्रकृति या सामुदायिक उत्पीड़न की प्रक्रिया है। स्पष्ट है कि दलितों के उत्पीड़न जातिगत पूर्वाग्रह के सामाजिक संरचना पर आधारित है। दलित महिलाओं की उत्पीड़न और शोषण के इन आयोमों को हिंदी पत्रकारिता प्रमुखता से स्वर नहीं दे पाता या दलित महिलाएं अपनी जाति, वर्ग और लिंग के आधार पर तीन गुणा अधिक उत्पीड़ित होती हैं यह कभी बहस के रूप में स्थापित नहीं हो पाता है। हिंदी पत्रकारिता में दलितों और दलित महिलाओं की समुचित भागीदारी नहीं होने के कारण भी दलित महिलाओं की ऊपर अधिकतर लेखन विषमता के शिकार रहे हैं। वही दूसरी तरफ़ स्वयं दलित पत्र-पत्रिकाओं ने और दलित साहित्य ने दलित उत्पीड़न के समस्या को प्रमुख स्वर बनाया है। परंतु, सामाजिक वर्चस्वता के कारण वह मुख्यधारा में होते हुए भी विमर्श के रूप में स्थापित नहीं हो पाती है।

मुख्यधारा की हिंदी पत्रकारिता की यही पूर्वाग्रही प्रवृत्ति दलितों के राजनीतिक खबरों में भी दिखती हैं। अस्सी के दशक में भारतीय राजनीति के परिदृश्य में विशेषकर उत्तरप्रदेश के संदर्भ में एक बड़े बदलाव का संकेत देते हुए कांशीराम ने दलित स्त्री, मायावती को एक जननेत्री के रूप में प्रस्तुत किया। मायावती के संघर्ष, त्याग और सामर्थ्य के आधार पर यू.एस.ए की साप्ताहिक पत्रिका ने बहुजन समाज पार्टी की अध्यक्षा और चौथी बार उ.प्र, की मुख्यमंत्री के तौर पर दुनिया के आठ ताकतवर महिलाओं की शुमार किया। किंतु आश्चर्यजनक ढंग से मीडिया और महिला आंदोलनों में एक तरह की या तो ख़ामोशी रही या हिंदी समाचारपत्र ने उनके चरित्र को जाति के नाम के साथ जोड़कर धूमिल करने का प्रयास किया। यही स्थिति हाल के दिनों में सिविल सेवा के परीक्षा में टांपर रही टीना डांबी[490] के संदर्भ में देखने को मिलता है जहां उसकी योग्यता या उपलब्धि गौण हो जाती है और उसका दलित होना अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। आज भी मुख्यधारा की हिंदी पत्रकारिता मायावती की राजनीति की एक नकारात्मक छवि को ही पेश करती है - एक ऐसी मायावती के रूप में, जो तड़क-भड़क में विश्वास करती है, बहुजन समाज सुधारकों के नाम पर बगीचे और मूर्तियां खड़ी करती हैं, अंधाधुंध नौकरशाहों का तबादला करती हैं और अपनी राजनीतिक सहयोगियों को धोखा देती हैं। मुख्यधारा की पत्रकारिता ने उनकी छवि एक ऐसी राजनीतिक के रूप में गढ़ी है, जिसके नाम पर आकूत धन रखा है। जाहिर तौर पर भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में मायावती की उपस्थिति दलित समाज में एक छोटी उपलब्धि नहीं है

[490] टीना डाबी ने सिविल सर्विस के परीक्षा में पहली ही बार में सफलता प्राप्त करने एक तरह की मिसाल कायम की है और न केवल पास होकर बल्कि उन्होंने परीक्षा को टॉप किया और पहले नंबर पर आई है जो कि अपने आप में लड़कियों के लिए तो प्रेरणा का सबक है ही साथ ही आईएएस की तैयारी कर रहे लाखों युवाओं की प्रेरणा का स्त्रोत है।

क्योंकि बिना किसी सामाजिक और धार्मिक आधार, के बिना राष्ट्रीय मीडिया, व्यावसायिक घराने या पारिवारिक पृष्ठभूमि की सहायता से उन्होंने यह उपलब्धि हासिल की है। परंतु, मायावती के सकारात्मक उपलब्धियों पर मुख्यधारा की मीडिया की चुप्पी पूर्वाग्रही प्रवृत्ति को दिखलाती हैं। इसे मायावती और उनके राजनीतिक कार्यशैली पर प्रकाशित संपादकीय और लेखों के माध्यम से समझा जा सकता है। मसलन, शंभूनाथ 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित संपादकीय लेख 'दलित राजनीति में कांशीराम की भूमिका' में लिखते हैं कि -

> "बसपा नेता कांशीराम बयान देते समय किसी सीमा तक पहुंच जाते है इसका परिचय 23 मई को लखनऊ में लोगों को मिला जब उन्होंने मुख्यमंत्री मुलायम सिंह को ही बहुत कुछ कह दिया। कांशीराम के अनेक बयान यह ध्यान दिलाते है कि जब तक स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित नहीं होगा और राजनीतिक परिपक्वता नहीं आएगी तब तक सिर्फ़ दूसरों की आलोचना करने से काम नहीं चल सकता। एक राजनीतिक नेता में संतुलन और परिपक्वता की ज़रूरत ही सबसे ज़्यादा होती है। कांशीराम की आक्रामक भाषा और बदहवास शैली में उनके अकेलेपन की ही प्रतिध्वनियां है और कुछ नहीं।"[491]

इसीप्रकार, चिरंजी कटारिया 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'दलितों को दलित बनाए रखने का षड़यंत्र' में लिखते हैं कि -

> "दलित राजनीति के झंडेबरदार एक बार फिर से दलितों की आंखों में धूल झोंकने को गोलबंद हो रहे है। भड़काऊ नारों और झूठे आश्वासनों ने दलित राजनीति के भीतरी खोखलापन जगजागिर हो गया है। सामाजिक न्याय की लड़ाई सिर्फ़ नेताओं के वर्चस्व का अघोषित संघर्ष है, जिसके बलबूते पर दलित नेता अपनी सियासी मंसूबे संजोये बैठे हैं। सामाजिक न्याय की दिशा में आज तक कोई ठोस कार्यक्रम न अपनाना दलित नेताओं की राजनीतिक प्रणाली पर सवालिया चिन्ह खड़ा कर देता है। क्या सामाजिक न्याय के उद्देश्य सिर्फ़ भड़काऊ नारों तक ही सीमित है? क्या दलित चेतना का तात्यर्य उनके वोटों का समीकरण बैठाना ही है। यदि हां, तो यह सीधे-सीधे एक षड्यंत्र का जाल है, जिसमें दलितों की गरीबी और भूखमरी का सौदा सत्ता के गलियारों में होता है।"[492]

वर्ष 1990 के दशक में इन लेखों में जहां बसपा के राजनीतिक शास्त्र में कांशीराम के राजनीतिक प्रयोगों को राजनीतिक भाषा और राजनीतिक समझ को कटघरे में रखने की कोशिश दिखती है। इस दशक में दलित राजनीति की घुरी कांशीराम के राजनीतिक प्रयोगों के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं। जिसकी मुख्य वजह थी "अस्मिता की राजनीति का भरपूर दोहन"[493] में गोपाल गुरू बताते हैं कि दलित राजनीति दो विरोधाभासी प्रवृत्ति देखने को मिलती है पहला चेहरा प्रगति की उम्मीद

---

[491] 26 मई 1995 नवभारत टाईम्स

[492] 3 जनवरी 1996, हिंदुस्तान

[493] गोपाल गुरू, एंट्रोफी आंफ दलित पालिटिक्स, विकास अध्ययन केंद्र 2005

जगाता है वही दूसरा प्रतिगामी की मिसाल पेश करते है। परंतु, हिंदी पत्रकारिता में इन दोनों प्रवृत्तियों का अभाव देखने को मिलता हैं। जो कांशीराम के राजनीतिक प्रयोगों को कटघरे में रखने का प्रयास करता हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों का दोहराव मायावती के मुख्यमंत्री बनने के बाद उनके दलित राजनीति के प्रयोगों को लेकर दिखती हैं। मसलन, उदित राज 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'बहुजन समाज पार्टी कितनी बहुजन' में उदित राज लिखते हैं कि-

> "अभी वर्तमान समय में मायावती के राजनीतिक कार्यशैली से केवल उनको ही व्यक्तिगत फायदा हो रहा है, न कि चमार बिरादरी या दलित समाज का। मायावती के मुख्यमंत्री बनने से चमारों को मानसिक संतुष्टि ज़रूर होगी, लेकिन कुल मिलाकर भारी नुकसान हो रहा होगा। मायावती को चाहिए कि वे दलित वर्गो को विभाजित करके और उसमें उभर रहे नेतृत्व को निशाना से बाज आए।"[494]

इस लेख में मुख्य रूप से मायावती के राजनीतिक कार्य-शैली को कटघरे में लाने का प्रयास दिखता है और उन्हें राजनीति से प्रेरित बता रहे है। उसीप्रकार, मायावती की शासन शैली को उनकी विद्रुपता कहते हुए उनके वोट बैंक की राजनीति पर चर्चा करते हुए, शंभुनाथ सिंह 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'माया-राज के मायने' में लिखते हैं कि -

> "मायावती की धाकड़ या हंटरवाली मुख्य़मंत्री के रूप में काम करती रहती है। उनके कठोर प्रशासनिक व्यवहार और निर्मम शासन शैली के पीछे कहीं न कही दलित-प्रतिरोध की वह राजनीति भी काम कर रही होती है। जो देश के दलित समुदाय में समुदाय में सदियों से वंचित है और जिसकी राजनीतिक प्रतीक बनकर मायावती अवतरित हुई है। चाहे मुलायम की सरकार बने या भाजपा की, उनकी इस शैली में तब तक कोई तब्दील नहीं आएगी जब तक दलित राजनीति का चरित्र नहीं बदलता और दलित समुदाय की सोच में बदलाव नहीं आता।"[495]

इसीप्रकार, हेमंत शर्मा मायावती के ड्रीम प्रोजेक्ट अंबेडकर पार्क पर चर्चा करते हुए 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'राजनीति के उधान में कांटों का बहार' में लिखते हैं कि -

> "अंबेडकर पार्क यानी राजनीति का बगीचा। कहने को दलित चेतना का स्मारक, पर अपनी शिलालेखों और पेरियार की मूर्ति के जरिए यह राम राजनीति पर हमले आ आयोजन है और चिढ़ाने का कारण। अंबेडकर पार्क एक तरफ़ जो बहुजन समाज की ताकत दूसरी तरफ़ राम राजनीति करने वालों के ख़िलाफ़ एक दूसरी धारा की प्रतिष्ठा है जिसमें चिढ़ाने के पूरे तत्व अपनी भव्यता के साथ मौजूद है। मायवती को अपनी हर शासनकाल में दलित सम्मान के लिए कुछ और नहीं करना पड़ता है इसलिए वे हरबार पार्क को आगे कर अपनी राजनीति करती है। महापुरुष के नाम पर सरकारी पैसे को इस फिजूलखर्ची से उन अंबेडकर समर्थकों को भी

[494] 8 जनवरी 2002, हिंदुस्तान

[495] 11 मई 2002, हिंदुस्तान

> कष्ट होगा जो इस धन का इस्तेमाल दलित शोषित तबकों की शिक्षा और उसकी बेहतरी के लिए कुछ करना चाह रहे होगे। पार्क की भव्यता से समस्या का समाधान कहां है।"[496]

मायावती के राजनीतिक कार्यशैली और गठबंधन की राजनीति में मायावती के उभार पर चर्चा करते हुए डा. महेंद्र प्रताप राणा 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'मायावती सरकार का एजेंडा' में लिखते हैं कि -

> "क्या कारण है भाजपा जैसी पार्टी के साथ मिलकर तीन बार सरकार बना चुकी बसपा कमजोर होने बजाये दिन प्रति दिन मजबूत होती जा रही है। मायावती द्वारा दलित आंदोलन को सांप्रदायिक शक्तियों के हाथों बेच देने का आरोप लग रहे है जिन्हें या तो बहुजन समाज पार्टी की नीतियों के बारे में ज़्यादा पता नहीं है या फिर जिन्होंने बसपा के ख़िलाफ़ दुष्प्रचार करने की नीयत ही बना रखी है। इस बात से इऩकार नहीं किया जा सकता है कि मायावती सरकार के सामने भाजपा के साथ मिलकर सरकार बनाने के औचित्य को सिद्ध करने की चुनौती है। यह काम तभी हो सकता है जब मुस्लिम समाज को यह अभास हो सके कि बसपा का भाजपा के साथ मिलकर सरकार बनाना दरअसल सत्तासुख भोगने नहीं बल्कि समय की मांग थी। गुजरात की घटना के बाद मुस्लिम समाज बसपा से खिन्न हुआ है इसलिए मायावती के लिए मुसलमानों को सुरक्षा सुनिश्चित करके यह विश्वास जगाना होगा कि उन्होंने मुस्लिम समाज के हित के लिए उत्तरप्रदेश में सरकार बनायी है, जो चुनौती भरा क़दम है। बसपा भाजपा के साथ जाकर दलितों और पिछड़े समाज के हितों की रक्षा के लिए वचनबद्ध है, यह मायावती को साबित करना होगा।"[497]

इन लेखों में जहां मायावती के राजनीतिक कार्यशैली और महत्वकांक्षा को कटघरे में रखने की कोशिश दिखती है तो मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देने के बाद उनकी राजनीतिक कार्यशैली को कटघरे में रखने की कोशिश दिखती है। मसलन, उदित राज 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'दलित, बसपा और मायावती' में लिखते हैं कि -

> "मायावती में संघर्ष करने की क्षमता नहीं है। मायावती असली नेता होती तो विपक्ष की भूमिका अदा करते हुए दलितों के दुख और सुख की लड़ाई उनके साथ ही लड़ती। आज तक इन्होंने आंदोलन मुद्दे के आधार पर नहीं चलाया। हमेशा भावुक बातें उठाती रही। कभी सावधान रैली, कभी चेतावनी तो कभी पर्दाफाश। दलितों व गरीबों के लिए न्यूनतम मजदूरी, खाली पदों पर भर्ती, संविधान की रक्षा, दलितों व गरीब छात्रों के वजीफे में बढ़ोतरी, निजी क्षेत्रों में आरक्षण एंव दलित उत्पीड़न आदि मुद्दों पर कभी कोई रैली या आंदोलन नहीं"[498]

---

[496] 22 जुलाई 2002, हिंदुस्तान

[497] 23 जुलाई 2002, हिंदुस्तान

[498] 24 जून, 2004 हिंदुस्तान

इसी तरह उदित राज 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित संपादकीय लेख 'मनुवादी मायावती' में लिखते है कि -

> "मायावती की सोच हमेशा ही मनुवादी थी लेकिन बसपा के अंधभक्तों को यह दिखाई नहीं देता है। ब्राह्मणों के साथ आने की भावना तो आज बलवती हुई है। क्या मायावती की विचारधारा पूरी तरह बदल जाने पर भी दलितों को उनके साथ खड़े रहना चाहिए? तथाकथित अंबेडकरवादी बसपाई समाज इस बात का जवाब दे कि उनका संघर्ष पशुराम का मान-सम्मान बढ़ाने के लिए था या है? जब जय श्री पशुराम और जय श्रीराम का उद्घोधन स्वीकार करना ही था तब जय भीम और अब तक के संघर्ष में वो क्यों शामिल थे।"[499]

बुद्ध के बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय नामक प्रसिद्ध नारे से प्रेरित होकर कांशीराम ने अपनी पार्टी का नाम बहुजन समाज पार्टी रखा। कांशीराम के बहुजन में दलित, पिछड़े तथा अल्पसंख्यक शामिल थे, जब वर्ष 1993 में मुलायम की पार्टी से समझौता करके बसपा सत्ता में शामिल हुई तो उसे बहुजन की सत्ता कहा गया। दो साल बाद मुलायम सरकार को गिराकर भाजपा के समर्थन से मायावती पहली बार मुख्यमंत्री बनी, तो उसे शीघ्र ही दलित सत्ता कहा गया और जब मायावती ब्राह्मणवादी जातियों के गठबंधन के आधार पर सत्ता में आई तो इसे सोशल इंजीनियरिंग का नाम मुख्यधारा की मीडिया ने दिया। इस नये नामकरण के साथ-साथ मायावती के राजनैतिक कार्यशैली और राजनीतिक महत्वकांक्षा के स्वर एक साथ बदल गए। मसलन, अरूण कुमार 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'बसपा, मायावती और सत्ता संविधान' में लिखते हैं कि -

> "पिछले कुछ समय से मायावती की लोकनीति और रणकौशल का विकास इस तथ्य का प्रमाण है कि बसपा सुप्रीमों बनने के मार्ग पर चलने से समक्ष है।"[500]

पूरे लेख में मायावती के राजनीतिक कौशल को भारतीय राजनीति के इतिहास में अन्य महिला नेत्री के समक्ष बेहतर नेत्री के रूप में स्थापित करने का प्रयास दिखता है। उनपर लगते रहे तमाम राजनीतिक असमर्थता के अरोपों को एक सिरे से सोशल इंजीनियरिंग के दावे में खारिज करने की कोशिश दिखती है। ये कोशिश अंबेडकर के दलित उत्थान के प्रयासों को कटघरे में रखने की कोशिश करती हुई दिखती है। इससे पहले जब भी कांशीराम ने बीजेपी, आरएसएस की धुर मनुवादी मानने के बाद भी मायावती को मुख्यमंत्री बनवाया तो उनकी राजनीति को

[499] 14 जून, 2005, हिंदुस्तान

[500] 6 अगस्त 2005, हिंदुस्तान

अवसरवादी कहा गया है। जबकि सोशल इंजीनियरिंग में कोई सामाजिक मुद्दा नहीं था। सामाजिक परिवर्तन सामाजिक मुद्दों के आधार पर आता है। दलित चिंतक तुलसीराम के अनुसार -

> "बसपा की राजनीतिक कार्यशैली या विभिन्न जातियों के साथ गठबंधन आंबेडकर के जाति-उन्मूलन को चकनाचूर नहीं किया है बल्कि बुद्ध के बहुजन के मायानों को बदल दिया है। क्योंकि जाति व्यवस्था और हिंदूवाद में गहरा संबंध है। विभिन्न जातियां हिंदूवादी की सबसे मजबूत स्तंभ है और जब जातियां मजबूत होती है तो हिंदू धर्म स्वत: मजबूर हो जाता है।"[501]

स्पष्ट है कि हिंदी पत्रकारिता का जातीय पूर्वाग्रह का चरित्र संदेह के घेर में है। वह कभी हिंदूवादी, सांप्रदायिक और जातिवादी पत्रकारिता है और ऐसी आशंकाएं खुले तौर पर व्यक्त भी होती है। विशेषकर मंडल, आरक्षण और दलित उत्पीड़न\दलित राजनीति के मामलों में। मंडल आयोग के सिफारिश के बाद दलित विषयक रिपोर्टिग व वैचारिक लेखों का विश्लेषण का परिणाम काफ़ी असंतोषजनक है। हिंदी पत्रकारिता में दलित विषयक सामाजिक घटनाओं पर हिंदी पत्रकारिता की अभिव्यक्ति एक डायरी भरने भर की दिखती है। वह न ही दलित राजनीति और न ही दलितों की सामाजिक परिस्थितियों पर मुखर हो पाती है। हिंदी के अख़बारों में दलित अत्याचारों, आरक्षण विरोध, बलात्कार आदि की ख़बरें बहुत हैं, किंतु वैचारिक लेखों, संपादकीयों का अपेक्षाकृत अभाव दिखता है। यह असंतोष प्रेस तंत्र लोकतांत्रिक स्वरूप में आने के लिए दलित समुदाय से प्रगतिशील विचारों की भागीदारी की मांग करता है। जाहिर है कि भारतीय हिंदी पत्रकारिता व सरकारी माध्यमों ने संविधान की धर्मनिरपेक्ष और समानता की भावना का विकास नहीं कर सके। मुख्यधारा की हिंदी पत्रकारिता पत्रकारों की पक्षपाती भूमिका के कारण दलित समुदाय ने अपनी समचार माध्यम विकसित किया। जिसके माध्यम से न सिर्फ़ उनकी पहचान की स्थापना हुई, बल्कि कुछ खास राजनीतिक पार्टियों के पक्ष में दलितों की राजनीतिक मोबलाइजेशन भी आसान हो गया। दलित चिंतक बद्री नारायण लिखते हैं कि -

> "इन प्रयासों ने वर्चस्ववादी धारा की हवा निकालकर दलितों का एक वैकल्पिक वृत्तांत तैयार करने का काम किया।"[502]

इन प्रयासों ने स्थानीय नायक और नायिकाओं को जन सामान्य तक पहुंचाने का काम किया जो अब तक इतिहास के पन्नों से गायब थे। साथ ही अब तक रचे गए मिथकों का पुर्नपाठ भी किया जो ब्राह्मणवादी मिथकों को पुरी तरह से खंण्डित भी करता है। दलित साहित्य और दलित पत्र-

---

[501] अरविंद कुमार, कांशीराम और उत्तर-आंबेडकर दलित विमर्श, प्रतिमान, सं. अभय कुमार दुबे, जनवरी-जून 2015, खंड-3, अंक-1,पेज न०- 163

[502] बद्रीनारायण, दलित वीरांगनाएं एंव मुक्ति की चाह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014 पेज न०- 58

पत्रिकाओं ने दलित विषयों और दलित महिलाओं के समस्याओं को भी मंच प्रदान करने का प्रयास किया। भारतीय भाषाओं में लिखी गई कई कहानी, कविताएं, आत्मकथांश, लघुकथा आदि दलितों और दलित महिलाओं के पीड़ा को अभिव्यक्त करती हैं। जो यथासंभव ही हिंदी पत्रकारिता में स्थापित हो पा रहे थे। परंतु, दलित पत्रकारिता को भी धर्म, जाति-वर्ण-व्यवस्था के सामाजिक संदर्भों से प्राय: संघर्ष का सामना करना पड़ता है। दलित पत्रकारिता इन संघर्षों पर अपनी अभिव्यक्ति तो करती है किंतु विकल्प का अभाव मे युगीन अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं कर पाती और दलितों की यथार्थ स्थिति बेपर्दा नहीं होती। राजनीतिक प्रभाव की दलीत पत्रकारिता का ध्यान सत्तामुखी ज़्यादा है। जो लाभ लेने के ध्येय से समाज के दूरगामी हित की विशेषकर शिक्षा के क्षेत्र की उपेक्षा कर जाती हैं।

हिंदी पत्रकारिता में दलित महिलाओं की समस्या उसके शोषण और उत्पीड़न के मध्य ही अभिव्यक्त होती हैं। हिंदी पत्रकारिता दलित महिलाओं के पीड़ा के पीछे जातिगत विषमता, पुरुष श्रेष्ठता और अपने समुदाय के मध्य मनुवादी चेहरा भी हैं, जो आज भी मनुवाद के दलदल से प्रभावित होता है। इसके मूल्यांकन का प्रयास हिंदी पत्रकारिता में सिमटा हुआ दिखता है। जबकि साहित्य, इतिहास, राजनीति और समाजशास्त्रीय स्त्रोत दलित महिलाओं पर हो रहे शोषणों की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। यह प्रश्न अक्सर विमर्श के सतह पर स्थापित होता है कि महिला और दलितों का शोषण एक समान है। इसके साथ-साथ दलित महिला तिहरे शोषण का शिकार होती है, दलित होने की वजह से, ऊंची जातियों के द्वारा, श्रामिकों के रूप में भूपतियों के द्वारा और स्त्री की रूप में अपनी ही जाति के पुरुषों के द्वारा। उसकी भूमिका स्त्री धर्म जैसी मूल्यों को इंटरनलाईज करने में भी है जो भेदभाव की पूरी व्यवस्था को पुन:उत्पादित भी करती है, जहां उसकी स्थिति कई कारणों से तय होती है। इन विमर्शों की अभिव्यक्ति न ही हिंदी के मुख्यधारा की मीडिया में है और न ही दलित समाज द्वारा निर्मित वैकल्पिक दलित पत्रकारिता में है। उर्मिला पवार और मीनाक्षी मून बताती है कि -

> "अस्पृश्यों के आंदोलनों के बारे में हमने तात्कालिन सभी पत्र-पत्रिकाओं पर दृष्टि डाली। लेकिन उनमें अस्पृश्य स्त्रियों पर सामग्री नहीं मिली।"[503]

जबकि आजादी के पहले के छपने वाले कई दलित पत्र-पत्रिकाओं में दलित महिलाओं की समस्याओं पर कई अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं। आजादी के बाद दलित महिलाओं के स्थिति में सुधार का चित्रण बहुत कम देखने को मिलता हैं। जबकि दलित स्त्रियों के मानसिक, शारीरिक

[503] उर्मिला पवार व मीनाक्षी मून- हमने भी इतिहास बनाया, दो शब्द से

उत्पीड़न की कई घटनाएं है जो दलित महिलाओं के अस्मिता को चुनौति दे रहे थे। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं के बराबर देखने को मिलते है। कांशीराम बहुजन संगठन के संपादकीय में लिखते है कि -

> "दलित स्त्रियों के जिंदगीं में आजादी के अनुकूल परिवर्तन इसलिए नहीं आया क्योंकि आज जहां महिलाएं अपने अस्तित्व के प्रति सजग हैं वहीं दलित-शोषित समाज की महिलएं आज भी अपने अस्तित्व के प्रति बेख़बर है। दलित समाज की शिक्षित महिलाओं को संगठीत होकर इसका प्रतिकार करना होगा। यदि वह स्वयं पहल नहीं करेंगी तो राजमाता के रूप में नाटक कर उनकी सहानभूति प्राप्त करने वाली आएंगी, बरगलाएंगी।"[504]

इसके कारण के रूप में यह कहा जा सकता है कि कैटोगरी के रूप में पहचान\अस्मिता को स्वीकार नहीं करने की वजह से, जाति विषयक प्रश्नों में महिलाओं से जुड़े हर प्रश्न हाशिये पर रहे हैं। जिस तरह हिंदी पत्रकारिता ने वर्ग, जाति और धर्म को एक कैटोगरी के रूप में पहचाना और उसके पक्ष-विपक्ष में विमर्शो को सतह पर स्थापित करने का प्रयास किया उस तरह दलित पत्रकारिता ने भी दलित महिला के सवालों को कैटोगरी के रूप में नहीं पहचाना। दलित समुदायों की अभिव्यक्ति के संबंध में महाराष्ट्र की दलित पत्रकारिता को छोड़ दे तो, हिंदी पत्रकारिता के तरह दलित पत्रकारिता ने भी दलित महिलाओं की समस्याओं को सहज तरीके ने नहीं उठाया। दलित पत्रकारों की स्त्री-विषयक पत्रकारिता वैचारिकता व व्यावहारिकता में गहरा विरोधाभास मिलता है। वह स्त्री के तमाम दुर्दशा का कारण 'मनु' का बताते हैं और इस बहाने स्वयं को ब्राह्मणों से उन्नत विचारों का मान लेते हैं। लेकिन वास्तविकता में 'मनु' की बंदिशों के साथ-साथ दलित समाज का अपना सामाजिक व्यवहार भी दलित महिलाओं के विकास में बाधक हैं। दलित समाज के पुरुषों ने स्त्री-पुरुष समता के विचारों का आवरण की तरह ओढ़ा अधिक और आचरण से जोड़ाकर कम देखता हैं। बड़े पैमाने पर दलित पत्र और पत्रिकाओं का प्रकाशन देश भर में आज भी हो रहा है लेकिन उनके आकलन से बात चौंकाती है कि वे पत्रकारिता के मापदंडों के अनुरूप खड़े नहीं उतरती हैं। दलित पत्रकारिता अपनी सामाजिक समस्याओं को प्रमुखता देने के कारण दलित महिलाओं के समस्याओं पर कम प्रकाश डाल पाती हैं। यह स्थिति कमोबेश मुख्य धारा की पत्रकारिता के तरह की ही है जहां महिलाओं की समस्या अपनी जगह कई कारणों से जगह नहीं बना पाती है। दलित राजनीतिक के प्रभाव के वजह से दलित पत्रकारिता आलोचनात्मक रूप से विकसित नहीं सकी है और वह दलित राजनीति का माउथ-पीस बनकर उभरती है। अपने राजनीतिक उद्देश्यों के प्राप्ति के लिए अपने ही दलित पक्ष से जाने-अनजाने भीतर घात करती हैं। इन तमाम राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों के साथ जब हम

---

[504] बहुजन संगठक, संपादकीय, 9 अगस्त, 1980

दलित समुदाय के बरक्स अन्य समुदायों की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों के साथ महिलाओं के प्रश्नों की पड़ताल करते हैं या अन्य समुदायों की राजनीति की पड़ताल करते हैं तो स्थिति काफी विरोधाभासी दिखती है। किसी भी परिस्थिति में हिंदी पत्रकारिता या अन्य उभर वैकल्पिक पत्रकारिता कि अभिव्यक्ति में महिलाओं के प्रश्नों के संदर्भ में आलोचनात्मक नज़रिये का विकास नहीं देखने को मिलता हैं और पत्रकारिता अपने लोकतांत्रिक होने के दावे से दूर छिटकी नजर आती है।

निष्कर्षत: हिंदी पत्रकारिता, दलित पत्रकारिता या अन्य वैकल्पिक साधन जो धीरे-धीरे विकसित हो रहे है उनकी यथास्थिति को व्यापक मानवीय हिंत में बदलने की ज़रूरत है जो पूर्वाग्रही या संकीर्णता से मुक्त हो और महिलाओं की अस्मिता के प्रश्न पर तटस्थ हो सके या आलोचनात्मक हो सके। जिससे किसी भी महिलाओं की दलगत समस्या को मुख्य विमर्श में शामिल किया जा सकें और महिलओं की सामाजिक चिंतन की समझ पत्रकारिता के माध्यम से विकसित हो सकें।

4.3 धर्म

धर्म को मानव कल्याण एंव विकास के महत्वपूर्ण उपादान के रूप में देखा जाता रहा है। प्राणियों के कल्याण के लिए ही धर्म को परिभाषित किया गया है। धर्म का नाम धर्म इसलिए कि वह इन सबको धारण करता है। परंतु, जब हम धर्म शब्द का प्रयोग करते है तो यह विशिष्ट परियोजना को प्रकट नहीं करता है। इसके कई पहलू है, जो बहुआयामी है जहां एक तरफ़ पवित्र धर्मग्रंथ, तीर्थ, त्योहार, नैतिक मूल्य और पुरोहित वर्ग है। तो दूसरी तरफ़, धर्मांतरण, लव जिहाद, घर वापसी जैसी धर्म आधारित राजनीति भी है। जिसके कारण कई वर्गों का दमन और शोषण का भी अपना इतिहास भी है। परिणामत: धर्म को परिभाषित करना विवादास्पद है। धर्म को परिभाषित करते हुए इससे संबंधित अपनी खुद की अवधारणा के आधार पर करते है। परंतु, धर्म की अधिकतर परिभाषाएं एक-दूसरे को सामाजिक व्यवहार के आधार पर अलग करती है। हलिया विमर्शो से यह स्पष्ट नहीं किया जा सकता कि धर्म का मतलब उसके अनुयायी और पुरोहित वर्ग से होता है। इसे दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है- एक, वे जो सामजिक रूप से सशक्त पुरोहित वर्ग से जुड़े हैं जिन्हें सामंती समय में आसानी से देखा जा सकता है। दूसरे, वे संत जो आम आदमी से जुड़ाव रखते है। इन सब में यह तथ्य नज़रअंदाज़ हो जाता है कि अन्याय पर आधारित विषमतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था को पुष्ट करने में धर्म की बहुत बड़ी भूमिका है। वास्तव में धर्म से हमारा सामना दो रूपों में होता है। एक, वह जो महान उपदेशों, शिक्षाओं,

नैतिक आदर्शो, ऊंची-ऊंची बातों से भरा है, मनुष्य को, शरीर और आत्मा, दो भागों में विभाजित करता हैं। दूसरा रूप वह है जो आचार-संहिताओं के माध्यम से नैतिक एंव सामाजिक विधि-विधानों का स्वरूप निर्धारित करता रहा हैं। इरफान हबीब बताते है कि -

> "समाज में विभिन्न समूह धर्म को भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं। इसके दो प्रमुख चेहरे हैं-एक लोकप्रिय धर्म और दूसरा राजकीय धर्म। लोकप्रिय धर्म आम लोगों के जीवन-संघर्ष, आकांक्षाओं तथा पीडा से सीधे जुड़ा होता है। यह सामाजिक जीवन के प्रति आस्था पैदा करता है। इसके विपरीत राजकीय धर्म यथास्थिति को बढ़ावा देनेवाला और परिवर्तन विरोधी होता है। असहमति को दबाने में और शासक वर्ग के हितों की पूर्ति करने में यह भूमिका अदा करता है।"[505]

धर्म के विषय पर मार्क्स धर्म की अवधारणा को विश्लेषित करते हुए कहते हैं कि -

> "मनुष्य धर्म का निर्माण करता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस समाज में धर्म को उत्पन्न किया है, एक परिवर्तित विश्व के रूप में, क्योंकि वह स्वयं परिवर्तित विश्व है। धर्म की विश्व में आम धारणा है, इसकी आध्यात्मिक श्रद्धा के विषय के रूप में, साथ ही, इसका नैतिक पक्ष, इसकी प्रतिज्ञात्मक पूर्णता, इसकी सार्वभौमिक पृष्ठभूमि, सान्तवना तथा औचित्य के रूप में। साथ ही धार्मिक वेदना की भी अभिव्यक्ति है और वास्तविक वेदना का प्रतिकार। धर्म दलित प्राणी की प्रतिध्वनी है, ठीक वैसे ही, जैसे आत्मविहीन स्थिति की आत्मा है। यह लोगों की अफीम है।"[506]

मार्क्स धर्म की व्याख्या में स्पष्ट करते है कि सम्भवत: धर्म, एकमात्र प्रभावी और उपलब्ध संस्थागत व्यवस्था है जिसका बहुसंख्यक दलित वर्ग परंपरागत समाजों में अपनी शिकायतों को स्पष्ट ढंग से रखने में उपयोग कर सकते हैं या करते थे। यहां तक की आधुनिक समाजों में भी ऐसे प्रयास दिखाई पड़ते हैं जो मुक्ति सिद्धांत से प्रेरित रहे है।

भारतीय परिपेक्ष्य में धर्म से जुड़ा हुआ एक पहलू यह है कि धर्म यहां कई संस्कृतियों का मिलन-स्थल के साथ-साथ टकराव का भी प्रमुख कारण रहा हैं। हम यह भी देखते है कि जहां-जहां भी धर्म का उदय हुआ, उसके पहले वहां की स्थिति बदतर थी। उसमें सुधार के उद्देश्य से ही नई धार्मिक संस्कृति और नव-धर्म अस्तिस्व में आए। यहूदी, बौद्ध, जैन, इस्लाम, सिख एंव विभिन्न समाज मसलन, आर्य समाज, बहम समाज इन सभी के स्वरूप अपनी समय में क्रांतिकारी रहे है। परंतु, कालांतर में सारे धर्म और समाज उन्हीं बुराईयों के शिकार हुए, जिसके उन्मूलन के लिए

---

[505] इरफान हबीब, कुंवरपाल सिंह(सं), भक्ति आंदोलन: इतिहास और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1945, पेज न०-1

[506] एंजेल्स फ्रेडरिक, दि पीजेंट वार इन जर्मनी इन कार्ल मार्क्स एंड फ्रेडरिक एंजेल्स आंफ रिलीजन,प्रोग्रेस पब्लिशर्स मास्को, 1972, पेज न०-2

उनका उदय हुआ। अपनी पहले स्वरूप में तमाम धर्म मानवीय मूल्यों को नैतिक आदर्शों के आधार पर जनसमान्य में सर्वग्राही होते हैं। परंतु, यही धर्म अपनी सामाजिक व्यवहार में शुद्धता-अशुद्धता, नैतिक-अनैतिक, छूआ-छूत और कर्मकांडी वर्चस्वशाली पूर्वाग्रही मानसिकता के पोषक हो जाते है। इन धार्मिक समुदायों के आर्थिक और राजनीतिक हित एक ही समान के होते है पर, भाषा, संस्कृति, खान-पान और वेषभूषा संबंधी आदते इनको एक सामूहिकता में आने से रोकते है। यही से हिंतों की भिन्नता प्रारंभ होती है, जो विरोधी और शत्रुता के तरफ़ ले जाती है। हालांकि इन विरोधी लक्षणों और शुद्धता की सामाजिक जड़े भारतीय इतिहास में कई शाखाओं में फैली हुई हैं, किसी एक कारण को प्रधान नहीं माना जा सकता। परंतु, इतना स्पष्ट है कि धर्म की नैतिक संहिता या धर्म की राजनीति लोकजीवन में कई समुदायों और महिलाओं की समानता और स्वतंत्रता को बाधित करती हैं।

इन टकरावों के मध्य भारत में धर्मनिरपेक्षता का विचार औपनिवेशिक देशकाल में अस्तित्व में आया, जिसके पीछे उपनिवेशवाद की अपनी दलीले भी मौजूद थी। हालांकि औपनिवेशिक शासन खुद को धार्मिक मामलों में खुद को तटस्थ दिखाने की कोशिश करता रहा। परंतु, व्यावहारिक स्तर पर सोचे-समझे तरीके से समुदायों के धार्मिक मामलों में दखल देता रहा। जिसके कारण भारतीय समाज में धर्मनिरपेक्ष समाज का रूपांतरण काफ़ी धीमा और कमजोर रहा(ब्राह्मणवादी पकड़ से मुक्ति पाने हेतु)। जबकि भारतीय समाज के बड़े वर्ग समूह में धर्मगुरुओं आतंक से मुक्ति की प्रबल प्रतिरोध मौजूद था। साथ ही साथ इस्लाम(मुस्लिम लीग) और हिंदूवाद के ब्राह्मण संस्करण पर आधारित राजनीति शक्ति भी अपनी जगह मजबूती से बना रहा था।

औपनिवेशिक देशकाल में हिंदू और मुस्लिमों के मध्य टकराव के कारण के रूप में औपनिवेशिक नीतियों की पहचान करते हुए, आनंद तेलतुम्बड़े बताते हैं कि -

> "हालांकि वर्ष 1857 के संघर्ष के अनेक कारण थे, लेकिन लोगों की कल्पना में यह सरल रूप में हिंदुओं और मुसलमानों दोनों स्थानीय समुदायों की धार्मिक रस्मों और परंपराओं में औपनिवेशिक दखलंदाजी से जुड़ा हुआ है दोनों समुदायों को साथ लाने के लिए धर्म का इस्तेमाल किया गया। इसका असर इतना व्यापक था कि औपनिवेशिक शासन की बुनियाद हिलने लगी।"[507]

औपनिवेशिक शासन विद्रोह के संकट से बचने के लिए तटस्थता की रणनीति के जगह भारतीय आबादी को सचेत रूप से नियंत्रित करने के लिए सक्रिय रणनीतियों का इस्तेमाल करना प्रारंभ

[507] आनंद तेलतुम्बड़े, धर्मनिरपेक्षीकरण की पड़ताल, समांतर, सं पकंज विष्ट, अंक -5, फरवरी 2015, पेज न०-31-39

किया। इन रणनीतियों के तहत जातीय और सामुदायिक रूप से बंटवारे को मजबूत बनाने की कोशिश की जाने लगी। इन सचेत रणनीतियों के प्रयास से हिंदुओं और मुस्लमानों के मध्य तनातनी और टकराव को बल मिला, जिसने आने वाले समय इन दोनों समुदायों के मध्य विरोधाभासी तरीकों से धार्मिक सांप्रदायवाद की बुनियाद डाली। राम पुनयानी धर्म आधारित सांप्रदायवाद की प्रवृत्तियों को नोट करते हुए बताते हैं कि -

> "हिंदू और मुस्लिम समुदायों के मध्य धार्मिक चेतना के इस्तेमाल से दो प्रक्रियां शुरू हुई (क) राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ, लेकिन (ख) इसने सांप्रदायिकता को भी भड़काया। सांप्रदायिकता मुसलमान सामंतों, हिंदू जमीदारों की नीतियों और अंग्रेजों की फूट डालो राज करो की नीति के कारण पैदा हुई। मुस्लिम सांप्रदायिक राजनीति का नेतृत्व मुस्लिम लीग ने किया। उसने इस्लाम पर आधारित देश की मांग की। हिंदू सांप्रदायिक ताकतों ने खुद को हिंदू राष्ट्र के निर्माण में लगा दिया। औपनिवेशिक शासन ने भी इन समुदायों के मध्य खाई पैदा करने में भूमिका अदा की।"[508]

इन दोनों विचारधाराओं ने भारत की तमाम छोटी-छोटी संस्कृतियों की अहमियत मानने से इऩकार किया। इसे राष्ट्र के लिए पिछड़ेपन का सूचक माना और आग्रह किया कि उन्हें हिंदुत्व\इस्लाम के राष्ट्रीय मुख्यधारा में समा लेना चाहिए। धर्म के आस-पास फंसे लोगों को लगा कि उन्हें भी एक विचारधारा अपना लेनी चाहिए। इन विचारधाराओं ने धर्म की सांस्कृतिक-नैतिक परिभाषाओं को खारिज किया। आशीष नंदी बताते हैं कि -

> "ये विचारधाएं धर्म को राजनीति के दायरे धार्मिक, सांस्कृतिक और नैतिक श्रेणियों का समावेश करने वाले स्त्रोत के रूप में नहीं देखती थी।"[509]

इन विचारधाओं का एक पहलू यह भी था कि वह हिंदु\मुस्लिम पहचान को मर्दवादी बनाने चाहते थे और इन दोनों ही समुदाय का फौजीकरण करना चाहते थे। सार्वजनिक जीवन में मर्दानगी की कामनाएं इतनी मुखर हो रही थी जिसमें जाति, वर्ग और जेंडर के उत्पीड़न का अंतसंबंध दबता जा रहा था। इन राजनीतियों के उलट महात्मा गांधी जिन्होंने शुरूआत में जनता को गोलबंद करने के लिए हिंदू धर्म का इस्तेमाल किया। बाद में वर्ष 1940 के दशक में गांधीजी ने कहना शुरू किया कि धर्म या सांप्रदायिक धर्म को राजनीति से अलग रखा जाना चाहिए और धर्म को निजी मामले के रूप में लिया जाना चाहिए।[510] बाद के दिनों में जब उन्होंने धर्म और अलगाव की वकालत की, तो उन्होंने साफ कर दिया कि ऐसा, राज्य की भूमिका को धर्मनिरपेक्ष

---

[508] राम पुनियानी, सांप्रदायिक राजनीति: तथ्य एंव मिथक, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली 2005, पेज न०- 16

[509] आशीष नंदी, इस तरह गढ़ी जाती है राष्ट्रीयता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पेज न०-77

[510] मो. अयूब मल्लिक, कांनेक्टू अलाइजिंग द कानसेप्ट आंफ सेक्यूलरिज्म इन इंडिया,इंटरनेशनल जर्नल आफं हूमैनिटीज एंड सोसल साइंस इन्वेंशन, www.ijhssi.org अंक 2, 5 मई 2013, पेज न०- 39- 45

कल्याणकारी कार्यों तक सीमित करने और इसे लोगों के धार्मिक जीवन में दखल देने की इजाजत नहीं देने के लिए किया जाना था। इसतरह धर्मनिरपेक्षता का विचार हिंदू-मुस्लिम प्रतिकवाद के रूप में इस्तेमाल हुआ जिसने दोनों ही समुदाय के मध्य सांप्रदायिक राजनीति को बढ़ावा दिया। जिसके कारण हिंदुत्व और इस्लाम की सारी दास्तान सांप्रदायिक राजनीति के रूप में पहचानी गई। स्वतंत्रता के पश्चात इन पूर्वाग्रही राजनीति के कारण प्रतिगामी शक्तियां सक्रिय हूई और सामाजिक प्रसंगों में संप्रदायीकरण किया और अपनी नई सामाजिक-राजनीतिक एजेंडें के रूप में नई संस्थाओं का सृजन करना आरंभ कर दिया।

इस अध्याय में हिंदी पत्रकारिता में अभिव्यक्त होने वाली उन ध्वनियों के आधार पर उन बाधाओं की पड़ताल करने का प्रयास किया गया हैं। मसलन, सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक राजनीति, धर्मांतरण या धर्म परिवर्तन और सामुदायिक पहचान कुछ प्रमुख प्रवृत्तियां जो मानवीय जीवन में उन्माद या हिंसा की राजनीति का विकास करती हैं जिसका साफ्ट टारगेट महिलाएं, वंचित और दमित समुदाय अधिक होता है। इन विषयों के अंतर्गत ही हिंदी पत्रकारिता में सांप्रदायिक खबरों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं। यह स्थिति अधिक परेशान करने वाली तब हो जाती है जब हिंदी पत्रकारिता धर्म आधारित विषयों पर सूचनाओं के संप्रेषण या अभिव्यक्ति में नए सामाजिक चरित्र प्रकट होते हैं। धार्मिक उन्माद के किसी घटनाओं में राज्य और राज्य की संस्थाएं भी अपनी भूमिका अदा करने लगती हैं। तब किसी भी समुदाय के सदस्य अपने स्वतंत्र पहचान और अस्मिता की रक्षा कैसे कर सकेगा?

4.3 (1) सांप्रदायिकता, सांप्रदायिक राजनीति और महिलाएं

धर्म की ऐतिहासिक और हाल के कुछ दशकों में उसकी सामाजिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति हिंदुत्व या अन्य विचारधारा की राजनीति की संगनी बनकर हुई दिखती है जिसका उद्देश्य समाज में आधुनिक मानव मूल्यों के तरीकों से कठोर लोकजीवन के तरफ़ वापस ले जाना है। धर्म का यही चरित्र उसे सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक राजनीति के समक्ष ला खड़ा करती है। इसके साथ-साथ धर्म की वर्तमान धारा मजबूत राजनीतिक-सामाजिक संरचना के रूप में मौजूद है, जो वंचित तबकों और महिलाओं को उसके सामाजिक और मानवीय अधिकार से वंचित भी करती है तो कभी-कभी बह्मकुमारियों के रूप में स्थापित भी करती है, तो कभी निजी और सार्वजनिक में वंचित समुदाय और महिलाओं पर निषेध भी लगाती है। सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक राजनीति धर्म आधारित वह आयाम है जो मानवीय जीवन मूल्यों और धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को तार-तार करती है।

सांप्रदायिकता का आरंभ इस धारणा से होता है कि भारतीय समाज कई ऐसे संप्रदायों में बंटा हुआ है जिसके हित न सिर्फ़ अलग-अलग है बल्कि एक-दूसरे के विरोधी भी है (जबकि संविधान और संस्कृति उसे सामाजिक मूल्यबोध के रूप में अभिव्यक्त करता है।) सांप्रदायिकता के जन्म के पीछे का विश्वास यह भी है कि राजनीतिक और आर्थिक से लेकर सामाजिक और सांस्कृतिक इरादों के लिए लोगों को सिर्फ़ धर्म की रस्सी से ही बांधकर रखा जा सकता है। धर्म से परे इन मामलों में राजनीति भी है। इसी विश्वास से सांप्रदायिक विचारधारा का जन्म होता है और इसी के वजह से धर्मधारी समाज के लोगों के धर्मनिरपेक्ष हितों को भी अलग-अलग बांटकर देखते है। इसी आधार पर सांप्रदायिकता को एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में विपिन चंद्रा बताते हैं कि -

> "सांप्रदायिकता असल में एक सिद्धांत है। एक ऐसा विशाल तंत्र या एक दूसरे पर टिकी हुई है धारणाओं का ऐसा जाल जिसके चश्में से समाज नीति को देखा और परखा जाता है। दूसरे शब्दों में, सांप्रदायिक राजनीति और समाज के अलावा उस सिद्धांत के आसपास केंद्रित राजकाज को देखने का एक नज़रिया है।"[511]

यही नज़रिया संविधान में अभिव्यक्त धर्मनिरपेक्षता के सर्वधर्म सम्भाव की भावना के विरुद्ध जाता है। धर्म के मूल अवधारणा के विपरित संप्रदायिकता धर्म के मुखौटे पर आधारित सामाजिक और राजनीतिक पहचान की विचारधारा का नाम है। अभय कुमार दुबे के शब्दों में -

> "सांप्रदायिकता का धर्म से केवल इतना ही तालुल्क है कि वह धार्मिक भावनाओं का राजनीतिक मकसद से दोहन करती है, एक धर्म के अनुयायियों की गोलबंदी के लिए वह दूसरे किसी धर्म के प्रति घृणा का प्रचार करती है और इस तरह धर्म के नाम पर कुछ लोग अपनी और कुछ लोग पराये घोषित कर दिये जाते है। यह अन्यीकरण या अदरिंग वह प्रक्रिया जो उदारवादी राजनीति और सेकुलर राष्ट्र के सिद्धांत के ख़िलाफ़ सक्रिय रहती है।"[512]

धर्म और राजनीति के इस गठबंधन से सांप्रदायिक राजनीति जन्म लेती है। धर्म और राजनीति का यही गठजोड़ एक निहित स्वार्थ उभारने का प्रयास करता है कि समाज में रूढ़िवादी और धार्मिक संकीर्णता बढ़े। वैभव सिंह धार्मिक संगठन और राजनीति के गठबंधन के बारे में लिखते हैं कि -

> "सांप्रदायिकता एक खतरनाक राजनीतिक विचारधारा तो है ही, साथ ही यह परपीड़ा में आनंद उठाने की आदिम मनोवृत्ति का भी हिस्सा है। इसी वजह से सांप्रदायिकता के उभार के समय हमें संकट में फंसे इंसान, जो दूसरे धर्म मजहब का है, से हमदर्दी कम होती है बल्कि रोमांच

---

[511] विपिन चंद्रा, सांप्रदायिकता एक अध्ययन, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2004,पेज न०-10

[512] अभय कुमार दुबे, बीच बहस में सेकुलरवाद,वाणी प्रकाशन, नईदिल्ली, 2005, पेज न०-485

> हासिल होता है। इससे समाज के लुंपेन वर्ग और भद्र वर्ग में एक अदभुद एकता स्थापित हो जाती है।"[513]

स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता धर्म और राजनीति के गठजोड़ से एक ऐसी विचारधारा को जन्म देती है जो धर्म की श्रेष्ठता और अन्य धर्मो को तुलानात्मक रूप से हेय एंव कमतर आंककर एक सांप्रदायिक राजनीति को जन्म देती है। जिसके सहारे अन्य धार्मिक समुदायों को नियंत्रित और असुरक्षा के बोध में रखा जा सके।

सांप्रदायिक राजनीति समान्य जनचेतना के माध्यम से काम करती है। यह चेतना दूसरे समुदाय के बारे में अवचेतन में पनप रहे विचारों से निर्मित होती है। राजनीतिक संगठनों का महत्वपूर्ण वर्ग कुछ चुनी हुई प्रथाओं और इतिहास की कुछ घटनाओं\पहलुओं को चुन लेता हैं और बार-बार उनको दोहरा कर दूसरे समुदाय की विशिष्ट छवि बना देता है। मसलन, हम इस उदाहरण को देख सकते है कि "छूआछूत" मुस्लिमों की देन है। मुसलमानों ने भारत के गरीब, निम्न जातियों के हिंदुओं को तलवार के जोड़ पर मुसलमान बनाते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि भारत के निम्न जाति के लोग जिसमें गरीब और अछूत थे, इसलिए धर्म परिवर्तन किया क्योंकि वे अनौपचारिक रूप से हिंदू होने के बावजूद वर्चस्वशाली मूल्यबोधों के दमन के शिकार थे और इस दमन से छूटकारा पाने के लिए इन्होंने धर्म परिवर्तन का रास्ता चुना। इसतरह के कई मिथक का प्रयोग सांप्रदायिक राजनीति में देखने को मिलता है। वर्तमान समय में "लव जिहाद" की मसालेदार राजनीतिक फैंटसी सांप्रदायिक राजनीति द्वारा गढ़ा गया मिथक है। जिसकी गोलबंदी औपनिवेशिक देशकाल में भी देखने को मिलता है जिसका प्रचार था कि हिंदू महिलाओं को मुस्लिम कट्टरपंथी प्रेमजाल में फंसा कर उनका धर्मांतरण करा रहे है।

सांप्रदायिक राजनीति के विचारधारा के स्वरूप की व्याख्या किया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि यह विचारधारा किसी व्यक्ति या सामाजिक इकाई की व्याख्या के लिए मिथकीय आयाम से जुड़ा नाम देती है। इसकी आलोचना यथास्थिति की आलोचना से शुरू होती है। इसकी व्याख्या के केंद्र में मिथकों का बुनियादी स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है। डब्लयू. सी. स्मिथ के शब्दों में -

> "सांप्रदायिक राजनीति का धार्मिक विषयों से केवल वहीं तक का संबंध है जहां तक कि उनका इस्तेमाल इन प्रयोजनों के लिए किया जा सके। धार्मिक अंतरों- जो कि बिल्कुल वास्तविक हैं-

[513] वैभव सिंह, सेक्लर राजनीति की गलतियां, सं.किशन पटनाटक, विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2000, पेज न०- 209

> का इस्तेमाल करते हुए सांप्रदायिक हिंदू या मुसलमान समुदाय की राजनीति से झूठी पहचान निर्मित करते है।"[514]

औपनिवेशिक दौर में वर्ष 1920-40 के देशकाल में संकीर्ण ताकतों ने समुदायों की झूठी पहचान बनाने में मिथकों के साथ-साथ महिलाओं की देह का इस्तेमाल देखने को मिलता हैं जिसने सांप्रदायिक पहचान को मजबूत बनाया और सांप्रदायिक राजनीति के गतिशीलता प्रदान करने का काम किया। इस सांप्रदायिक राजनीति पर ज्ञानेंद्र पांडे पर लिखते हैं कि -

> "महिलाओं विशेषकर विधवाओं की जननीय क्रियाओं को हिंदुओं की तथाकथित घटती आबादी को लेकर पैदा की गई चिंताओं से जोड़ा गया और इसके साथ-साथ कथित दूसरे मुस्लिम पुरुष को बलात्कारी और अपहरण करनेवाला चित्रित किया गया। इसके अलावा राष्ट्रवादी प्रलापों में भी मां की प्रतिमा का कई प्रकार से इस्तेमाल किया गया।"[515]

महिलाओं से जुड़ी हुई इन सामाजिक व्यावहारों ने सांप्रदायिक राजनीति के चेतना को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके साथ-साथ संकीर्ण शक्तियों ने चुपचाप अपनी तरीकों से धर्म परिवर्तन जैसी सामाजिक गतिविधियों में सामुदायिकता एकता के बल पर सेंध लगाने का प्रयास किया।

> "19वीं सदी के दौरान हिंदी के अख़बारों और प्रसार माध्यमों में राष्ट्रवाद के साथ-साथ सांप्रदायिक राजनीति की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। यह संभावना हिंदू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों में थी।"[516]

हालांकि सांप्रदायिक राजनीति के विकास में केवल मिथकों की मुख्य भूमिका नहीं थी। परंतु, इसके महत्व को इन्कार नहीं किया जा सकता। भारतीय इतिहास में सांप्रदायिक चेतना अथवा राजनीति का विस्तार भारतीय समाज में अर्थव्यवस्था तथा राजनीति के रूपांतरण के फलस्वरूप सतह पर उभर कर आया। जब सामूहिक हिंतों के टकराव समुदायों के बीच सामने आने लगे। इसके कारण के रूप में भारत में विभिन्न धर्मो को पहचाना गया। परंतु, यह प्रधान कारण नहीं था। सामाजिक ज़रूरतों, आकांक्षाओं, संघर्षो आदि को व्यक्त करने या छिपाने के लिए सांप्रदायिकता का इस्तेमाल किया गया। विपिन चंद्रा बताते हैं कि -

> "भारतीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने में उपनिवेशवाद की अक्षमता का उत्पाद थी। इसके परिणामस्वरूप जो आर्थिक गतिरोध पैदा हुआ और उसका जन-जीवन विशेष रूप से मध्यवर्ग के

---

[514] विपिन चंद्र, आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता का विकास, सं.डा.सत्या एम.राय, भारतीय में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविधालय, नई दिल्ली, 2013, पेज न०-600

[515] ज्ञानेंद्र पांडे, निम्नवर्गीय प्रसंग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पेज न०-53

[516] सरल मिश्र, सांप्रदायिक राजनीति का अख्यान, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पेज न०-273

> जीवन पर जो प्रभाव पड़ा उसने ऐसी परिस्थितियों को जन्म दिया जो भारतीय समाज के भीतर विभाजन और विरोध को पैदा करने में सहायक बनी।"[517]

नंदनी गूप्तु के अनुसार-

> "जनसंख्यां में वृद्धि, आर्थिक विस्थापन, गांवों में अवसरों की कमी और बड़े शहरों केतरफ़ लोगों के पलायन और रोज़गार की कमी के कारण शहरी गरीब समूह मुसलमानों से झगड़ने लगे, और धीरे-धीरे मुसलमानों के ख़िलाफ़ हिंदुत्व के रक्षक के रूप समूहबद्ध होने लगे।"[518]

स्पष्ट है कि औपनिवेशिक दौर में नई अर्थव्यवस्था के विकास से अभिजात वर्ग के पतन और रोज़गार के घटते हुए अवसरों की वजह से हर समुदाय के ऊपरी स्तर के लोगों में काफ़ी निराशा और कटुता आ गई। शिक्षा तथा विधि प्रणाली में परिवर्तन आ जाने से जाति, काम, पेशा के आस-पास केंद्रित विषय मतभेद और टकरावों को जन्म दे रहे थे। इन्हीं तनावों में रोजाना के जातीय और धार्मिक तनावों ने सामुदायिक एकता को जन्म दिया। यही सामुदायिक एकता हिंदू-मुस्लिम तनावों के रूप में उभर कर सामने आए और सांप्रदायिक राजनीति को गतिशीलता प्रदान की। नैतिक मापदंड़ो और औपनिवेशिक शासन के दौरान आर्थिक मंदी के कारणों ने उस दौर में सामाजिक और आर्थिक संबंधों को अस्त-व्यस्त किया। सिकुड़ते आर्थिक दवाब के कारण लोग जातीय और सांप्रदायिक राजनीति के ओर विमुख हुए। हर समुदायों के लोग एक-दूसरे के ख़िलाफ़ बोलना आर्थिक रूप से फायदेमंद समझा। इस पृष्ठभूमि में धार्मिक, जातीय और लैंगिंक मिथकों ने समुदायों के बीच सांप्रदायिक राजनीति को गति प्रदान की।

इस सांप्रदायिक राजनीति का प्रसार और प्रचार में मुद्रित माध्यमों ने महत्वपूर्ण भूमिका थी। हिंदी पत्रकारिता में विभिन्न धार्मिक समुदायों की धार्मिक आस्थाओं की अभिव्यक्ति हमेशा से होती रही है। जहां एक तरफ़ हिंदी पत्रकारिता ने हिंदु-मुस्लिम एकता का प्रमुख स्वर रहा है तो वही दूसरी तरफ़ धार्मिक संकीर्णता की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। सांप्रदायिक चेतना की सुदीर्घ और मजबूत परंपरा की अभिव्यक्ति हिंदू-मुस्लिम दंगे, भाषा के प्रश्न पर उर्दू-हिंदी का सांप्रदायिकरण, गौ-हत्या का प्रश्न, हिंदू हित बनाम मुस्लिम हित आदि प्रमुख क्षेत्र थे- जिनके ऊपर सांप्रदायिक लेखन देखने को मिलता है। इन अभिव्यक्तियों से भारतीय समाज की राजनीतिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता की धूरी मुस्लिम-हिंदु एकता का नुकसान हुआ। इन अभिव्यक्तियों ने समुदायों को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा किया और एक-दूसरे के प्रति सांप्रदायिक चेतना का विकास किया। जिसके कारण भारतीय समाज में धर्म आधारित सांप्रदायिक

---

[517] विपिन चंद्र, आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता का विकास, सं.डा.सत्या एम.राय, भारतीय में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविधालय, नई दिल्ली, 2013, पेज न०-591-91

[518] सरल मिश्र, सांप्रदायिक राजनीति का अख्यान, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पेज न०-273

भावना का विकास इस कदर हुआ कि वह अक्सर किसी एक चिंगारी की बांट जोहती है। सांप्रदायिक राजनीति के प्रभाव के कारण हमारे अतीत की तल्खियां इतनी अधिक हावी होती है कि वह हमारे सार्वजनिक जीवन के फैसलों पर भी अपना प्रभाव डालती है।

हिंदी पत्रकारिता में 19वीं सदी में मुस्लिम विरोधी सांप्रदायिक चेतना को जातीय चेतना के रूप में भी पहचाना गया। कृष्णबिहारी मिश्र ने तात्कालीन पत्रों के सांप्रदायिक नज़रिये को जातीय नज़रिये के रूप में देखा है। परंतु, हिंदुओं का हित सोचना जातीय नज़रिया नहीं माना जा सकता। क्योंकि हिंदू कोई जाति नहीं है। दूसरा, जातीय चेतना की व्याख्या में कई आधुनिक अवधारणाएं प्रत्यक्ष नहीं हो पाती है जिसका विकास बाद के सांप्रदायिक घटनाओं में देखने को मिलता है। हालांकि इस देशकाल में सांप्रदायिक राजनीति में "लव जिहाद" के प्रयोग के पीछे यह भावना भी कार्य कर रही थी कि इससे समाज में जातीय भेदभाव है, उसको दरकिनार किया जा सकता है और हिंदू सामूहिकता को एकजुट कर सकते हैं। चारू गुप्ता बताती हैं कि -

> "हिंदू प्रचारकों को यह लगता था कि अगर वे गोरक्षा के झगड़े, त्योहारों पर दंगे या मस्जिद पर संगीत संबंधी मुद्दे उठाएंगे तो वो दलितों को आकर्षित नहीं कर सकेंगे। लेकिन औरत एक ऐसा मुद्दा है जिससे जाति को परे रखकर सभी हिंदुओं को लामबंद किया जा सकता है।"[519]

स्पष्ट है कि सांप्रदायिक राजनीति के गतिशीलता में जातीय चेतना भी आग में घी का काम कर जिसको नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है। जातीय ध्रवीकरण के साथ-साथ इसी अवधि में धर्म के लैंगिंकीकरण की प्रक्रिया भी साथ-साथ चल रही थी। जहां लोग धर्म के पुराने स्वरूप को त्याग रहे थे और नई रूप का निर्माण भी कर रहे थे। धर्म को जनतांत्रिक स्वरूप में विकसित करने के लिए कई धर्म सामाजों के जरिए आधुनिक सांस्थानिक रूप में निर्माण हो रहा था। जिसके गर्भ में हिंदुत्व के राजनीति का विकास हो रहा था। इस दौर में हिंदी पत्रकारिता में विचारधात्मक संघर्ष का पहला बिंदु धर्म प्रतीत होता हुआ दिखता है। धर्म की व्याख्या, अन्य धर्मों के प्रति नज़रिया, धर्माधिकारियों की भूमिका, धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप और धर्म आधारित राष्ट्रवाद ये सभी बहस के केंद्र में थे। जो कमोबेश आजादी के बाद भी हिंदी पत्रकारिता के एक धड़े में देखने को मिलता है। आजादी के दो दशक बाद शाहबानों मामले, रूपकंवर सती घटना और सांप्रदायिक हिंसा के विषयों पर हिंदी पत्रकारिता में धर्म के साथ महिलाओं की दुविधा, उसके द्वंद्व, उसके अनुभवों को और यथास्थिति को सामने लाती है। जो नये संदर्भों को प्रश्नाकिंत करते है और उसके जवाब तलाश करने की कोशिश भी करती है।

---

[519] चारू गुप्ता, लव जिहाद: एक सांप्रदायिक फैंटेसी, समांयतर, सं. पकंज विष्ट, अंक- 5, फरवरी 2015, पेज न०-69-77

वर्ष 1990 के दशक में या उसके बाद हिंदी पत्रकारिता में धर्म आधारित विषयों पर सूचनाओं के संप्रेषण या अभिव्यक्ति में नई सामाजिक चरित्र उभर कर सामने आते हुए दिखते हैं। किसी भी धार्मिक उन्माद की घटनाओं में राज्य और राज्य की सामाजिक संस्थाएं जब अपनी भूमिका अदा करतें है, तब किसी भी समुदाय का व्यक्ति अपनी स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा कैसे कर सकेगा? इस देशकाल में भूमंडलीकरण की आर्थिक नीतियां, भारतीय राजनीति में मंडल आयोग के आधार पर पिछड़े और वंचित समुदायों का आंदोलन और विवादित ढ़ाचा के विध्वंस ने मजदूरों, अलपसंख्यकों, दलित, आदिवासी और महिलाओं जो भारतीय समाज का अभिन्न अंग है, को सबसे अधिक आहत किया। नई आर्थिक नीति के गति ने समाज में बहुत बड़े वर्ग को राष्ट्रवाद के आधुनिक सिद्दांतों से सम्मोहित किया। इस नये बदलाव ने राजनीतिक सरंचना में बदलाव कर उसपर धर्म का मुखौटा चढ़ा दिया। जिसने धर्म और सांप्रदायिक राजनीति के कई नये पहलूओं को उजागर किया। साथ ही साथ सांप्रदायिक राजनीतिक घटनाओं में महिलाओं का अभूतपूर्व रूप से उभरना भी एक महत्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु है। तनिका सरकार बताती हैं कि -

> "नई सांप्रदायिक दौर में महिलाओं को अभूतपूर्व रंग से खतरनाक राजनीति में सक्रिय होने की स्थिति में ला दिया है। सांप्रदायिक राजनीति में महिलाओं का पनपना अपनी आप में एक शक्ति का सूचक है। स्पष्ट है कि संकुचित सामाजिक और भौगोलिक परिधि में रामजन्मभूमि आंदोलन के जरिए महिलाओं को राजनीति में सक्रिय होने में मदद करती है। पहले की सांप्रदायिक लहरों में यह विशेषता नहीं था।"[520]

अब तक सांप्रदायिक दंगों और जाति-संहारों में महिलाओं की पीड़ा शारीरिक पीड़ा और मानसिक रूद्रन तक ही सीमित था। महिलाओं की साथ हुई हिंसा में न केवल महिलाओं को बल्कि उनके पूरे समुदाय को हर तरह से जलील और अपमानित करने व उसके स्वाभिमान को पुरी तरह कुचलने की कोशिश के रूप में होती रही थी। महिलाओं की हिंसा इस तरह की थी कि वह और उसके समुदाय के पुरुष भी इस पीड़ाजनक अनुभव से मुक्त नहीं पाते थे कि वह अपनी महिलाओं को खुलेआम बलात्कार और बेइज्जती से भी नहीं बचा पाए। विवादित ढ़ाचा विध्वंस, मुबंई दंगो और इसके आगे गुजरात दंगों में खासकर मध्यम वर्ग की महिला अधिक सक्रिय रूप में दिखने लगी। धर्म आधारित राजनीति में महिलाएं पुरुषवादी मानसिकता द्वारा प्रायोजित इस राजनीति की वास्तविकता की गहराई को समझे बग़ैर विभिन्न रूपों में अपनी भूमिका का निर्वाह कर सांप्रदायिक दंगों का ऐसा बदलाव हैं। जो सांप्रदायिक दंगों के इतिहास में देखने को नहीं मिलता

[520] तनिका सरकार, महिलाएं:संदर्भ सांप्रदायिक, सं.अभय कुमार दुबे, सांप्रदायिकता के स्त्रोत, विनय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पेज न०-157

है। इन बदलावों ने महिलाओं की मातृत्व के छवि को तोड़कर नई छवियों को मजबूत करने में अपनी भूमिका निभाई।

परंतु, इन नये बदलावों के बरक्स सांप्रदायिकता के विषय पर अधिकतर अख़बारी लेखन में हिंसक घटनाओं और दंगों पर ज़्यादा ध्यान दिया जाता है। महिलाएं और सांप्रदायिकता के अंतसंबंधों पर ध्यान दिया भी गया है तो वह मुख्यत: विभाजन और संकीर्णवादी ताकतों के आज के संदर्भ में। जबकि सांप्रदायिक राजनीति के विकास में महिलाएं प्रिज्म के रूप में इस्तेमाल होती है रोज़मर्रा की ज़िंदगी और उसके रिश्तों के बीच सांप्रदायिक राजनीति का विकास भी करती है और महिलाओं पर नियंत्रण को मजबूत भी करती हैं। इस तमाम सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बदलावों की अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलती है। इसलिए सांप्रदायिक राजनीति के प्रभावों का महिलाओं की निजी और सार्वजनिक जीवन में पड़ने वाले प्रभावों को समझना जरूरी हैं क्योंकि सांप्रदायिक राजनीति महिलाओं की पहचान की राजनीति से जुड़े लैंगिक प्रश्नों को नियंत्रित करती हैं।

धर्म और महिलाओं की अंतसंबंध की पड़ताल हिंदी पत्रकारिता में करें तो कई नज़रिये की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। भले ही, भारतीय समाज में जहां महिलाओं को संवैधानिक अधिकार तो प्राप्त है(हालांकि कई संवैधनिक अधिकार अंतविरोध को जन्म भी देते है।) पर वही रूढ़ियों, परंपराओं, धार्मिक और सामुदायिक आचार-संहिताओं के कारण व्यवहार में उन अधिकार से वंचित भी रखा जाता है। विधिवेता इंदिरा जयसिंह बताती हैं कि -

> "महिलाओं की संबंध में कानून अपर्याप्त हैं क्योंकि बहुत सारे अधिकार मूलभूत अधिकारों के क्षेत्र में आते है जबकि कानून का वास्तविक चरित्र पर्सनल लां पर आधारित है जिसमें स्त्री की लिए अपनी हक की बात करना घाटे का सौदा है क्योंकि धर्म और समुदाय के नाम पर स्वायत्ता व हितों की सुरक्षा के मुद्दे को आगे कर दिया जाता है।"[521]

इन रूढ़िवादी विचारों के पास धार्मिक हठधर्मिता की धारणा होती है जो परंपरागत विश्वासों और उपासनाओं, जिसमें पितृसत्तामक लैंगिक भूमिकाएं भी शामिल हैं को बढ़ावा ही नहीं देती बल्कि थोपती भी है। धर्म आधारित सांप्रदायिक राजनीति जहां महिलाओं की संवैधानिक अधिकारों को सीमित करती हैं। तो दूसरी तरफ़ हर संप्रदाय की महिलाओं की विरुद्ध सांप्रदायिक हिंसा को बढ़ावा भी देती है। महिलाओं की विरुद्ध सांप्रदायिक हिंसा की अभिव्यक्ति पोशाक नियम, घूमने फिरने की आजादी, नस्ली शुद्धता के नियम, अंतरजातीय, अंतरधार्मिक एंव अंतर्नस्लीय मिश्रित

[521] शिवानी चोपड़ा, स्त्री का वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र, बहस में स्त्रीवाद, समयांतर पत्रिका सं.पकंज विष्ट, अंक-4,जनवरी 2016 पेज न०-36

विवाहों के लिए दंड, बलात्कार, मानसिक क्षति के रूप में उभर कर सामने आती है। हिंदी पत्रकारिता में धार्मिक रूढिवाद, सांप्रदायिकता और लैंगिक न्याय का मुद्दा अस्सी के दशक में राजनीतिक एजेंडें पर पहली बार बहस या विमर्श में दिखता है जब शाहबानों केस और रूपकंवर सती कांड को समुदाय के धार्मिक स्वतंत्रता के आधार बनाकर धार्मिक आचरण की स्वतंत्रता की वकालत पेश की गई। सती पर विजया राजे सिंधिंया के अनुसार -

> "सती होना हिंदू स्त्री का जन्मसिद्ध अधिकार है क्योंकि इससे हमारे शानदार अतीत और संस्कृति की रक्षा होती है।"[522]

कुछ इस तरह के विचार शाहबानों केस में मुस्लिम समुदायों के महिलाओं की मानवीय अधिकार पर थे। जिनके दवाब में राजनीतिक अभिव्यक्तियां से प्रभावित थी या लोकतांत्रिक अधिकारों से दूर थी। प्रधानमंत्री राजीव गांधी के अनुसार-

> "धर्मनिरपेक्षता प्रत्येक धर्म का दूसरे धर्म के समानांतर चलने का अधिकार है। प्रत्येक धर्म को उसका निजी धर्मनिरपेक्ष कानून रखने की अनुमति देकर हम इसे मंजूर करते है।"[523]

धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा को सुरक्षित रखने के नाम पर और धार्मिक समुदायों के मामलों में दखल न देने के तर्क को प्रमुखता देने के कारण महिलाओं की अधिकारों व हिंतों की अनदेखी शुरू होती हैं। राजनीतिक या चुनावी फायदे के मद्देनज़र सांप्रदायिक या धर्मान्ध लोगों को दी जानेवाली रियायतों ने जहां एक तरफ़ समाज के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप के लिए खतरा पैदा किया। तो दूसरी तरफ़ महिलाओं की निजी और सार्वजनिक जीवन में सुरक्षा की गारंटी को समुदायों के नियम-क़ायदों के हवाले कर दिया। यहां यह ध्यान देने कि ज़रूरत है कि हिंदू-मुसलमान और अन्य धार्मिक-जातीय समुदाय भी घरेलू मामलों में अपनी समुदायों के कायदे-कानूनों का पालन पहले करते है। यदि हरियाणा के जाट, कश्मीरी पंडितों या आंघ्र प्रदेश के रेड्डी और केरल के नायरों की आपस में तुलना किया जाये तो मामला चाहे विवाह अथवा उत्तराधिकार का हो या तलाक का, सबके अपनी-अपनी अलग कायदे और रीति-रिवाज हैं। औपचारिक कानून यदा-कदा तभी प्रभाव में आते हैं जब कोई परिवार न्यायालय का दरवाजा खटखटाने का फैसला करता है। मौटे तौर पर लोग अपनी रीति-रिवाजों और दोनों पक्षों की ताकत के हिसाब से परिवार और बिरादरी के स्तर पर ही इन मामलों को निपटा लेते है सरकारी कानून का कोई दखल नहीं होता। अक्सर समुदायों के कायदे कानून महिलाओं की हितों की अनदेखी ही करते हैं। स्पष्ट है कि जन्म से तय कर दी गई जाति या धर्म के समुदाय की पहचान की जगह महिला होना भी उनके

---

[522] राम पुनियानी, सांप्रदायिक राजनीतिक: तथ्य और मिथक, वाणी प्रकाशन, 2010, पेज न०-205

[523] राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पेज न०-334

लिए सबसे खतरनाक सिद्ध होता है। समय-समय पर कई विवाद उभर कर सामने आते रहते है जिससे महिलाओं की लिए नई समुदायिक या धार्मिक फरमानों के कारण महिलाओं की लोकतांत्रिक अधिकार बहस के रूप केंद्र में स्थापित हो जाते हैं और महिलाओं के साथ धार्मिक रूढ़िवादिता के अंतसंबंध और कानूनी बाध्यता भी उभर कर सामने आती हैं। मसलन, पुरूषोतम अग्रवाल 'नवभारत टाईम्स' में अपनी लेख 'अमीना का अपराध' में बताते हैं कि -

> "हिंदू कोड बिल के तहत हिंदू महिलाओं की पक्ष में अधिकारों का एक ढ़ांचा तो पेश कर सकी है। तमाम विरोध के बाद सामाजिक सवालों पर हिंदू कट्टरपंथ को कई बार परास्त होना पड़ा है। सवाल यह है कि ऐसी गतिशीलता मुस्लिम समाज में क्यों नहीं आ पाई? इसके दो कारण प्रतीत होते है जो परस्पर गुंथे हुए है एक तो बतौर धर्म इस्लाम का रूढ़िवादी होन और हर समय, हर स्थिति के लिए सत्य का अंतिम रूप होने का आत्मबोध। दूसरा हमारे देश की विशेष स्थिति ने मुस्लिम समुदाय को सतत असुरक्षा की स्थिति में होने के लिए विवश किया है। इन दोनों कारणों से मुस्लिम समुदाय को अपनी अस्मिता के प्रति अत्यंत संवेदनशील बना दिया है। परंतु, अमीना मामले में अमीना केवल मुसलमान ही नहीं है वह भारतीय नारी भी है। या फिर औरत होना ही अमीना का अपराध है।"[524]

अमीना के विवाद पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'अमीना और ख़ामोशी की राजनीति' में एम.जे.अकबर लिखते हैं कि -

> "अमीना की कहानी मुस्लिम मुद्दा नहीं है यह तो गरीबी की कहानी है। हैदराबाद की नाबलिग लड़की अमीना छह हजार रूपये की एवज में एक विदेशी बूढ़े से ब्याह दी गयी। बाद में उसके रोने-धोने से बात सबको मालूम हुई और वह विदेशी पकड़ा गया। अमीना के वालिद ने बताया कि किस तरह गरीबी से वे जूझ रहे है और अमीना का ब्याह भी यही समझ कर किया गया। तमाम कट्टरपंथी लोगों ने अमीन की कहानी पर चुप्पी साध ली। परंतु, महत्वपूर्ण सवाल यह है कि समाज के धर्मनिरपेक्षता के झंडे को ऊंचा रखने वाले लोग भी किन कारणों से चुप्पी साधे हुए है और प्रतिगामी शक्तियां अमीना प्रकरण से सामने आई मुख्य समस्या मानवता की समस्या नहीं सिर्फ़ वोट बैंक का मामला भर है।"[525]

अमीना प्रकरण जैसी घटना के दोहराव पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'नारी का ही नहीं-यह राष्ट्र का अपमान है' में संगीता शर्मा लिखती हैं कि -

> "हैदराबाद में वही घटना। अमीना के बाद कनीज का नंबर। यह कितनी विचित्र बात है कि छोटी-छोटी बातों को मुद्दा बनाकर लड़ने वाले धर्म और संप्रदाय के ठेकेदार, पंडे, पुरोहित,

[524] 23 अगस्त 1991, नवभारत टाईम्स

[525] 2 सिंतबर 19वर्ष 19वर्ष 1990, हिंदुस्तान

> मौलवी तथा इमाम ऐसी अमानवीय घटनाओं के बारे में कुछ नहीं बोलते है। अगर समाज में शाहबानों या हमीदा जैसी कोई औरत अपनी अधिकार के लिए संघर्ष करती है तो सारे मुल्ला और इमाम इसका विरोध करते है। मानो ये उनके क्षेत्राधिकार के बाहर का माला हो। शायद इसलिए क्योंकि समाज के उत्थान के लिए न तो उनके पास कोई योजना है न ही मन में करने की कोई इच्छा है। समुदाय की अस्मितावादी राजनीति और असुरक्षा की भावना इतनी मजबूत है कि महिलाओं से जुड़े प्रश्नों को भी धार्मिक राजनीति के दायरे में ही रखना चाहते है। नतीजतन महिलाएं उनके लिए सिर्फ़ बेदी है और कुछ नहीं।"[526]

अमीना प्रकरण के तरह गुड़िया मामले में भी समाज की धार्मिक और सामुदायिक बाध्यताओं की अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं। जो स्त्री-पुरुष संबंधों या धार्मिक कानूनों को लेकर मानवीय हकों से जुड़े प्रश्नों से टकराता हैं। मेरठवादी गुड़िया, पंचायत, मजहब और राष्ट्रीय मीडिया में प्राइम टाइम शो के हाथ का खिलौना बनकर रह गई थी। गुड़िया प्रकरण[527] में 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'आओ गुड़िया खेले' में मृणाल पांडे लिखती हैं कि -

> "अच्छा होता जैसा कि सेना ने भी आरिफ से कहा है कि गुड़िया, तौफीक और आरिफ की यह दारूण-कथा तीनों परिवारों के आंगन तक ही सीमित रहती। अब तक धर्म और समाज का भय गमहिलाओं की सवालों को हाशिये पर रखता आ रहा था पर मीडिया के मौजूदा स्वरूप ने महिलाओं की सवालों का सरलीकरण कर दिया है। अंतत: क्यों लौटी गुड़िया आरिफ के पास? क्या इसका सीधा जवाब देना संभव है। इतनी नौटकीबाजी के बाद गुड़िया की मर्जी जानने की जहमत किसी ने उठाई। जिंदा गुड़िया खिलौने वाली गुड़िया भर बनकर रह गई।"[528]

कुछ इस तरह कि स्थिति इमराना प्रकरण[529] में भी उभर कर सामने आते है। इमराना मामले में परिवार की चारदीवारी के भीतर हुए बलात्कार जैसे संगीन अपराध को धार्मिकता की आड़ में उलझाने का प्रयास दिखता है। इमराना को लेकर सुनाया गया पंचायती फैसला कुदरती न्याय तथा महिलाओं की समान अधिकार के क्षेत्र का गंभीर अतिक्रमण था। भारतीय समाज मे कानूनों

---

[526] 17 सिंतबर 1993, हिंदुस्तान

[527] गुड़िया अपने पहले पति के सीमा पर लापता हो जाने के बाद घरवालों के दवाब में दूसरा निकाह कर लिया, पर पहल पति पाकिस्तान की कैद से रिहा होकर लौटा तो मजहब और समाज के ठेकेदारों ने फिर से पहले पति के साथ रहने का हुक्म सुना दिया। गुड़िया की मर्जी जानने की कोशिश किसी ने नहीं की।

[528] 26 सिंतबर 2004, हिंदुस्तान

[529] पांच बच्चों की मां इमराना का उसके ससुर अली मोहम्मद ने कई दिन तक बलात्कार किया। इमराना ने अपने पति नूर इलाही को इसकी जानकारी दी, नूर इलाही ने अपने पिता के ख़िलाफ़ शरिया पंचायत बुलवाई जिसमें इस्लाम के बड़े-बड़े विद्धांनों ने पंच के रूप में शिरकत की। शरिया पंचायत ने इस्लामिक कानून के आधार पर फैसला दिया कि इमराना अब से अपने ससुर की बेगम घोषित की जाती है और पति इमराना का बेटा। साथ ही, पति नूर इलाही को इमराना को तलाक देना होगा, नूर को अपना बेटा स्वीकार करना होगा और इमराना के पेट में पल रहे बच्चे को नूर इलाही को भाई मानना पड़ेगा। इमराना ने इस फैसले को मानने से इऩकार किया औ र न्यायालय का दरवाजा खटखटाया।

को लेकर बहुसंख्यक समाज अनेक भ्रम है पंचायती फैसले कई मामलों में ऐसी भ्रातियां को बढ़ाते ही हैं। अगर इमराना मामले के माध्यम से इसका समाधान हो तो यह एक अच्छी पहल हो सकती थी। सहेल वहीद 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'और अब इमराना भी हराम' में लिखते हैं कि -

> "इमराना का मामला उछला है तो सिर्फ़ एक शब्द हराम से। गुड़िया-आरिफ या अन्य प्रकरण में यह शब्द नहीं उछला था। मजबही कानून की मनमानी व्याख्या करने वाले किसी भी तरह का कोई सुधार की संभावना से इऩकार करते है। शाहबानों प्रकरण इसका उम्दा उदाहरण है। फिर भी मौलवीयों को अधिकार है कि वह किसी को हराम करार दे दें। अगर मजहबी तरीके से इमराना का मामला सुलझान ही था तो दोनों पक्षों को सुनने के बाद फतवा जारी करता। क्योंकि इमराना का मामला बलात्कार का है न कि रिश्तों की मजहबी व्यख्या का। ऐसे में मुफ्ती को भी अपनी फतबे में बलात्कार के दोषी को फौजदारी मुकदमा दर्ज करने की सलाह पहले देनी चाहिए थी।"[530]

बार्बरा मेटकाफ 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'मुस्लिम पर्सनल लां इमराना से आगे' में लिखती हैं कि -

> "इमराना के मामले में भी मुस्लिम व्यक्तिगत कानून पर काफ़ी चर्चा हो रही है। मामला उस निर्णय का है जिसमें उस औरत को अपनी शादी को खत्म करने की सलाह दी गई है, लेकिन इसपर कोई चर्चा ही नहीं है कि इमराना का बलात्कार हुआ। मौजूदा मामले में या अन्य कई मामलों में मुस्लिम महिलाओं की जीवन के लिए निर्णायक नहीं है। मुस्लिम व्यक्तिगत कानून न तो व्यापक है, न ही विवादहीन और न ही हमारी कल्पना के अनुरूप परिपूर्ण"[531]

इन लेखों के साथ-साथ महिलाओं की अंतरधार्मिक, अंतरजातीय विवाह और अंतरनस्लीय विवाह को नियंत्रित करने के लिए आंनर-किलिंग और कई लेख भी देखने को मिलते है जिसमें महिलाओं को नियंत्रित करने के लिए रूढ़िवादी पूर्वाग्रह की अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं। इन अभिव्यक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि हिंदी पत्रकारिता और उसके संपादकीय पेज में महिलाओं और धर्म के रूढ़िवादी पूर्वाग्रह की अभिव्यक्ति देखने को मिलती हैं। इन अभिव्यक्तियों से यह स्पष्ट होता हैं कि हिंदी पत्रकारिता और उसके संपादकीय पेज में महिलाओं और धर्म के रूढ़िवादी व्यवहार के कारण महिलाओं की अधिकारों के प्रति सजग लोगों के मत की अभिव्यक्ति होती रही हैं। महिलाओं और धर्म के मामलों में पंचायत या धार्मिक समूहों जैसी सामाजिक संस्थाओं की भूमिका धर्म के उदारवादी चरित्र को बनाए रखने में दिलचस्पी कम और पुरुष प्रधानता को बचाए

---

[530] 8 जुलाई 2005, हिंदुस्तान

[531] 20 सिंतबर 2005, नवभारत टाईम्स

रखने में अधिक दिखती है। जिसपर हिंदी पत्रकारिता ने सवालिया प्रश्न करने की कोशिश की। हिंदी पत्रकारिता ने इस तथ्य को सामने लाने का प्रयास भी किया कि धर्म को आधार मानकर किए गए फैसले से यह सिद्ध होता है कि कागज पर कानून लिख देने से समाज या सामाजिक संस्थाओं की मानसिकता नहीं बदलती हैं। महिलाओं और धर्म की आंचार संहिताओं के संदर्भ में यह तथ्य भी उभर कर आते हैं कि एक तरफ़ वे लोग है जो आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष, विवेकसम्मत और लैंगिंक न्याय के अनुरूप होने के नाते समान नागरिक संहिता की मांग का समर्थन करते है। दूसरी तरफ़ वे लोग है को कट्टरपंथी, रूढ़िवादी, पुरुष-वर्चस्व को बढ़ावा देनेवाले, सांप्रदायिक और दुर्बोध बताकर इसका विरोध कर रहे है। दूसरा, यह है कि धर्म के सामाजिक व्यवहार से महिलाओं की साथ हो रहे अन्याय या उत्पीड़न के मामलों में महिलाएं इस तरह उभर कर आती हैं मानों वे अपनी समुदाय में गूंगी हो और एक अभिकरण के रूप में हो या कानूनी कारवाई के तहत ऐसे परिवर्तन या लाभ चाहती है जो समतावादी तथा लैंगिक न्याय से युक्त हों। तीसरा, धर्म आधारित सांप्रदायिकता के वातावरण में राष्ट्रीय अखंडता एंव सांप्रदायिक सौहार्द की मांग भी सुनाई पड़ती है, जो हिंदू और राष्ट्र के दोनों परिपेक्ष्य में मुस्लिमो एंव दूसरे समुदाय को अन्य के तरह पेश करती हैं। इस मामले में हिंदी पत्रकारिता कि भूमिका भी कटघरे में दिखायी प्रतीत होती है क्योंकि धर्म और महिलाओं की अंतसंबंध में केवल मुस्लिम समाज की महिलाओं की स्थिति और न्याय की मांग पर रिपोर्टिंग और संपादकीय लेख मीडिया को भी कटघरे में रखता है। क्या हिंदु समाज या अन्य समुदाय में सामुदायिक या धर्मिक फैसले महिलाओं की स्वतंत्रता और समानता के अधिकार को प्रभावित नहीं करते है और अगर करते है तो फिर समाचार माध्यम या देश की राजनीतिक प्रक्रिया इतनी उदासीन क्यों है? इसके साथ-साथ धार्मिक आस्था और धार्मिक संकीर्णता के कारण महलाओं के उत्पीड़न या अधिकारों के संबंध में समाचारों या संपादकीय लेखों का नज़रिया स्वतंत्रता एंव सांस्कृतिक बहुलता का होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सांप्रदायिक राजनीति के नई ध्रवीकरण में महिलाओं की सहभागिता एक महत्वपूर्ण बदलाव है, जो हाल के दिनों में कई सांप्रदायिक आगजनी में उभर कर सामने आई है। नई सांप्रदायिक दौर में महिलाओं का अभूतपूर्व रूप में सांप्रदायिक राजनीति में उभरना एक दुर्भाग्यपूर्ण पहलू है। हाल के हुए सांप्रदायिक दंगों का यह आश्चर्यजनक और दुखद पहलू यह रहा है कि हिंसा में महिलाओं और नौजवान लड़कियों ने भी बड़े पैमाने पर और उत्साहपूर्वक हिस्सा लिया। संघ परिवार या कट्टरपंथी राजनीति के प्रति महिलाओं का उत्साह इस वजह से भी ध्यान

देने योग्य हो जाता हैं क्योंकि इस विचारों की राजनीति बेशर्मी की हद तक मर्दवादी है। राष्ट्रीय महिला आयोग गुजरात के दंगों पर अपनी रिपोर्ट में लिखता हैं कि -

> "भारतीय जनता पार्टी की महिला विधायक, महिला सरपंच तथा उनके परिजनों ने अपनी-अपनी क्षेत्रों में मुसलमानों के विरुद्ध हिंसा (लूटमार, आगजनी, बलात्कार, हत्या) कर रही भीड़ का नेतृत्व किया। इसी दल के म्युनिसिपिल कारपोरेशन के सदस्यों ने सोला सिविल अस्पताल में डाक्टरों को घायल का अपनी विवेक से इलाज भी नहीं करने दिया। डाक्टरों को किसका इलाज करना है और किसका नहीं इसप्रकार की हिदायतें कारपोरेटर दे रहे थे।"[532]

सांप्रदायिक राजनीति में महिलाओं की भागीदारी का इतिहास नहीं रहा हैं, यह सांप्रदायिक ध्रुवीकरण की नव-प्रवृत्ति है जो कई महत्वपूर्ण सवालों को खड़ा करती है। मसलन, क्या सांप्रदायिक महिला संगठनों द्वारा अपनी परंपरा को तोड़ना या अपनी रीति-नीति को पूरी तरह बदल देना या एक दीर्घकालीन रणनीति की परिणति है? अथवा यह परिवर्तन सांप्रदायिक महिला संगठनों की पुरानी सीमाओं का ही सोच-समझकर कर किया गया नियोजित हिस्सा हैं? या यह सांस्कृतिक सामाजीकरण की सहज अभिव्यक्ति है जिसका प्रारंभ परिवार और कई सांप्रदायिक संगठनों के द्वारा होता हैं? नोनिका दत्ता 'द हिंदू' में छपे लेख 'गुजरात और बहुसंख्यक महिलाएं' में बताती हैं कि -

> "बहुसंख्यकों में अल्पसंख्यकों के प्रताड़ना के मूल समर्थन की नींव राष्ट्रीय आंदोलन के समय में ही डाल दी गई थी। इस समय बने सांप्रदायिक संगठनों ने मुसलमानों के प्रति हिंदुओं के मन में घृणा और उनके प्रति अविश्वास पैदा करने के लिए तरह-तरह की भ्रांतियां तथा गलत सूचनाएं उनके बारे में फैलाई। जिसमें आम धार्मिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में मुसलमानों अतातायी तथा हिंदू बहू-बेटियों की अस्मिता के लिए खतरे के तौर पर चित्रित किया जाता है।"[533]

सांप्रदायिक राजनीति में सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के नये प्रयोगों में महिलाओं की भूमिका और महिलाओं की सहभागिता के कारणों की पड़ताल करते हुए संपादकीय लेखों और रिपोर्ट का अभाव हिंदी पत्रकारिता में न के बराबर दिखता हैं। समाज के आधी आबादी के एक वर्ग में हो रहे बदलावों का अनदेखापन हिंदी पत्रकारिता के चौथे खंभे के लोकतांत्रिक अवधारणा को प्रश्नांकित करते हैं। क्योंकि सांप्रदायिक राजनीति को बढ़ावा देने के लिए लेख, रिपोर्टिग और सूचनाओं की अभिव्यक्ति हिंदी और भाषाई पत्रकारिता में दिखती हैं। स्पष्ट है कि सांप्रदायिक राजनीति महिलाओं का इस्तेमाल एक अस्मिता मूलक हथियार के रूप में करता हैं जिसमें भाषाई और हिंदी

---

[532] हाऊ हैज दि गुजरात मैसकर अफेक्टेड माईनौरिटि वुमेन? दि सरवाइसर्स स्पीक, फैक्ट फाईडिग रिपोर्ट वाई वुमेन पैनेल, गुजरात पेज न०- 15-16

[533] 15 जून 2002, द हिंदू

पत्रकारिता सहायक की भूमिका अदा करते है या संप्रदायिक राजनीति को गतिशीलता प्रदान करती है। सांप्रदायिक राजनीति में महिलाओं की सार्वजनिक पहचान को दलीय जकड़बंदी का शिकार बनाया जा रहा है और महिलाओं की जाति, वर्ग और स्त्री संबंधी समस्याओं को धूमिल करने का प्रयास करते हैं।

निष्कर्षत: यह कह सकते है कि हिंदी पत्रकारिता में सांप्रदायिकता, सांप्रदायिक राजनीति का महिलाओं की संदर्भ में मूल्यांकन करने का प्रयास करें, तो यह स्पष्ट रूप से दिखता है कि हिंदी पत्रकारिता कि विकास यात्रा में धर्म और सांप्रदायिक राजनीति के मध्य महिलाओं की अस्तित्व का प्रश्न बहसों के मूल में रहते हुए भी, केंद्र में स्थापित् नहीं हो पाया है। सांप्रदायिक राजनीति का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहा और हर समय सिर्फ़ एक ही जाति, वर्ग या लिंग के व्यक्ति इसके शिकार हो रहे थे, इसमें भी बदलाव हो रहा था। एक तरफ़ जहां पहले के सांप्रदायिक दंगों में महिलाओं हिंसा के कारण दूसरे समुदाय के द्वारा और कभी-कभी अपनी समुदाय के द्वारा भी मारी जा रही थी। वहां यह एक महत्वपूर्ण बदलाव यह है कि महिलाएं स्वयं भी हिंसा करने वाले समूहों में भागीदार कर रही है। इन बदलावों को लेकर हिंदी पत्रकारिता की चुप्पी परेशान करती हैं। इसके साथ-साथ यह स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है कि हिंदी पत्रकारिता ने धर्म विशेष की सांस्कृतिक रीति-रिवाजों के कारण महिलाओं की शोषण और उत्पीड़न को मूल प्रश्न बनाते हुई, धर्म मूल की आलोचना मुखर रूप से की। जिसके कारणों की पड़ताल के विषय पर ख़ामोशी हिंदी पत्रकारिता की धर्म विशेष के प्रति आलोचनात्मक नज़रिये को स्पष्ट करता है।

4.3 (2) सामुदायिक पहचान और सांप्रदायिक राजनीति

भारतीय समाज का जो ढ़ांचा है उसमें लोगों सामाजिक चेतना(चाहे वो किसी भी धर्म के हो) को धर्म बड़े पैमाने पर प्रभावित करता है। धर्म आधारित शक्ति-संबंध\नियम-क़ायदे आस्था के स्तर पर मानवीय जीवन मूल्य पर अक्सर हावी रहते है। जिसके कारण समानता, स्वतंत्रता और बधुंत्व जैसे लोकतांत्रिक मूल्य हाशिये पर सिमटने लगते है। यहां यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है धर्म व्यक्ति को वृहतर सामाजिक चेतना के साथ सामाजिक पहचान भी देता है वही जन्म से दी गई धार्मिक पहचान विशिष्ट वर्ग के लिए सम्मानजनक और कई वर्गों के लिए शोषण का कारण भी बनता है। क्योंकि धर्म आधारित मनुष्य की पहचान मध्यकाल में एकमेंव थी और भारतीय समाज में आधुनिकता के अधूरे प्रकल्पों ने भी व्यक्ति की धार्मिक पहचान को मजबूती से बनाए

रखा हैं। धार्मिक पहचान का दुरूपयोग राजनीतिक बढ़त हासिल करने के लिए भी किया जाता है। सामान्य विश्वासों के आधार पर निर्मित विशेष धार्मिक-समुदायिक पहचान को कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। फिर भी यह लोगों की भावनाओं से जुड़ा है और अपनी-अपनी धर्म की श्रेष्ठता की चेतना पर प्रचलित होता है। धर्म की वर्चस्वशाली भूमिका के कारण धार्मिक समूह के बीच सौहार्द या एकता स्थापित नहीं हो पाती है। धर्म की यही वर्चस्वशाली चरित्र जब सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आधार पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास है तब वह सांप्रदायिक राजनीति से जुड़ जाती है और वह मानवीय मूल्य और साझी संस्कृति के विरूद्ध जाती है। औपनिवेशिक काल में राजनीतिक तौर पर धर्म का यही वर्चस्वशाली भूमिका सांप्रदायिक राजनीति के मुख्य आधार बना हुआ था जिसमें अन्य धर्म के विरुद्ध मिथकों की फैंटेसी का निमार्ण किया। इस प्रक्रिया मे मुस्लिम समाज की एक खास छवि बनाने का प्रयास किया गया। 19वीं सदी के अंत और 20वीं सदी के प्रारंभ में मुस्लिम समुदाय को अपहरणकर्ता या बलात्कारी दिखाने के लिए खास सांचेदार सांस्कृतिक छवि बनाने की प्रवृत्ति उल्लेखनीय है। इस दौर में साहित्यकारों, पत्रकारों और रचनाकारों का विचार, मकसद और मंजिल में खतरनाक संभावनाएं निहित थी जिसमें मुस्लिम समुदाय लंपट, व्याभिचारी, धार्मिक रूप से कट्टर जैसे नज़र आते है।

सांप्रदायिक राजनीति इस विश्वास पर आधारित है कि चूंकि एक समूह के लोग धर्म विशेष का पालन करते है, इसलिए उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हित समान होते है। यह वह विमर्श है जो विषयों के निर्धारण समुदाय से उनके जुड़ाव के आधार पर, खासतौर पर धार्मिक समुदायों से जुड़ाव के आधार पर तय करता है। इसलिए हिंदू और मुस्लिम समुदाय इस आधार पर भिन्न समझे जाते है। जब ये समुदाय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक आधार पर पहचाने जाते है तो खुद को हिंदुत्व और अन्य के रूप में संगठित करते है और एक-दूसरे के सामुदायिक पहचान को नकारात्मक मानसिकता के आधार पर दूसरा कहकर संबोंधित करते है। हम और अन्य का यही दायरा सांप्रदायिक राजनीति का निमार्ण करता है। सांप्रदायिक राजनीति के विकास में दूसरे धर्म के विरुद्ध रचे गए मिथक या फैंटेसी बहुसंख्यक समाज के चेतना का निमार्ण में सहायक होते है। मुस्लिम समाज की नकारात्मक छवियों को पर्दा प्रथा, सती, बाल विवाह जैसे कुरीतियों के जिम्मेदार बनाकर पेश किया जाता हैं। हिंदू-मुस्लिम राजनीति के ध्रुवीकरण में यह सांप्रदायिक पहचान एक महत्वपूर्ण कारक का काम करती है। यह पूरी प्रक्रिया दूसरे समुदायों के प्रति सामूहिक कार्यवाही का आधार बनती है जिसका परिणाम सांप्रदायिक दंगों में अपनी भूमिका निभाता है।

औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के बाद, विभाजन के पश्चात संप्रदायिकता का संकट और सांप्रदायिक तनाव में निरंतरता बनी हुई दिखती है, जो बहुता तो छिपी हुई होती है और समय आने पर प्रत्यक्ष होती है। वर्ष 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हिंदू और सिख के मध्य हिंसा भी देखने को मिलती है। धर्मांतरण के राजनीति में ईसाई समुदाय के विरुद्ध भी हिंसा के कई मामले सतह पर उभर कर आए। मुस्लिम समुदायों के विरुद्ध तो कई निरंतरता दिखती है परंतु, वर्ष1992 में बाबरी विंध्वस के बाद, मुबंई बम विस्फोट और गुजरात के दंगे के बाद मुस्लिम समुदाय के विरुद्ध हिंसा के कई नये तरह के राजनीतिक ध्रुवीकरण को बहस के केंद्र में ला दिया। इन हिंसक घटनाओं के पहले और बाद में भी समुदाय और उनकी संस्कृति के विरुद्ध व्यवहार धर्मनिरपेक्षता के अवधारणा को तार-तार करता है।

वर्ष 1990 के दशक के बाद आक्रामक, सांप्रदायिक तथा अधिकारवादी झुकाव रखनेवालों द्वारा निरूपत हिंदुत्व का भारतीय राजनीति में प्रभावशाली स्थान देखने को मिलता हैं। जिसने समुदाय के पहचान के साथ-साथ संस्कृति को भी नफ़रत और घृणा की भाषा में संप्रेषित करने का काम किया। हिंदी पत्रकारिता में समुदाय के सवाल को उन्मादी और रूढ़िवादी तरीके से पेश किया जाता है और उसके मूलभूत सवाल को पीछे छोड़ दिया जाता है। अक्सर कुछ व्यक्तियों के कारनामों को ऐसे पेश किया जाता है जैसे लगे की पूरा समुदाय ही ऐसा हो। यहां तक कि किसी धर्मगुरू द्वारा की गई अपील को फतवा जैसे शब्दों से प्रचारित कर दिया जाता है, जैसे यह पूरे समुदाय के लिए बाध्यकारी हो। कोई यह नहीं जानने की कोशिश करता है कि धार्मिक अप्रील या फतवा क्या है? इसकी प्रासंगिकता क्या है? यह किसी धर्मगुरू या धर्मग्रंथ दारा दिया गया व्यक्तिगत राय या धर्मग्रंथ की उसकी अपनी व्याख्या हो सकती है जो बाध्यकारी या अंतिम शब्द नहीं है जैसा मुख्यधारा की पत्रकारिता उसे पेश करती है। जबकि उसी समुदाय के लोगों की उपलब्धियों को मुख्यधारा की पत्रकारिता स्पेश देकर देश की महान उपलब्धि के रूप में स्थापित करने का प्रयास करता है। मुख्यधारा की पत्रकारिता में इस तरह के विरोधाभास की अभिव्यक्ति समझ के बाहर है कि कैसे एक समुदाय को उन्मादी और रूढ़िवादी के रूप में पेश किया जाता है? जबकि वही समुदाय कई क्षेत्रों में असाधारण प्रदर्शन भी करता है। मसलन, मुस्लिम समुदाय के कई लोगों कि असधारण उपलब्धियां सांप्रदायिक उन्माद कि राजनीति में दब जाते है और मुस्लिम समुदाय के रूढ़िवादी विचार उचित-अनुचित के दायरे में विमर्श के रूप में स्थापित हो जाती है। ऐसा महिलाओं की मूलभूत अधिकारों के प्रसंग में अक्सर देखने को मिलता है। यह वही संदर्भ है जिसमें राजनीतिक विमर्श में समुदाय की पहचान का सांप्रदायिक राजनीति में इस्तेमाल किया जाता है को सांप्रदायिक ध्रुवीकरण में एक टूल का काम करती है इसे हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित खबरों से समझा जा सकता है।

मसलन, इमराना मामले[534] में मुस्लिम समुदाय के प्रति हिंदी और भाषाई पत्रकारिता का पूर्वाग्रह देख सकते है, जो समुदाय विशेष के प्रति सांप्रदायिक राजनीति की जमीन तैयार करती है। मुख्यधारा की मीडिया में इमराना मामलों को इस तरह पेश किया गया जिससे यह धारणा बनी कि सिर्फ़ मुस्लिम समुदाय अपनी महिलाओं से दुर्व्यवहार करते है और महिलाओं को उनके मौलिक अधिकरों से वंचित रखते हैं। जबकि कमोबेश हर समुदाय में धार्मिक और जातीय नियम-क़ायदों की संहिता महिलाओं के मौलिक अधिकारों को हाशिये पर रखते है। इस समस्या का हल यह हो सकता है कि हम लैंगिक नाइंसाफी के पहलू पर भी ध्यान दे। न कि निहित राजनीतिक फायदे-नुकसान के लिए नारी अधिकारों के एजेंडा को पटरी से उतार कर सांप्रदायिक एजेंडे को प्रमुख बना दे। हिंदी या भाषाई पत्रकारिता में विमर्श के मूल में यह स्थापित करने का प्रयास जरा भी नहीं किया कि किसी भी समुदाय में महिलाओं की अधिकार, व्यक्ति का अपराध और समाज की इच्छा तीनों अलग-अलग चीजें है। कुछ लोगों की शर्मनाक हरकतों के कारण किसी भी समुदाय में महिलाओं की स्तर या स्थिति का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता है।

इमराना मामले में हिंदी और अंग्रेजी पत्रकारिता में प्रकाशित हुए लेखों में लगभग 15 प्रतिशत ख़बरें पहले पृष्ठ पर और 45 प्रतिशत संपादकीय पृष्ठ पर छपी।(जिसमें संपादक के नाम पत्र भी शामिल है।) किसी भी समाचार पत्र ने सच्चाई जानने की जहमत नहीं उठाई। मामले की हकीकत यह है कि दोनों पक्षों(इमरान और अली मुहम्मद) में कोई भी दारुल-उमूल देवबंद के धर्मगुरुओं के पास नहीं गया था। यहां तक कि लिखित फरमान में भी इमराना के नाम तक का उल्लेख नहीं था। बाद में यह फरमान इमराना के ख़िलाफ़ जारी फतवा के तौर पर रटा जाने लगा और जल्द ही बड़े विवाद के रूप में उछाल दिया गया। ऐसे झूठे और बनावटी फतवों के आधार पर प्रकाशित कुछ खबरों के शीर्षक देखे जा सकते है।

“इमराना को पति छोड़ने का फतवा”,[535] “मुजफ्फरनगर रेप: हसबैंड कान्ट स्टे विद विक्टिम, रूल्स देवबंद (मुजफ्फरनगर बलात्कार: पति पीड़िता के साथ नहीं रह सकता),”[536] “ससुर के हाथों

[534] उत्तरप्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले के ग्राम चरथावल निवासी मुस्लिम महिला इमराना के पति नूर इलाही की ग़ौर मौजूदगी में उसके ससुर ने बलात्कार किया था। मामला करीब एक सप्ताह बाद उस समय सामने आया जब बिरादरी की पंचायत ने नूर इलाही से उसकी शादी को हराम या गैरकानूनी करार दिया और कहा गया कि वह अपने पति की मां बन गई है इसलिए उसे बलात्कारी ससुर के साथ निकाह कर लेना चाहिए।

[535] 27 जून 2005 ,अमर उजाला

[536] 27 जून 2005, द इंडियन एक्सप्रेस

अस्मतदारी की शिकार इमराना शौहर के लिए हराम,"[537] जबकि फतवा कभी इमराना तक नहीं पहुंचा, फिर भी मीडिया की रिपोर्ट में कहा गया, "आखिर इमराना झुकी, फतवा मानने को तैयार",[538] "वूमेन रेप्ड बाई फादर इन लां ऐक्सेपट्स फतवा (ससुर के बलात्कार की शिकार महिला को फतवा स्वीकार),"[539] "इमराना ऐक्सेप्ट्स फतवा बट होप्स फांर जस्टिस(इमराना को फतवा स्वीकार लेकिन इन्साफ की आस),"[540]।

इसी दौरान पत्रकारिता में इस मामले का मतलब राजनीतिक हल्कों में ढूंढना शुरू कर दिया: "बीजेपी फेवर्स रिफार्म इन मुस्लिम पर्सनल लां(भाजपा मुस्लिम पर्सनल लां में सुधार की पक्षधर),"[541] "इमराना के बहाने उछाला कांमन सिविल कोड का मुद्दा,"[542] "मुलायम बैंक्स क्लेरिक्स डिसीजन(मुलायम का धर्मगुरुओं के फैसले का समर्थन)",[543] "कांग्रेस रिमेन साइलेन्ट, बीजेपी काल्स इट ए ह्युमन राइट्स इश्यू (कांग्रेस खामोश, भाजपा ने इसे मानवाधिकार का मामला कहा),"[544] "इमराना पर कांग्रेस पशोपेश में",[545] यहां तक कि कुछ लेख एक-दूसरे के विरोधाभासी भी थे - "इमराना केस: देवबंद मुफ्तीज रूल आऊट चेन्ज(देवबंद के मुफ्तियों का बदलाव से इऩकार),"[546] "नो फतवा इन इमराना रेप केस: देवबंद(इमराना बलात्कार मामले में कोई फतवा नहीं: देवबंद),"[547] "फतवा से पीछे नहीं हटेगा दारूल-उमूल"[548]। इसके अतिरिक्त जब इमराना ने मीडिया के प्रति आलोचात्मक रूख अपनाया तो उसमें में कुछ ने ही उसी रूचि के साथ ख़बर छापी। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण शीर्षक थे- "मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो",[549] "वियरी इमराना वान्ट्स टू बी लेफ्ट एलोन(अजीज इमराना अकेले छोड़ दिए जाने की इच्छुक),"[550] "खुदा के लिए मुझे तंग न करें, मीडिया से अजिज इमराना की गुजारिश"[551]। इसी विपरीत जब

---

[537] 26 जून 2005, कौमी आवाज़

[538] 26 जून 2005, अमर उजाला

[539] 28 जून2005, द इंडियन एक्सप्रेस

[540] 1 जुलाई 2005, द टाईम्स आंफ इंडिया

[541] 29 जून 2005, द टाईम्स आंफ इंडिया

[542] 29 जून 2005, अमर उजाला

[543] 30 जून 2005, द टाईम्स आंफ इंडिया

[544] 30 जून 2005, द टाईम्स आंफ इंडिया

[545] 30 जून 2005, नवभारत टाईम्स

[546] 1 जुलाई 2005, द हिंदू

[547] 2 जुलाई 2005, द टाईम्स आंफ इंडिया

[548] 2 जुलाई 2005, अमर उजाला

[549] 1 जुलाई 2005, अमर उजाला

[550] 1 जुलाई 2005, द टाईम्स आंफ इंडिया

[551] 1 जुलाई 2005, कौमी आवाज़

नवगठित मुस्लिम महिला संगठन, आल इंडिया मुस्लिम वूमन पर्सनल लां बोर्ड ने जब फतवा और मुस्लिम पर्सनल लां बोर्ड स्वयं अपनी बनावटी कहानी के साथ सामने आया कि इमराना का बलात्कार नहीं हुआ, यह जायेजाद के झगड़े का मामला था तो इसे बहुत ज़्यादा कवरेज दिया गया : "मुस्लिम पर्सनल लां बोर्ड सेज अनलाइकली दैट इमराना वाज रेप्ड, प्रांपर्टी वाज रीजन (मुस्लिम पर्सनल लां बोर्ड ने कहा इमराना का बलात्कार अविश्वसनीय, जायेदाद कारण बनी),"[552] "इमराना रेप: मुस्लिम बांडी रेजेज कोएश्चन(इमराना बलात्कार, मुस्लिम संगठन ने उठाया सवाल),"[553] "लां बोर्ड को इमराना ने बलात्कार पर संदेह"[554]।

पत्रकारिता के लगभग सभी भाषाई अख़बारों में इन खबरों में धर्मगुरुओं के रूढ़िवादी विचारों से भरा हुआ था। स्पष्ट रूप से इमराना मामले में काफ़ी विरोधाभासी समाचार प्रकाशित हो रहे थे। इमराना का बलात्कार हुआ जो मानवता के विरुद्ध एक अपराध है, जो न सिर्फ़ महिला को निजता को भंग करता है बल्कि उसे मानसिक और शारीरिक रूप से असंतुलित कर देता है। परंतु, इस मामले में हिंदी और भाषाई पत्रकारिता ने पीड़िता का असली नाम छुपाने की भी सावधानी नहीं बरती। इमराना के बलात्कार को बहस का विषय बनाने के जगह पत्रकारिता का पूरा ध्यान फतवा और राजनीतिक हल्कों से उपजे परिणामों पर समर्पित था। (जबकि बलात्कार से जुड़े मामले पत्रकारिता का ध्यान दो कारणों से विशेष ध्यान बनता है- पहला, इसलिए कि इससे जुड़े मामलों में राष्ट्र की परिस्थिति में बदलाव आया है और दूसरा इसलिए कि यह व्यावसायिक हितों के अनुकूल है। परंतु, इमराना के बलात्कार को इन दोनों कारणों ने भी प्रभावित नहीं किया।) इमराना मामले को हिंदी और भाषाई पत्रकारिता ने प्रकाशित तो ज़रूर किया। परंतु, उसने अंदर ही अंदर इस मौके का खूब लाभ उठाया। सच्चाई यह भी है कि हिंदी और भाषाई पत्रकारिता ने अल्पसंख्यक मामलों में विषय वस्तु की अधिक जानकारी नहीं होती है। इस स्थिति में किसी भी समुदाय समूह के विरुद्ध पूर्वाग्रह या नकारात्मक रवैया प्रदर्शित होता है। भारत में धार्मिक अल्पसंख्यक, विशेष रूप से मुसलमानों के प्रति लोगों की सोच मीडिया से काफ़ी प्रभावित रहती हैं। समान्य रूप से समाचार निर्माताओं, विशेषज्ञों और मीडिया द्वारा किए जाने वाले नागरिकों में अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों का प्रतिनिधित्व काफ़ी कम हैं। जिसके कारण समाचारों के विषय वस्तु में विरोधाभास नज़र आता है। जिसके कारण मीडिया ने एक ऐसे भारत का निर्माण कर दिया है जो गलत सूचना का पर्याय बन गया है जहां इसके द्वारा उत्पन्न बेबुनियाद धारणाओं के असीमित फैलाव ने स्वयं वास्तविकता की हमारी परख को ही विमुख करना शुरू कर दिया है।

---

[552] 3 जुलाई 2005, द इंडियन एक्सप्रेस

[553] 4 जुलाई 2005, द हिंदुस्तान टाईम्स

[554] 4 जुलाई 2005, नवभारत टाईम्स

स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता का चरित्र काफ़ी जटिल है और समकालीन भारत में सांप्रदायिक विचारधारा-सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक व्यवहारों को विविध प्रकार से प्रभावित करती हैं। सांप्रदायिकता का एक औपनिवेशिक बोध भी है जिसके पीछे कई कारण है जो समान्य व्यवहार में भिन्न-भिन्न धार्मिक समुदायों के सदस्यों के बीच संदेह, भय और अविश्वास के स्थिति को बहाल करती है। जिसके कारण जहां सांप्रदायिक तनाव और दंगों में भयंकर वृद्धि हुई है और धर्मनिरपेक्षता के माहौल में स्पष्ट कमी आई है। सांप्रदायिकता के वर्तमान स्थिति में हिंदी और भाषाई पत्रकारिता की कई रूप प्रकट होते है। मसलन, पहला भारतीय राष्ट्र को हिंदू राष्ट्र बनाने के विचार को लोकप्रिय बनाने की कोशिश नज़र आती है। भारत का आसान रूपांतरण हो गया है, हिंदुस्तान। दूसरा, हिंदी और भाषाई पत्रकारिता ने अल्पसंख्यक समुदायों की हीनता और हिंदुत्व की महानता पर काफ़ी जोर दिया गया है। तीसरा, पत्रकारिता में हिंदू समाज में जाति, वर्ग, लिंग की असमानता को ढंकने और इसे सम दिखाने की कोशिश हुई है। मंडल कमीशन की रिपोर्ट के आंशिक कार्यान्वयन के कारण हिंदू एकता के छदम को चुनौती मिली थी क्योंकि इसने आजादी के बाद की विकास की नीतियों से समाज में भयंकर असमानता उभरकर सामने आई थी। चौथा, बहुसंख्यक समुदाय में आतंक-असुरक्षा की भावना भरने की कोशिश की गई है। लोगों में सामाजिक-आर्थिक कारणों से बढ़ते भय और आत्मविश्वास की कमी का सांप्रदायिक संगठनों ने निहायत संगठित और प्रभावकरी तरीक से इस्तेमाल किया। पांचवा, पत्रकारिता के माध्यम से प्रभुत्वशाली वैचारिक ढ़ांचे के सबसे अग्रणी और गतिशील अंग बढ़-चढ़कर राष्ट्रीयता को हिंदू राष्ट्रीयता के रूप में परिभाषित कर रहे है।

4.3 (3) धर्मान्तरण या धर्मपरिवर्तन

किसी भी समाज में मानव समुदाय की पहचान के रूप में सामाजिक तौर पर एकमात्र उपयुक्त श्रेणी नहीं है। कुछ अन्य पहचान भी अहम और प्रासंगिक है और उतनी ही प्रतिबंधित नियम-क़ायदों तथा अपेक्षाओं से जुड़ी हुई है। मिसाल के तौर पर धार्मिक समुदाय कुछ खास तरह से विभेदकारी है। यही धार्मिक पाबंदिया बुनियादी रूप से मानवीय दैनिक व्यावहारिक जीवन पर असर डालते है क्योंकि धार्मिक संहिताओं के नियम-क़ायदे हरेक समाज में सामाजिक भूमिकाओं और कार्यों की श्रृखंला और जिम्मेदारियां तय करते हैं। इन्हीं सामाजिक भूमिकाओं और खुद पर लादी गई जिम्मेदारियां जो उसकी आजीविका और जिंदा रहने की ज़रूरतों को पूरा करते हैं, उन्हें उन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित करते हैं। इन परिस्थितियों में स्वतंत्रता, समानता और बधुंत्व के विचारों के साथ अगर कोई व्यक्ति पुरातनपंथी, दकियानूसी,

प्रतिगामी और पारंपरिक धार्मिक मूल्यों को छोड़ना चाहता हैं तो धर्मांतरण एक विकल्प के रूप में सामने आता है। परंतु, वंचित और पिछड़े समाजों में बराबरी के आशा और बेहतर सामाजिक जीवन की लालसा ने धर्म परिवर्तन के लिए लोगों और समुदाय को प्रेरित किया। समय-समय पर आर्थिक गतिशीलता ने भी धर्म परिवर्तन के लिए लोगों को विवश किया। ऐतिहासिक रूप से लोगों की आस्था में बदलाव आना और वंचित समुदायों के लोगों का मौजूदा समय में आस्था परिवर्तन का जवाब एक ही प्रतीत होता है और वह है सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में बदलाव जो सम्मानजनक जीवन का अधिकार दे सकें। चारू गुप्ता बताती हैं कि -

> "ऐतिहासिक तौर पर जब दलित या हिंदू समाज के हाशिये पर रहने वाली स्त्रियां-विधवा, नीची जाति की स्त्री या वेश्याओं ने धर्मांतरण किया हैं, तो वे प्राय: इस बात से ही प्रभावित और लाभान्वित रहे है कि उन्हें अन्य धर्म में सम्मान, शिक्षा, कपड़े रोज़गार और रोटी-बेटी के संबंध हासिल होगें।"[555]

औपनिवेशिक देशकाल में धर्मांतरण का सवाल केवल सम्मानजनक जीवन की तलाश में उठाया जा रहे अधिकार के बहसों तक ही सीमित नहीं था। हिंदू संप्रदायवादियों के मध्य आबादी और जनसांख्यिक राजनीति को लेकर भी अपनी चिंताएं थी। इनके द्वारा हिंदूओं की घटती सख्यां का हवाला देकर भी मिथक गढ़े जा रहे थे, और वो हिंदी पत्रकारिता में मुखर रूप से अभिव्यक्ति भी पा रहे थे। अख़बारों, पत्रिकाओं तथा जाति केंद्रित पत्रिकाओं में भी यह मुद्दा प्रमुखता से प्रकाशित हो रहे थे। 'प्रताप' में 'भीषण ह्रास' लेख बताता है कि धर्मांतरण के कारण हिंदुओं की आबादी में भयंकर गिरावट आ रही है।[556] इसी तरह एक किताब वर्ष 1911 में जनगणना का उदाहरण देते हुए लिखता है कि -

> "घटते-घटते करोड़पति का कोष भी एक न एक दिन खाली हो ही जाता है, और बढ़ते-बढ़ते छदम्मीलाल भी करोड़पति हो ही जाता है।"[557]

औपनिवेशिक देशकाल में धर्मांतरण का यह वितंड हिंदू महिलाएं मुस्लिम पुरुषों से विवाह कर रही थी और मुस्लमानों की जनसख्यां बढ़ा रही थी। जबकि, कई सर्वेक्षण इस तथ्य को खारिज करते है और यह स्थापित करते है कि इस तरह के तथ्यों को अभिव्यक्त करके हिंदू स्त्रियों की प्रजनन क्षमता को नियंत्रित करने की कोशिश की जा रही थी। इस तरह के सर्वेक्षण यह स्थापित करते है कि धर्मांतरण जाति के निचले पायदान पर रहने वालों के लिए अपनी हालात में बेहतरी,

---

[555] चारू गुप्ता, लव जिहाद: एक सांप्रदायिक फैंटेंसी का अतीत और वर्तमान, समयांतर,सं. पंकज विष्ट अंक:5, फरवरी 2015 पेज न०- 69

[556] प्रताप, 1 अक्टूबर, 1929

[557] हिंदुओं का भयंकर ह्रास, चांद, खंड -7, अंक-1,जनवरी 1929

प्रतिरोध, प्रतिवाद, श्रेणीबद्ध, जीवन के नकार और सामाजिक चौहद्दियों के पुनर्गठन के लिए आम उपाए रहा हैं। भारतीय इतिहास में इसके प्रमाण भी मिलते है।

> "मध्ययुग में कई जातियों ने इस्लामी परंपरा को अपनी ज़िंदगी और तहजीब में शिद्धत से शामिल किया था। औपनिवेशिक काल में दलितों के एक हिस्से द्वारा इसाई धर्म के धर्मांतरण एक प्रतिकारात्मक कार्यवाही थी, जिससे वे एक असमान सामजिक व्यवस्था में आगे बढ़ते हुए समाज के अगले पायदान पर क़दम रख सकते थे। उन्हें औपनिवेशिक आधुनिकता को अपनाने का मौका मिल सकता था। वे सार्वजनिक हलकों में सम्मान पा सकते थे और अपना अतीत पीछे छोड़ सकते थे।"[558]

धर्मपरिवर्तन के साथ-साथ, ऐतिहासिक संदर्भों में अपनी धाक ज़माने के लिए धर्मो ने खुद को भी बदला जिसने नैतिकता पर आधारित धार्मिक पाबंदियों पर भी विरोधाभासी परिणाम भी दिए। जैन धर्म, बुद्ध धर्म और कई सामुदायिक समाजों के प्रति अतिवादी सहित वंचित समुदाय का झुकाव समतावादी समाज में समाजिक न्याय की प्रति आस्था ही थी। परंतु, धार्मिक और रूढ़िवादी परिभाषाओं ने हर तरह के भेदभाव और क्रूरता को जायेज ठहराते हुए इन धार्मिक परिवर्तनों को अनैतिक कहा। कई हिंदू समाजसुधारकों ने अपनी रचनाओं में दलितों के धर्मांतरण का निर्णय को अक्षम बताया और कहा गया कि वे मौलवियों और मिशनरियों द्वारा बहकाये जाते हैं। इस प्रक्रिया में धर्मांतर के विरुद्ध एक जायेकेदार फैटेंसी, एक मारक सांगठनिक राजनीति और जोश-खरोश से छेड़ा गया मिथक-निर्मित अभियान। जिसके निशाने पर औपनिवेशिक देखकाल में मुख्य रूप से मुस्लिम समुदाय थे और आजादी के बाद ईसाई समुदाय को भी निशाना बनाया गया। उनका प्रचार था कि मुसलमान कट्टरपंथी हिंदू महिलाओं को धोखाधड़ी से अपनी प्रेम जाल में फंसाकर धर्मांतरण करते है। सांप्रदायिक दंगों और उसकी राजनीति में धर्मांतरण के लिए गढ़े गए मिथक सामने आते रहे। रक्त शुद्धता के आधार पर वर्ग, जाति और धर्म के प्रिज्म ने राजनीति औपनिवेशिक काल की तरह आज की राजनीति में 'लव जेहाद' की राजनीति को गतिशीलता प्रदान करती है। यह राजनीति औपनिवेशिक काल की तरह आज की राजनीति की भी ज़रूरत है। यह राजनीति धर्म के आधार पर लोगों को बांटने और संगठित करने का भी काम करती है और स्त्री और पुरुष के मध्य की दूरी को और अधिक बढ़ाने का काम भी करती है।

आजादी के बाद संविधान ने अनुछेद 25 में प्रत्येक नागरिकों को अपना धर्म अपनाने, चलाने और प्रचारित करने का अधिकार दिया है। साथ ही किसी धर्म को मानने और उसका प्रचार करने का अधिकार इस बात को भी सुनिश्चित करता है कि वह अपनी विचारों, मतों, विश्वासों अथवा

---

[558] चारू गुप्ता, रूप और अरूप:सीमा और असीम, प्रतिमान, सं. अभय कुमार दुबे, अंक-1, जनवरी-जून 2013, पेज न०-119

धारणाओं को बदल सके, ठीक उसी तरह जैसे कोई व्यक्ति अपनी राजनीतिक अथवा सामाजिक विचारों को बदल सकता है। लेकिन वर्ष 1954-56 में परित हिंदू विवाह अधिनियम, हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, हिंदू दत्तकता और भरण-पोषण अधिनियम, हिंदू अल्पवयता अधिनियम और विशेष विवाह अधिनियम के अनेक प्रावधान ऐसे है, जो धर्म की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार को अर्थहीन घोषित करते है। आश्चर्यजनक है कि धर्म की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाते, ये कानूनी प्रावधान असंवैधानिक नहीं माने जाते। संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकार के बावजूद, हिंदू कानून कहते है कि हिंदू हो, तो हिंदू बनकर रहो (यहां हिंदू के कानूनी मतलब में, बौद्ध, सिख और जैन भी शामिल है)। हिंदू स्त्री-पुरुष हिंदू से विवाह करे या बच्चा गोद ले- किसी को कोई आपत्ती नहीं। मगर कोई हिंदू किसी मुस्लिम, ईसाई या पारसी सी विवाह करे या बच्चा गोद ले- किसी को कोई आपत्ती नहीं। अगर कोई हिंदू किसी मुस्लिम, ईसाई या पारसी से विवाह करना चाहता है तो दिक्कत है। विवाह तो कर सकता है, लेकिन विशेष विवाह अधिनियम में प्रावधान है कि दूसरे धर्म के व्यक्ति से विवाह कएने के फौरन बाद, हिंदू स्त्री-पुरुष व्यक्ति के अपनी परिवार से सारे संबंध समाप्त माने जाएंगे। अंतर-धार्मिक विवाह पर कोई प्रतिबंध नहीं है क्योंकि भारत धर्मनिपेक्ष राज्य है। लेकिन उसके संपत्ति के सारे अधिकार समाप्त हो जायेगे। अगर बिना अपना धर्म बदले, किसी अन्य धर्म के व्यक्ति से विवाह करने पर कानून में यह सजा है तो धर्मांतरण पर उदार नीति का क्या होगा? धर्मांतरण पर प्रतिबंध निजी कानून तक ही सीमित नहीं है- आरक्षण की राजनीति तक फैला हुआ है। संविधान की सीमाओं में कानून के सही गलत होने पर संसद और समाज से लेकर सर्वोच्च न्यायालय पर बहस होती रहती है और कभी-कभी राष्ट्रीय बहस का हिस्सा भी बनती है। ध्यान देने की बात यह है कि धर्म की यह आजादी महिलाओं की अधिकार से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ते है।

धर्मांतरण के विषय पर किसी भी समुदाय की महिला क्या सोचती है? किसी तरह दूसरे धर्म या पहले धर्म की आस्था से स्वयं को जोड़ती है? क्यों पुरुष के धर्म परिवर्तन से उसका धर्म भी स्वत: बदल जाता है? धर्मांतरण के बाद उसकी स्वतंत्रता और अधिकारों की कानूनी स्थिति स्वयं उसके अनुसार परिभाषित क्यों नहीं हो पाती? धर्मांतरण की बहसों में महिलाओं की अधिकार कभी बड़े बहस का हिस्सा नहीं बन पाते।

औपनिवेशिक देशकाल के तरह धर्मांतरण की राजनीति के केंद्र स्वतंत्र भारत में मुस्लिम समुदाय के साथ-साथ ईसाई समुदाय और आदिवासी एंव दलित समुदाय के धर्मांतरण पर भी केंद्रित होते हुए दिखती है। आजाद भारत में भी धर्मांतरण के राजनीति में हिंसा और सांप्रदायिक राजनीति बहस का केंद्र में अक्सर रही है। स्वतंत्र भारत में धर्मांतरण का राष्ट्रीय बहस के सतह पर तब

उभर कर सामने आती है जब फादर ग्राहम स्टेंस[559] और उनके दो नाबालिक बच्चों के साथ अमानवीय हिंसा हुई। स्टेंस की हत्या के बाद राष्ट्रपति के.आर.नारायण ने इस घटना के बारे में कहा कि -

> "यह दुनिया के काले कारनामों की सूची में से हैं। जिस व्यक्ति ने वर्षों तक कुष्ठ रोगियों की सेवा की हैं उसका अभार व्यक्त करने तथा उसे आदर्श के रूप में ग्रहण करने के बजाये उसकी इस तरह हत्या सहिष्णुता और मानवता की भारतीय परंपराओं से परे, भयंकर रूप से पथभ्रष्ट होना हैं।"[560]

इसके पहले भी वर्ष 1998 के बाद ऐसे कई उदाहरण हैं, जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संगठन तथा विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल, भाजपा, हिंदू जागरण मंच इत्यादी ईसाई समुदाय को विश्वासघाती, द्वितीय श्रेणी का नागरिक[561] बताते हुए देश छोड़ने का आदेश देते रहे है। स्पष्ट है कि स्वतंत्र भारत में रूढ़िवादी ताकतों ने मुस्लिम समुदाय के साथ ईसाई समुदाय और आदिवासी\दलित समुदाय के विरूद्ध धर्मांतरण की सांप्रदायिक राजनीति को तेज़ किया। ईसाई समुदाय के साथ मुख्य रूप से जोड़ा गया कि धर्म परिवर्तन ताकत, दवाब और प्रलोभन के कारण हो रहे है। संकीर्णवादी ताकतों ने आजादी के पहले और आजादी के बाद अपनी सोच को एक ही लड़ी से जोड़ा। जैसा वर्ष 2009-10 का एक नया 'लव जिहाद' आंदोलन जिसका प्रचार है कि मुस्लिम कट्टरपंथी लव जिहाद के जरिए हिंदू और इसाई महिलाओं को धुरपंथी से अपनी प्रेमजाल में फंसा रहे है। हिंदू संगठनों का दावा है कि हिंदू महिलाएं खुद अपनी मर्जी से धर्मांतरण नहीं कर सकती है। इसलिए हिंदू संगठन हिंदू महिला के मुस्लिम मर्द और ईसाई मर्द के प्रेम, रोमांस, पलायन और विवाह को जबरन करार दिया। यह तर्क महिलाओं की प्रति नज़रिया स्थापित करता है कि हिंदू महिलाओं की पास दिमाग़ नाम की चीज नहीं है और इसलिए वे मुसलमान या ईसाई युवकों के बहकावे में आ रही है और उनकी रक्षा करना हिंदू पुरुषों का परम कर्तव्य है, आज के समय का सबसे बड़ा कर्तव्य। स्पष्ट है कि समय के साथ धर्मांतरण के विरुद्ध सांप्रदायिक राजनीति में लव-जिहाद और घर वापसी जैसे मिथकों को गलत तथ्यों और अफवाहों की मिर्च-मसाला लगाकर हिंसक राजनीति की आधारशिला औपनिवेशिक काल के तरह की हैं। जिससे इस तथ्य को पूरी तरह से इनकार किया है कि ज़्यादातर धर्म परिवर्तन दलितों और आदिवासियों की

---

[559] 22-23 जनवरी, 1999 की रात को फादर ग्राहम स्टेंस और उनके दो बच्चों को, जो उड़ीसा के मनोहरपुर जिले में क्यूंझार में कुष्ठ रोगियों की सेवा में लगे थे, को बजरंग दल कार्यकर्ता द्वारा सिंह तथा उनके साथियों ने जला दिया था।

[560] 25 जनवरी 1999, एशियन एज

[561] 6 सितंबर 1998, एशियन एज

सामाजिक-आर्थिक दासता के कारण हुए है। इसी धर्म परिवर्तन के कारण दलित और आदिवासी समुदाय में आत्मसम्मान की भावना आई है जिससे वे सम्मानपूर्ण जीवन के लिए संघर्षरत है।

धर्मांतरण शब्द एक रचनात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है और संचार माध्यमों का यह दायित्व हैं कि धर्मांतरण राजनीति के सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के स्थिति में समुदाय के मदद के लिए आगे आए। यह सुनिश्चित करें प्रसार माध्यम रचनात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से सांप्रदायिक दुष्प्रचार और धर्मांतरण के बारे में गलत तथ्यों का खंडन करें। परंतु, हिंदी या भाषाई पत्रकारिता में धर्मांतरण के विषय पर पक्षधरता और भड़काऊ अभिव्यक्ति संयुक्त रूप से देखने को मिलती है। मसलन, 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख में सच्चिदानंद सिन्हा लिखते हैं कि -

> "धर्मांतरण का अधिकार हमारा संविधान प्रदत्त अधिकार है। वर्तमान शासन समूह सत्ता में आने के बाद संविधान की मूल मान्यताओं- जैसे संसदीय प्रणाली, धर्मनिरपेक्षता, भारतीयता की अवधारणा, धार्मिक सहिष्णुता और विचार की स्वतंत्रता जिसकी एक अभिव्यक्ति धर्मांतरण भी हैं- आदि सभी को विवादास्पद बना रहा है। आदमी की विचार स्वातंत्र्य की अहम्य इच्छा, जिसकी एक अभिव्यक्ति धर्मांतरण भी है, दबायी नहीं जा सकती। आज इक्कीसवी सदी के दहलीज पर विचार स्वातंत्र्य के उस अधिकार पर, जो हमारे संविधान में उल्लिखित है और संयुक्त राष्ट्र संघ के मानवाधिकारों की घोषणा का अंग बन चुका है, बहस चलाना लगभग सभी समाजों में स्वीकृत अभिव्यक्ति के अधिकार पर फिर से प्रश्न-चिन्ह लगाने का प्रयास ही माना जायेगा। जहां तक जोर-जबर्दस्ती धर्मांतरण का प्रश्न है इसे तो कोई भी उचित नहीं ठहरा सकता और अगर ऐसा कोई प्रयास नज़र आता है तो उससे निपटने के लिए हमारी अपराध संहिता सक्षम है।"[562]

धर्मांतरण के कानूनी व्याख्या पर 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'धर्मांतरण: संविधान और कानूनी प्रतिबंध' में अरविंद जैन बताते हैं कि -

> "अहमदाबाद में हुए संसद के धर्मांतरण पर रोक लगाने के लिए कानून बनाने की मांग की है लेकिन हिंदू निजी कानून की पूरी व्यवस्था धर्मांतरण को रोकने की नहीं तो निरुत्साहित करने वाली ही है। धर्मांतरण करते ही एक हिंदू (परिभाषा के अनुसार सिख, जैन और बौद्ध भी हिंदू ही है) अपनी अनेक अधिकारों से वंचित हो जाता है। ऐसे में यह विचारणीय सवाल है कि ईसाई मिशनरियों पर हमला करने वाले संघ परिवार की यह बात मानकर आग में घी डाला जाये या इस आग को बुझाने का प्रयास किया जाये। हिंदू कोड बिल पर बहस के दौरान डा. अम्बेडकर ने कहा था यह कहना बहुत अच्छा लगता है कि हमने अपनी संविधान में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की बात कही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम लोगों की धार्मिक भावनाओं की कद्र नहीं करते तो धर्म के आधार पर विवाह से लेकर उत्तराधिकार तक के हिंदू कानून को कैसे

[562] 3 फरवरी 1999, हिंदुस्तान

> बना सकते है? संसद किसी भी धर्म को बाकी धर्म पर लादने का अधिकार नहीं है? क्या धर्म के आधार पर बाकी अधिकारों पर प्रतिबंध लगाना असंवैधानिक और धार्मिक स्वतंत्रता का हनन नहीं हैं?"[563]

धर्मांतरण पर प्रतिबंध निजी कानूनों तक ही सीमित नहीं- इसका फैलाव आरक्षण की राजनीति तक अपना विस्तार पाता है। 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'धर्मांतरण: संविधान, आरक्षण और कानूनी प्रतिबंध' में अरविंद जैन लिखते हैं कि-

> "निजी कानूनों से लेकर आरक्षण तक के संदर्भ में वैधानिक या संवैधानिक प्रावधानों में धर्मांतरण पर प्रतिबंध लगाने के पीछे सुविचारित, सुनियोजित और दूरगामी सामाजिक-आर्थिक और धार्मिक ही नहीं, राजनैतिक उद्देश्य भी रहे है। सत्ताधारी वर्ग में उच्च वर्ग की उच्च जातियों का बहुमत रहा है और यह बहुमत मूल रूप से कट्टर यथास्थितिवादी हिंदू नेताओं का है। देश के प्रत्येक नागरिक को धर्म की स्वतंत्रता का मौलिक अधिकार में नेताओं और नागरिकों के पास चुनाव का एक ही रास्ता है। धर्म की जय-जयकार और सेक्युलर बने रहे और जोर से बोले भाई-भाई।"[564]

धर्मांतरण के विषय पर हिंदी पत्रकारिता में जहां एक तरफ़ कानूनी सीमाओं, कानूनी बाध्यता और संसदीय राजनीति के बहस को केंद्र में रखते हुए विचारों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। वही, दूसरी तरफ़ धर्मांतरण के विषय पर सांप्रदायिक राजनीति के हिंसक ध्रुवीकरण के विषय पर लेखन देखने को मिलता है। इस हिंसक राजनीति का शिकार जहां एक तरफ़ ईसाई समुदाय है तो इसके साथ-साथ वंचित और आदिवासी समुदाय के लोग भी होते रहे है। धर्मांतरण के राजनीतिक ध्रुवीकरण में पहले जहां वंचित समुदायों के सदस्य निशाने पर थे वहीं बाद के दशकों में इसका इस्तेमाल ईसाई समुदाय के लोगों के विरुद्ध देखने को मिलता है। कई रूढ़िवादी संगठन इस तथ्य का दावा करते है कि ईसाई मिशनरी मानवता के आड़ में हिंदू समुदाय के लोगों का जबरन धर्मांतरण करा रहे है। ईसाई समुदाय के विरुद्ध हिंसक घटनाओं की अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता में देखने को मिलते है।

मसलन, 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'अपमान का घूंट पी रहे है ईसाई' में चर्च आंफ नार्थ इंडिया के बिशप प्रीतम संतराम लिखते हैं कि -

> "आज स्थिति यह है कि एक पूरे कौम अपनी आप को अपमानित महसूस कर रही है। ईसाईयों के ख़िलाफ़ बहुसंख्यक जनता की भावनाओं को भड़काकर इसे राजनीतिक आकार दिया जा रहा है। मुझे नहीं लगता है कि धर्म या समाज में इसके बीज है क्योंकि हम सदियों से सौहार्द के साथ इकट्ठे रह रहे हैं। फिर भी जिस सुनियोजित तरीके से हमारे गिरजाघरों को जलाया जा रहा

[563] 9 फरवरी 1999, हिंदुस्तान

[564] 19 सिंतबर 1999, हिंदुस्तान

> है, स्कूलों में तोड़फोड़ की जा रही है, प्रार्थना सभाओं को भंग किया जा रहा है, उससे लगता है कि इसके पीछे कोई गहरी साजिश है। सौहार्द कायम हो इसके लिए जरूरी है कि विश्व हिंदू परिषद या हिंदू जागरण मंच जैसे जहर घोलने वाले संगठनों पर रोक लगे।"[565]

हिंदी पत्रकारिता में जहां ईसाई समुदायों के असुरक्षा से प्रभावित लेख देखने को मिलते है। तो, रूढ़िवादी शक्तियों की सांप्रदायिक ध्रुवीकरण राजनीति के अभिव्यक्ति भी देखने को मिलती है। 'नवभारत टाईम्स' में फोकस कालम में विश्वनाथ सचदेव अपनी लेख 'सवाल हम के अस्तित्व का है' में बताते हैं कि-

> "संघ परिवार के कुछ सदस्य मानते हैं कि हाल के विधानसभा चुनावों में हिंदुत्व के सवाल पर ढुलमुल नीति अपनाना भाजपा की हार का एक बड़ा कारण था। हालांकि भाजपा नेतृत्व ऐसा नहीं कह रहा है, पर अध्यक्ष ठाकरे द्वारा इस संभावना से कि भाजपा हिंदुत्व के एजेंडें को पुनर्जीवित कर सकती है, इन्कार न करने के संकेत अस्पष्ट नहीं है। संघ परिवार के कुछ सदस्यों को यह लग रहा है कि ईसाईयों का विरोध अंतत: हिंदुत्व की भावना को मजबूत करेगा। इस देश का प्रत्येक नागरिक, चाहे किसी भी धर्म, जाति या संप्रदाय का हो, मिलाकर हम बनता है। फिलहाल हम का अस्तित्व संकट में है।"[566]

इन लेखों के अतिरिक्त हिंदी पत्रकारिता में खबरों के शक्ल में चर्चों में बम रखें जाने, कब्रिस्तानों से शव उखाड़कर बाहर किए जाने, ईसाई स्कूल प्रिसपलों, शिक्षकों, पुजारी, धार्मिक जनों, बाईबिल की प्रतियां जलाई जाने की ख़बरें में प्रमुखता से देखने को मिलती हैं। इसके साथ-साथ उन समुदायों के साथ हिंसा कि ख़बरें भी देखने को मिलती हैं जिन्होंने धर्मांतरण करके ईसाई धर्म को अपनाया। मसलन आदिवासी समुदाय। उर्मिलेश 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'आदिवासी और हिंदुत्व' में बताते हैं कि-

> "गुजरात और महाराष्ट्र के नासिक में धर्मांतरण और पुन: धर्मांतरण के विवादों के बीच आदिवासी समाज और उसकी धार्मिक आस्था से जुड़े कुछ प्रश्न अस्पष्टता सी है। यह सही है कि पिछले कई सालों के दौरान आदिवासीयों ने अपनी धर्म परिवर्तन किए। पर इस धर्मांतरण में हिंदुत्व कहां प्रभावित है? अगर आदिवासियों की आर्य-हिंदूवाद या हिंदुत्व से कभी कोई आंतरिक संबद्धता नहीं रही है तो उनके ईसाई बनने की प्रक्रिया में हिंदुत्व कहां से आता है? दूसरा धर्मावलंवियों के धार्मिक प्रतीकों, मस्जिदों और गिरजाघरों को तोड़ने का रिकार्ड रखने वाले अब धर्मांतरण पर सार्थक बहस चाहते हैं तो इसे हास्यापद और बेमतलब ही कहा जायेगा।

[565] 3 जनवरी 1999, नवभारत टाईम्स

[566] 3 जनवरी 1999, नवभारत टाईम्स

> आक्रमण और बहस एक साथ कैसे हो सकते है? वास्तव में सत्ता राजनीति ने एक सुरंग बनाई है वे विकास नहीं, मंदिरों और गिरजाघरों में निजी आस्था के नाम पर टकराव चाहते है।"[567]

प्रकाश लुईस 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'धर्म, आदिवासी और धर्मांतरण' में बताते हैं कि -

> "आदिवासियों या दलित-दमितों में धर्मांतरण की लहर मौजूदा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक परिस्थियों की देन है। परंतु, दलितों की तुलना में आदिवासियों में धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया अन्य कारणों के चलते प्रारंभ हुई है। धर्मांतरण आदिवासी समुदायों के लिए केवल मुक्ति का जरिया नहीं रहा है क्योंकि आदिवासी समाज बराबरी के मूल्यों से भरपूर रहा है। आदिवासी समूह के लिए धर्मांतरण आंतरिक गुलामी से अपनी समाज को बचाए रखने का प्रमुझ माध्यम बना। जैसे-जैसे आदिवासी समाज विकसित हुआ वैसे-वैसे अपनी विभिन्न आवश्यकता की पूर्ति हेतु उन्होंने अपनी व्यवस्था कायम की। जैसे उरांव समुदाय में पहान व्यवस्था। एक दूसरी सच्चाई यह भी है कि ईसाईयत ने शिक्षा के माध्यम से अपनी अलग पहचान एंव अस्मिता कायम की है जो रूढ़िवादी ताकतों के विरुद्ध जा रही है क्योंकि वे अपनी अधिकारों के लिए संगठित हो रहे है। इसलिए धर्मांतरण की ध्रुवीकरण राजनीति के निशाने पर उनका आना जरूरी है।"[568]

इसी तरह दलितों के धर्मांतरण और उसके राजनीति पर प्रकाश लुईस 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपनी लेख 'धर्म, दलित और धर्मांतरण' में बताते हैं कि -

> "हिंदुओं ने अस्पृश्यों के प्रति जो अन्याय किए हैं, वे ऐसे कर्म हैं जिन्हें हिंदू धर्म मान्यता प्रदान करता है। वे हिंदू धर्म के नाम पर किए जाते है और हिंदू धर्म के नाम पर उचित ठहराया जाता है। इस स्थिति में अन्य धर्म ग्रहण करना उनका मुक्ति का मार्ग है। इस स्थिति में धर्मांतरण पर रोक की मांग करना अपनी धर्म की धाक और पैठ को बनाए रखने का साधन मात्र है और कुछ नहीं।"[569]

धर्मांतरण की सांप्रदायिक ध्रुवीकरण राजनीति के बहस में दो पक्ष: पहली हिंदुत्ववादी और धर्मों की संस्थाएं और संगठन के मध्य फंस कर रह जाती है। जिसमें एक महत्वपूर्ण पक्ष अक्सर छूट जाता है कि धर्मपरिर्वतन की छटपटाहट क्यों है और क्या इसका मकसद कभी पूरा होता है? क्या

---

[567] 23 जनवरी 1999, नवभारत टाईम्स

[568] 10 दिसंबर 2002, हिंदुस्तान

[569] 12 दिसंबर 2002, हिंदुस्तान

धर्मपरिवर्तन की राजनीति भटकी हुई राजनीति का असर हैं। 'नवभारत टाईम्स' में प्रकाशित लेख 'धर्म परिवर्तन का तीसरा पक्ष' में अनिल चमड़िया लिखते हैं कि -

> "धर्म परिवर्तन शोषित और उत्पीड़त समुदायों खास तौर से दलितों और आदिवासियों के बीच ही होते है। आदिवासियों के बारे में विचार करते समय इस स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए कि इसकी संविधान में कोई स्वतंत्र धार्मिक पहचान नहीं है। लिहाजा जो आदिवासी जनगणना के दौरान उन्हें हिंदू मान लिय जाता है। आदिवासी समुदायों के बीच धर्म परिवर्तन दूसरे धर्म के प्रति आकर्षण से नहीं होता है बल्कि इसके पीछे सामाजिक उपेक्षा के ख़िलाफ़ विद्रोह और समानता तथा सम्मान की लालसा होती है। दलितों और आदिवासियों में धर्म परिवर्तन की सामाजिक, यथास्थितिवाद के ख़िलाफ़ एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया है। स्पष्ट है कि धर्म परिवर्तन की बहस विकास के सरोकारों से जुड़ जाती है जिसे नज़रअंदाज़ नहीं किया ज सकता है।"[570]

जहां एक तरफ़ धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर धर्मांतरण किसी समुदाय के व्यक्ति का मौलिक अधिकार है। शोषित और वंचित समुदाय के लिए धर्मपरिवर्तन उसके सम्मानपूर्ण और सामाजिक परिवर्तन के लिए सहायक उपक्रम है। ओमप्रकाश शुक्ल 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित लेख 'धर्मपरिवर्तन बनाम सामाजिक परिवर्तन' में लिखते हैं कि -

> "दलितों व आदिवासियों का धर्मपरिर्वतन करना स्वाभाविक है। क्योंकि वर्चस्वशाली मूल्यबोधों व वर्ण व्यवस्था को मानने वालों ने आजादी के बाद से आज तक एक भी ऐसा काम नहीं किया है जिससे दलितों व उनके बीच की दूरी को कम किया जा सके। लेकिन धर्मपरिवर्तन से समस्या का समाधान नहीं है। अत: दलित व आदिवासी शब्द को नई सिरे से परिभाषित कर ज़रूरतमंदों में आरक्षण से मिलनेवाली सुविधाओं का लाभ पहुंचाना होगा ताकि आर्थिक भागीदारी से वह अपनी समस्या का समाधान तलाश कर सकें।"[571]

जाहिर है कि धर्म और धर्म परिवर्तन से सांप्रदायिक राजनीति का ध्रुवीकरण स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के बाद भी होता रहा है। परंतु, इन दोनो कालखंडों के सांप्रदायिक राजनीति के अभिव्यक्ति में स्पष्ट अंतर नज़र आता है। औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष के दौरान धर्मांतरण राजनीति में मुसलमान पुरुषों का अवमूल्यन खासकर स्त्री संबंधी शब्दावली में किया जा रहा था। लव जिहाद के फैंटसी के मिथक का निर्माण से मुस्लिमों के ख़िलाफ़ धर्मांतरण की

[570] 21नवबंर 2002, नवभारत टाईम्स

[571] 30 नवबंर 2002, हिंदुस्तान

सांप्रदायिक राजनीति के ध्रुवीकरण का प्रयास किया जा रहा था। जिसका मकसद मुसलमानों को बदनाम करना और लोगों में व्याप्त भय और असुरक्षा का लाभ उठाना था।

मौजूदा वक्त में धर्मांतरण राजनीति में घर वापसी भी एक नव-फैंटेसी के तरह ही है जिसका इस्तेमाल ईसाई समुदाय और अन्य धर्मपरिवर्तित समाज के विरुद्ध देखने को मिलता है जिसकी शुरूआत पादरी ग्राहम स्टेंस और उनके बच्चों को अमानवीय तरीके से जलाए जाने की घटना से हुई कहीं जा सकती है। जिसमें प्रत्यक्ष रूप से स्त्री संबंधी शब्दावली का इस्तेमाल कम देखने को मिलता है। जिसके संबंध में हिंदी पत्रकारिता में प्रमुखता से गंभीर विमर्श देखने को मिलता है। परंतु, धर्मांतरण की राजनीति से महिलाएं भी प्रभावित होती है जिसकी अभिव्यक्ति हिंदी पत्रकारिता में नहीं के बराबर होती है। मसलन, दलित धर्मांतरित महिलाओं को इस किंवदती का शिकार होना पड़ता है कि ईसाई धर्म में यौन संबंधों के मामलों में बहुत छूट है। दलित ईसाई लड़कियां, जो दफ्तरों में नौकरी करती है, यौन अत्याचार या शोषण का सहज निशाना बन जाती है। वे गरीब होने के साथ कमजोर स्थितियों में होने के कारण न्याय के लिए संघर्ष नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त धर्मांतरण राजनीति के हिंसक अभिव्यक्ति में भी महिलाएं हिंसा का शिकार होती है। यह हिंसक राजनीति उनके पहनने-ओढ़ने, घर से बाहर निकलने, सार्वजनिक क्षेत्र में उनकी भागीदारी, स्वतंत्र रूप से जीवन संबंधी फैसले, कभी-कभी खाने-पीने के आदतों को भी नियंत्रित करती है। आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में समानता का लाभ तो उन्हें मिलता है परंतु, छूआछूत के संदर्भ में समानता धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। महिलाएं चाहे किसी भी धर्म, जाति या वर्ग से आती है सामुदायिक जीवन में वो सामाजिक, आर्थिक राजनीति या सांस्कृतिक आधारों पर अपनी अलग-अलग पहचान बनाती है, जो महिलाओं की लिए शोषण और उत्पीड़न को मजबूत भी करती है। हिंदू हिंदुत्व मंच पर संगठित होते हैं, मुस्लिम और ईसाई अल्पसंख्यक के नाम पर संगठित होते हैं। नागरिकों की एकरूपता को ध्यान में रखने के स्थान पर विशेषकृत धार्मिक समुदाय में जनता की संरचना को नाकारात्मक विचारों को अनिवार्यत: प्रेरित किया जाता है और उन्हें दूसरा माना जाता है। पिछले कुछ वर्षों में धर्मांतरण के विरुद्ध राजनीति में यह दावा मजबूती से पेश किया जाता रहा है कि दलित और समाज के कमजोर तबकों के लोग आदिवासी भारत के बहुसंख्यक भारत के बहुसंख्यक हिंदू है। अब धर्म का नाम लेकर उन्हें वैध्यता प्रदान करने की कोशिश किया जा रहा है कि बौद्ध/ जैन /दलित /अ.जा. /अ.जा.ज./अ.पि.व./ आदिवासी और अन्य सभी हिंदू है जिनसे देश में अजेय बहुमत तैयार हो सके। 'घर वापसी' जैसे शुद्धिकरण के कार्यक्रम इसी ऐजेंडा का हिस्सा है जिसमें महिलाओं की अधिकार, समानता और स्वतंत्रता का मुद्दा पूरी तरह से गौण है वो किसी बड़े बहस/विमर्श का हिस्सा तक नहीं है।

धर्मपरिवर्तन या धर्मांतरण के विषय पर हिंदी पत्रकारिता की भूमिका और उसके समाचारों की विभिन्न प्रस्तुतियां संचार माध्यमों के इतिहास में विरोधाभासी प्रवृत्ति को उजागर करते हैं जहां संपादकीय लेखों में पक्ष-विपक्ष के तर्कों पर आधारित विमर्शों को पर्याप्त स्पेश है तो सूचनाओं या समाचारों की अभिव्यक्ति सांप्रदायिक राजनीति को गति प्रदान करते हैं। स्पष्ट है कि धर्मांतरण के विषय पर भ्रामक सूचनाओं की अभिव्यक्ति सांप्रदायिक माहौल में इज़ाफ़ा तो किया ही है और साथ में अंतर्धार्मिक प्रेम और विवाह पर सांप्रदायिक लामबंदी ने सेंध भी लगाई है जिससे सजातीय विवाह की चौहदीयां मजबूत हुई है और जाति के बंधन की दीवारें मजबूत हुई है। इन राजनीति से सांप्रदायिक संगठनों द्वारा एक और राजनीति मजबूत हुई है और वह है स्त्रियों की और अधिक नियंत्रण में करने की। हिंदी और भाषाई पत्रकारिता की यह भूमिका उसे लोकतंत्र के चौथे खंभे की अवधरणा से कोसों दूर ले जाती है। इसप्रकार हिंदी और भाषाई पत्रकारिता कुछ विशेष दृष्टिकोण और राजनीति विकसित करने और अपनी संकुचित आशाएं जनता या जनमत पर थोप रही है।

4.4 निष्कर्ष

भारतीय समाज में वर्ग, जाति और धर्म के आस-पास केंद्रित विषय महिलाओं की विषय पर कई टकराव और मतभेदों को उत्पन्न करता है। इसके साथ-साथ एक सामुदायिक पहचान का उभार भी महिलाओं की निजी और सार्वजनिक जीवन को प्रभावित करता है। कभी-कभी वर्गीय, जातीय और धार्मिक पहचानों से उत्पन्न तनाव महिलाओं की प्रश्नों पर एक एकता को निर्मित करता हैं जिसके मूल में वर्चस्वशाली पितृसत्ता और महिलाओं की यौनिकता को नियंत्रित करने की प्रवृत्ति होती हैं। वर्ग, जाति और धर्म के आधार पर निर्मित पहचान महिलाओं की परिवार और घर की स्थिति में असुरक्षा के प्रश्न को महत्वपूर्ण बनाकर महिलाओं पर नियंत्रण को ज़्यादा जरूरी बना देते हैं। वर्गीय, जातीय और धार्मिक प्रिज्म ने औपनिवेशिक काल से मौजूद दौर में विकासों का लिंगकरण महिलाओं की सवाल पर मिश्रित असर डालते रहे है। संकीर्णता, विभेद, उच्च जातीय आधिपत्य और धार्मिक एकरूपता महिलाओं की विरुद्ध सामाजिक-सास्कृतिक और आर्थिक विभेदों को मजबूत करते है और एक-दूसरे का पोषण करके महिलाओं की लिए अधिक अनुशासन और सामाजिक गतिशीलता पर नियंत्रिण करके सामाजिक चौहद्दियों का निर्माण करती हैं। हिंदी पत्रकारिता में वर्गीय, जातीय और धार्मिक विषयों पर महिलाओं की स्थितियों का मूल्यांकन सकारात्मक कम और नकारात्मक चित्र अधिक उभरता हैं। महिलाओं की विषयों की अभिव्यक्तियों में वर्गीय, जातीय और धार्मिक भेद किए बिना एक रूप समूह के तौर पर दिखती हैं जो कभी-कभी उच्च जाति, मध्यवर्गीय और शहरी एंव ग्रामीण शब्दों के संबोधन में छिप जाते

हैं। वर्गीय, जातीय और धार्मिक अधिरचना के भीतर अगर महिलाओं की विषय आते भी है तो उनके शोषण, उत्पीड़न और दोयम दर्जे की यथास्थिति पर अधिक जोर दिया जाता है। इस अधिरचना में मौजूद मूल समस्या का मूल्यांकन यदा-कदा ही कुछ लेखो या संपादकीय में ही दिखता है जो महिलाओं की विमर्श को सतह पर स्थापित नहीं कर पाते है। इसके बरक्स हिंदी पत्रकारिता में वर्गीय, जातीय और धार्मिक समाज में मिथकों के निर्माण की मशीनरी के रूप में प्रयुक्त होता है कभी सचेत तौर पर तो कभी अचेत तौर पर। इस पूरी प्रक्रिया में हिंदी पत्रकारिता में भारतीय समाज में वर्गीय जातीय और धार्मिक निर्धारित समाज की पदासोपनीय व्यवस्था पूरी तरह से अनदेखी भी दिखती है, जिसके कारण भारत कि सांस्कृतिक विवधता जिसका अंतसंबंध महिलाओं से जुड़ा हुआ है कभी अभिव्यक्त नहीं हो पाती है। संचार के माध्यम के रूप में हिंदी पत्रकारिता लोगों में जनमत और व्यक्तिगत विश्वास को धीरे-धीरे बनाता है जो विचारों को गढने और समाजीकरण की प्रक्रिया को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी तक संप्रेषित करता है। महिलाओं की संदर्भ में यह जोखिम भरा हो जाता है वर्गीय, जातीय और धार्मिक प्रिज्म महिलाओं की घरेलू और सार्वजनिक जीवन को किस प्रकार नियंत्रित और प्रभावित करते हैं, संविधान की लोकतांत्रिक, समानतावादी और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के साथ महिलाओं की स्थिति किस प्रकार प्रभावित होती है ? इस संदर्भ में कोई विमर्श हिंदी पत्रकारिता के बहसों या विमर्शों में कभी अभिव्यक्त नहीं हो पाता है।

उपसंहार : निरंतर संघर्ष

भारतीय समाज के तमाम सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बदलावों का जायजा लेने के लिए भारतीय भाषा के समाचारपत्रों का विकास एक थर्मामीटर का काम कर सकता हैं। भारतीय भाषायी समाचारपत्रों में हिंदी पत्रकारिता अपने रीडरशिप के प्रसार संख्या(Daily Circulation) के कारण महत्वपूर्ण हैं क्योंकि सबसे ज्यादा पाठकों की सख्यां वाले अख़बारों में हिंदी के पांच अख़बार हैं। चूंकि भारत में एक बड़ा भाग हिंदी भाषा-भाषी है इसलिए जनमानस पर हिंदी पत्रकारिता के प्रभाव का आकंलन करते हुए हिंदी पत्रकारिता के प्रभाव को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इसके साथ-साथ हिंदी अख़बार के पाठक केवल पाठक नहीं है, वह अख़बारों में प्रकाशित तथ्यों से सीधे तौर पर प्रभावित और प्रेरित भी होता हैं, उसके व्यक्तिगत विश्वास को बनाने में, यहां तक कि उसके आत्मबोध को भी बनाने में और उसके विचारों को गढ़ने में या समाजीकरण की प्रक्रिया में हिंदी के अख़बार के महत्वपूर्ण भूमिका हैं। हिंदी अख़बारों का समान्य पाठक शहरी-ग्रामीण इलाकों, नगरों और कस्बों में रहता हैं। वह आस्था, संबंधों पर निर्भरता, उपलब्ध सत्यों या मान्यताओं पर निष्ठा के मध्य कई तरह के विश्वासों के मध्य जीता हैं जिसके वजह से पाठक परंपरागत मूल्यबोधों के दायरें में ही सोचता हैं। हिंदी अख़बारों के अधिकांश पाठक यह नहीं समझ पाते है कि पत्रकारिता के माध्यम में भी वही सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक शक्तियां काम करती हैं जो व्यापक समाज में मौजूद होती है। पत्रकारिता भी आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक दवाबों के मध्य काम करती है और पत्रकारिता भी उस व्यापक समाज का ही हिस्सा है। वस्तुत: पत्रकारिता अपने मौजूदा स्वरूप में जो चाहे वो करने के लिए स्वतंत्र नहीं है- सिवाय उन चीजों के, जिसका नाम यथास्थिति है। इन स्थिति के मध्य हिंदी भाषाई अख़बारों के पाठकों के जन-विश्वासों के मध्य महिलाओं के प्रश्न या समस्याओं के प्रसंग में निरंतरता और बदलाव की जटिलताएं घुटन और चुप्पी के रूप में अभिव्यक्त होते हुए दिखती हैं। जिसमें महिलाओं की समस्याओं का मूल्यांकन पिछड़ेपन और विकास का मिला-जुला मिश्रण हैं महिलाओं से संबधित विषयों की मुख्य समस्या यह हैं कि वह सभी वर्ग, जाति और धार्मिक समुदाय के महिलाओं के लिए एक ही तरह की नहीं हैं वरन विभिन्न पहचानों के आधार पर मांगों का निमार्ण हैं। सामाजिक बदलाव के नियामक और सामाजिक यथास्थिति के परंपरागत मूल्य दोनों ही महिलाओं को पिछड़ेपन और विकास के तरफ एक साथ अलग-अलग तरीकों से ढ़केलती हैं।

इस परिपेक्ष्य में, हिंदी पत्रकारिता में 90 के दशक में आर्थिक, जातीय और धार्मिक राजनीति के तनावों से महिलाओं की समस्याएं भी अछूती नहीं थी क्योंकि इनसें जुड़े हुए नियामक महिलाओं के स्वतंत्रता और समानता को नियंत्रित करने में केंद्रीय भूमिका निभाते हुए प्रकट होते है। इन

बदलावों के मध्य हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं के प्रश्नों को किस रूप में व किस सीमा तक प्रभावित किया हैं या कर रहा हैं और यह हिंदी पाठक समुदायों के मध्य किस तरह अभिव्यक्त हो रही हैं। प्रस्तुत शोध शोध ***Gender and Media in North India: Study of Hindi Newspapers Since 1990 To 2010*** का मुख्य प्रस्थान बिंदु है।

हिंदी पत्रकारिता के विकास-यात्रा में बीसवी सदीं का महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक ऐसा प्रस्थान बिंदु है जिसके पहले की हिंदी पत्रकारिता का स्वरूप अलग था और इस दशक के आते-आते हिंदी पत्रकारिता अलग रूप से अभिव्यक्त होने लगी (महिलाओं के जुड़े विषयों के संदर्भ में)। इस दशक के हिंदी पत्रकारिता में जहां कुछ सकारात्मक प्रभाव दिखता है तो काफी हद तक नकारात्मक प्रभाव भी दिखते है। यह प्रभाव समाज के अन्य तबकों के साथ-साथ एक बहुत बड़ा वर्ग जिसे हम आधी आबादी के नाम से जानते है, को सबसे अधिक प्रभावित किया है। इन साकारात्मक और नाकारात्मक प्रभावों में महिलाओं के प्रश्नों के साथ मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं तो यह स्पष्ट रूप से दिखता है कि जाति, धर्म और महिलाओं का निजी/सार्वजनिक दायरा ऐसे संवेदनशील विषय है जो महिलाओं के प्रश्न को प्रभावित करते रहे हैं या इनसे जुड़ी मान्यताएं महिलाओं की समानता और स्वतंत्रता को रोकती हैं। इसका प्रभाव औपनिवेशिक हिंदी पत्रकारिता पर भी था और आजादी के बाद के हिंदी पत्रकारिता इससे मुक्त नहीं हो पाई, क्योंकि हिंदी पत्रकारिता के अंदर लोकतांत्रिक चेतना का विकास नहीं हो सका। जाति, धर्म और घर/बाहर जैसे विषयों के साथ-साथ समय अंतराल में हिंदी पत्रकारिता में कुछ नये संदर्भ भी जुड़ते चले गए, जिसने महिलाओं के प्रश्नों को प्रभावित किया है - जैसे आर्थिक गतिशीलता के प्रभाव, सामाजिक न्याय के कारण जातीय गतिशीलता और सांप्रदायिक राजनीति के दवाब के महौल में वैचारिक पत्रकारिता का प्रभाव। इन नये संदर्भों के साथ जब हम महिलाओं के प्रश्नों को देखते हैं तो स्थिति काफी परेशान करने वाली दिखती है। इनपर हल्के से विचार नहीं किया जा सकता है क्योंकि इसके साथ चलने वाले पूर्वाग्रह भारतीय समाज के जनचेतना पर स्थूल तरीकें से चलनी वाली चीजें है। इसके जो शक्ति-संबंध है वो हमारी चेतानाओं में जिंदा रहते हैं और इससे मुक्त होने कोशिश में भी हम इससे मुक्त नहीं हो पाते है। परिणामस्वरूप हिंदी पत्रकारिता अपने लोकतांत्रिक होने के दावे से दूर छिटक जाती है जिसका दावा वह प्रस्तुत करती है।

ऐतिहासिक रूप से हिंदी पत्रकारिता के मूल्यांकन में दशकों से जो प्रक्रियाएं चली उसमें और स्वाधीन भारत के बाद भी हिंदी पत्रकारिता के प्रवृत्तियों में निरंतरता के कई सूत्र मौजूद दिखते हैं जो महिलाओं की समस्याओं या प्रश्नों को सार्वजनिक बहस का हिस्सा बनने नहीं देते हैं।

मिसाल के तौर पर जाति, धर्म और पुरुष श्रेष्ठता से जुड़ी मान्यताओं को ही ले, तो अर्से तक इन प्रवृतियों ने महिलाओं की समस्या को सार्वजनिक मंच का हिस्सा नहीं बनने दिया। औपनिवेशिक काल में के अंतिम दो दशकों में और आजाद भारत में भी दो दशक बाद महिलाओं ने स्वयं अपने प्रश्नों और समस्याओं को नारीत्व के परिमार्जित परिभाषा से बाहर निकालने का प्रयास किया जिससे महिलाओं के लिए एक स्पेस का निमार्ण हुआ और जिसने महिलाओं के लिए कई नये दरवाजों को खोला। औपनिवेशिक दौर में महिलाओं की कमोबेश हर प्रश्नों पर समाज-सुधारकों में गहरा मतभेद था जो आज भी लगभग कायम है, लेकिन राज्य और समाज के शोषण चरित्र पर कोई मतभेद देखने को नहीं मिलता है। महिलाओं को हर बदलाव के दौर में इस यथास्थिति से संघर्ष करना पड़ा कि राजनीतिक मुक्ति से सामाजिक मुक्ति का मार्ग खुल जायेगा। इसलिए आजादी के दो दशक तक हिंदी पत्रकारिता के अभिव्यक्ति में महिलाओं के समानता के सवाल गायब दिखते हैं। जिससे स्पष्ट होता है कि समाज में व्यापक स्तर पर लोकतांत्रिक भावना का विकास नहीं हो सका, जिसका प्रतिबिंब पत्रकारिता पर देखने को मिलता है।

स्वतंत्र भारत में समाज में बदलते सरोकारों, आर्थिक परिस्थितियों के साथ पत्रकारिता के बदलते मिजाज ने परिवर्तन की लहर को एक गति जरूर दी। परिवर्तन की इस लहर में महिलाओं के साथ हिंसा की समस्या जो अभी तक सार्वजनिक रूप से चर्चा का विषय नहीं थी, उसको हिंदी पत्रकारिता ने निजी दायरे से निकालकर सार्वजनिक बहस के केंद्र में लाने का काम किया। अब तक जो समस्याएं घरेलू मामले मानी जाती थी, वे अख़बारों के सुर्खियों में आने लगी। महिलाओं की समस्याओं पर ख़बर देने भर की भूमिका से बाहर निकलकर हिंदी पत्रकारिता ने तथ्यपरक संपादकीय और लेखों के माध्यम से महिलाओं के वस्तुस्थिति का मूल्यांकन करना प्रारंभ किया। यह स्थापित करने का प्रयास दिखता है कि महिलाओं की समस्याओं का आधार आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक और राजनीतिक भी हैं। परंतु, महिलाओं से संबंधित ख़बरें "साफ्ट न्यूज" या "नर्म ख़बरें" ही मानी जाती रही हैं। जब तक कि इसमें सनसनी या हिंसा के तत्व नहीं हो। ये ख़बरें "स्कूप" बनने में समर्थ नहीं होती हैं। ऐसे में कई ख़बरें अक्सर पिछड़ जाती है। मसलन, "बलात्कार" की हिंसा का प्रभाव सभी महिलाओं के साथ एक तरह का नहीं हो सकता हैं। वंचित समुदाय की महिलाओं के साथ यह हिंसा के अन्य पहलूओं को भी स्थापित करता हैं। परंतु, हिंदी पत्रकारिता में "बलात्कार" के घटनाओं के मूल्यांकन में महिलाओं के शोषण और उत्पीड़न को अधिक उभारा जाता हैं। "बलात्कार" वह है जो पुरुषों ने किया है। स्त्री के साथ जो हुआ है, उसके लिए कोई नाम तक नहीं है, इससे यह पता चलता है कि घटनाओं को बयान करने वाली हिंदी पत्रकारिता की शब्दावली कितनी नाकाफी है। हिंदी पत्रकारिता में बलात्कार संबंधी अधिकांश ख़बरों

की भाषा में आक्रोश और क्षोभ के जगह एक तरह की रसलीनता देखने को मिलती है। कई लेखों में समस्याओं का मूल्यांकन इसप्रकार से होता है कि महिलाएं हिंसा के कारणों के लिए स्वयं दोषी है। इसप्रकार के कई लेख स्थापित मूल्यों की छवि को नकारता भी है और नई छवियों को अन्य माध्यमों से स्थापित भी करता है। यह ऐसा एक पहलू है जिसपर हिंदी पत्रकारिता को गहराई से विचार करने की जरूरत है।

90 के दशक के मध्य में हिंदी के अख़बारों ने महिलाओं की समस्याओं को सामाजिक-आर्थिक-सास्कृतिक परिपेक्ष्य में समझने के लिए गंभीर संपादकीय, कभी-कभी अतिरिक्त पेजों के माध्यम से भी, साप्ताहिक रूप से एक कोना या पन्ना निर्धारित है। लेकिन हिंदी अख़बारों के इन पन्नों में महानगरों में रहने वाली उच्च वर्ग की महिलाओं के लिए अवसरों और उनके सफलता के किस्सों को सुविधानुसार बढ़ा-चढ़ाकर बयां किया जाता है। इन पन्नों में ग्रामीण या शहरी झुग्गीयों में रहने वाली महिलाएं और दलित आदिवासी स्त्रियों की स्थिति, उसके संघर्ष के बारे में एक तरह की चुप्पी दिखती है। यह सही है कि हिंदी पत्रकारिता में प्रकाशित सामग्री एक बड़ी सीमा तक पितृसत्ता में घरेलू पत्नी, माता और आश्रिता के रूप में महिलाओं की भूमिका को दिखाती भी रही और इसपर खुलकर प्रश्न चिन्ह लगाने का काम भी किया। परिवार, विवाह और विवाह एंव तलाक कानूनों पर विसंगतियों के साथ-साथ आदर्श स्थितियों को भी अभिव्यक्त किया, जिनपर साहित्य, सिनेमा और धारावाहिकों के प्रस्तुतीकरण का प्रभाव देखने को मिलता हैं।

महिलाओं के रोजगार के संबंध में हिंदी पत्रकारिता कि अभिव्यक्ति महिलाओं की समस्याओं को प्रकट करने के साथ-साथ यथार्थ का भाम्रक तस्वीर को भी प्रस्तुत करता हैं। कामकाजी महिलाओं की समस्याओं को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ कई लेखों में बार-बार बताने का प्रयास दिखता हैं कि उनके जीवन की प्राथमिकता रोजगार नहीं घर ही है। उनका आदर्श रूप तभी प्रस्तुत किया गया जब वह पुरुष के सहायक या सम्पूरक के रूप में होती है। महिलाओं के साथ छेड़छाड़ से लेकर, उनके यौन शोषण, उन्हें शिक्षा के समान अधिकार न होने, उनतक स्वास्थ्य सुविधाओं के लाभ नहीं पहुंचने, राज्य और सरकारी नीतियों के कारण महिलाओं का शारीरिक और मानसिक शोषण, उनके हितों में कानूनों के लाभ नहीं मिल पाने, समान कार्य के लिए उन्हें समान वेतन न होने और कुल मिलाकर घर और बाहर उनका शारीरिक मानसिक शोषण होने की सामग्री को अख़बारों ने आलोचना के साथ-साथ यथास्थिति को बनाये रखने वाले लेखों को भी प्रकाशित किया।

हिंदी पत्रकारिता में महिलाओं के प्रश्नों कम सहभागिता के कारण, समस्या गंभीर विमर्श के रूप में जगह नहीं बना पाती है। इसमें दो राय नहीं है कि सहभागिता एक बड़े वर्चस्व को तोड़ती है

जो भारतीय समाज के लिए चुनौति है, लेकिन इसकी भी एक सीमा है। जाति और धर्म के राजनीतिक महत्व के कई प्रश्न जो महिलाओं के स्वतंत्रता को प्रभावित करते हैं महिलाओं की समस्याओं में अंतर किए बिना एक समूह के तौर पर देखता है जिसके कारण महिलाओं के समस्याओं का मूल्याकंन जमीनी सच्चाई से अलग होती दिखती है। मसलन, तीन तलाक का विषय मुस्लिम समुदाय में सभी महिलाओं के साथ एक ही तरह का नहीं है। इसमें वर्गीय, क्षेत्रीय और आर्थिक आधार पर भिन्नताएं भी हैं परंतु, अधिंकांश लेखों के मूल्यांकन में इसकी अनदेखी मिलती है। वास्तव में हिंदी पत्रकारिता की चेतना स्त्री-पुरुष के मध्य विभाजित दिखती है। वह महिलाओं की समस्याओं को वर्ग आधारित श्रेणीबद्धता को स्वीकार ही नहीं करना चाहता हैं। जिसके कारण मध्यवर्गीय महिलाओं कि समस्या, चाहे वह किसी भी जाति या धार्मिक समुदाय की हो, मुख्य ख़बर के रूप में अपनी जगह तो बना लेती है। परंतु, उसमें वर्गीय आधार पर मूल्यांकन नहीं देखने को मिलता है और सभी महिलाओं की समस्याओं का एक ही समाधान पेश करती हैं। उसी तरह स्त्री-पुरुष संबंधों के स्तर पर भी वे किसी नए और संतुलन के लिए संघर्ष नहीं करते, बल्कि मौजूद संतुलन को ही ज्यादा सहनीय और सफल बनाने का प्रयास करते है। मौजूदा ढ़ांचे को जैसी स्त्रियां चाहिए वैसी स्त्रियां पैदा करने की विशाल सांस्कृतिक मुहिम में अपनी भूमिका को निष्ठा से निभाते है। वस्तुत: यह समझना जरूरी है कि अख़बारों के माध्यम से भी वही सामाजिक-सांस्कृतिक शक्तियां काम करती हैं, जो उस व्यापक समाज मौजूद है। हिंदी पत्रकारिता में में एक वर्गीय एकता काम करती है, जो अख़बार और उसके बाहर के स्थितियों को संतुलित करने का काम करती है। यह एकता महिलाओं की समस्याओं को वर्गीय आधार पर नहीं देखती है, यह एकता उन महिलाओं के विरुद्ध खड़ी दिखती है जो अपनी परंपरा प्राप्त स्थितियों से संतुष्ट नहीं है।

हिंदी के अख़बारों के जातिय पूर्वाग्रहों को हाल के दिनों मे सहारनपुर की घटना पर "हिंदुस्तान" के संपादक के पत्र से समझा जा सकता है। संपादकीय लिखता है कि-

> "हिंदुस्तान एक तरक्कीपसंद समाचार पत्र है। आपका प्रिय अखबार पत्रकारिता के उच्च मानदंडों का पालन करता है। जातीय तनाव या अलगाव ना बढ़े, इसलिए हम सहारनपुर की घटनाओं में हमलावरों या पीड़ित व्यक्ति की जाति का उल्लेख नहीं कर रहे है।"[572]

यह संपादकीय हिंदुस्तान के संपादक शशिशेखर का है। जब पूरी दुनिया यह बात अच्छी तरह जान गई है कि सहारनपुर में दलितों और ठाकुरों में संघर्ष हुआ और उसका कारण सिर्फ़ और

[572] 26 मई 2017, हिंदुस्तान

सिर्फ़ जाति और उसकी परंपरागत स्थिति में आया बदलाव है...राजपूतों का दलितों का मोटरसाइकिल पर चलना गवारा नहीं.....उन्हें नाराजगी है कि दलित लड़के बड़े लोगों को सम्मान देने की परंपरा को छोड़ रहे है, तो संपादक जी नहीं चाहते है कि इस संघर्ष को लेकर जाति को चिन्हित किया जाए। हालांकि हाल तक अख़बार दलित और राजपूत लिखता रहा है। हिंदी अखबारों में मौजूद इन जातीय पूर्वाग्रहों के रहते जातीय पहचान महिलाओं के निजी और सार्वजनिक जीवन को किस तरह प्रभावित करती है। इसका मूल्यांकन अक्सर ऊंची जाति, वंचित जाति, शहरी और ग्रामीण शब्दों के संबोधन में छुप जाते है। जातीय अधिरचना के भीतर अगर महिलाओं के विषय आते भी है तो उनके शोषण, उत्पीड़न और दोयम दर्जे की यथास्थिति पर अधिक जोर दिया जाता है।

हिंदी पत्रकारिता जिस व्यापक्र फ्रेमवर्क का हिस्सा है उसको बदलने की आवश्यकता है ताकि दमित, वंचित और महिलाओं की समस्याओं के प्रति उसे संवेदनशील बनाया जा सके। जिसके लिए समाचार माध्यमों और पत्रकारिता शिक्षण संस्थाओं में व्यापक स्तर पर दवाब के जरिये बदलाव की जरूरत है क्योंकि यथास्थिति की खूबी यही है कि वह कभी भी यथास्थिति नहीं रहती है उसमें बदलाव के बीज छुपे होते है। पत्रकारिता के विकास यात्रा में यह दिखता है कि अपने तमाम पूर्वाग्रही मानसिकता और अंतविरोध के बाद भी उसमें मौजूद प्रतिध्वनियों ने ही उसके भीतर और बाहर बड़े बदलाव धीरे-धीरे हुए है। स्त्री अधिकारों की चेतना समाचार पत्रों को कुछ संतुलित बनाया है तो स्त्री-सौंदर्य का फूहड़ व्यावसायिक इस्तेमाल की प्रवृत्ति भी बढ़ी है दूसरी ओर स्त्री संघर्ष की प्रतिध्वनियां भी सुनाई दे रही है। सामाजिक दबाव के बाद भी स्थिति में बदलाव नहीं होने की स्थिति में सार-गर्मित विषयवस्तु की अभिव्यक्ति की कमी को सोशल मीडिया के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही है। जिसे वैकल्पिक मीडिया[573] करार देने की कोशिश हो रही है। परंतु, क्या जिसे हम वैकल्पिक कह रहे है वह वैकल्पिक है? क्या सोशल मीडिया की ताकत सच में उन विचारों को हासिल कर सका है, जिन्हें मुख्य धारा की मीडिया में जगह नहीं मिली है? क्योंकि सोशल मीडिया अगर किसी बदलाव का मंच साबित हो रहा है तो इसी मीडिया पर भड़काऊ, झूठे और आधारहीन ख़बरें भी जा रही है? यह एक अलग शोध की मांग करता है क्यों कि स्त्री प्रश्नों को ध्यान रखें तो वैकल्पिक नैरेटिव के बिना वैकल्पिक मीडिया कुछ नहीं हो सकता है, वैकल्पिक अगर कुछ है तो सिर्फ नैरेटिव, राजनीति और विचारधारा।

---

[573] जब भी वैकल्पिक मीडिया की बात होती है तो इसे सोशल मीडिया से जोड़ दिया जाता है, कुछ वर्ष पूर्व तक इसे लघु पत्रिकाओं या फिर छोटे-मझोले अखबारों को माना जाता था। वक्त बदला, तकनीक बदली तो ब्लांग्स, फेसबुक और वेबसाइट ने इस अवधारणा को बदल डाला। वैकल्पिक शब्द किसी संरचना/विचार य फिर किसी ईकाई के बरअक्स कोई ऐसा ढ़ांचा, जो उससे अलग और कई अर्थो में उलट तौर हमारे बीच पेश आएं।

महिलाओं से संबंधित ख़बरों को अब मात्र छपने की जगह(स्पेस) की नहीं उचित स्थान(प्लेस) की भी आवश्यकता है। एक ऐसी सकारात्मक नज़रिये की आवश्यकता है जो विषय के साथ-साथ प्रस्तुतीकरण को भी महत्व प्रदान कर सके। जिसे महिलाओं के प्रति जनमानस के मानसिकता में भी बदलाव हो सके, इसके लिए आत्मसंघर्षों को गतिशील बनाए रखना होगा।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

प्राथमिक स्त्रोत(Primary Sources)

अभिलेखागारीय स्त्रोत

Seventh Report of Indian Social Conference, 1893, NMML

Census Report of India for the year 1891, 1931, 1941, (Microfilms); NMML

Raj putana Dist. Gazetteers Compiled by Maj K.D .Erskine (Microfilms); NMML

क्षात्रधर्म मासिक, (समाचार-पत्र), वर्ष 1, अंक 8, मई 1938, (Microfilms); NMML

'कन्यावध' आलेख द्वारा ठाकुर धीरसिंह शेखावत,क्षात्रधर्म मासिक, (समाचार-पत्र), वर्ष 1, अंक 8, मई 1938, (Microfilms); NMML

सेन्सस रिपोटर्स

सेन्सस आंफ इंडिया, वांल्यूम 1A, इंडिया, पार्ट-II, टेबल्स,द्वारा एच.एच. रिजले व ई. ए. गेट, कलकत्ता,1, ज.का.नि.ज.

सेन्सस आंफ इंडिया 1921,वांल्यूम xxiv, राजपूताना एंड अजमेर,मेरवाड़ पार्ट 3, टेबल्स, ज.का.नि.ज.

सेन्सस आंफ इंडिया 1921,वांल्यूम xxiv, राजपूताना एंड अजमेर,मेरवाड़ पार्ट 3,एडमिनिस्ट्रेटिव वोल्यूम, कलकत्ता, 1923,ज.का.नि.ज.

रिपोटर्स

स्टेट जेंडर एंड द रिट्रोरिक आंफ लां रिफार्म, "महिलाओं की अध्ययन का शोध केंद्र" एस.एन डी.टी., महिला विश्वविद्यालय,मुबंई

कंट्री रिपोर्ट(1985), "महिलाओं पर चौथा विश्व सम्मेलन, बीजिंग" भारत सरकार,नई दिल्ली

(1965) -, भारत में शिक्षा पर रिपोर्ट(कोठारी कमीशन),नई दिल्ली

(1964)-, लड़के और लड़कियों की शिक्षा के विभेदीकरण पर हंसा मेहता कमीशन की रिपोर्ट,नई दिल्ली

(1958-59) महिला शिक्षा पर राष्ट्रीय कमीशन की रिपोर्ट,नई दिल्ली

गवर्नमेंट आंफ इंडिया(1950) विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट,नई दिल्ली

श्रम शक्ति(1988), स्व-नियुक्त महिलाएं और अनौपचारिक क्षेत्र में महिलाओं पर राष्ट्रीय कमीशन की रिपोर्ट,नई दिल्ली

प्रथम प्रेस आयोग रिपोर्ट, पार्ट-1,(1954),नई दिल्ली

Report of the second Press Commission, Vol-1 1985. New Delhi

Status of Women in India: A synopsis of the Report of the National Committee on the status of women 1971-1974. I.C.S.S.R, New Delhi, 1975

Women'S Development –some critical issues: Report of a seminar of women legislators. Sponsored by: Gandhi Peace Foundation, UNICEF, ICSSR, Social Welfare (Govt. of India), Mahwah Publication, New Delhi, 1978

Towards Equality: Report of the Committee on the status of women in India, New Delhi, Department of Social Welfare, Ministry of Education & Social Welfare, 1975

Women in India – A Country Paper, New Delhi, Ministry for Women & Child Welfare, Govt. of India, 1973

Mass Media in India, Publications Division, Government of India, New Delhi, 1988

Print Media and Communalism – A Document prepared by charu and Mukul, New Delhi, 1990

Files of Media Report on Women Betwen 1983-89

UNESCO Report No.84, Mass Media: The Image, Role and Social Conditions of Women, Paris, 1979

UNESCO Report titled, women and Decision Making: The Invisible Barriers, Paris 1987, Indian Edn, New Delhi: sterling Publishers, 1989

Centre for women's Development studies (CWDS) 1988, Perspective form the women's movement, New Delhi: CWDS

Constituent Assembly Debates on Panchayati Raj (1948-49)

Goverment of India, Department of women and child Development 1988, National Perspective plan for women, 1988-2000, New Delhi

Center for Women's Development studies: National Population policy. Perspectives for the women's movement, 1997 New Delhi

Center of Social Medicine and Community Health 1998 "Reproductive Health in India's Primary Health Care" Jawaharlal Nehru University, New Delhi

Indian Association of Women's Studies, Seventh National Conference of women's studies 1995 – Looking Forward Looking Bank: In search of Feminist Vision, Alternative paradigms and practices – Abstract of paper, IAWS, New Delhi

बुकलेट\पत्रिकाएं

Farooqui, Vimal "Women : Victims of an Exploitative Economic system and Unjust Social Order".National Federation of Indian Women Publication. New Delhi. 1983

Singh, Nalini "Indian Women and the Media." Ministry of Social and Women's" Welfare and UNICEF.New Delhi. 1985

राजकिशोर,आज के प्रश्न(सं.) "हिंदू होने का मतलब"वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

राजकिशोर,आज के प्रश्न(सं.) "काश्मीर होने का मतलब"वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

राजकिशोर,आज के प्रश्न(सं.) "स्त्री की लिए जगह"वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

राजकिशोर,आज के प्रश्न(सं) "हिंसा की सभ्यता"वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

राजकिशोर,आज के प्रश्न(सं) "स्त्री,परंपरा और आधुनिकता" वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

उपाध्याय,रमेश (सं.) "सामाजिक न्याय की अवधारणा" शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2014

उपाध्याय,रमेश (सं.) "श्रम का भूमंडलीकरण" शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2004

उपाध्याय,रमेश (सं.) "आज का स्त्री आंदोलन" शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2011

उपाध्याय,रमेश (सं.) "परिवार में जनतंत्र" शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2004

उपाध्याय,रमेश (सं.) "उत्पादन श्रम और आवारा पूंजी" शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2010

उपाध्याय,रमेश (सं.) "स्त्री सशक्तिकरण की राजनीति" शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2012

उपाध्याय,रमेश (सं.) "विवाह संस्था में बदलाव की ज़रूरत" शब्दसंधान, नई दिल्ली, 2013

सिंह,कृष्ण,(सं.) "पूंजीवाद का संकट और मार्क्सवाद की चुनौतीयां", समांतर पुस्तक, नई दिल्ली, 2014

चतुरसेन,आचार्य(सं.) "चांद का फांसी अंक" इलाहाबाद, प्रथम प्रकाशय 1928, संस्करण 2000

तिवारी,नंद तिवारी(सं.) "चांद का अछूत अंक" इलाहाबाद, प्रथम प्रकाशय 1927, संरकरण 2014

पांण्डेय,कमला दत्त(सं.) "हिंदू पंच का बलिदान अंक" नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2011

दुबे,अभय कुमार(सं.), "प्रतिमान" प्रवेशांक जनवरी-जून, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

दुबे,अभय कुमार(सं.), "प्रतिमान" वर्ष-1,अंक-2, जुलाई-दिसंबर, वाणी प्रकाशन, 2013

दुबे,अभय कुमार(सं.), "प्रतिमान" वर्ष-2, अंक-1, जनवरी-जून, वाणी प्रकाशन, 2014

दुबे,अभय कुमार(सं.), "प्रतिमान" वर्ष-2, अंक-2, जुलाई-दिसंबर, वाणी प्रकाशन, 2014

पचौरी,सुधीश(सं.), "वाक" अंक-19, अप्रैल-जून, वाणी प्रकाशन, 2014

वाजपेयी,अशोक(सं.), "बहुवचन" अंक-1, अक्टूबर-दिसंबर, वर्धा (महाराष्ट्र), 2001

वाजपेयी,अशोक(सं.), "बहुवचन" अंक-2 अप्रैल-जून, वर्धा (महाराष्ट्र), 2000

वाजपेयी,अशोक(सं.), "बहुवचन" अंक 3-4, जुलाई-दिसंबर, वर्धा (महाराष्ट्र), 2001

वाजपेयी,अशोक(सं.), "बहुवचन" अंक-7, अप्रैल-जून, वर्धा (महाराष्ट्र), 2001

वाजपेयी,अशोक(सं.), "बहुवचन" अंक-10, जनवरी मार्च, वर्धा (महाराष्ट्र), 2002

शंभुनाथ(सं.), "समकालीन सृजन" वाजपेयी, अंक-21, जनवरी-मार्च 2005

वाजपेयी,अशोक और वाजपेयी,रश्मि(सं.), "नटरंग" अंक-86-87, फरवरी, 2013

अनुज(सं.), "कथा"अंक-2, मार्च, नई दिल्ली, 2013

शाही,सदानंद (सं.), "साखी", अंक-13-14, मार्च, 2007

शाही,सदानंद (सं.), "साखी", अंक-15-16, मार्च, 2008

कालजयी, किशन(सं.), "संवेद", अंक-1, 2012

नंदन,कन्हैया लाल(सं.), "गगनांचल" अंक-4, अक्टूबर-दिसंबर 2001

बेवसाईट

सरकार,तनिका, एथनिक विलजिग इन गुजरात,एन एनालिसिस आंफ एस्पेक्ट्स, http://www.indowindow.comakhalur देखने की तारिख 22/12/2015

तेलतुम्बड़े,आनंद, डैमनिंग द दलित फांर दी बनिया-ब्राह्मण क्राइम्स इन गुजरात, http://www.ambedkar.org देखने की तारिख 2/05/2016

वर्किग क्लास, http://citu.org.in/wclass देखने की तारिख 13/10/2016

कृष्णन, कविता,बलात्कार संस्कृति के विरुद्ध www.debatonline.in देखने की तारिख 24/02/2013

चारु गुप्ता, लव जिहाद: एक सांप्रदायिक फैंटेंसी का अतीत और वर्तमान http://hashiya.blogspot.in/2015/01/blog-post_18.html देखने की तारिख 27/8/2016

रीड,इविलीन,(अनु.प्रोमिला),महिलाएं-जाति एक उत्पीड़ित लिंग, http://www.streekaal.com/2014/11/blog-post_5.html देखने की तारिख 05/10/2014

प्रफुल्ल कोलख्यान : दलित राजनीति की समस्याएं, https://ia802702.us.archive.org देखने की तारिख 05/10/2014

Rani, saroj, Empowerment of Dalit Women in India, The Bheem Patrika, https://openlibrary.org/publishers/Bheem_Patrika_Publications देखने की तारिख 12/07/2013

Kannabiram, kalpana, Rething the law on sexual assault in India, https://www.sacw.net देखने की तारिख 11/03/2014

Phadka, Shilpa, Thirty Years an women's studies Refleetsm the women's movement. http://www.indiarightonline.com देखने की तारिख 05/09/2015

Sen, Semita, Toward a Feminist Politics? The Indian women's Movement in Historical Perspective http://www.onlinewomeninpolitics.org/india/indian.pdf देखने की तारिख 09/07/2015

Theories of patriarcy http://www.freeessays.cc/db/44/smu273273.shtm देखने की तारिख 15/02/2014

Gajjala, Radhika, Indian Women and National Identity, http://www.driftline.org/cgi-bin/archive देखने की तारिख 17/03/2014

हाशिये पर जा चुके असंगठित क्षेत्र http://drushtipaat.blogspot.in/2015/05/blog-post_ दिनांक 23/04/2015

http://mruc.net/irs2012q3_topline_findings.pdf देखने की तारिख 23/05/2017

Ph.D. Thesis & M.Phil Dissertations

Goswami, Sambodh, Infanticde & Child Marriages in Rajputana. University Of Rajasthan, Jaipur, 2004, Ph.D

Kothari, Rita, Femala Infanticide and Child Marriage in the Nineteenth & Twentieth Century India, Universtry Of Rajasthan, Jaipur, M.phil.

सिंह,इंदुप्रकाश, डायलेटिक्स आंफ लां एंड स्टेट्स आंफ इंडियन वीमेन, समाज अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1985

प्रियदर्शीनी,विजय श्री, पैन्टर्स आंफ सैकरेड प्रास्टिच्यूशन इन कोलोनिअल साउथ इंडिया, समाज अध्ययन केंद्र,जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,2003,हिंदी अनुवाद,विजय कुमार झा,वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

शीबा,के एम, कास्ट सेक्सुलिटी एंड दि स्टेट: दि चैजिंग लाईटस आंफ नंबुदिरी विमेन इन केरलम इन टेवेटीएथ सेंचुरी, समाज अध्यन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2000

चटर्जी,इंद्राणी, बंगाली भद्र महिला: 1930-34, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1986

चटर्जी,रोबी, आनंद मठ : उन्नसवीं सदी का राष्ट्रवादी पाठ, दक्षिण एशिया अध्ययन केंद्र, नेहरु स्मारक संग्रालय एंव पुस्तकालय

चौबे,ऋषिभूषण, 20वीं सदी के अंतिम दशक में प्रकाशित हिंदी उपन्यासों में स्त्री विमर्श,भारतीय भाषा केंद्र,जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,दिल्ली, 2006

झा,जीतेद्र, हिंदी की सार्वजनिक दुनिया का विकास 1900-20, भारतीय भाषा केंद्र,जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,दिल्ली,2010

शाक्या,भावना सिंह, हिंदी के प्रमुख उपन्यास और स्त्री: विवाह संस्था के विशेष संदर्भ में, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2011

पटेल,किंग्सन सिंह, आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार में दामपत्य और व्यक्तित्व का संबंध,भारतीय भाषा केंद्र,जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,2006

रश्मि,तनुजा, हिंदी में स्त्री विमर्श दृष्टि और दिशाएं,भारतीय भाषा केंद्र,जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2005

लेख

Talwar, Veer Bharat, Feminist Consiousness in Women's journal in Hindi, 1920, in sangria, Kumkum & Vaid Sudesh (Ed.) Eecasting Women, Kali for women, Delhi, 1953

Mani,Lata-Contention Tradition-The Debate on Sati in Colonial India, in sangria, Kumkum & Vaid Sudesh (Ed.) Eecasting Women, Kali for women, Delhi, 1953

Engineer, Asghar Ali, "Gujarat Riots in the Light Of History of communal violence" *EPW* Dec 14, 2002 pp 5047-5055

Gupta, Jyoti, "Women Second in Land Agenda" *EPW* May.2002. pp 1746-1754

Krishanan, P.Radha, "Religion Under Globalisation" *EPW* March 27, 2004pp.1403-1412

Kumar, Radha, "Family and Factory: Women in the Bombay Textile Industry, 1919-1939" *Indian Economic and Social History Review*, Jan 20, 1983. pp 83-110

Menan, Ritu & Bhasin Kamla, "Recovery, Rupture, Resistance: Indian state and Abduction of women During partition" *EPW* April 24, 1993, pp22-29

Sarkar,Tanika , "Semiotics of terror: Muslim Children and women in Hindu Rashtra" *EPW* July 13, 2002, pp 2872-2876

Baxi, Upemdra, " The Second Gujarat" *EPW* August 24,2002, pp 3519-3531

Butalia ,Urvashi, "Community, state and Gender on women's Agency During Partition" *EPW* April 24, 1993. pp 12-24

Agnes,Flavia, "Women's Movement within A Secular Framework Redefining the Agenda" *EPW* vol 29, No19, May 19,1994 pp 1123-28

Phadka, Shipla, "Thirty Year on women's studies Reflects on the women's Movement" *EPW* Oct 25,2003 pp 1103-12

Raj, Maithreyi Krishna, "Women's work in census Beginning of Change" *EPW* vol 24 Oct 8, 1990 pp2663-65

Guha, Ramchandra, "Forestry in British and Post British India" *EPW* Oct 29, 1983,pp 1882-89

Guha, Ramchandra, "An Early Environmental Debate" The Indian Economic and Social History Review Jan 27,1990 pp 65-84

Kishwar, Madhu, "Gandhi and Women" *EPW* Vol.20, No 40 pp 1691

Chakravati, Uma, "Brahmanical Patriarchy in Early India" *EPW* April 13, 1993, pp 579-585

E.Jone, Mary, "Gender and Development in India 1970-1990, Some Reflections in the constitutive Role of contexs" *EPW* Vol xxxi, No-47, Nov 23, 1996

Unian, Saathin, "State's Role in women's Empowerment for Better or for worse" *EPW*, vol xxix, No 51-52. Dec, 1994 pp 17-24

Kishwar, Madhu, "Codified Hindu Law: Myth and Reality" *EPW* August 13, 1994, pp 2145-61

Ahmad, Imtiaz, "personal Laws: Promoting Reform from within" *EPW* Nov 11,1995, pp 2851-52

Bayly, C.A, "Returning the British to South Asian History: The Limits of Colonial Hegemony" *South Asia.* Vol .xxvii, No-2, DEC 1994

Chakrabarty, Dipesh, "Modernity and Ethnicity in India: A History for the Present" *EPW* Dec 30, 1995 pp 3373-80

Joseph, Ammu & Sharma, kalpana, "Between the Lines: women's Issues In English Language Newspapers" *EPW,* vol.26, No.43 Oct 26 1991.pp 75-80

Chakravarti, Uma, "State, Market and freedom of Expression: women and Electronic Media" *EPW,* vol.35, No.18 Apr 29, 2000, pp12-17

Mehta, Roda, "The Media Scene in India" *EPW,* vol.23, N0.9 Feb 27,1988, pp 31-32

Rana A. Emerson, "Feminist Media Criticism and Feminist Media Practices" American Academy of political and social Science, vol.571.sep 571 pp 151-166

Kishwar, Madhu, & Vanita, Ruth "Feminist editors from India Interviewed" Manushi , vol. 15 , No.11.Dec 85. pp 8-10

Palen, s.Frank,"Media Ombudsmen: A critical Review" Law & society Review, Vol. 13. 1979. pp 799-850

Engineer, Asgher ali,"Media and Minorities: Exclusions, Distortions and stereotypes" *EPW*, vol. 34, No.31.Jul 31, 1999. pp 2132-2133

Bal, Vidya. "Women's Magazines-A Positive role? Why are they all alike?" presented at: Seminar on the Role of the Mass Media in Changing the Socil Attitudes and Practices Towards Women. Organized by the press Institute of Mass Communication and I.C.S.S.R New Delhi, 1976

Chhabra, Rami. Women and the Media: What Strategies for Change? Presented at: Women and Media Conference, United Nations.New York, 1980

Varghese.B.G, Women and Media, Presented at: National Conference on Women's Studies Organized by SNDT Women's university, Bombay.1981

Mukhopadhyay,Maitrayee, Women and Development: An Indian Perspective –Presented at the World Conference of the United Nations Decade for women, Copenhagen.Denmark 1980

खेतान,प्रभा, "स्त्री विमर्श: इतिहास में अपनी जगह, " हंस, संपादक-राजेंद्र यादव, दिल्ली, अंक जनवरी-फरवरी,2002

चक्रवती,उमा," मर्द हीरो और पुंसत्वहीन राष्ट्र:भवगा राष्ट्र का अविष्कार" जांन ई, मैरी एंव नायर, जानकी(सं.)- कामसूत्र से कामसूत्र तक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2008

चंद्र,विपीन,"आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता का विकास" राय,डा. सत्याकाम(सं.) -भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिंदी माध्यम कार्यान्वन्य निर्देशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,1983

सेठ,धीरूभाई, "नये मध्य वर्ग का उदय: जाति व्यवस्था, वर्ग-रचना और लोकतांत्रिक राजनीति" दुबे, अभय कुमार(सं.)- लोकतंत्र के सात अध्याय,वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2002

सेठ,धीरूभाई, "नस्ल के आईने में जाति का विकास" दुबे, अभय कुमार(सं.)-सत्ता और समाज,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2009

बेन्स्टेन,मार्गरेट, "स्त्री मुक्ति का राजनीति अर्थशास्त्र" मंडलोई, लींलाधर और जैन, अरविंद(सं.)- स्त्री मुक्ति का सपना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2004

नैमिशराय,मोहनदास, "दोनों गालों पर थप्पड़/ दलित महिलाएं: दुहरा शोषण,दोहरा संघर्ष" दुबे, अभय कुमार(सं.)- आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2002

निगम,आदित्य, "राष्ट्रवादी चिंतन से परे" दुबे, अभय कुमार(सं.)- आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2002

कोठारी,रजनी, "जातियों की राजनीति"दुबे, अभय कुमार(सं.)-भारत में राजनीति कल और आज, वणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2005

नारायण,बद्री, "लोकतंत्र का भिक्षुगीत: अति-उपेक्षित दलितों की अध्ययन की एक प्रस्तावना" दुबे,अभय कुमार(सं.) प्रतिमान-जनवरी-जून 2013(वर्ष-1,खंड-1,अंक-1)

गुप्ता,चारू, "रूप-अरूप,सीमा और असीम:औपनिवेशिक काल के दलित पौरूष" दुबे,अभय कुमार(सं.) प्रतिमान-जनवरी-जून 2013(वर्ष-1,खंड-1,अंक-1)

दुबे,अभय कुमार, "पटरी से उतरी हुई औरतों का यूटोपिया:राष्ट्रवाद के प्रति अख्यान" दुबे,अभय कुमार(सं.) प्रतिमान-जनवरी-जून 2013(वर्ष-1,खंड-1,अंक-1)

कौर,नवप्रीत, "आधुनिकता और चण्डीगढ़ का तिलिस्म:पितृसता, जाति और एक शहर की दास्तान" दुबे, अभय कुमार(सं.)प्रतिमान-जनवरी-जून 2013(वर्ष-1,खंड-1,अंक-2)

अमरीन, "इज्तिहाद, तलाक और मुसलमान औरतें: भीतर से सुधार की संभावना" दुबे,अभय कुमार(सं.)प्रतिमान-जनवरी-जून 2014(वर्ष-1,खंड-1,अंक-1)

मिश्रा,ज्योति और रंजन,आशीष, "पिछड़ी जातियों की उतत्तर मंडल राजनीति" दुबे, अभय कुमार(सं.)प्रतिमान-जनवरी-जून 2014(वर्ष-2,खंड-1,अंक-1)

अहमद,हिलाल, “हिंदुत्व और हिंदुस्तानी मुसलमान” दुबे, अभय कुमार(सं.)प्रतिमान-जनवरी-जून 2014(वर्ष-2,खंड-1,अंक-1)

देशपांडे,राजेश्वरी, “क्या चाहती है वोटरें औरतें” दुबे, अभय कुमार(सं.)प्रतिमान-जनवरी-जून 2014(वर्ष-2,खंड-1,अंक-1)

श्रीवास्तव,गरिमा, “नवजागरण,स्त्री प्रश्न और आचरण पुस्तकें” दुबे, अभय कुमार(सं.)प्रतिमान-जुलाई-दिसंबर 2014(वर्ष-2,खंड-2,अंक-2)

कुमार,अरविंद, “कांशीराम और उत्तर-आम्बेडकर दलित विमर्श” दुबे, अभय कुमार(सं.)प्रतिमान-जनवरी-जून 2015(वर्ष-3,खंड-1,अंक-1)

सिंह,भाषा, “सांप्रदायिकता की प्रयोगशाला” विष्ट,पंकज(सं.) समयांतर, अक्टूबर 2010, वर्ष:42,अंक-1

आर्य,गायत्री, “जौहर के नई शर्मनाक संस्करण” विष्ट,पंकज(सं.) समयांतर, नवंबर 2011, वर्ष:43,अंक-2

अर्य,गायत्री, “गणतंत्र में स्त्री” विष्ट,पंकज(सं.) समयांतर,मई 2011,वर्ष:42,अंक-8

इंजीनियर,असगर अली, “महिला दिवस और मुस्लिम महिलाएं” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,अप्रैल 2011 वर्ष:42,अंक-7

सिंह,भाषा, “पत्रकारिता का स्त्री पक्ष” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,फरवरी 2011, वर्ष:42,अंक-5

शाही,विनोद, “उत्तर आधुनिक दौर में जाति” विष्ट,पंकज(सं.) समयांतर,जनवरी 2011, वर्ष:42,अंक-4

आर्य,गायत्री, “जनसख्यां समस्या के स्त्री पाठ” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,अक्टूबर 2012, वर्ष:44,अंक-1

स्टेनम,ग्लोरिया, “पितृसत्ता और वेश्यावृत्ति का रिश्ता” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर, जून 2010, वर्ष:43,अंक-9

शर्मा,योग्रेंद्र दत्त, “पेड न्यूज के दौर में” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर, मार्च 2012, वर्ष:43,अंक-6

त्यागी,सुलतान, “अमृता शेरगिल और स्त्री अस्मिता” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,जून 2013, वर्ष:44,अंक-9

आर्या,मोहन, “बलात्कार की पाशविकता” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,मई, 2013, वर्ष:44,अंक-8

सिंह, भाषा, “बलात्कारी संस्कृति, पितृसत्ता और राजसत्ता” विष्ट,पंकज(सं.) समयांतर, जनवरी, 2013, वर्ष: 44, अंक-4

आर्य,गायत्री, “बलात्कार अभी नहीं थमेंगे” विष्ट,पंकज(सं.) समयांतर,जनवरी,2013 वर्ष:44,अंक-4

मीनाक्षी, “लोकतंत्र के आधार स्तंभ और यौन उत्पीड़न”विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,जून 2014, वर्ष:45,अंक-9

निगम,आदित्य, “धर्म, आधुनिकता और धर्मनिरपेक्षता” विष्ट,पंकज(सं)समयांतर,फरवरी, 2015 वर्ष:46,अंक-5

गुप्ता,चारू, “लव जिहाद:एक सांप्रदायिक फैंटेसी”विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,फरवरी,2015 वर्ष:46,अंक-5

रब्बानी,आतिफ, “दंगों का राजनीतिक अर्थशास्त्र” विष्ट,पंकज(सं)समयांतर,फरवरी,2015 वर्ष:46,अंक-5

कुमार,विवेक, “सांप्रदायिकता में छिपा जातिशास्त्र” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,फरवरी,2015 वर्ष:46,अंक-5

तेलतुम्बड़े,आनंद, “ब्राह्मणवादी अंहकार” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,जनवरी 2016 वर्ष:47,अंक-4

आर्य,गायत्री, “रज:स्त्राव का सुख” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर,जनवरी 2016 वर्ष:47,अंक-4

गोस्वामी,लवली, “स्त्री-मुक्ति और सामाजिक समता” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर जनवरी 2016 वर्ष:47,अंक-4

रब्बानी,आतिफ, “राजनीति और आर्थिक क्षेत्र में लैंगिंक असमानता”विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर जनवरी 2016 वर्ष:47,अंक-4

गुप्ता,चारू, “सीमाओं से परे” विष्ट,पंकज(सं.)समयांतर, जनवरी 2016 वर्ष:47,अंक-4

डोनिजर,वेंडी, “हिंदू सभ्यता की मिटती इबारत” सिन्हा,प्रीति(सं.)फ़िलहाल, मार्च2014,वर्ष.16.अंक-5-6

आर्य,विजय कुमार, “जाति और वर्ग का मसला” सिन्हा,प्रीति(सं.)फ़िलहाल,मार्च 2014,वर्ष.16.अंक-5-6

सिंह,रत्नेश्वर प्रसाद, “सत्ता और सांप्रदायिकता” सिन्हा,प्रीति(सं.)फ़िलहाल,फरवरी 2014,वर्ष.16.अंक-3-4

मजुमदार,वीणा, “भागीदारी के ऐतिहासिक परिपेक्ष्य” राजा,ऐनी(सं.)स्त्री काल,अप्रैल,2010,अंक-7

अरोड़ा,सुधा, “स्त्री सत्ता और संघर्ष:व्यावहारिक स्वरूप और बाज़ारवाद” राजा,ऐनी(सं.)स्त्री काल,अप्रैल,2010,अंक-7

शाही,विनोद, “मातृसत्ता से स्त्री विमर्श” राजा,ऐनी(सं.)स्त्री काल,अप्रैल,2010,अंक-7

हैनिच,कैरोल, “पर्सनल इज पांलिटिकल” चंदन,संजीव(सं.)स्त्री काल,जनवरी 2012,अंक-8

प्रयिदर्शिनी,अनामिका, “पितृसत्ता,पुरुष और स्त्रीवाद” चंदन,संजीव(सं.)स्त्री काल,जनवरी 2012,अंक-8

जैन,कमलैश, “घरेलू हिंसा में स्त्रियों की सुरक्षा अधिनियम कानूनी बहुआयामी”चंदन,संजीव(सं.)स्त्री काल,जनवरी 2012,अंक-8

मेनन,निवेदिता, “भारत में जाति और नारीवाद” भारती,अनिता(सं.)स्त्री काल,जनवरी 2013, अंक-9

समाचार-पत्र

नीलोफर,असगर, “क्या परिवार चलाने का प्रशिक्षण बेमानी है” हिंदुस्तान,24 जून 1990, गांधी संग्रहालय, पटना

राय,संगीता, “परिवार में समायोजन की सीख बेटों को भी दें” हिंदुस्तान,29 जून 1996, गांधी संग्रहालय, पटना

कुमार,कमल, “स्त्रियों की कौन व्यक्तिहीन बना रहा है” नवभारत टाईम्स,19 अगस्त 1992, गांधी संग्रहालय, पटना

कुमार,नीरा, “मामला परिवार के टूटने का” हिंदुस्तान, 21 मार्च 1993, गांधी संग्रहालय,पटना

डोगरा,भरत, “परिवार बचेगा तो दुनिया बचेगी”हिंदुस्तान, 18 दिसंबर, 1998, गांधी संग्रहालय,पटना

दीक्षित,ह्रदयनारायण, “बाज़ार के चपेट में परिवार” दैनिक जागरण,18 फरवरी,2004, गांधी संग्रहालय,पटना

केलकर,गोविन्द, “खतरे में है परिवार” हिंदुस्तान,10 अप्रैल 2004, गांधी संग्रहालय,पटना

डोगरा,भरत, “बदलाव के दौर में परिवार” हिंदुस्तान,10 दिसंबर 2004,गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,जगजीत, “घर परिवार है यातना के अड्डे” हिंदुस्तान,22 फरवरी 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

कोल्खयान,प्रफुल्य, “हक इऩकार का” दैनिक जागरण,4 सिंतबर,2008, गांधी संग्रहालय,पटना

सिन्हा,मृदला, “बुजर्गों के साथ परिवार सशक्तिकरण” हिंदुस्तान,10 दिसंबर 2006,गांधी संग्रहालय,पटना

तिवारी,प्रतिभा, “अपनी को तरसती अंतर्जातीय बहू”नवभारत टाईम्स,4 फरवरी 1990,गांधी संग्रहालय,पटना

शास्त्री,शशिप्रभा, “मात्र उदारीकरण नहीं उदातीकरण भी”नवभारत टाईम्स,7 जुलाई 1996, गांधी संग्रहालय,पटना

शास्त्री,शशिप्रभा, “अंतर मजहबी विवाहों का सच” दैनिक जागरण, 6 फरवरी 2007, गांधी संग्रहालय,पटना

मंडल,दिलीप, “खाप,जाति और विवाह” हिंदुस्तान,24 जून 2010,गांधी संग्रहालय,पटना

जैन,प्रतिभा, “विवाह के रास्ते पर कैरियर का गति अवरोधक”हिंदुस्तान,17 फरवरी 1990, गांधी संग्रहालय,पटना

रस्तोगी,विमला, “कन्यादान ही क्यों,पुत्रदान क्यों नहीं?”हिंदुस्तान,4 फरवरी 1990,गांधी संग्रहालय,पटना

श्रीवास्तव,पूर्णिमा, “क्या स्त्रीदान की चीज है?” नवभारत टाईम्स,8 मार्च 1992,गांधी संग्रहालय,पटना

ठाकुर,सुधीर चंद, “बाज़ार के रूबरू” दैनिक जागरण,11 फरवरी 2005, गांधी संग्रहालय,पटना

वर्मा, डा.सरोज़, “दिमाग़ ने ली, दिल की जगह” दैनिक जागरण,11 फरवरी 2005,गांधी संग्रहालय,पटना

कुमार,मुकुल, “विकल्पहीन कौतुक” दैनिक जागरण,24 फरवरी 2005,गांधी संग्रहालय,पटना

पुष्पा,मैत्रीय, “डराता है शंकुनतला का हश्र”दैनिक जागरण,24 फरवरी 2005, गांधी संग्रहालय,पटना

खेतान,प्रभा, “प्रगतिशीलों के लिए खुशखबरी” दैनिक जागरण,24 फरवरी 2005,गांधी संग्रहालय,पटना

सूर्यप्रकाश,ए., “बेजा विरोध करने की आदत” दैनिक जागरण, 9 नवबंर 2007,गांधी संग्रहालय,पटना

अंकित,प्रियम, “मुहर विवाहोत्तर संबंध पर” दैनिक जागरण,11 मई 2007,गांधी संग्रहालय,पटना

अपूर्वानंद, “तुम रहो जहां रहे मन रहे” दैनिक जागरण,11 मई 2007,गांधी संग्रहालय,पटना

कुमार,राजेंद्र, “टूट रहे है पुराने ढ़ाचे” दैनिक जागरण,11 मई 2007,गांधी संग्रहालय,पटना

खां,महरउद्दीन, “तलाक जैसा दुरूपयोग दूसरी संस्था का नहीं हुआ”नवभारत टाईम्स,6 फरवरी 1990,गांधी संग्रहालय,पटना

मणि,विजय नारायण, “न्याय और तिहरे तलाक की विड़बना” नवभारत टाईम्स,6 अगस्त 1993,गांधी संग्रहालय,पटना

अहमद,फिरोज़ बख्त, “तलाक पर मंथन करे, माखौल न बनाएं”हिंदुस्तान,26 जनवरी 2007,गांधी संग्रहालय,पटना

सहरवाल,भावना, “तलाक, वर्तमान प्रथा में परिवर्तन जरूरी” हिंदुस्तान,17 मई 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

अहमद,शकील, “नवजागरण और मुस्लिम महिलाएं”नवभारत टाईम्स,11जनवरी 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

किदवई,प्रफुल्ल, “तलाक के नाम पर पाखंड” हिंदुस्तान,12 मई 1994 ,गांधी संग्रहालय,पटना

खान,फिरदौस, “तीन तलाक पर मनमानी” दैनिक जागरण,23 फरवरी 2007,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,देवदत्त, “शून्य यानी प्रभावहीन विवाह” हिंदुस्तान,4 मार्च 1990,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,देवदत्त, “हिंदू नारी को दूसरी शादी का अधिकार” हिंदुस्तान,10 जून 1990,गांधी संग्रहालय,पटना

गुप्त,श्री प्रकाश,“पारस्परिक सहमति से तलाक कैसे?” हिंदुस्तान,20 फरवरी 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

शरण,नमिता,“नई सुबह की तलाश में भटकती महिलाएं”नवभारत टाईम्स,7 जनवरी 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

जोशी,मधु, “महिलाओं की विरुद्ध है निजी कानून” हिंदुस्तान, 9 मार्च 1998, गांधी संग्रहालय,पटना

कुमारी,रेणु, “ताकि सजा न हो तलाक”हिंदुस्तान,17 फरवरी 1996,गांधी संग्रहालय,पटना

जैन,अरविंद, “नारी,न्याय और नैतिकता” हिंदुस्तान,2 जून 2000, गांधी संग्रहालय,पटना

खरे,वी.एन., "परंपरा के चक्रव्यूह में महिला कानून" दैनिक जागरण, 8 मार्च 2007,गांधी संग्रहालय,पटना

गुप्त,सुधांशु, "हिंदू मैरेज एक्ट और बढ़ते तलाक के मामले" दैनिक जागरण,1 जुलाई 2008,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,संगीता, "मजदूरी और मजबूरी" हिंदुस्तान, 9 अगस्त 1991,गांधी संग्रहालय,पटना

पांडे,मृणाल, "नारी तुम केवल टारगेट हो" हिंदुस्तान, 14 दिसंबर 1993, गांधी संग्रहालय,पटना

उत्पल,प्रणव, "चुनौतीयां यहां भी है"हिंदुस्तान,3 अगस्त 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

गीता, "दफ्तर में अकेली लड़की" हिंदुस्तान,17 अगस्त 1996, गांधी संग्रहालय,पटना

नीलम, "गील के सजा पर उठे सवाल" नवभारत टाईम्स,24 अगस्त 1996, गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,कल्पना, "सिविल सेवा में महिलाओं की साथ भेदभाव"हिंदुस्तान,29 मई 2009,गांधी संग्रहालय,पटना

पांडे,बीना, "महिलाएं कैरियर में आगे क्यों नहीं बढ़ पाती"नवभारत टाईम्स,23 अगस्त1992,गांधी संग्रहालय,पटना

भारती,सिंधु, "नये पुराने मूल्यों के बीच उलझी औरतें" हिंदुस्तान,6 सिंतबर, 1992, गांधी संग्रहालय,पटना

वर्मा,संगीता, "कामकाजी औरतों की प्राथमिकता" हिंदुस्तान,3 नवबंर 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

बेदी,पूनम, "हाशिये पर ही है स्त्री" हिंदुस्तान,26 जनवरी 2003,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,क्षमा, "कामकाजी महिलाएं और बदलती भूमिकाएं"हिंदुस्तान,30 नवंबर 2003, गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,क्षमा, "21की सदी में बदलते सास-बहू"हिंदुस्तान,21 मार्च 2007, गांधी संग्रहालय,पटना

कौशिक,मीना,"कम पैसे में मजदूरी की मजबूरी"हिंदुस्तान,1 जुलाई 1990,गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,कौशिक, "आधी दुनिया के पूरे यथार्थ को नकारने की पूर्वाग्रही प्रवृत्ति"हिंदुस्तान,10मार्च1991,गांधी संग्रहालय,पटना

कुमार,विनोद, "झारखंड क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति तब और अब" नवभारत टाईम्स,7 मार्च 1992, गांधी संग्रहालय,पटना

लुईस,प्रकाश, "आदिवासी घरेलू कामगर उपनिवेशवाद का शिकार"हिंदुस्तान,11 अक्टूबर 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

आर्य,अलका, "प्रवासी घरेलू महिला कामगर या दासी" हिंदुस्तान,7 नवंबर 2006, गांधी संग्रहालय,पटना

दीपशिखा, "हाशिये पर पलती ज़िंदगी"हिंदुस्तान, 21 जनवरी 1995,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,कल्पना, "आसपास के औरतें"हिंदुस्तान,22 मई 2008, गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,कल्पना, "घरेलू नौकर कब बनेगें कामगर"हिंदुस्तान, 23 जनवरी 2009,गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,जगजीत, "खेती के काम और महिला कृषक"हिंदुस्तान,5 मार्च 1991,गांधी संग्रहालय,पटना

अग्रवाल,बीना, "कृषि का महिला करण"हिंदुस्तान,7 मार्च1997,गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,प्रियका, "सती बनाने में शामिल समाज" नवभारत टाईम्स,17 अगस्त 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

पांडे,मृणाल, "सती,लोकतंत्र और हम" हिंदुस्तान,18 अगस्त 2002, गांधी संग्रहालय,पटना

किश्वर,मधु, "औरत की हैसियत कौन बढ़ा रहा है"रविवार,12 अगस्त 1984,गांधी संग्रहालय,पटना

राजकिशोर, "विवाह का मौजूद ढांचा टूटना चाहिए" रविवार,3 जुलाई 1983,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,देशबंधु, "लड़कियां कैसे विरोध कर पाएंगी दहेज का"हिंदुस्तान,14 जनवरी 1990,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,संगीता, "लड़कियों के आत्महत्या से उपजे सवाल"हिंदुस्तान,13 अगस्त 1996, गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,नीलिमा, "बलात्कार, दोषी कौन?"धर्मयुग,26 मई 1985, गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,नीलिमा, "बलात्कार इतना शोर क्यों और क्यों नहीं?"मनोरमा, मार्च 1981,गांधी संग्रहालय,पटना

साबरा,मीरा, "औरत की इच्छा के विरुद्ध"रविवार, 30 मार्च 1980, गांधी संग्रहालय,पटना

कुतुबशाह, “संवाददाताओं को रोको” रविवार,17 अगस्त 1980,गांधी संग्रहालय,पटना

कालिया,ममता, “आजादी के बाद मध्यवर्गीय नारी”साप्ताहिक हिंदुस्तान,30 अगस्त 1981,गांधी संग्रहालय,पटना

रावत,जानेंद्र, “बलात्कार,समाज और सजा”हिंदुस्तान,17 अगस्त 1996,गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,जगजीत, “बढ़ते बलात्कार,सिकुड़ता न्याय”नवभारत टाईम्स,13 अगस्त1998,गांधी संग्रहालय,पटना

जैन,अरविंद, “बलात्कारियों को मृत्युदंड कैसे दोगे?”हिंदुस्तान,2 दिसंबर 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

चमड़िया,अनिल,“बलात्कारियों को फांसी की बहस के बीच भंवरी”हिंदुस्तान,9जनवरी 2003,गांधी संग्रहालय,पटना

जैन,कमलेश, “बलात्कार की परिभाषा बदले”हिंदुस्तान,2 जनवरी 2001,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,कल्पना, “किसके हक में खड़ी है ख़बरें”हिंदुस्तान 10 जुलाई 2009,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,कल्पना, “हिंसा झेलती महिलाएं और मूकदर्शक समाज”हिंदुस्तान 20 मार्च 2009,गांधी संग्रहालय,पटना

वर्मा,रतना, “जिसपर जूल्म वही दोषी”हिंदुस्तान,17 फरवरी 1991,गांधी संग्रहालय,पटना

अंशु,“कन्या भ्रूण हत्या,आखिर बुराई क्या है?”सरिता 1983,गांधी संग्रहालय,पटना

आर्य,अलका, “मादा भ्रूण की ही हत्या क्यों?”नवभारत टाईम्स,11 अप्रैल 1993,गांधी संग्रहालय,पटना

कुमारी,रेणु, “लड़किया अनचाही संतान क्यों””हिंदुस्तान,12 जुलाई 1993, गांधी संग्रहालय,पटना

आर्य,अलका,“कुलदीपक का मोह क्यों?”नवभारत टाईम्स,25 जनवरी 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

पांडे,मृणाल, “क्यों गायब हो रही है बेटियां”हिंदुस्तान,8 जुलाई 2004,गांधी संग्रहालय,पटना

जैन,निर्मल,“क्रूरता खुद औरत की” दैनिक जागरण,8 जुलाई 2005,गांधी संग्रहालय,पटना

रेखा,डा.रश्मि,“जरूरी है बर्बर प्रवृत्तियों की पड़ताल”दैनिक जागरण,8 जुलाई 2005,गांधी संग्रहालय,पटना

अग्निहोत्री,विनोद, “कोख में बेटी अनचाही”नवभारत टाईम्स,1 अगस्त 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

मिश्र,मुकेश, “जनसंख्यां नियत्रण:कीमत चुकाती महिलाएं”हिंदुस्तान,11 फरवरी 1990,गांधी संग्रहालय,पटना

प्रधान,आनंद, “गिनपिग नहीं है महिलाएं”नवभारत टाईम्स,13 जून 1997,गांधी संग्रहालय,पटना

आर्य,अलका,“प्रयोगशाला नहीं है औरतें”नवभारत टाईम्स,28 जून 2001,गांधी संग्रहालय,पटना

सिन्हा,अंजलि, “परिवार नियोजन पुरुषों की जिम्मेदारी”हिंदुस्तान,7 अप्रैल 2008,गांधी संग्रहालय,पटना

भारद्वाज,सुनीता, “पोशाक दंड का आधार”हिंदुस्तान,31 मार्च 1991,गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,खुशवंत, “बुरा मानो या भला”हिंदुस्तान,15 सितंबर 2001,गांधी संग्रहालय,पटना

सिंन्हा,डा.अमिता, “इतना बेपर्दा न करो कि शर्म आ जाएं” हिदुस्तान,4 जुलाई 1993,गांधी संग्रहालय,पटना

आर्य,कल्पना, “उनके पहनावे के इर्द-गिर्द”हिंदुस्तान,8 जनवरी2008,गांधी संग्रहालय,पटना

वर्मा,शुभ्रा, “और कितना कहर”हिंदुस्तान,10 जून,1990,गांधी संग्रहालय,पटना

सक्सेना,आशु, “उनके हिस्से का उत्पीड़न”नवभारत टाईम्स,9 मार्च 1992,गांधी संग्रहालय,पटना

भारती,आनंद, “कहां है समाज में स्त्री की जगह” हिंदुस्तान,24 जून 1999,गांधी संग्रहालय,पटना

पंत,पुष्पेश, “कातील बरी तो लड़की कैसे मरी”हिंदुस्तान,1 मार्च 2006,गांधी संग्रहालय,पटना

पंत,पुष्पेश, “ये पंच परमेश्वर नहीं” हिंदुस्तान,12 अगस्त 2009,गांधी संग्रहालय,पटना

घोड़पकर,राजेन्द्र, “प्रेम के दौर में पंचायत” हिंदुस्तान,17सितंबर 2009,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,क्षमा, “गोत्र के नाम पर नस्लवाद”हिंदुस्तान,12 मार्च 2010,गांधी संग्रहालय,पटना

जैन,कमलैश, “अमानवीय माइंडसेट” हिंदुस्तान,22 जून 2010,गांधी संग्रहालय,पटना

किदवई,प्रफुल्ल, “विशिष्ट वर्ग का रवैया अशुभ संकेत”हिंदुस्तान,12 मार्च 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

प्रसाद,हरिशंकर,“सामाजिक परिवर्तन और विकास की विफलता”नवभारत टाईम्स,22 मार्च 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

मणि,विजय,"नारायण,राज्य की संप्रभुता और धार्मिक संस्थाएं"नवभारत टाईम्स,8 जून 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

कपूर,मस्तराम, "न्यायाधीश के नियुक्ति में उपेक्षित वर्ग"हिंदुस्तान,10 जनवरी 1999, गांधी संग्रहालय,पटना

सिन्हा,सच्चिनंद, "वर्ग-संघर्ष बनाम बनाम जाति संघर्ष"हिंदुस्तान,29 मार्च 1999, गांधी संग्रहालय,पटना

डा.योगेंन्द्र,"चुनावी बयार और वर्ग-चेतना"दैनिक जागरण,3 मार्च 2005,गांधी संग्रहालय,पटना

शंशिकांत,"डोम: मिथक और यथार्थ"हिंदुस्तान,17 दिंसबर 1999,गांधी संग्रहालय,पटना

त्रिपाठी,अरुण कुमार, "जाति,वर्ग और सांपसीढ़ी"हिंदुस्तान,22 अगस्त 2010,गांधी संग्रहालय,पटना

मोहन,सुरेन्द्र, "सामाजिक न्याय के सांस्कृतिक आयाम"हिंदुस्तान,12 जनवरी 1992,गांधी संग्रहालय,पटना

मिश्र,चतुरानन, "सामाजिक न्याय और जातिवादी अभियान" हिंदुस्तान,30 जुलाई 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

कुमार,डा.बज्र, "सामाजिक न्याय की अवधारणा: अर्थ और तथ्य"हिंदुस्तान,10 अगस्त 1994,गांधी संग्रहालय,पटना

प्रसाद,गुंजेश्वरी, "सामाजिक न्याय का अर्थ बाह्मण का विरोध नहीं" नवभारत टाईम्स,20 अक्टूबर 1994, गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,राजेन्द्र, "मंडल आयोग तथ्य के आईने में" हिंदुस्तान,20 जून 1990, गांधी संग्रहालय,पटना

सिन्हा,प्रीति, "मंडल आयोग की भूली बिसरी सिफारिश" हिंदुस्तान,7 अक्टूबर 1997,गांधी संग्रहालय,पटना

सिंह,कपिल देव, "आरक्षण अपरिहार्य,परंतु, ..."हिंदुस्तान,15 अप्रैल1990,गांधी संग्रहालय,पटना

अफलातून, "सामाजिक न्याय का नया अवतार"हिंदुस्तान,24 सिंतबर 2001,गांधी संग्रहालय,पटना

कपूर,मस्तराम, "मंडल आयोग और जातिमुक्त समाज की ओर" नवभारत टाईम्स,8 सिंतबंर 1992,गांधी संग्रहालय,पटना

सहाय,एस.के., "आरक्षण पात्रता का विवाद" हिंदुस्तान, 15सितबंर 1990, गांधी संग्रहालय, पटना

कुमार,सुहास, "आरक्षण जरूरी क्यों?"हिंदुस्तान,2 दिसंबर 1996, गांधी संग्रहालय,पटना

कपूर,मस्तराम, "स्त्रियों के आरक्षण बहस के मुद्दे"नवभारत टाईम्स,20 अक्टूबर 1996,गांधी संग्रहालय,पटना

झुनझुनवाला,भरत, "महिला आरक्षण पर भारतीय दृष्टिकोण"नवभारत टाईम्स,23 अगस्त 2000,गांधी संग्रहालय,पटना

पांडे,मृणाल, "महिला आरक्षण उर्फ पांचली नाटक"हिंदुस्तान,18 मई 2008, गांधी संग्रहालय,पटना

निर्मल,रमेश, "वे आज भी आतंक के साए में"नवभारत टाईम्स,3 अप्रैल 1991,गांधी संग्रहालय,पटना

लुईस,प्रकाश, "दलित उत्पीड़न चक्रबाड़ा से झज्जर तक"हिंदुस्तान,29 अक्टूबर 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

नैमिशराय,मोहनदास, "दलितों की आधी दुनिया का सच" हिंदुस्तान,19 मार्च 1996,गांधी संग्रहालय,पटना

प्रकाश,अनिल, "बलात्कार:दलित और आदिवासी" हिंदुस्तान,21 नबंवर 2000,गांधी संग्रहालय,पटना

शंभुनाथ, "दलित राजनीति में काशीराम की भूमिका"नवभारत टाईम्स,26 मई 1995,गांधी संग्रहालय,पटना

काटारिया,चिरंजीव, "दलितों को दलित बनाए रखने का षड्यंत्र"हिंदुस्तान,3 जनवरी 1996,गांधी संग्रहालय,पटना

उदितराज, "बहुजन समाज पार्टी कितनी बहुजन" हिंदुस्तान,18 जनवरी 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

शंभुनाथ, "मायाराज के मायने" हिंदुस्तान,11 मई 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,हेमंत, "राजनीति के उधान में कांटो का बहार"हिंदुस्तान,22 जुलाई 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

राणा,महेंद्र प्रताप,"मायावती सरकार का एजेंडा"हिंदुस्तान,23 जुलाई 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

उदिरराज, "दलित,बसपा और राजनीति"हिंदुस्तान,24 जून 2004,गांधी संग्रहालय,पटना

उदितराज, "मनुवादी मायावती"हिंदुस्तान,14 जून 2005,गांधी संग्रहालय,पटना

कुमार,अरूण, "बसपा,मायावती और सत्ता संविधान" हिंदुस्तान,6 अगस्त 2005,गांधी संग्रहालय,पटना

अग्रवाल,पुरुषोतम, "अमीना का अपराध" नवभारत टाईम्स,23 अगस्त1991,गांधी संग्रहालय,पटना

अकबर,एम. जे, "अमीना और ख़ामोशी की राजनीति" हिंदुस्तान,2 सितबंर 1990,गांधी संग्रहालय,पटना

शर्मा,संगीता, "नारी का नहीं यह राष्ट्र का अपमान है" हिंदुस्तान,24 सितबंर 2004,गांधी संग्रहालय,पटना

पांड़े,मृणाल, "आओ गुड़िया-गुड़िया खेले" हिंदुस्तान,26 सितबंर 2004,गांधी संग्रहालय,पटना

वहीद,सुहेल, "और अब इमराना भी हराम" हिंदुस्तान,8 जुलाई 2005,गांधी संग्रहालय,पटना

मेटकांफ,बार्बरा, "मुस्लिम पर्सनल लां-इमराना से आगे"नवभारत टाईम्स,20 सितंबर2005,गांधी संग्रहालय,पटना

सिन्हा,संचिदानंद, "धर्मांतरण के विभिन्न पहलू" हिंदुस्तान,3 फरवरी 1999,गांधी संग्रहालय,पटना

जैन,अरविंद, "धर्मांतरण:संविधान और कानूनी प्रतिबंध",हिंदुस्तान,9 सितबंर 1999,गांधी संग्रहालय,पटना

जैन,अरविंद, "धर्मांतरण: संविधान,आरक्षण और कानूनी प्रतिबंध"हिंदुस्तान,19 सितबंर 1999,गांधी संग्रहालय,पटना

संतराम,प्रीतम विशप, "अपमान का घूंट पी रहे है इसाई" हिंदुस्तान,3 जनवरी 1999,गांधी संग्रहालय,पटना

सचदेव,विश्वनाथ, "सवाल हम के अस्तित्व का" नवभारत टाईम्स, 23 जनवरी 1999, गांधी संग्रहालय,पटना

उर्मिलेश, "आदिवासी और हिदुत्व" नवभारत टाईम्स,23 जनवरी 1999,गांधी संग्रहालय,पटना

लुईस,प्रकाश, "धर्म,आदिवासी, धर्मांतरण" हिंदुस्तान,10 दिसंबर 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

लुईस,प्रकाश, "धर्म,दलित और धर्मांतरण" हिंदुस्तान,12 दिसंबर 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

चमाड़िया,अनिल, "धर्मपरिवर्तन का तीसरा पक्ष"नवभारत टाईम्स,21 नवंबर 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

शुक्ल,ओमप्रकाश, "धर्म परिवर्तन बनाम सामाजिक परिवर्तन"हिंदुस्तान,30 नवंबर 2002,गांधी संग्रहालय,पटना

द्वितीयक स्त्रोत(Secondary Sources)

गोल्डिंग,पीटर, "जनमाध्यम" अनु.सुधा सिंह,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

शिलर,हरबर्ट आई., "संचार माध्यम और सांस्कृतिक वर्चस्व" अनु.राम कवीन्द्र सिंह,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2009

पोस्टर,मार्क, "आज के दुनिया की सूचना पद्धति" अनु.अनिल रजिमवाले,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

चामस्की,नांम, "जनमाध्यमों का मायालोक" अनु.चंद्र भूषण,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

मैंतलार्त,आर्मड/मैंतलार्त,मिशेल, "संचार के सिद्दांत" अनु.वंदना मिश्र,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

जोशी,पूरणचंद, "सांस्कृतिक विकास और संचार क्रांति"अनु.सुनील कुमार सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली,2001

ग्रामशी,अंतोनियो, "सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार" अनु.कृष्णकांत मिश्र, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2002

मैतलार्त,आर्मड, "जनतंत्र माध्यम और वर्तमान संकट"अनु.सुधा सिंह,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2012

मैतलार्त,आर्मड, "सूचना समाज का एक परिचय"अनु.सुधा सिंह,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2012

एस.हरमन,एडवर्ड/मैक्चेस्नी,रांबर्ट डब्ल्यू, "भूमंडलीय जनमाध्यम"अनु.चंद्रभूषण,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली,2010

पारख,जवरी मल्ल, "जनसंचार माध्यम और सांस्कृतिक विमर्श"ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

चक्रवति,उमा, "जाति समाज में पितृसता" अनु.विजय झा,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2011

जायेसवाल,सुविरा, "वर्णजाति व्यवस्था" अनु.आदित्य नारायण सिंह,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2014

विलयम्स,रेमंड, "संचार माध्यमों का वर्ग चरित्र"अनु.प्रमोद झा/सत्यम वर्मा,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली,2000

सिंह,सुधा, "ज्ञान का नारीवादी पाठ" ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2008

चौबे,शिवानी किंकर, "भारत में उपनिवेशवाद स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रवाद" अनु.मिलिंद भारद्वाज, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2016

सरकार,सुमित,"सामाजिक इतिहास लेखन की चुनौतीयां" अनुं एन.एन खान 'शाहिद', ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

देसाई,ए.आर., "भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां" अनु.वंदना मिश्र,ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली,2016

बांटमोर,टी.बी. "आधुनिक समाज में वर्ग" अनु.वंदना मिश्र,ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2006

मिश्र,सलिल, "सांप्रदायिकता राजनीति का आख्यान" अनु. सत्यकाम,ग्रंथशिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2009

एडर्नो,टी.डब्ल्यू, "संस्कृति उधोग" अनु.राम कवींन्द्र सिंह,ग्रंथशिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2006

तेलतुमड़े,आनंद, "अंबेडकर और दलित आंदोलन" अनु.कृष्ण सिंह,ग्रंथशिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली,2016

जैतली,ममता/शर्मा,श्री प्रकाश, "आधी आबादी का संघर्ष" राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2011

पाठक,रवीन्द्र कुमार, "जनसख्यां समस्या के स्त्री पाठ के रास्ते" राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2016

पुनियानी,राम(सं.), "धर्म सत्ता और हिंसा" राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016

पुनियानी,राम, "साम्प्रदायिक राजनीति: तथ्य और मिथक" वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

पटनायक,किशन, "विकल्पहीन नहीं है दुनिया" राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2000

जायेसवाल,शरद, "भागलपुर राष्ट्रीय शर्म के 25 साल" मीडिया स्टडीज ग्रुप,नई दिल्ली,2015

दुबे,अभय कुमार(सं.), "सत्ता और समाज" वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

परमार,शुभ्रा, "नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार" ओरियंट ब्लैकस्वांन, तेलंगाना, 2015

दुबे,अभय कुमार(सं.), "भारत में राजनीति" वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

किश्वर,मधु(सं.), "राष्ट्रवाद का अयोध्या कांड" वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

दुबे,अभय कुमार(सं.), "राष्ट्रवाद का अयोध्या कांड" वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

दुबे,अभय कुमार(सं.), "लोकतंत्र के सात अध्याय" वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

दुबे,अभय कुमार(सं.), "आधुनिकता के आईने में दलित" वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

दुबे,अभय कुमार(सं.), "फुटपाट पर कामसूत्र" वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

दुबे,अभय कुमार(सं.), "सांप्रदायिकता के स्त्रोत" विनय प्रकाशन,नई दिल्ली,1993

जांन, मैरी ई. और नायर,जानकी(सं.), "कामसूत्र से कामसूत्र तक" वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2008

क्राफ्ट, मेरी वोल्सटन, "स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन" वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2008

जैन,अरविंद/मंडलोई,लीलाधर, "स्त्री मुक्ति का सपना" वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2014

जैन,अरविंद, "औरत:अस्तित्व और अस्मिता" राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2001

जैन,अरविंद, "न्याय क्षेत्र: अन्याय क्षेत्र" राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2002

जैन,अरविंद, "उत्तराधिकारी बनाम पुत्राधिकार" राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2001

जैन,अरविंद, "औरत होने की सजा" राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,1996

वर्मा,रंजीत, "बलात्कार और कानून" अनु.ओम प्रकाश सिंघल,राधाकृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली,2008

दत्त, रजनी पाम, "भारत वर्तमान और भावी" पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा.) लिमिटेड,नई दिल्ली,2016

उपाध्याय,भगवत शरण, "भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण"पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली,1995

दामोदरण, के., "भारतीय चिंतन परंपरा" पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा.) लिमिटेड,नई दिल्ली,1995

राजवाड़े,काशीनाथ विश्वनाथ, "भारतीय विवाह संस्था का इतिहास" पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली 2008

फ्रेडरिक एंगेल्स, "परिवार,निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति" पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा.)लिमिटेड, नई दिल्ली,2008

इल्यीन,स. और मोतिलेव,अं., "राजनीति अर्थशास्त्र क्या है?" पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा.)लिमिटेड, नई दिल्ली,1986

चट्टोप्रसाद,देवीप्रसाद, "लोकायत" राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2005

झा,आचार्य आनंद, "चार्वक दर्शन" उत्तर प्रदेश हिदी संस्थान,लखनऊ,2005

बोऊवार, सीमोन द, "स्त्री उपेक्षिता" अनु. प्रभा खेतान,हिन्दी पाकेट बुक्स,नई दिल्ली,2005

चमड़िया,अनिल (सं.), "मीडिया में सांप्रदायिकता" मीडिया स्टडीज ग्रुप, नई दिल्ली, 2014

चमड़िया,अनिल (सं.), "मीडिया और मुसलमान" मीडिया स्टडीज ग्रुप, नई दिल्ली, 2014

गुहा,रामचंद्र, "भारत गांधी के बाद" अनु.सुशान्त झा, पेंगुइन बुक्स,नई दिल्ली, 2012

गुहा,रामचंद्र, "भारत नेहरू के बाद" अनु. सुशान्त झा, पेंगुइन बुक्स,नई दिल्ली, 2012

कम्मा,रंगनाय, "जाति प्रश्न के समाधान के लिए" अनु.सी.एल.गुप्ता, राहुल फाऊड़ेशन,नई दिल्ली,2012

श्रीनावसन,एम.एम., "आधुनिक भारत में जाति" अनु.रश्मि चौधरी,राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2012

श्रीनावसन,एम.एम., "आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन" राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

शर्मा, राम विलास, "महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण" राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2012

बल,डा.मीरा, "राष्ट्रीय जागरण और हिंदी पत्रकारिता" वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2012

अमीन,शाहिद और पांड़े, ज्ञानेंद्र, "निम्नवर्गीय प्रसंग,भाग-1" वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, 2010

राय,डां. सत्या एम.(सं.), "भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद" हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2009

जोशी,गोपा, “भारत में स्त्री असमानता” हिंदी माध्यम कार्यान्वय निर्देशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2011

मेनन,निवेदिता/आर्य,साधना/लोकनीता,जिनी, “नारीवादी राजनीति: संघर्ष एंव मुद्दे” हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2011

यादव,राजेन्द्र/खेतान,प्रभा/दुबे,अभय कुमार(सं.), “पितृसत्ता के नई रूप” राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

अनामिका, “स्त्री विमर्श का लोकपक्ष” वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

प्रमीला, के.पी., “स्त्री: यौनिकता बनाम आध्यात्मिकता” वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

सेनगुप्त, मल्लिका, “स्त्रीलिंग निमार्ण” रेमाधव पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नोएडा, 2012

गोस्वामी,लवली,”प्राचीन भारत में मातृसत्ता और यौनिकता” दखल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015

चंद्र,केशव, “मध्यकाल में औरतों की बलियां और हत्याएं” पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस(प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2015

हंसालुंख, आर्चाय, “हिंदू संस्कृति और स्त्री” अनु. किशोर दिवसे, संवाद प्रकाशन, मेरठ,2014

मिल,जांन स्टुअर्ट, “स्त्री और पराधीनता” अनु. युगांक धीर, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2008

तलवार,वीर भारत, “रस्साकशी” सारांश प्रकाशन, हैदराबाद,2012

महेश्वरी,सरला, “नारी प्रश्न” राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,2007

दास,अरविंद, “हिंदी में समाचार” अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद,2013

देसाई,नीरा/ठक्कर,ऊषा, “भारतीय समाज में महिलाएं” अनु.डा.सुधी धुसिया,नेशनल बुक ट्रस्ट,इंडिया, नई दिल्ली,2009

धर्माराव, तापी, “विवाह संस्कार:स्वरूप एंव विकास” राधाकृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली,2011

नारायण,बद्री/महापात्र,विष्णु/मिश्रा,अन्नत राम, “उपेक्षित समुदायों का आत्म इतिहास” वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2014

नारायण,बद्री,”हिंदुत्व का मोहनी मंत्र” राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2014

नारायण,बद्री, “दलित वीरांगनाएं एंव मुक्ति की राह” राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2014

बैचेन,श्यौराज सिंह, “अबेडकर,गांधी और दलित पत्रकारिता” अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्श(प्रा.) लिमिटेड,नई दिल्ली,2014

कस्तवार,रेखा, “स्त्री चितंन की चुनौतीयां” राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2013

कृष्णकांत,सुमन(सं.), “इक्कीसवीं सदी की ओर” राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

चौबे,कमल नयन, “जंगल की हकदारी:राजनीति और संघर्ष” वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2015

गुप्ता,चारू, “स्त्रीत्व से हिन्दुत्व तक” राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2012

दुष्यंत, “स्त्रियां पर्दे से प्रजातंत्र तक” राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2012

दुबे,लीला, “लिंगभाव का मानववैज्ञानिक क्षेत्र” अनु.वंदना मिश्र,वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2004

चंद्र,सुधीर, “रख्माबाई:स्त्री अधिकार और कानून” अनु.युगांक धीर,राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2012

खेतान,प्रभा,”उपनिवेश में स्त्री” राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

खेतान,प्रभा, “बाज़ार के बीच:बाज़ार के ख़िलाफ़” वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

कुमार,राधा, “स्त्री संघर्ष का इतिहास” वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2009

शिंदे,ताराबाई, “स्त्री-पुरुष तुलना”अनु. जुई पालेकर,संवाद प्रकाशन,मेरठ,2002

वुल्फ,वर्जीनिया, “अपना कमरा”अनु.गोपाल प्रधान,संवाद प्रकाशन,मेरठ,2008

डंकन,इजाडोरा, “माय लाईफ” अनु.युगांक धीर,संवाद प्रकाशन,मेरठ,2001

कुमार,विजय, “अंधेरे समय के विचार”संवाद प्रकाशन,मेरठ,2010

सिंह,तेज़, “अम्बेडकरवादी स्त्री चिंतन”स्वराज प्रकाशन,नई दिल्ली,2011

सिन्हा,सच्चिदानंद, “जाति व्यवस्था”राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2009

सैफी,रूबीना, “जातिवादी समाज और जाति का उन्मूलन”,आधार प्रकाशन,नई दिल्ली,2016

शर्मा,गीतेश, “धर्म के नाम पर” राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2003

वर्मा,पवन कुमार, “भारत में मध्यवर्ग की अजीब दास्तान” अनु. अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,1999

गुप्ता,जीतेन्द्र(सं.) “जाति प्रथा:दो निबंध” अनु.रिपु गुप्ता,संवाद प्रकाशन,मेरठ,2008

अभिज्ञान,रंजित/भारद्वाज,पूर्वा, “जेंडर और शिक्षा का अंतर”भाग-1,2, निरंतर प्रकाशन, नई दिल्ली,2011

कश्यप,सुभाष, “हमारा संविधान”नेशनल बुक्स ट्रस्ट, नई दिल्ली,2000

सिंह,भाषा, “अदृश्य भाषा”पेग्विन ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,2012

मिश्र, कृष्ण बिहारी, “हिंदी पत्रकारिता”भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली,2006

भदौरिया,संतोष, “शब्द-प्रतिबंध”मेघा बुक्स,नई दिल्ली,2006

पचौरी,सुधीश, “मीडिया,समकालीन सांस्कृतिक विमर्श” वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2011

पचौरी,सुधीश, “नया मीडिया और नये मुद्दे” वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2009

पचौरी,सुधीश, “पांपूलर कल्चर के विमर्श” वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2011

मिश्र,प्रो.रवीन्द्रनाथ, “मीडिया और लोकतंत्र” वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2010

राय,सुजाता, “राष्ट्रीय जागरण और हिंदी पत्रकारिता का आदिकाल”अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली, 1996

राय,सुजाता, “हिंदी पत्रकारिता और राष्ट्रीय जागरण”अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,1992

श्रीवास्तव,आलोक, “अख़बारनामा”संवाद प्रकाशन,मेरठ, 2008

पाण्डेय,डा.रविभूषण, “पत्रकारिता का समाजशास्त्र”आकृत्ति प्रकाशन,नई दिल्ली,2009

चतुर्वेदी,जगदीश्वर/सिंह,सुधा, “मीडिया,प्राच्यवाद और वर्चुअल यथार्थ” अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,2008

चतुर्वेदी,जगदीश्वर/सिंह,सुधा,“डिजिटल युग में मासकल्चर और विज्ञापन” अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,2010

चतुर्वेदी,जग्दीश्वर, “हिंदी पत्रकारिता के इतिहास की भूमिका” अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,नई दिल्ली,1997

चतुर्वेदी,जग्दीश्वर, “स्त्रीवादी साहित्य विमर्श” अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,2000

चतुर्वेदी,जग्दीश्वर/सिंह,सुधा, “स्वाधीनता-संग्राम,हिंदी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र” अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,2006

राजगढ़िया,विष्णु, “जनसंचार:सिद्धांत और अनुप्रयोग”राधाकृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली,2008

चौबे,कृपाशंकर, “समाज,संस्कृति और समय”प्रकाशन संस्थान,नई दिल्ली,2008

धर,प्रांजल, “समकालीन वैश्यिक पत्रकारिता में अख़बार”वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2013

जेफ्री,रांबिन, “समाचार पत्रों की क्रांति”भारतीय जनसंचार संस्थान,नई दिल्ली,2005

नंदा,वर्तिका, “टेलीविजन और अपराध पत्रकारिता”भारतीय जनसंचार संस्थान,नई दिल्ली,2005

वाजयेयी,नंददुलारे,“नवजागरणकालीन पत्रकारिता” भाग-1,2,अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,2008

सलिल,सुरेश, “गणेशशंकर विधार्थी रचनावली”भाग-1,2, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,2011

शिशिर,कुमेन्दु, “नवजागरणकालिन पत्रकारिता और मतवाला” अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,2012

शिशिर,कुमेन्दु, “मतवाले का मत”राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,1994

शर्मा,डा.श्री निवास, “राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और हिंदी पत्रकारिता”छपते-छपते प्रकाशन(प्रा.)लि.,कलकत्ता, 1999

मिश्र,कृष्ण बिहारी, “हिंदी पत्रकारिता”लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद,1994

वर्मा,मुकुट बिहारी, “स्त्री समस्या” सस्ता साहित्य मंडल,अजमेर,1931

वाजपेयी,पं.अम्बिका प्रसाद, “समाचार पत्रों का इतिहास”ज्ञानमंडल प्रकाशन,वाराणसी,1953

आंर्सीनी,फ्रांचेस्का, “हिंदी का लोकवृत्त,1920-40” अनु. नीलाभ, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,2011

सिन्हा,डा.नूतन, “सांप्रदायिक दंगे और नारी”राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,2001

चंद्र,विपिन, "सांप्रदायिकता के स्त्रोत" अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स(प्रा०) लिमिटेड,नई दिल्ली,2004

कपूर,डा.प्रमिला, "कामकाजी भारतीय नारी"राजपाल एंड संस,दिल्ली,1976

Aggrawl, s.k., "Investigative Journalism", Mittal Publication, New Delhi, 1991

Asaf Ali, Aruna, "The Resurgence of Indian Women" Radiant Publishers, New Delhi, 1991

Bannerji, Nirmala (Ed.), "Indian Women in a Changing Industrial Scenario" Sage Publications, New Delhi, 1973

Baxamusa, Ramola (Ed.), "Media Reflections on Women's Movement in Readings on women's Studies, series- 2," Bombay SNDT Women's University

Bhasin, Kamala and Agrawal, Bina, "Women and Media: Analysis, Alternatives & Action" Rome ISIS International, PAWF Delhi and Kali for Women, Delhi. 1984

Mazumdar, Vina (Ed.), "Women Workers in India: Studies in Emloyment and Status" Chanakya publications, New Delhi, 19वर्ष 19वर्ष 1990

Natarajan, J., "History of Indian Journalism" Publication Division, Govt. of India, New Delhi 1954

Natarajan, S "A History if the press in India" Asia Publishing house, New Delhi 1962

Singh, Prabhash K., "Women in India: A Stalistical Profile" Inter India Publications, New Delhi, 1992

Sondhi, Krishan, "problems of Communication in Developing Countries" Vision Books, New Delhi, 198

Joseph, Ammu and Sharma, Kalpana (Ed.), "Whose News ?" Sage Publishing, New Delhi, 1997

Dalmia, Vasudha, "The Nationalization of hindu Traditions" Oxford University Press, New Delhi, 1997

Bathla, Sania, "Women, Democracy and the Media" Sage Publication, New Delhi, 1998

Ninan, Sevanti, "Hesdline from the Heartland" Sage Publication, New Delhi, 2007

Asthana, Pratima, "Women's Movement in India" Vikas Publishing House (P) Ltd. Delhi,1974

Baig, Tara Ali, "India's Women Power.s" Chand & co. (p) Ltd,. New Delhi,.1976

Chattopadhayay, Kamla Devi."Indian Women's Battle for Freedom" Abhinav publications, New Delhi, 1983

Dayal, Rekha(ed),"Resource book on Women's Development". SIDA and Department of Women and child Development, Ministry of Human Resourcess. Govt. of India, New Delhi. 1987

Everett, Jana Matson,"women and social Change in India" Heritage Publishersm, New Delhi, 1979

Mukherjee, Kanak, "women's studies in inda: some perspective" Bombay Popular prakashan, Bombay, 1986

Omvedt, Gail, "We will Smash This Prision!" Orient Longman Ltd.,New Delhi, 1979

Gallagher, Margaet, "Unepual Opportunities: The Case of Women and the Media" UNESCO, Paris, 1982